

स्मृति साहित्य में परिवार एवं समाज : एक अनुशीलन
Smriti Sahitya Me Parivar Avam Samaj :
Ek Anushilan



कोटा विश्वविद्यालय, कोटा

की

पीएच.डी. (संस्कृत)

उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध-प्रबन्ध

कला संकाय

शोधार्थी

प्रभा चतुर्वेदी

पंजीयन क्रमांक (RS/484/19)

शोध पर्यवेक्षक

प्रो. हरकेश बैरवा

आचार्य

संस्कृत विभाग

राजकीय कला महाविद्यालय, कोटा (राज.)

कोटा विश्वविद्यालय, कोटा

(राजस्थान) 324005

भारत

जनवरी, 2026

शोध निदेशालय
कोटा विश्वविद्यालय

एम.बी.एस. मार्ग, कोटा (राजस्थान)-३२४००५
फोन नम्बर : ०७४४-२४७९०३७



Directorate of Research
University of Kota

MBS Marg, KOTA (Rajasthan)-324005
Phone No.: 0744-2471037

CERTIFICATE

I feel great pleasure in certifying that the Ph.D. thesis entitled "स्मृति साहित्य में परिवार एवं समाज : एक अनुशीलन" submitted by **Prabha Chaturvedi**, Registration No. **(RS/484/19)** to the University of Kota in the partial fulfillment of the requirements for the award of the degree of Doctor of Philosophy is based on the research work carried out under my guidance.

She has completed the following requirements as per UGC Regulations and research ordinance of the University:

- (a) Satisfactory Completion of the Ph.D. Course Work.
- (b) Submission of Half Yearly Progress Reports.
- (c) Fulfillment of residential requirement of the Research Centre (Minimum 200 Days).
- (d) Presentation of research work before the Departmental Committee.
- (e) Publication at least one research paper in the referred research journal of national and international repute.
- (f) Two paper presentations in the Conferences/ Seminars.

I recommend the submission of the Ph.D. thesis and certify that it is fit to be evaluated by the examiners.

Date:

Place: **Kota**

Prof. Harkesh Bairwa

Research Supervisor

शोध निदेशालय
कोटा विश्वविद्यालय

एम.बी.एस. मार्ग, कोटा (राजस्थान)-३२४००५
फोन नम्बर : ०७४४-२४७९०३७



Directorate of Research
University of Kota

MBS Marg, KOTA (Rajasthan)-324005
Phone No.: 0744-2471037

DECLARATION

I, **Prabha Chaturvedi**, hereby certify that the research work presented in my Ph.D. thesis entitled "स्मृति साहित्य में परिवार एवं समाज : एक अनुशीलन" which is carried out by me under the supervision of supervisor **Prof. Harkesh Bairwa, Professor, Dept. of Sanskrit, Govt. Arts College, Kota, Rajasthan** and submitted in the partial fulfillment of the requirement for the award of the degree of **Doctor of Philosophy** of the University of Kota, represents my ideas in my own words and where others ideas or words have been included in this thesis, I have adequately cited and referenced the original sources.

The work presented in this thesis has not been submitted elsewhere for the award of any degree or diploma from any other institution or university in India or abroad. I declare that I have adhered to all the principles of academic honesty and integrity and have not misrepresented or fabricated or falsified any idea / data / fact / source in my submission.

I understand that any violation of the above will cause for disciplinary action by the University and can also evoke penal action from the sources which have thus not been properly cited or from whom proper permission has not been taken when needed.

Date:

Prabha Chaturvedi

Place: **Kota**

Research Scholar

This is to certify that the above statement made by **Prabha Chaturvedi**

(Registration No. **RS/484/19**) is correct to the best of my knowledge.

Date:

Prof. Harkesh Bairwa

Place: **Kota**

Research Supervisor



Anti-Plagiarism Certificate

It is certified that the Ph.D. thesis entitled "स्मृति साहित्य में परिवार एवं समाज : एक अनुशीलन" submitted by **Prabha Chaturvedi**, has been examined with the anti-plagiarism tool.

We undertake that:

- The thesis has significant new work/knowledge as compared already published or are under consideration to be published elsewhere. No sentence, equation, diagram, table, paragraph or section has been copied verbatim from previous work unless it is placed under quotation mark and duly referenced.
- The work presented is original and own work of the author i.e. there is no plagiarism. No ideas, processes, results or words of others have been presented as the author's own work
- There is no fabrication of data or results which have been compiled and analyzed.
- There is no falsification by manipulating research materials, equipment or processes, or changing or omitting data or results such that the research is not accurately represented in the research record.
- The thesis has been checked by using **DrillBit** tool/software and found within the limits as per UGC plagiarism policy and instructions issued from time to time.

Report is also enclosed along with this Ph.D. thesis.

Date:
Place:

(Prabha Chaturvedi)
Research Scholar

Date:
Place:

(Prof. Harkesh Bairwa)
Research Supervisor



The Report is Generated by DrillBit Plagiarism Detection Software

Selected Language

Hindi

Submission Information

Author Name	प्रभा चतुर्वेदी
Title	स्मृति साहित्य में परिवार एवं समाज : एक अनुशीलन
Paper/ Submission ID	5078139
Submitted by	drannakaushik@uok.ac.in
Submission Date	2025-12-22 16:02:11
Document type	Thesis

Result Information

Similarity

3%

A Unique QR Code use to View/Download/Share Pdf File





DrillBit Similarity Report

3		9	A	A-Satisfactory (0-10%) B-Upgrade (11-40%) C-Poor (41-60%) D-Unacceptable (61-100%)	
SIMILARITY %		MATCHED SOURCES	GRADE		
LOCATION	MATCHED DOMAIN		%	SOURCE TYPE	
1	Thesis Submitted to Shodhganga, shodhganga.inflibnet.ac.in		1	Publication	
2	Thesis Submitted to Shodhganga, shodhganga.inflibnet.ac.in		<1	Publication	
3	Thesis Submitted to Shodhganga, shodhganga.inflibnet.ac.in		<1	Publication	
4	Thesis Submitted to Shodhganga, shodhganga.inflibnet.ac.in		<1	Publication	
5	Thesis Submitted to Shodhganga, shodhganga.inflibnet.ac.in		<1	Publication	
6	Thesis Submitted to Shodhganga, shodhganga.inflibnet.ac.in		<1	Publication	
7	Thesis Submitted to Shodhganga, shodhganga.inflibnet.ac.in		<1	Publication	
8	Thesis Submitted to Shodhganga, shodhganga.inflibnet.ac.in		<1	Publication	
9	Paper Submitted to Shri Khushal Das University_4747409		<1	Student Paper	

शोध सार

अनादिकाल से श्रवण परम्परा से प्रचलन में रहने के कारण वेद को 'श्रुति' कहा जाता है। इनमें निहित ज्ञान वैदिक रीति से मन्त्रबद्ध होने के कारण विद्वद् जनों के लिए तो ग्राह्य था, किन्तु जन-साधारण के लिए नहीं। अताख परवर्ती वेदज्ञ ऋषियों ने जनकल्याण की भावना से वेदाज्ञानराशि का स्मरण कर जिन ग्रन्थों का प्रणयन किया वे ही कालान्तर में 'स्मृति' रूप में प्रसिद्ध हुए जिनमें धर्म, श्रौत्र, ग्रहयादि सूत्रों तथा स्मृतिग्रन्थों की गणना की जाती है। जो वेद विहित ज्ञान का ही सरल एवं सुस्पष्ट शैली में व्याख्यान करते हैं। अतः वेद के अनन्तर धर्मशास्त्रों को दूसरा स्थान प्राप्त है। सर्वप्रथम श्रौत्र सूत्रों का आविर्भाव हुआ, क्योंकि वे वैदिक यज्ञों से अत्यन्त निकटस्थ सम्बन्ध रखते हैं।

अध्ययन किया है तथा इस शोध कार्य को सात अध्यायों में विभक्त किया है, जो इस प्रकार हैं-

प्रथम अध्याय में स्मृति साहित्य का उद्भव, विकास, अर्थ, स्वरूप संख्या, समय-निर्धारण एवं प्रतिपाद्य विषय पर दृष्टिपात किया गया है। भारतीय संस्कृति के मूलाधार वैदिक साहित्य के पश्चात् धर्मशास्त्र साहित्य का सर्वोत्कृष्ट स्थान है। वेदों में निहित ज्ञान वैदिक रीति से मन्त्रबद्ध होने के कारण विद्वद्जनों के लिए तो ग्राह्य था, किन्तु जनसाधारण के लिए नहीं।

द्वितीय अध्याय स्मृति साहित्य में परिवार एक अनुशीलन में स्मृति कालीन परिवार की अवधारणाओं, प्रकार, पारिवारिक सदस्यों के कर्तव्यों अधिकार इत्यादि का वर्णन किया गया है। हिन्दू परिवार का स्वरूप संयुक्त है। परिवार का यह स्वरूप प्राचीन है जो आज भी भारतीय हिन्दू परिवारों में प्रचलित है। प्राचीन परम्परा का पालन करते हुए याज्ञवल्क्य ने तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था में संयुक्त परिवार का प्रतिपादन किया है।

तृतीय अध्याय में "स्मृति साहित्य में समाज : एक अनुशीलन" के अन्तर्गत स्मृतिकालीन समाज की अवधारणा तथा वर्णव्यवस्था के साथ-साथ वर्तमान समाज का समीक्षात्मक विवेचन प्रस्तुत है। समाज एक ऐसा मानव संगठन है जो एक विशेष प्रकार की जीवन पद्धति को स्वीकार करके उसका अनुसरण करता है।

धर्मशास्त्रों में कहा गया है कि समाज के निर्माण के लिए कुछ विशिष्ट गुण चाहिए। ये गुण हैं-

- (1) रक्षण शक्ति
- (2) ज्ञान (बुद्धिबल)
- (3) प्रजा पालन या भरण पोषण की सामर्थ्य।
- (4) श्रमशक्ति का विभाजन व योगदान
- (5) मौलिक एकता।

वेदों में जो वर्ण-व्यवस्था दी गई है, वह शुद्धरूप से गुणों और कर्मों पर आश्रित है। वेदों में वर्ण वृत्तिपरक है, जातिपरक नहीं। अतः ब्राह्मण आदि वर्णों का सम्बन्ध जन्म से सर्वथा नहीं है। जिसकी जो वृत्ति होगी, वही उसका वर्ण होगा। अतः वर्ण-व्यवस्था समाज का अभिन्न अंग है।

चतुर्थ अध्याय में

चतुर्थ अध्याय “स्मृति साहित्य में संस्कार एवं आश्रम व्यवस्था एक अनुशीलन के अन्तर्गत स्मृतिकालीन संस्कार एवं आश्रम व्यवस्था की अवधारणा के साथ-साथ वर्तमान कालीन समाज का समीक्षात्मक विवेचन प्रस्तुत है।

संस्कार को व्याख्यायित करते हुए कहा गया है कि बालक जब जन्म लेता है तो वह दो प्रकार के संस्कार अपने साथ लेकर आता है। एक प्रकार के वे संस्कार, जिन्हें वह जन्म-जन्मान्तरों से अपने साथ लाता है। दूसरे प्रकार के वे संस्कार, जिन्हें वह अपने माता-पिता के संस्कारों के रूप में वंशपरम्परा से प्राप्त करता है। जिनमें कुछ अच्छे भी हो सकते हैं और कुछ बुरे भी।

पंचम अध्याय में “स्मृति साहित्य में अपराध एवं दण्ड विधान एक अनुशीलन” प्राचीन स्मृतिकारों ने विहित विधानों के विरुद्ध आचरण करने पर अपराध के अनुरूप मानव कल्याण की भावना को ध्यान में रखते हुए समुचित दण्ड विधान का निर्माण किया है।

सामाजिक जीवन की सफलता को ध्यान में रखते हुए विपुल साहित्य के रूप में स्मृति ग्रन्थों की रचना हुई। स्मृतियों में तीन मुख्य विषयों का वर्णन है-

- (1) आचार
- (2) व्यवहार
- (3) प्रायश्चित्त

प्रायश्चित्त वर्ग में अपराध एवं पाप मुक्ति के उपाय हैं-

स्मृतियों तथा अन्य राजनीतिक ग्रन्थों ने अपराध विषय पर विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की है। किसी समाज में, किसी व्यक्ति के द्वारा उस समाज की परम्पराओं, रीतियों के विरुद्ध किया गया कोई ऐसा कृत्य जिससे उस समाज को हानि हो, सामाजिक अपराध की श्रेणी में आता है।

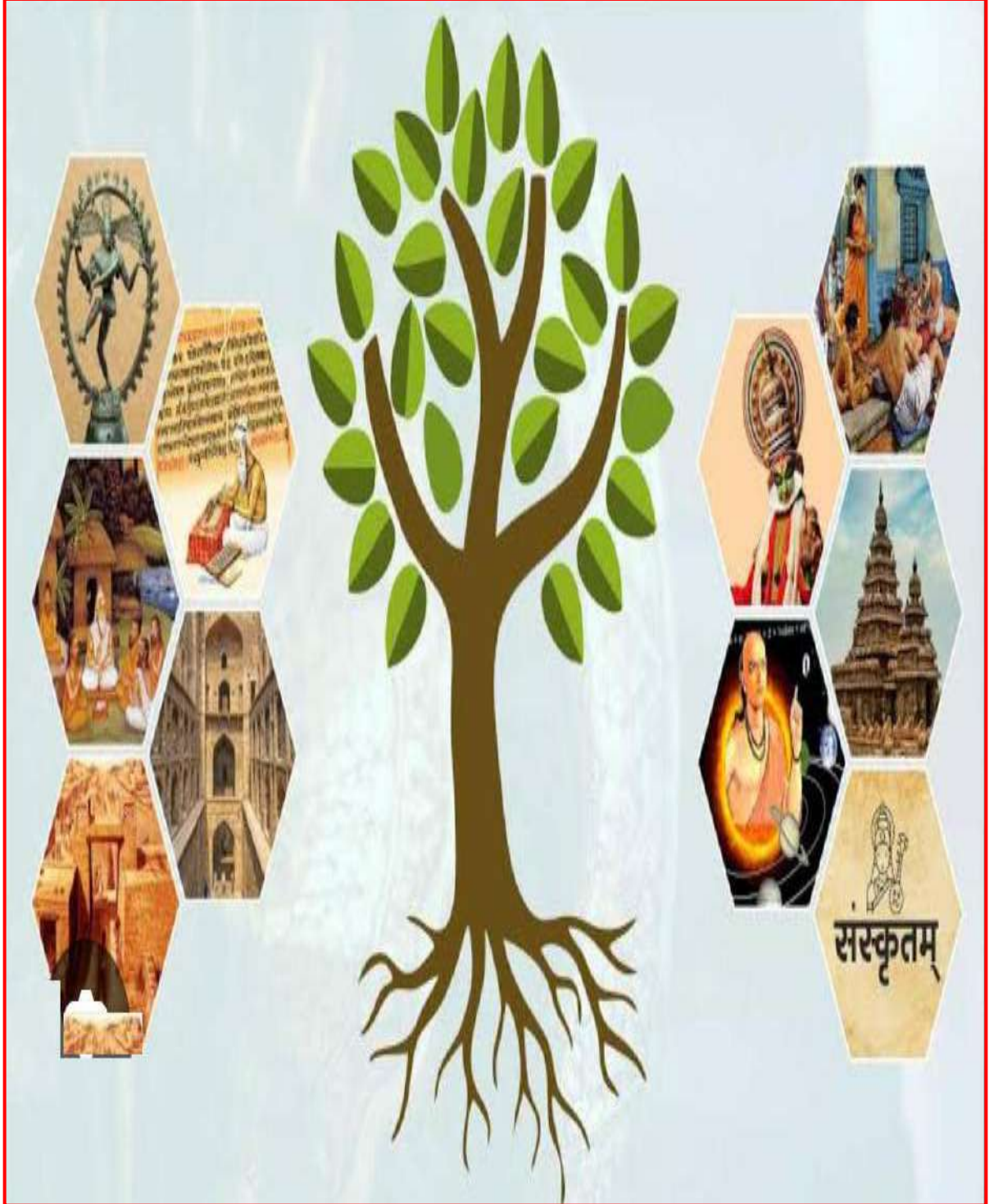
षष्ठ अध्याय में “स्मृति साहित्य में वर्णित परिवार एवं समाज व्यवस्था की वर्तमान उपादेयता” भारतीय सामाजिक व्यवस्था का आशय भारतीय समाज में पाई जाने वाली उस सन्तुलित या व्यवस्थित स्थिति से है जो कि समाज की विभिन्न निर्णायक ईकाइयों के अपने-अपने स्थान पर रहते हुए पूर्व निश्चित कार्यों को करने के फलस्वरूप उत्पन्न होती है। इस दृष्टिकोण से भारतीय सामाजिक व्यवस्था उस संगठन की ओर संकेत करती है जिसके अन्तर्गत भारतीय जीवन के स्थापित तथा मान्य उद्देश्यों एवं आदर्शों की प्राप्ति संभव होती है।

उपसंहार के रूप में संसार के अनेक भौतिकवादी समाज भी अब इस तथ्य को स्वीकार करने लगे हैं कि सामान्य कल्याण को प्रोत्साहन दिये बिना समाज को सुरक्षित नहीं रखा जा सकता। सोरोकिन जैसे विचारको ने भी अपनी मृत्यु के कुछ वर्ष पूर्व से आध्यात्मिक पुनर्निर्माण की बात की थी।

भारतीय समाज और संस्कृति जीवंत है। हमारे ऋषि-मुनियों ने ऐसी सामाजिक व्यवस्था की स्थापना की जिसमें मनुष्य के चरित्र निर्माण से लेकर उसके जीवन के समस्त रचनात्मक पहलुओं पर न केवल गंभीरता के साथ विचार किया गया, अपितु आदर्शों एवं सुकृत्यों द्वारा उन्हें मूर्त रूप में परिणित भी किया गया। इसलिए हमारे समाज को अद्वितीय एवं विविधतापूर्ण सनातन समाज माना जाता है।

स्मृति साहित्य में परिवार एवं समाज :

एक अनुशीलन



प्राक्कथन

आधुनिक युग में भी संस्कृत भाषा की महत्ता पूर्ववत् बनी हुई है। इस पूज्यनीय देववाणी की अर्चना अनेकों विद्वानों द्वारा की गई है। इसके ग्रंथ भण्डार में अमूल्य रत्नों की कमी नहीं है। मेरा यह सौभाग्य है। अंशुख्य आशीष, सहयोग तथा प्रेरणा से मुझे यहाँ तक पहुँचने का अवसर प्राप्त हुआ। मैं नमन करती हूँ सर्वप्रथम श्री गणेश भगवान को तथा मेरे आराध्य श्री कृष्ण को, जिनकी कृपा से मेरा कार्य निर्वहन समाप्त हुआ। माँ शारदा का मैं वंदन करती हूँ।

प्रारम्भ से ही मुझे मेरे गुरुजनों का आशीष प्राप्त हुआ। संस्कृत विषय मुझे सदा प्रिय रहा। संस्कृत में शोध करने हेतु शोध का विषय चयन करना कठिन लग रहा था। मेरे मस्तिष्क में कई विषय पर शोध करने का विचारमंथन चल रहा था। परन्तु मैंने आधुनिक विषय पर शोध करने का विचार किया। जिसके लिए मुझे एक नवीन आधुनिक विचारधारा वाले व्यक्तित्व की तलाश थी। इस विषय पर शोध करने की मेरी इच्छा प्रबल थी। आधुनिक संस्कृत साहित्य में संस्कृत भाषा को लेकर कई नवीन प्रयोग किए गए हैं। जैसे नवीन छन्द, प्रतीक, बिम्ब, मिथक, व्यंग्य आदि। इसके साथ ही कथ्य एवं तथ्य में भी परिवर्तन दिखाई दिया। जिससे संस्कृत भाषा को एक नई दिशा मिल रही है तथा देववाणी विश्वमंच पर सम्मान प्राप्त कर रही है।

शीघ्र ही मुझे मेरे विषय को चुनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ जब मैं मेरे शोध पर्यवेक्षक डॉ. हरकेश बैरवा, आचार्य-संस्कृत, राजकीय कला महाविद्यालय, कोटा (राज.) महोदय से मिली। उनके द्वारा “स्मृति साहित्य में परिवार एवं समाज : एक अनुशीलन” पर शोध कार्य करने का सुझाव मुझे दिया गया। मैंने सहर्ष इस विषय का चुनाव कर कार्य प्रारम्भ कर दिया। जिनका मैं हृदय से ऋणी हूँ इनके उदार, सरल हृदय तथा स्नेहिल स्वभाव के कारण मुझे उनका श्रेष्ठ व सहज निर्देशन प्राप्त हुआ।

मैं मेरे पिता जी महावीर प्रसाद चतुर्वेदी तथा माता माया देवी के असीम आशीष व सहयोग के द्वारा आज यहाँ तक पहुँची हूँ। सदा उनके द्वारा मुझे प्रोत्साहन प्राप्त होता रहा। समस्त कार्यों में साथ देने वाले अमित शर्मा एवं पुत्री

पूर्वी शर्मा ने हमेशा मेरा साथ दिया। मैं सफलता अर्जित कर पाई तो उनका इसमें प्रारम्भ से ही योगदान रहा है।

राजकीय कला महाविद्यालय, कोटा के प्राचार्य महोदय, की अन्तः करण से आभारी हूँ जिनके मार्गदर्शन से यह असाध्य कार्य परिपूर्ण हो सका। इसके साथ ही संस्कृत विभागाध्यक्ष एवं समस्त गुरुजनों की मैं हृदय से आभारी हूँ, जिनकी प्रेरणा एवं सुझावों ने मुझे सतत् प्रेरित किया।

शोध कार्य में सहयोग प्रदान करने वाले डॉ. राज कुमार गर्ग, आचार्य महोदय का भी उचित दिशानिर्देशों से मिलने वाले मार्गदर्शन पर आभार प्रकट करती हूँ।

राजकीय कला महाविद्यालय, कोटा के पुस्तकालयाध्यक्ष एवं कर्मचारियों का भी आभार व्यक्त करती हूँ।

डॉ. सी.एल.महोलिया, प्राचार्य राजकीय महाविद्यालय, जामडोली, जयपुर का शोध कार्य में उचित दिशानिर्देशों के लिए हृदय से आभार व्यक्त करती हूँ।

इस शोध प्रबन्ध के कलात्मक एवं त्रुटि रहित मुद्रण कार्य के लिए मैं कम्प्यूटर आपरेटर, **श्री योगेश कुमार नामा, निकुंज कम्प्यूटर एण्ड जाब वर्क सेन्टर, 129-A, केशवपुरा-4, कोटा (राज.)** को हृदय से धन्यवाद देती हूँ, जिन्होंने अपनी व्यस्तता के बाद भी अथक सहयोग प्रदान किया। वर्तनी सम्बन्धी अशुद्धियों को शुद्ध करने का मैंने यथा सम्भव प्रयास किया है फिर भी टंकण सम्बन्धी कुछ त्रुटियाँ रह गयी हो, तो मैं क्षमा प्रार्थी हूँ।

सभी कठनाईयों को पार करते हुए मैं इस शोधग्रन्थ को प्रस्तुत कर पाई इसमें कोई त्रुटि रह गई हो तो यह मेरे अल्पज्ञान के कारण हुआ होगा।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि विद्वज्जन मेरे इस शोध प्रबन्ध का रूचिकर अध्ययन करके मुझे अनुगृहित करेंगे।

इसी मंगलकामना के साथ।

**शोधार्थी
प्रभा चतुर्वेदी**

अनुक्रमणिका

अध्याय	विषय वस्तु	पृष्ठ
	प्रमाण-पत्र	i
	घोषणा	ii
	साहित्यिक चोरी विरोधी प्रमाण पत्र	iii-v
	शोध सार	vi-viii
	प्राक्कथन	ix-xi
	अनुक्रमणिका	xii-xiii
प्रथम अध्याय	संस्कृत वाङ्मय में स्मृति परम्परा	1-59
	1. स्मृतियों का उद्भव एवं विकास 2. स्मृति शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ एवं स्वरूप 3. स्मृतिकार, स्मृतियों की संख्या एवं उनका समय निर्धारण 4. स्मृतियों का प्रतिपाद्य (1) आचार (2) व्यवहार (3) प्रायश्चित्त	
द्वितीय अध्याय	स्मृति साहित्य में परिवार : एक अनुशीलन	60-75
	1. स्मृति साहित्य में परिवार की अवधारणा 2. स्मृति साहित्य में परिवार के प्रकार 3. पारिवारिक सदस्यों के कर्तव्य एवं अधिकार 4. सनातन संस्कृति को परिवार के सदस्यों का योगदान 5. स्मृतिकालीन परिवार एवं वर्तमान पारिवारिक व्यवस्था की समीक्षा	
तृतीय अध्याय	स्मृति साहित्य में समाज : एक अनुशीलन	76-122
	1. स्मृति साहित्य में समाज का अर्थ, स्वरूप 2. स्मृति साहित्य में वर्ण व्यवस्था की अवधारणा 3. वर्ण व्यवस्था में सदस्यों के कर्तव्य एवं अधिकार 4. स्मृतिकालीन समाज एवं वर्तमान समाज की समीक्षा	
चतुर्थ अध्याय	स्मृति साहित्य में संस्कार एवं आश्रम व्यवस्था एक अनुशीलन	123-216
	1. संस्कार शब्द का अर्थ, स्वरूप एवं प्रकार	

	2. आश्रम व्यवस्था की अवधारणा 3. संस्कार एवं आश्रम व्यवस्था का परिवार एवं समाज पर प्रभाव 4. संस्कार एवं आश्रम व्यवस्था की वर्तमान परिप्रेक्ष्य में समीक्षा	
पंचम अध्याय	स्मृति साहित्य में अपराध एवं दण्ड विधान : एक अनुशीलन	217-250
	1. अपराध का अर्थ, स्वरूप एवं प्रकार 2. दण्ड विधान की अवधारणा 3. अपराध से समाज पर दुष्प्रभाव 4. दण्ड विधान से समाज का सुधारात्मक कदम 5. स्मृति कालीन अपराध एवं दण्ड विधान की आधुनिक समीक्षा	
षष्ठ अध्याय	स्मृति साहित्य में वर्णित परिवार एवं समाज व्यवस्था की वर्तमान में उपादेयता	251-259
	उपसंहार	260-261
	शोध सारांश	262-272
	संदर्भ ग्रंथ सूची	273-280
	अनुसंधान प्रकाशन संदर्भित पत्रिकाओं में	
	प्रमाण-पत्र	

प्रथम अध्याय
संस्कृत वाङ्मय में स्मृति
परम्परा

प्रथम अध्याय संस्कृत वाङ्मय में स्मृति परम्परा

1. स्मृतियों का उद्भव एवं विकास

“अधीत्य चतुरो वेदान् साङ्गोपाङ्गपदक्रमान्।

स्मृतिहीना न शोभन्ते चन्द्रहीनेव शर्वरी॥

- बृहस्पतिः

भारतवर्ष धर्मप्राण भूमि है। प्राचीन समय से ही यहाँ प्रत्येक कार्य धर्म की रीति से होते आ रहे हैं। धर्म के विषय में महर्षियों के विचार भिन्न-भिन्न हैं।

वैशेषिक सूत्रानुसार धर्म की परिभाषा इस प्रकार है-

“यतोऽभ्युदयनिः श्रेयससिद्धिः स धर्मः”।

महर्षियो ने धर्म का स्वरूप जानने के लिए वेद को प्रमुख साधन माना है।

यथा -

‘वेदो धर्ममूलं तद्विदां च स्मृतिशीले’।

- गौतमधर्मसूत्र

जब यह कहा जाता है कि धर्म का प्रथम साधन वेद है तो इसका तात्पर्य यह नहीं है कि स्मृति ग्रन्थों की तरह उसमें नियम वाक्य है। हिन्दू धर्मशास्त्रकारों ने वेद को सर्वोच्च आसन प्रदान किया। क्योंकि यदि वैदिक मन्त्रों का संग्रह किया जाये तो वहाँ विवाह, वर्ण, दाय, भाग, स्त्रीधन का समुचित वर्णन प्राप्त होता है।

अनादिकाल से श्रवण परम्परा से प्रचलन में रहने के कारण वेद को ‘श्रुति’ कहा जाता है। इनमें निहित ज्ञान वैदिक रीति से मन्त्र-बद्ध होने के कारण विद्वद् जनों के लिए तो ग्राह्य था, किन्तु जन-साधारण के लिए नहीं। अतएव परवर्ती वेदज्ञ ऋषियों ने जनकल्याण की भावना से वेदाज्ञानराशि का स्मरण कर जिन ग्रन्थों का प्रणयन किया वे ही कालान्तर में ‘स्मृति’ रूप में प्रसिद्ध हुए जिनमें धर्म, श्रौत्र, ग्रहयादि सूत्रो तथा स्मृतिग्रन्थों की गणना की जाती है। जो वेद विहित ज्ञान का ही सरल एवं सुस्पष्ट शैली में व्याख्यान करते हैं। अतः वेद के अनन्तर धर्मशास्त्रों को दूसरा स्थान प्राप्त है। सर्वप्रथम श्रौत्र सूत्रों का आविर्भाव हुआ, क्योंकि वे वैदिक यज्ञों से अत्यन्त निकटस्थ सम्बन्ध रखते हैं। तदनन्तर ग्रहय सूत्र फिर धर्मसूत्र का समय आता है। पूर्व में वे परिशिष्ट ग्रन्थ की भाँति

थे। किन्तु बाद में उनको स्वतन्त्र रूप प्राप्त हुआ। बहुत समय तक वे नियम स्मृति (मस्तिष्क) में थे। अतः उनका नाम स्मृति रखा गया।

ग्रह्यसूत्र व धर्मसूत्र में भिन्नता यह है कि ग्रह्यसूत्र गृहस्थ के कर्तव्यों का वर्णन करते हैं और धर्मसूत्र प्रत्येक व्यक्ति के सामाजिक जीवन का पूर्णतया उल्लेख करते हैं। धर्मसूत्रों में आपस्तम्ब, बौधायन, गौतम वशिष्ठ आदि प्रमुख हैं। धर्मसूत्र गद्य में हैं और कुछ गद्य-पद्य मिश्रित हैं, किन्तु स्मृतियाँ पद्य में हैं। सूत्र साहित्य, वैदिक साहित्य को परवर्ती संस्कृत साहित्य से जोड़ने वाली एक सुन्दर सुनहरी शृङ्खला है। प्राचीन ऋषियों ने इन सूत्रों में, अपने वैदिक वाङ्मय के सुदीर्घ चिन्तन तथा मनन के मननीय अनुभवों के परिणामों को एकत्रित किया है। ये धर्मसूत्र ही धर्म व धर्मशास्त्र के प्रतिपादक ग्रन्थ स्मृतियों के अत्यधिक सन्निकट हैं। धर्म व धार्मिक आचार-व्यवहारों के विवेचन की दिशा में धर्मसूत्र के बाद स्मृति ग्रन्थों का क्रम आता है। सूत्रों में जो तत्व बहुत संक्षिप्त व संदिग्ध मालूम पड़ता था, स्मृति ग्रन्थ उनकी विशद् व्याख्या करते हैं। इस प्रकार धर्मसूत्रों की अपेक्षा उन्हीं के वृहद् व्याख्यान स्वरूप स्मृतिग्रन्थों में धर्म का प्रयोग व धार्मिक क्रियाकलापों का व्याख्यान अधिक व्यापक व स्पष्ट शब्दों में हुआ है। वैदिक धर्म को सुव्यवस्थित रूप में व्याख्यायित करने के कारण इन्हें 'धर्मशास्त्र' के नाम से अभिहित किया गया है।

'धर्मशास्त्रं तु वै स्मृति'¹

इनका मुख्य उद्देश्य अपने सिद्धान्तों एवं मान्यताओं से मानव मात्र के साथ-साथ समाज व विश्व का कल्याण है।

2. स्मृति शब्द की व्युत्पत्ति, अर्थ एवं स्वरूप

'स्मृ' धातु क्तिन्² प्रत्यय से निष्पन्न स्मृति शब्द का सामान्य अर्थ है स्मरण करना।³ इतिहास पुराण निर्वचन कोश⁴ तथा लिङ्गपुराण⁵ में दी गई इसकी व्युत्पत्ति स्मरण अर्थ को ही द्योतित करती है।

अमरकोश⁶ तथा अभिधानचिन्तामणि कोश⁷ में इसे 'धर्मसंहिता' की संज्ञा दी गई है। विभिन्न ग्रन्थकारों ने स्मृति शब्द को पृथक्-पृथक् रूप में परिभाषित किया है।

महर्षि पतञ्जलि ने स्मृति को चित्त की वृत्ति बताते हुए कहा है "अनुभव किये गये विषय को किसी दशा में न भूलना अर्थात् चित्त में उपस्थित रहना ही स्मृति है।⁸

अन्नभट्ट ने संस्कारमात्र से उत्पन्न ज्ञान को स्मृति कहा है।⁹ पुराण में स्मृति का लक्षण देते हुए "पूर्व अनुभूत हुए विषय को जिस पर ध्यान केन्द्रित हो उसके स्मरण की प्रक्रिया को स्मृति कहा गया है।¹⁰ एक अन्य स्थल पर वर्णित है कि "स्मृति व्याप्ति की स्मरण शक्ति पर सीधे प्रभाव डालती है, इसके लिये किसी विशेष शिक्षा या साधन की आवश्यकता नहीं होती है।¹¹ अतएव जब भी किसी अनुभूत दृष्ट अथवा श्रुत विषय का ज्ञान होता है तो उसका संस्कार चित्त पर अंकित हो जाता है और फिर कभी उद्बोधक सामग्री के उपस्थित हो जाने पर उस संस्कार के कारण पूर्व सुना, देखा या अनुभव किया विषय चित्त में पुनः उपस्थित हो जाता है अर्थात् स्मरण हो जाता है। इसी को स्मृति कहते हैं।

वेदव्यास ने तो इसे साक्षात् देवता कहा है¹² तो श्री गुरुग्रन्थ साहिब के एक स्थल पर स्मृति को वेद की पुत्री¹³ कहकर स्मृति एवं वेद के परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध को प्रदर्शित किया है जबकि स्मृतिकार मनु ने धर्मशास्त्र को स्मृति कहा है।¹⁴

जे. डन्कन भी धर्मशास्त्र को ही स्मृति मानते हैं, जिसमें स्थिर नियम के रूप में धार्मिक कर्तव्यों का प्रतिपादन किया गया है।¹⁵ कल्याण के धर्मशास्त्राङ्ग के अनुसार वह ग्रन्थ स्मृति कहे गये हैं जो ब्रह्मादि ऋषियों के द्वारा स्मरण कर लिखे गए हैं।¹⁶ पी.वी. काणे ने स्मृति का अर्थ व्यापक रूप में किया है। उसके अनुसार स्मृति शब्द वेद वाङ्मय से इतर ग्रन्थों यथा-पाणिनीय व्याकरण, श्रौतसूत्र, ग्रहसूत्र, धर्मसूत्र, महाभारत, मनुस्मृति एवं याज्ञवल्क्यस्मृति आदि ग्रन्थों का वाचक है।¹⁷ अमरकोश के टीकाकार क्षीरस्वामी ने कहा है "नष्ट होते हुए और बिखरे हुए लोकाचार के नियमों एवं सिद्धान्तों को याद रखना स्मृति का विषय है, जो मनुस्मृति आदि ग्रन्थों में संग्रहीत किये गये हैं।¹⁸

इस प्रकार स्मृति शब्द से तात्पर्य वेदमूलक उन सभी धर्मग्रन्थों से है जिनमें आचार व्यवहार प्रायश्चित्त से सम्बन्धित नियमों का विवेचन किया गया है जिनका पालन करने पर मनुष्य व समाज का सर्वतोमुखी विकास सम्भव है।

स्मृतियाँ व्यक्ति के कार्यों पर नियन्त्रण लगाकर, अनुशासित करके, व्यक्ति को समाज से अलग नहीं रखती अपितु स्मृतियाँ व्यक्ति को सुसंस्कृत, सामाजिक प्राणी बनाने में सहायक होती है।

2. स्वरूप

वेद भारतीय संस्कृति का मूलधार है। वेदों का प्रधान विषय ज्ञान, कर्म एवं उपासना है किन्तु इसके अतिरिक्त धार्मिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक, सामाजिक, राजनीतिक, आध्यात्मिक उन्नति का विस्तृत विवेचन किया गया। वेदों में धर्म का कोई व्यवस्थित उल्लेख नहीं है। किन्तु स्मृतियाँ वेदों से अधिक सुगठित शास्त्र हैं। वेदों के समान ही स्मृतियों में भी धर्म, शिक्षा, संस्कार, आश्रम व्यवस्था, राजधर्म आदि विषयों का चरणबद्ध प्रतिपादन किया गया है। सामाजिक व्यवस्था को अधिक सुदृढ़ बनाने के लिए मनु ने आश्रम-व्यवस्था के समान वर्ण-व्यवस्था को भी महत्वपूर्ण माना। वेद व मनु की वर्णव्यवस्था जन्मगत न होकर कर्मगत है। इस प्रकार हम देखते हैं कि वेदों में जो कर्म मनुष्य के लिए धर्मरूप में कह गया वह सब स्मृतियों में 'चाहिए' अर्थ में कहा गया है। संस्कृति के इतिवृत्त का नाम ही श्रुति है और सांस्कृतिक आचारों के इतिवृत्त का नाम स्मृति है। अतः हम कह सकते हैं कि स्मृतियाँ वेदानुवर्ती हैं।

3. स्मृतिकार, स्मृतियों की संख्या एवं उनका समय निर्धारण

स्मृतिकार :

मनु का कथन है कि जितने भी धर्मशास्त्र हैं वे सभी स्मृतियाँ हैं। इन धर्मशास्त्रों के रचनाकारों के सन्दर्भ में हमें पराशर स्मृति में विवरण प्राप्त होता है।

‘कल्पे-कल्पे क्षयोत्पत्त्या ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः।

श्रुतिस्मृतिसमाचारनिर्णेतारश्च सर्वदा॥’¹⁹

पराशर मुनि ने निम्न स्मृतिकारों का उल्लेख किया है-

मनु, वशिष्ठ, कश्यप, गर्ग, गौतम, उशना, अत्रि, विष्णु, संवर्त, दक्ष, अंगिरा, शातातप, हारीत, याज्ञवल्क्य, आपस्तम्ब शंख, लिखित, काव्यायन, प्राचेतस 19 स्मृतिकारों का नामोल्लिख पराशर स्मृति में मिलता है।

याज्ञवल्क्यस्मृतिकार

याज्ञवल्क्य स्मृति मनुस्मृति से अधिक व्यवस्थित रूप में है। सम्पूर्ण स्मृति अनुष्टुप छन्द में निबद्ध है। याज्ञवल्क्य ने 18 धर्मशास्त्रकारों का नामोल्लेख किया है।

“मन्वत्रिविष्णुहारीत याज्ञवल्क्योशनोडाडिगराः।

यमापस्तम्बसेवर्ताः कात्यायन बृहस्पति॥

पराशर व्यास शङ्खलिखिता दक्षगौतमौ।

शतातपो वशिष्ठश्च धर्मशास्त्र प्रयोजकाः॥²⁰

इसमें जब याज्ञवल्क्य ने पराशर एवं वशिष्ठ का नामोल्लेख किया है तो यहाँ यह स्पष्ट हो जाता है कि इन धर्मशास्त्रकारों में पौवापर्य नहीं है। जैसे ही मनु ने धर्म के स्वरूप को प्रकट किया वैसे ही इस धर्मशास्त्रकारों ने भी अपने-अपने शब्दों में धर्म को विवेचित किया।

2. मनुस्मृतिकार

भगवान् मनु और उनके धर्मशास्त्र ‘मनुस्मृति’का भारतीय साहित्य में विशेष स्थान है। शास्त्रकारों का कथन है कि - मनुस्मृति के विपरीत धर्मादि का प्रतिपादन करने वाली स्मृति प्रशस्त नहीं है। महाभारत के शांतिपर्व के अनुसार वेदों के गहन विषय में असमर्थ मनुष्यों के लिये लोकपितामह ब्रह्माजी ने अपने मानस पुत्र मनु को वेदों का सारभूत धर्म का उपदेश एक लाख श्लोकों में दिया। तत्पश्चात् उन्होंने भी इतने विस्तृत उपदेश को ग्रहण करने में असमर्थ मानव के लिये उसे संक्षिप्त कर मरीचि आदि को ऋषियों को उपदेश दिया। उनका यही उपदेश ‘मनुस्मृति’ के नाम से प्रसिद्ध है।

3. व्यास स्मृतिकार

महर्षि वेदव्यास प्रणीत ‘व्यास स्मृति’का स्मृति-वाङ्मय में विशिष्ट स्थान है। वर्तमान उपलब्ध व्यास स्मृति में 4 अध्याय 250 श्लोक हैं। इसके चतुर्थ अध्याय में दान-माहात्म्य प्रतिपादित है। दान सम्बन्धी महत्वपूर्ण विवेचन के कारण व्यास जी “दान व्यास” भी कहलाते हैं।

4. आपस्तम्बस्मृतिकार

महर्षि आपस्तम्ब प्रणीत इस स्मृति में 10 अध्याय 200 श्लोक हैं। इसमें मुख्यतया प्रायश्चित्त विधानों का विवेचन है। महर्षि आपस्तम्ब ने स्मृति के प्रारंभ

में ही गृहस्थों के लिए गौ-पालन की उत्तमता का वर्णन किया है। गौ-हत्या को महान् पाप बताते हुए गौ-सेवा को मनुष्य का परम धर्म माना है।

5. वशिष्ठ स्मृतिकार

महर्षि वशिष्ठ द्वारा प्रणीत “वशिष्ठ स्मृति” में 7 अध्याय 1150 श्लोक हैं। यह स्मृति मुख्यतः वैष्णव धर्म का प्रतिपादन करती है। इसके पाँचवें अध्याय में स्त्री धर्म, पतिव्रता स्त्रियों के कर्तव्यों का वर्णन है और शील (विनय) को नारी का प्रथम धर्म बतलाया गया है।

“शीलमेव तु नारीणां प्रधानं धर्म उच्यते।”

वशिष्ठ

6. पाराशर स्मृतिकार

महर्षि पाराशर ने एक धर्म संहिता का निर्माण किया, जो पाराशर स्मृति नाम से अत्यन्त प्रसिद्ध है। वर्तमान उपलब्ध इस स्मृति में 12 अध्याय हैं। महर्षि पाराशर युगद्रष्टा महात्मा थे। उन्होंने सत्युग, त्रैता, द्वापर, तथा कलियुग की धर्मव्यवस्था को समझकर प्राणियों के लिए सहजसाध्य-रूप धर्म की मर्यादा निर्दिष्ट की और बताया कि कलियुग में लोगो के लिये सत्ययुगादि के धर्मों का अनुष्णन दुष्कर हो जाएगा। अतः कलियुग में लोग अपनी शक्ति के अनुसार जिस धर्माचरण का पालन कर सके, उस धर्म को ही इस स्मृति में बतलाया गया है। अर्थात् इसमें युगानुरूप धर्म पर ही विशेष बल दिया है।

“कृते तु मानवा धर्म स्त्रेतायौ गौतमः स्मृतः।

द्वापरे शङ्खलिखितः कलौ पाराशरः स्मृतः॥²¹

पाराशर

7. अत्रि स्मृतिकार

वर्तमान में उपलब्ध गद्य-पद्य-मिश्रित ‘अत्रि स्मृति’⁹ अध्यायों में विभक्त है। इसमें मनु आदि आचार्यों के मतों का यत्र-तत्र बड़े ही आदरपूर्वक ख्यापन किया गया है।

8. शंखलिखित स्मृतिकार

महर्षि शंख एवं महर्षि लिखित द्वारा विरचित एक संयुक्त स्मृति भी उपलब्ध होती है। शंखलिखित स्मृति में बलिवैश्वदेवयज्ञ एवं अतिथि सेवा की महिमा का वर्णन है।

9. दक्ष स्मृतिकार

प्रजापति दक्ष विरचित 'दक्ष स्मृति'का प्राचीन महत्व है। इस धर्मशास्त्र के रचयिता महात्मा दक्ष साक्षात् ब्रह्माजी के मानस-पुत्र है।

इसमें चारों आश्रमों की आचार संहिता का बड़े ही सूक्ष्म रीति से विवेचन हुआ है। इस स्मृति की मुख्य विशेषता है- अध्यात्म योग का सुस्पष्ट विवरण प्रकाश में लाना। इसका 'नव-नवक' प्रकरण गृहस्थ व्यक्तियों के लिये महत्वपूर्ण है।

10. विश्वामित्र स्मृतिकार

विश्वामित्र गायत्री कल्प के मुख्याचार्य और गायत्री मंत्र के मुख्य दृष्य भी है। इस स्मृति में गायत्री महिमा का वर्णन प्राप्त होता है।

वृद्धगौतम स्मृति के अनुसार - मनु, बृहस्पति, दक्ष, गौतम, यम, अडिगरस, योगीश्वर, प्रचेतस्, शातातप, पाराशर, संवर्त, उशनस्, शङ्ख, लिखित, अत्रि, विष्णु, आपस्तम्ब और हारीत स्मृतिकर्ता हैं।

स्मृतियों की संख्या

स्मृतियों की यह विशाल संख्या भारतीय मनीषा का एक उदाहरण है। इन स्मृतियों में भारतीय धर्म का पारम्परिक स्वरूप में दृष्टिगोचर होता है। स्मृतियाँ वेद में निहित धर्म का पोषण करती हैं। स्मृतियों का स्वरूप इस प्रकार है कि स्मृतियों के अध्ययन के बिना भारतीय धर्म की पालना असम्भव है। स्मृतियों में ही विभिन्न यज्ञों, दान, तप, अशौच, व्रत, तीर्थ, वर्ण, आश्रम, वर्णाश्रम सम्बन्धी सभी विवरण हमें प्राप्त होते हैं।

स्मृति साहित्य अत्यन्त विशाल है। प्राचीन काल से ही स्मृति साहित्य के अन्तर्गत जिन स्मृतियों की गणना की जाती हैं, उनकी कोई निश्चित संख्या प्राप्त नहीं होती है। जिस धर्मज्ञ ने जिस स्मृति ग्रन्थ की रचना की वह उसी के नाम से विख्यात हो गई। विविध ग्रन्थों में संख्या विषयक धर्माचार्यों के जो सन्दर्भ प्राप्त होते हैं उनमें विभिन्नता मिलती है फिर भी उनके आधार पर स्मृतिग्रन्थों की संख्या का अनुमान अवश्य लगाया जा सकता है।

आचार्य गौतम ने स्मृतिकार के रूप में केवल मनु का नाम लिया है। जबकि वशिष्ठ ने पाँच²², मनुस्मृति में छः²³, बोधायन ने सात, मार्कण्डेय ने आठ²⁴, धर्मशास्त्रकारों के नामों का उल्लेख किया है।

गुरुङ पुराण में अद्वारह धर्म प्रवर्तक बताए गये हैं। स्मृतिकार पराशर ने उन्नीस²⁵, याज्ञवल्क्य ने अपने नाम सहित बीस²⁶ तथा शंख ने बीस धर्मवक्ताओं के नाम गिनाए हैं।

ऋषि भारद्वाज²⁷ एवं नारद²⁸ ने बिना किसी भेद के इक्कीस, तथा वृद्धगौतम ने सत्तावन²⁹ धर्मशास्त्रकारों का वर्णन किया है।

वीर मित्रोदय में उद्धत प्रयोगपरिजात में अद्वारह मुख्य स्मृतियों अद्वारह उप स्मृतियों तथा इक्कीस अन्य धर्मवक्ताओं के नाम दिये गये हैं।³⁰

पी. वी. काणे ने प्रमाणिक स्मृतियों की संख्या बारह स्वीकार की है। साथ ही उन्होंने निबन्ध ग्रन्थों निर्णयसिन्धु, नीलकण्ठ इत्यादि में प्राप्त सन्दर्भों के आधार पर स्मृतियों की संख्या सत्तानवे (97) अनुमानित की है।

इसके अतिरिक्त "अष्टादश स्मृति" नामक ग्रन्थ में अद्वारह स्मृतियों को तथा स्मृति संदर्भ नामक ग्रन्थ में छप्पन स्मृतियों को प्रकाशित किया गया है। जिस समय स्मृति सन्दर्भ नामक ग्रन्थ प्रकाशित हुआ उस समय छप्पन³¹ स्मृतियाँ प्रमाणरूप में विद्यमान थी, जो सात भागों में वर्ण्य विषय सहित आज भी उपलब्ध हैं।

इतना ही नहीं 'स्मृतियुक्ताफलम्' में तो अठ्ठासी हजार ऋषियों³² को धर्म प्रवर्तक बताया गया है।

स्मृतियों का प्रमुख रूप से विभाजन स्मृति, उपस्मृति तथा अन्य स्मृति के रूप में प्राप्त होता है जो विद्वानों के मतों एवं ग्रन्थों के आधार पर समीचीन प्रतीत होता है।

प्रमुख स्मृतियों में सभी स्मृतियाँ आती हैं जो अपने विषय वस्तु के कारण जगत् प्रसिद्ध हो गईं। तथा उपस्मृतियों में उन सभी का स्थान आता है जो मुख्य स्मृतियों का आधार बनाकर लिखी गईं। इसके अतिरिक्त अन्य स्मृतियों की श्रेणी में ही उन्हें रखा गया है जो मुख्य स्मृतियों एवं उपस्मृतियों की विषयवस्तु में ही किञ्चित् परिवर्तन कर लिखी गईं।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि प्राचीन धर्मशास्त्रकारों ने समयानुसार विभिन्न कालों में सामाजिक परिस्थितियों से प्रेरित होकर स्मृतियों में अपने विचारों को अभिव्यक्त किया। जिससे इनकी संख्या में

उत्तरोत्तर वृद्धि होती रही, जो आज हमें एक विस्तृत साहित्य के रूप में उपलब्ध होता है।

स्मृतियों का समय निर्धारण:

यद्यपि ऋषि प्रदत्त ज्ञान को काल की सीमाओं में आबद्ध करना निश्चित रूप से ऋषि परम्परा के अनुकूल नहीं है, तथापि वर्तमान परिप्रेक्ष्य में काल गणना एक आवश्यक विवेचन का विषय है।

स्मृतियाँ पुरातन युग से मनु का अनुगमन करके लिखी जाती रही हैं एवं प्रत्येक स्मृति का आधार मनुस्मृति ही है सभी स्मृतियों ने इस विषय को स्वीकार है। स्मृतियों की कालगणना के सन्दर्भ में पूर्व में कई प्रमाण दिये जा चुके हैं।

इससे स्पष्ट रूप से प्रमाणित होता है कि इस साहित्य का निर्माण प्राचीन ऋषियों के द्वारा ही हुआ है। श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रतु वै स्मृतिः।

इस वाक्य ने स्पष्ट कर दिया कि स्मृतियाँ भी श्रुति के ही समान महत्त्वपूर्ण कहलाती हैं भविष्य पुराण में दो बार स्मृतियों का काल निर्धारण बताया गया है। स्मृतियों के आरम्भिक काल के विषय में कहना कठिन है, क्योंकि ये किसी एक समय में नहीं अपितु देश काल, परिस्थितियों के अनुरूप पृथक् पृथक् समय में रची गई।

इनमें कुछ स्मृतियाँ गद्य के रूप में उपलब्ध होती हैं, यथा गौतमस्मृति एवं काश्यपस्मृति तो कुछ पद्य के रूप में, यथा - मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति, पराशरस्मृति इत्यादि। कुछ गद्य एवं पद्य दोनों में प्राप्त होती है, यथा शंखस्मृति विष्णुस्मृति ।

कुछ केवल सूत्ररूप में मिलती हैं, यथा बुधस्मृति। वैसे तो अधिकांश स्मृतियाँ पद्यबद्ध ही हैं। इसके अतिरिक्त कई स्मृतियाँ एक ही नाम से प्राख्य हैं तथा उनके नाम के साथ वृद्ध, बृहत्, लघु इत्यादि उपाधियाँ जुड़ी हुई हैं यथा वृद्ध मनु वृद्ध - याज्ञवल्क्य, वृद्ध-वशिष्ठ, वृद्ध गार्ग्य, वृद्ध शातातप, वृद्ध हारीत आदि।

जिससे इनका काल - निर्धारण करना असम्भव है, किन्तु प्राचीन ग्रन्थों में प्राप्त अन्तः साक्ष्य और ब्राह्म साक्ष्य से इनके रचना काल को काफी हद तक निश्चित किया जा सकता है।

सर्वप्रथम स्मृतियों के काल निर्धारण के लिए इनकी प्राचीनता पर विचार करना आवश्यक है। इसमें सन्देह नहीं है कि भारतीय समाज में परम्परागत रूप

से धर्म, दर्शन, साहित्य आदि सभी में श्रुति एवं स्मृति का एक साथ उल्लेख मिलता है।

प्राचीन ग्रन्थ महाभारत में मनु, उशना, भार्गव, बार्हस्पत्य, जामदग्न्य, नारद, मार्कण्डेय आदि स्मृतिकार के नाम आए हैं और महाभारत की रचना आज से 5000 वर्ष पूर्व हुई थी³³, जो इनकी प्राचीनता की ओर संकेत करते हैं। पाराशर स्मृति में निर्दिष्ट कृतयुग (सत्ययुग) त्रेतायुग, द्वापरयुग एवं कलियुग के आधार पर स्मृतियों को प्राचीन एवं मध्ययुगीन अर्थात् परवर्तीकाल की रचना माना जा सकता है।³⁴ प्रसिद्ध यूनानी विद्वान् अलबरूनी का यह कथन कि स्मृतियाँ वेदों से उद्भूत हैं तथा ब्रह्मा के बीस पुत्रों आपस्तम्ब, पराशर, शतपथ, साम्वर्त, दक्ष, वशिष्ट, अंगिरस, यम, विष्णु मनु, याज्ञवल्क्य, अत्रि, हारीत, लिखित, शंख गौतम बृहस्पति, काव्यायन, व्यास और दशनस ने इनकी रचना की है, जो स्मृतियों की प्राचीनता को स्वतः स्पष्ट करता है।³⁵

साथ ही स्मृतियों में वर्णित सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक व्यवस्थाओं के आधार पर इनकी रचना वैदिक काल या उसके तुरन्त बाद के काल की मानी जा सकती है।³⁶ कुछ विद्वानों ने भी इस दिशा में प्रयास किया है। पी. वी. काण महोदय ने कुछ स्मृतियों को अतिप्राचीन माना है। वे मनुस्मृति को ईसा पूर्व मानते हैं तथा याज्ञवल्क्य पराशर एवं नारदस्मृति का समय ईसा की प्रथम शताब्दी स्वीकार करते हैं। इनके अतिरिक्त अन्य स्मृतियों का समय 400-1000 ई. के मध्य माना है।³⁷

उन्होंने विभिन्न स्मृतियों का अध्ययन कर, जो काल निर्धारित किया है उसकी तालिका निम्नलिखित है³⁸:-

क्र.स.	नाम स्मृतियां	काल (समय का निर्धारण)
1	मनुस्मृति	ई.पू. दूसरी शताब्दी तथा ईसा के उपरान्त दूसरी शताब्दी के बीच
2	याज्ञवल्क्य स्मृति	ई. पू. पहली शताब्दी तथा ईसा के बाद तीसरी शताब्दी के मध्य
3	नारदस्मृति	100 ई. एवं 300 ई. के मध्य का समय।
4	पराशरस्मृति	प्रथम शताब्दी तथा पाँचवी शताब्दी के बीच का

		समय।
5	बृहस्पतिस्मृति	200 ई. एवं 400 ई. के बीच का समय
6	कात्यायनस्मृति	चौथी एवं षष्ठ शताब्दी के बीच का समय
7	पुलस्त्य स्मृति	चौथी एवं सातवीं ई. के मध्य का समय
8	पितामहस्मृति	400 ई. एवं 700 ई. के मध्य समय
9	व्यासस्मृति	ईसा के बाद दूसरी एवं पाँचवी शताब्दी के बीच का समय।
10	षट् त्रिंशन्मतस्मृति	700 ई.- 900 ई. के बीच का समय।
11	हारीत स्मृति	400 ई. तथा 700 ई. के मध्य का समय
12	अत्रिसंहिता (आत्रिसंहिता)	ईसा की प्रथम शताब्दी या उसके बाद का समय
13	जातूकर्ण्य स्मृति	तीसरी या चौथी शताब्दी का समय
14	शंखस्मृति	काणे ने शंखस्मृति का नाम तो लिया है परन्तु इसके काल के विषय में अज्ञात है।
15	देवल स्मृति	कात्यायन एवं बृहस्पति के समय

नोट - इसके अतिरिक्त काणे ने स्मृतियों पर लिखे गये भाष्य एवं निबन्ध ग्रन्थों के समय को प्रतिपादित करते हुए धर्मशास्त्र साहित्य को तीन भागों में वर्गीकृत³⁹ किया है-

क्र.स.	धर्म वर्गीकृत भाग	समय का निधारण
1	प्रथम काल	ईसा पूर्व 600 से लेकर ईसा के बाद प्रथम शताब्दी के आरम्भ तक(इसमें धर्मसूत्र एवं मनुस्मृति जैसे वृहत् ग्रन्थ आते हैं।
2	द्वितीय काल	प्रथम शताब्दी से लेकर 800 ई. तक (अधिकांश पद्यमय स्मृतियों के लिए)
3	तृतीय काल	7 वीं शताब्दी से अठारहसौ ई. तक(स्मृतियों पर किये गये भाष्य एवं निबन्ध ग्रन्थ)

स्मृतिग्रन्थों पर भाष्य तीसरे काल के अन्तिम चरण तक लिखे जाते रहे। जबकि बारहवीं शताब्दी से स्मृतियों को आधार बनाकर अनेक निबन्ध ग्रन्थ लिखे गये। यथा-

1. स्मृति चन्द्रिका
2. कल्पतरु
3. चतुर्वर्ग चिन्तामणि
4. चण्डेश्वर का विवादरत्नाकर इत्यादि।

वाचस्पति गैरोला महोदय ने प्रसिद्ध विद्वान् पी. वी. काणे के मत का समर्थन करते हुए स्मृतियों का लगभग यही समय निश्चित किया है। साथ ही इन्होंने स्मृतियों के विकास काल को अठारहवीं शताब्दी तक मानते हुए तीन वर्गों में विभाजित⁴⁰ किया है-

क्रम संख्या	वर्गों में विभाजित युग	विकास काल
1	प्रथम युग	6 वीं 100 ई. पू. का काल
2	द्वितीय युग	100 ई. से 800 ई. तक काल
3	तृतीय युग	900 से 1800 ई. तक का काल

गैरोला महोदय के अनुसार "प्रथम युग में धर्मसूत्रों का निर्धारण हुआ। द्वितीय युग में सूत्रशैली में निबद्ध धर्म सूत्रों को सरल एवं बोधगम्य बनाने के उद्देश्य से इनके व्याख्या ग्रन्थ रचे गये, जो स्मृति ग्रन्थ के रूप में प्रसिद्ध हुए। तृतीय युग स्मृति ग्रन्थों के विकास का युग माना है। इस युग में मध्यकाल में रचे गये स्मृतिग्रन्थों पर अनेक विद्वत्पूर्ण टीकाओं एवं भाष्यों का निर्धारण हुआ।"

आचार्य राजेन्द्र प्रसाद पाण्डेय ने विभिन्न ग्रन्थों एवं ग्रन्थकार के आधार पर स्मृतियों का रचनाकाल निर्धारित करने का प्रयत्न किया है।⁴¹ तदनुसार कुछ स्मृतियों का समय इस प्रकार है -

क्र.स.	स्मृतियों के नाम	समय का निर्धारण
1	मनुस्मृति	300 ई. पू. 100 ई. पू.।
2	याज्ञवल्क्यस्मृति	100 ई. पू. - 300 ई.।
3	पराशरस्मृति	100 ई.- 500 ई. तक।

4	नारदस्मृति	100 ई.- 300 के बीच।
5	बृहस्पति स्मृति	200 ई.- 400 ई. के बीच।
6	काव्यायन स्मृति	तीसरी या चौथी शताब्दी के मध्य ।
7	आङ्गिरसस्मृति	छठी - सातवीं शताब्दी के बीच।
8	दक्षस्मृति	200 ई. - 500 ई. के मध्य।
9	हारीत स्मृति	चौथी ई. - सातवीं ई. के मध्य।
10	लघुयम, बृहदयम, यमस्मृति	तीसरी - छठी शताब्दी के बीच
11	बौधायन स्मृति	मनु के बाद।
12	आपस्तम्ब स्मृति	दूसरी शताब्दी के बाद।
13	वृद्धगौतम	तीसरी पाँचवी शताब्दी।
14	शंख एवं लिखित	5 वीं -8 वीं के बीच।
15	पुलस्त्य	400 ई.-600 ई. के मध्य।
16	पितामह स्मृति (अप्राप्त)	चौथी ई. - 700 ई. के मध्य

इन सभी स्मृतियों का समय मूलतः निर्धारित किया जाए तो मनुस्मृति सबसे प्राचीन सिद्ध होती है। इसमें ऐसे तत्व निहित हैं जो वेदों के अत्यन्त समीप होने का अनुभव कराते हैं।⁴² इसके पश्चात् ही याज्ञवल्क्यस्मृति, पराशरस्मृति, नारदस्मृति बृहस्पति - स्मृति आदि अन्य स्मृतियों का समय माना जाता है, क्योंकि ये सभी स्मृतियाँ मनुस्मृति के अनुकरण पर लिखी गई हैं। अतः उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर कहा जा सकता है कि स्मृति ग्रन्थों की रचना इसी कालक्रम के मध्य में हुई है।

4. स्मृतियों का प्रतिपाद -

1. आचार (नैतिकता से सम्बन्धित)
2. व्यवहार (प्रक्रियात्मक और मूल नियमों को दर्शाता है जिसे राजा या राज्य न्याय के न्यायनिर्णयन में विवादों को निपटाने के लिए लागू करता है)
3. प्रायश्चित (किसी गलत कार्य के लिए दण्डात्मक प्रावधान)

स्मृतियों का प्रतिवाद विषय

विषय वस्तु की दृष्टि से स्मृति ग्रन्थों में उन्हीं विषयों का पद्यरूप में व्यवस्थित क्रम में वर्णन किया गया है, जिनका धर्मसूत्रों में सूत्ररूप में निरूपण मिलता है। सभी स्मृति ग्रन्थ सुव्यवस्थित एवं सुस्पष्ट शैली में रचित होने के कारण धर्मसूत्रों से अधिक महत्त्व रखते हैं। इनका वर्ण्य विषय लगभग समान ही है, किन्तु समय के अनुरूप इनमें भेद भी प्रतीत होता है। किसी स्मृतिकार ने आचार पर, किसी ने व्यवहार पर, किसी ने प्रायश्चित्त पर तो किसी ने जीवन के प्रत्येक पक्ष पर दृष्टि डाली है।

वैसे तो सभी स्मृतिकारों का मुख्य उद्देश्य सम्पूर्ण मानव जाति में सदाचार एवं नैतिकता का विकास करना है जिससे सामाजिक व्यवस्था सुदृढ़, सुस्थिर बनी रहे। स्मृतिकारों ने सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने के लिए मुख्य रूप से तीन विषयों का विशद विवेचन किया है आचार, व्यवहार, और प्रायश्चित्त। भारतीय मनीषियों ने इन तीन विषयों के अन्तर्गत ही सुदीर्घकालीन नियमों को क्रमबद्ध प्रस्तुत करने का यथा सम्भव प्रयास किया है।

(1) आचार- आचार से तात्पर्य "शुचितायुक्त" आचरण से है जिसमें किसी प्रकार की मलिनता लेशमात्र भी न हो अर्थात् सर्वथा शुद्ध, पवित्र व निर्दोष आचरण ऐसा आचरण ही सांस्कृतिक जीवन एवं धर्म का आधार है। इसी से धर्म की वृद्धि होती है। यही मनुष्य के व्यक्तित्व का निर्माण करके, उसे अनुशासित मर्यादित, नैतिक एवं सात्विक जीवन जीने के लिए उत्साहित करता है तथा उसे सामाजिक नियमों के परिपालन योग्य बनाता है। जिससे समाज और राष्ट्र (राष्ट्र) विकास की ओर उन्मुख होते हैं।

यदि मनुष्य आचार का पालन न करे तो सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था छिन्न भिन्न हो जाए। सामान्यतः सभी स्मृतिकारों ने आचार को ही धर्म का पोषक या धर्म का मूल माना है। श्रुति और स्मृति में कहा गया है कि - आचार ही परम धर्म है, आत्मकल्याण चाहने वाले मनुष्य को इसके लिए प्रयत्नवान् होना चाहिए, क्योंकि आचारहीन मनुष्यों से धर्म भी दूर रहता है।⁴³

यह संसार में निन्दित होते हुए निरन्तर दुःखभागी, रोगी एवं अल्पायु होता है।⁴⁴ आचार के अन्तर्गत वर्णाश्रम धर्म, प्रतिदिन के कर्म (ब्रह्ममुहूर्त में उठना, शौच स्नान, आचमन, उपासना, गुरु शुश्रूषा, भोज्य अभोज्य का विचार आदि

नैतिक शिक्षा, संस्कारकर्म, पञ्चमहायज्ञ, दानकर्म, जीवनवृत्ति के लिए कार्यक्षेत्र, राजधर्म इत्यादि का विवेचन है।

(2) व्यवहार - व्यवहार शब्द वि अव उपसर्गपूर्वक 'ह' धातु से घञ् प्रत्यय लगकर निष्पन्न हुआ है जिसका सामान्य अर्थ है - आचरण, व्यवसाय या न्यायालयी, कार्यविधि।⁴⁵ धर्मशास्त्र में यह विवाद या कलह के रूप में प्रयुक्त हुआ है। अतएव व्यवहार से अभिप्राय ऐसी 'विधि व्यवस्था' से है जो समाज में मनुष्यों के अधिकारों की सुरक्षा व नियमों के अनुल्लंघन के लिए स्थापित की जाती है।⁴⁶ समाज में धर्म व सत्य का नाश न हो इसलिए व्यवहार को महत्ता दी गयी।⁴⁷ जिससे नियमों का उल्लंघन करने वाले को व्यवहार के माध्यम से दण्ड दिया जा सके।

कोई भी मनुष्य किसी दूसरे के अधिकारों का हनन न कर सके अर्थात् सभी मनुष्य अपने अपने अधिकारों का समान रूप से उपभोग कर सके। अनेक प्रकार के मिथ्या विवादों का निर्णय हो सके और सभी संसार में भयरहित होकर सामाजिक नियमों के अनुसार आचरण कर सके। व्यवहार को देखने के लिए शासक के रूप में राजा को सर्वोच्च सत्ता के रूप में स्वीकार किया गया।⁴⁸ जिससे वह दृष्टों को दण्ड देकर निष्पक्ष न्याय कर सकें, क्योंकि दण्ड ही सबकी रक्षा करता है।⁴⁹ व्यवहार में राजनीति न्यायकर्ता न्याय परिषद, राज्यशासन विधि, विवादस्पद विषयों का निर्णय, दायभाग, साक्षी, लेख प्रमाण, अपराधों का दण्ड आदि अनेक विषयों का समावेश है।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में इसे 'कानून'पद से अभिहित किया गया है। इसके अन्तर्गत आजतक के दीवानी और फौजदारी के सभी कानून आते हैं।

(3) प्रायश्चित्त- स्मृतिकारों ने तृतीय प्रधान विषय के रूप में प्रायश्चित्त को वर्णित किया है। मनुष्य ज्ञानपूर्वक अथवा अज्ञानतावश कुछ ऐसा आचरण कर बैठता है जिनके शास्त्रविरुद्ध होने के कारण, वह पाप का भागी बन जाता है। इसलिए स्मृतिकारों ने पापों के निवारणार्थ विभिन्न प्रकार के प्रायश्चित्तों का विधान किया है।⁵⁰ और प्रायश्चित्त न करने पर होने वाले प्रभाव को भी बताया है⁵¹, जिससे मनुष्य शास्त्रनिषिद्ध कृत्यों का प्रायश्चित्त कर आत्मिक शान्ति को प्राप्त कर सके, जीवन को सुखी, सम्पन्न, एवं धर्मयुक्त बना सके तथा बुरे कर्मों के प्रभाव से बच सके।

प्रायश्चित्त के अन्तर्गत प्रायश्चित्त का स्वरूप, महापातक, उपपातक शौच अशौच विचार, दुष्कर्मों का फल, उपवास, पाप मुक्ति के लिए विभिन्न कृच्छ्र, सांतपन, चान्द्रायण आदि व्रतों का वर्णन है।

भारतीय चिन्तनधारा में प्रायश्चित्त एक ऐसा विषय है जिसका सीधा सम्बन्ध मनुष्य की आत्मा से है। मनुष्य के द्वारा ज्ञाताज्ञात अवस्था में अनेक त्रुटियों या अपराधों का होना स्वाभाविक है, उन अपराधों की अनुभूति एवं तदनुकूल व्रतादि का पालन प्रायश्चित्त है। प्रायश्चित्त की यह अवधारणा कर्मविपाक के सिद्धान्त से सम्पृक्त है-शुभ हो या अशुभ मनुष्य को कर्मों का फल भोगना ही पड़ता है। यदि वह पापकर्म में लिप्त होकर अज्ञान या अहंकारवश प्रायश्चित्त नहीं करता है तो वह जीवन में आत्मिक शान्ति व सुख की प्राप्ति नहीं कर पाता है। आत्मिक क्लेश के कारण उसके मन में द्वन्द्व एवं तनाव बना रहता है। ऐसे व्यक्ति को समाज में भी अपमान सहना पड़ता है, जिससे वह अत्यधिक प्रपीड़ित रहता है। यह सत्य है कि संसर्ग से ही गुण-दोष उत्पन्न होते हैं जो समाज में शान्ति-अशान्ति का कारण बने रहते हैं। मनुष्य को ऐसे दुष्परिणाम से बचाने तथा एक स्वस्थ, निर्दोष एवं विकसित समाज का निर्माण करने के उद्देश्य से ऋषियों ने प्रायश्चित्त व्यवस्था को स्थापित किया।

प्रायश्चित्त का उद्भव - प्रायश्चित्त शब्द अत्यन्त प्राचीन है। वैदिक वाङ्मय में यह दो रूपों में उपलब्ध होता है-प्रायश्चित्ति एवं प्रायश्चित्त। वहाँ पर ये दोनों शब्द समानार्थक हैं। इनमें प्रायश्चित्त की अपेक्षा प्रायश्चित्ति शब्द अधिक प्राचीन प्रतीत होता है। 'तैत्तिरीयसंहिता' में यह शब्द अनेकशः प्रयुक्त हुआ है, लेकिन पाप के अर्थ में नहीं। यहाँ इसका अर्थ है-"कोई ऐसा कार्य करना, जिससे किसी अचानक घटित घटना या अनिष्ट का मार्जन हो जाए, यथा-पकाने के पात्र का टट जाना। इस संहिता के एक अन्य स्थल पर यह पाप के प्रायश्चित्त के अर्थ में प्रयोग हुआ है।" प्रायश्चित्ति पद का व्यवहार यजुर्वेद, अथर्ववेद, मैत्रायणीसंहिता, काठकसंहिता, कपिष्ठलसंहिता तथा शतपथब्राह्मण में भी दृष्टिगोचर होता है। कौषीतकिब्राह्मण एवं जैमिनिमीमांसासूत्र में प्रायश्चित्त शब्द आया है। शबर ने जैमिनि के मीमांसासूत्र की व्याख्या में प्रायश्चित्त कदा प्रकार बतलाये हैं प्रथम यज्ञ की विधि में प्रमाद से या यज्ञोपकरण के गिरने सजा परिणाम है। उसके कुप्रभाव को सुधारने के लिए तथा द्वितीय व्यक्ति ने जो निषिद्ध कर्म किया है

उसके समाधान के लिए, यथा-सूर्योदय हो जाने के उपरान्त भी याद दैनिक अग्निहोत्र न किया जाए, तो प्रायश्चित्त करना होता है। वस्तुतः प्रायश्चित्त की अवधारणा वैदिककाल से ही अपने बीजरूप में विद्यमान है।

प्रायश्चित्त शब्द की व्युत्पत्ति एवं अर्थ: प्रायश्चित्त शब्द दो पदों के योग से बना है-प्रायः और चित्ता 'प्रायः' शब्द 'प्र' उपसर्गपूर्वक 'अय-गतौ' धातु से 'असुन्' प्रत्यय के योग से नपुंसकलिंग में निष्पन्न होता है तथा 'चित्त' शब्द 'चिती सञ्जाने' धातु से 'क्त' प्रत्यय होने पर निष्पन्न होता है जिसका अर्थ सामविधानब्राह्मण के 'अथातः प्रायश्चित्तानाम्' सूत्र की व्याख्या में आचार्य सायण ने स्पष्ट किया है। उनके अनुसार प्रायश्चित्त पद में प्रायः 'प्र' एवं 'अयः' से बना है, जिसका अर्थ है प्राप्ति। तथा चित्त का अर्थ है-ज्ञान (चिती सञ्जाने)। अतः किसी विहित धर्म का ज्ञात या अज्ञात अवस्था में पालन न किये जाने का ज्ञान हो जाने के उपरान्त धार्मिक कृत्यों का सम्पादन प्रायश्चित्त है।

पाणिनीय व्याकरण के अनुसार प्रायश्चित्त शब्द 'प्रायः' अव्यय 'चित्त' धातु से 'क्त' प्रत्यय लगने से निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है- पश्चात्ताप करना या पछतावा अर्थात् किसी पाप या अपराध को समाप्त करने के लिए निर्धारित शास्त्रीय विधान प्रायश्चित्त कहलाता है।

"प्रायः पापं विनिर्दिष्ट चित्तं तस्य विशोधनम्"⁵² इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'प्रायः' का अर्थ 'पाप' और 'चित्त' का 'शोधन' या 'शुद्धिकरण' है अर्थात् पाप का शोधन प्रायश्चित्त है। मनुस्मृति में प्रायश्चित्त को परिभाषित करते हुए, 'प्रायः' को 'तप' तथा 'चित्त' को 'निश्चय' कहा गया है, अतएव तप का निश्चय के साथ संयुक्त होना ही प्रायश्चित्त है।⁵³

याज्ञवल्क्यस्मृति की मिताक्षरा टीका में भी प्रायश्चित्त शब्द को नैमित्तिक कर्म का द्योतक माना गया है। अतः यह किसी अवसर विशेष पर भी किया जा सकता है और पाप नाश के लिए भी। इसलिये प्रायश्चित्त नैमित्तिक एवं काम्य दोनों हैं जो पूर्णरूप से पाप से सम्बद्ध हैं। मनु के मतानुसार यदि कोई व्यक्ति शास्त्रविहित अपने नित्य, नैमित्तिक कर्मों का विधिवत् सम्पादन नहीं करता है तथा शास्त्रनिषिद्ध (हिंसा, चोरी, मद्यपान, द्यूतादि) कर्मों को करता है और अत्यधिक विषयासक्ति से दुष्कर्म में प्रवृत्त रहता है तो वह पाप का भागी बनता

हैं, ऐसे पापकर्मों से मुक्त होने के लिए प्रायश्चित्त आवश्यक है। याज्ञवल्क्य का भी यही विचार है।

प्रायश्चित्त की आवश्यकता के अनुरूप पाप को सामान्यतः दो वर्गों में रखा जा सकता है- कामकृत (ज्ञानवश किया गया) तथा अकामकृत (अज्ञानवश किया गया)। यहाँ यह ध्यातव्य है कि प्रायश्चित्त किस पाप के लिए किया जाए- कामकृत या अकामकृत। इस विषय में प्राचीनकाल से ही विद्वानों में मतभेद रहा है। महर्षि शंख ने इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा है, किन्तु कुछ अन्य स्मृतिकारों ने इसका स्पष्ट उल्लेख किया है। मनु ने सभी दुष्कर्मों के लिए प्रायश्चित्त का विधान किया है, चाहे वह अज्ञानपूर्वक किया गया हो या ज्ञानपूर्वक हुआ हो। उनके अनुसार अज्ञानपूर्वक किये गये पापों का नाश वेदाभ्यास से तथा रागद्वेषादि मोहवश ज्ञानपूर्वक किये गये पापों का नाश अनेक प्रकार के प्रायश्चित्तों से होता है।⁵⁴

याज्ञवल्क्य के मत से अज्ञानवश किये गये पापों का मोचन तो प्रायश्चित्तों से हो जाता है। लेकिन ज्ञानवश किये गये पापों का शमन प्रायश्चित्तों से नहीं होता। हाँ, पापी प्रायश्चित्त कर लेने से लोक में व्यवहार के योग्य अर्थात् शिष्टजनों के संसर्ग में आ जाने के योग्य हो जाता है। यहाँ याज्ञवल्क्य का अभिप्राय है कि ज्ञानवश किये गये पापों के परिणाम अर्थात् नरकादि से मुक्ति नहीं मिलती है, किन्तु उसकी अन्तरात्मा पूर्व स्थिति को अवश्य प्राप्त कर लेती है, इसलिये पातकी को अपनी शुद्धि के लिए प्रायश्चित्त करना चाहिये।⁵⁵

आङ्गिरस ने तो ज्ञानपूर्वक किये गये पापों के लिए दुगुने प्रायश्चित्त का विधान किया है। उनके अनुसार वर्णित कार्य करने से उत्पन्न पापों को प्रायश्चित्त उसी प्रकार नष्ट कर देता है जिस प्रकार अन्धकार को उगता हुआ सूर्य नष्ट कर देता है।⁵⁶ जबकि गौतम ने दो मत प्रस्तुत किये हैं-प्रथम दुष्कृत्यों के लिए प्रायश्चित्त नहीं किया जाना चाहिए, क्योंकि कर्मों का क्षय नहीं होता, उनके फलों के भोग से ही उसका नाश सम्भव है। द्वितीय प्रायश्चित्त करना चाहिये। वस्तुतः शुद्धिकरण, मानसिक शान्ति, पाप से मुक्ति एवं सामाजिक संसर्ग-स्थापन हेतु प्रायश्चित्त अनिवार्य था और यही प्रायश्चित्त का प्रधान उद्देश्य था।

प्रायश्चित्त एवं कर्मविपाक :- मानव जीवन कर्ममय है। वह मन, वाणी, शरीर से जो भी कर्म करता है वह या तो अच्छा होता है या बुरा। व्यक्ति के

अच्छे-बुरे कर्म ही उसके सुख-दुःख के कारण हैं। सुख प्राप्त होने पर वह आनन्द का और दुःख मिलने पर तीव्र वेदना का अनुभव करता है। कभी-कभी उसे अपने दुष्कृत्य की आत्मानुभूति (पश्चात्ताप) भी होती है। भारतीय मनीषियों ने मनुष्य की इस भावना को पहचाना तथा इसे पाप और पुण्य के सिद्धान्त से जोड़ दिया। पाप और पुण्य की यह अवधारणा कर्म-पुनर्जन्म तथा स्वर्ग-नरक के सिद्धान्त से जुड़ी हुई है।

मनुष्य जो भी कर्म करता है, चाहे वह सुकृत हो या दुष्कृत उसका फल भोगना ही पड़ता है। मनु के अनुसार कुछ दुष्टात्मा व्यक्ति इस जीवन एवं पूर्व जीवन में किये गये दुराचरणों के कारण विकृत अंग-प्रत्यंग वाले हो जाते हैं।⁵⁷ उन्होंने तो यह भी कहा है कि 'किया गया सद् या असद् कर्म कभी निष्फल नहीं होता है। यदि अधर्म का फल स्वयं कर्ता को नहीं मिलता है तो उसके पुत्रों को मिलता है और यदि उसके पुत्रों को नहीं मिलता है तो पौत्रों को अवश्य मिलता है। याज्ञवल्क्य के कथनानुसार पापकर्मों के फलस्वरूप सम्यक् प्रायश्चित्त तथा पश्चात्ताप न करने पर व्यक्ति अत्यन्त भयावह एवं कष्टकारक नरकों में जाते हैं। नरक की यातनाओं को भोगने के उपरान्त पुनः इस लोक में नाना प्रकार की विभिन्न निम्न योनियों- पशुओं, कीट-पतंगों, लतादि के रूप में जन्म लेते हैं'⁵⁸ और जन्म-जन्मान्तर में नरकादि के भोग द्वारा पापों के क्षीण होने पर भोगसम्पन्न उच्च कुल में धन-धान्य से युक्त तथा विद्या से सम्पन्न होकर जन्म लेते हैं अर्थात् जब तक वह अपने दुष्कर्मों का फल भुगत नहीं लेता तब तक वह आवागमन के चक्र में बंधता रहता है। सम्भवतः इसी कारण शंख ने आदेश दिया है कि मनुष्य को पापकर्म करके उसे छिपाना नहीं चाहिए, क्योंकि छिपाने से या प्रायश्चित्त न करने पर पाप बढ़ता रहता है अर्थात् अनेक प्रकार के दोष उत्पन्न होते जाते हैं। यहाँ स्पष्ट होता है स्मृतिकार शंख भी पुनर्जन्म के सिद्धान्त को मानते हैं। इसलिये मनुष्य को पापकर्मों के दुष्परिणामों की निवृत्ति हेतु प्रायश्चित्त करना चाहिये।

यद्यपि कर्मविपाक की यह भावना मनुष्य को पाप की ओर उन्मुख होने से निवृत्त करती है फिर भी पाप करने के उपरान्त मनुष्य प्रायश्चित्त तभी कर सकता है जब उसका मन अनुताप (पश्चात्ताप) का अनुभव करे। मनु के अनुसार व्यक्ति का मन जैसे-जैसे अपने दुष्कृत्य की गम्भीरता को समझता है, उतना ही

वह आन्तरिक पाप भावना से मुक्त होता जाता है।⁵⁹ उन्होंने किसी भी प्रकार के दोषों का परिहार सामान्यतः पाँच कर्मों से माना है। प्रथम-ख्यापन-अपनी त्रुटि या दोषों का अनुभव करते हुए, सभी के समक्ष अपने दोष को कहने से, द्वितीय-अनुतापेन-पश्चात्ताप करने से कि ऐसे दुष्कर्म में प्रवृत्त होने वाले मुझ पापी को धिक्कार है' इत्यादि, तृतीय-तपसा-व्रतों की साधना से, चतुर्थ अध्ययन-वेदाभ्यास से और पञ्चम-परोपकारार्थ दान से पाप भावना का निरोध होकर भविष्य में निष्पापता की अवधारणा को बल मिलता है। यह सत्य है कि मनुष्य ज्ञानवश, अज्ञानवश और क्रोधवश अत्यन्त निकृष्ट कर्म कर बैठता है, किन्तु जब उसका क्रोध एवं अज्ञान दूर हो जाता है तब वह अपने मन में अनुभव करता है कि मुझसे दुष्कृत्य हुआ है अथवा सामाजिकों को कष्ट दिया गया है। इसके लिए जिस दण्ड को व्यक्ति और शासक नहीं दे सकते उस दण्ड को मनुष्य का अपना चैतन्य मन दे सकता है।

अन्तःकरण की ध्वनि ही मनुष्य के लिए वस्तुतः सत्य और प्रमाण होती है। जिस कार्य को व्यक्ति किसी के कहने पर भी स्वीकृत नहीं कर सकता, उसे अन्तःकरण की प्रेरणा से स्वीकृत कर तदानुरूप आचरण करने लगता है। प्रायश्चित्त के द्वारा ही मनुष्य को मानसिक, आत्मिक शान्ति और सुख की उपलब्धि होती है। प्रायश्चित्त कर लेने के उपरान्त कर्ता का मन यह निश्चय कर लेता है कि 'मैं पुनः यह दुष्कृत्य नहीं करूँगा।

अतः प्रायश्चित्त से पाप ही क्षीण नहीं होता अपितु पाप की भावना भी क्षीण होती है और मनुष्य की पापवृद्धि रुक जाती है, वह धर्म की ओर उन्मुख होता है। इस प्रकार पातकी के मानसिक विकारों को दूर करने, सन्तोष देने एवं उन्नति का एकमात्र साधन प्रायश्चित्त है।

पाप एवं प्रायश्चित्त - शंखस्मृति काल में अपराध के अनुसार प्रायश्चित्त विधान था। प्रायश्चित्तों का निर्धारण विद्वानों की परिषद् करती थी। ब्राह्मण को उपदेश देते हुए कहा गया है कि वह स्वेच्छानुसार नहीं वरन् शास्त्रानुसार तथा विद्वानों से विचार-विमर्श कर प्रायश्चित्त का विधान करे।⁶⁰ परिषद् के इस धार्मिक न्याय क्षेत्र में राजा हस्तक्षेप करता था या नहीं इसका कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता, किन्तु परिषद् राजा से अनुमति अवश्य लेती रही होगी। प्राचीनकालीन स्मृतियों में वर्णित कुछ प्रायश्चित्त जहाँ अत्यधिक कठोर, भयावह एवं मरणान्तक थे⁶¹, वहीं

इस काल में अपेक्षाकृत अत्यधिक उदार एवं सरल प्रायश्चित्तों की व्यवस्था की गई थी।

महर्षि शंख का मानना है कि प्रायश्चित्त इस प्रकार का होना चाहिये, जिससे प्राणों की हानि न हो और पापी शुद्ध हो जाये तथा ऐसी व्यवस्था नहीं होनी चाहिये कि पापी को अत्यधिक कष्ट या आपत्ति का सामना करना पड़े। उन्होंने शंखस्मृति में कहा है कि व्यक्ति को चोरों, हिंसक पशुओं, हाथी तथा शेरों से आकीर्ण अर्थात् भयानक वन में जीवन बाधा के भय से प्रायश्चित्त का अनुष्ठान नहीं करना चाहिये, सदैव जीवन की रक्षा करनी चाहिये, क्योंकि जीवन के रहते हुए ही वह कृच्छ्र व्रत, दानादि से पापमुक्त हो सकता है।

वस्तुतः शरीर ही धर्म के पालन का मूल है, अतएव शरीर प्रयत्नपूर्वक रक्षणीय है। जिस प्रकार पर्वत से जल निकलकर स्रोत बनता है उसी प्रकार धर्म शरीर से आचरित होकर सञ्चित किया जा सकता है। हारीत ने भी शंखवत् प्राणरक्षा को महत्त्व दिया है।

पापों का वर्गीकरण : महर्षि शंख ने दो प्रकार के पापों का उल्लेख किया है- महापाप (प्राणहारी पाप) और उपपाप (साधारण पाप)। याज्ञवल्क्य ने भी पाप की इन्हीं दो कोटि को स्वीकार किया है। जबकि मनु ने महापाप, उपपाप, जातिभ्रंशकर, संकरीकरण, अपात्रीकरण एवं मलिनीकरण-इन छः कोटियों का वर्णन किया है।⁶² कालान्तर में शंख, मनु एवं याज्ञवल्क्य के मत में भेद के साथ-साथ समानता भी दृष्टिगोचर होती है। अध्ययन से स्पष्ट होता है कि शंख ने मनु कथित अधिकांश कोटियों का समावेश महापाप तथा उपपाप में कर लिया है।

शंख ने महापातकों की संख्या चार मानी है-सुवर्ण की चोरी करना, सुरापान करना, ब्राह्मण की हत्या करना तथा गुरु की शय्या पर शयन करना या गुरुपत्नी से सम्भोग करना।⁶³ जबकि मनु, याज्ञवल्क्य तथा कुछ अन्य स्मृतिकारों ने पाँच महापातकों का उल्लेख किया है, जिनमें शंखविहित महापातक से क्रमभेद के साथ-साथ एक अन्य महापातक का संकलन मिलता है, यथा-ब्रह्महत्या, निषिद्ध मद्य का पान, सुवर्ण को चुराना, गुरु की भार्या से सम्भोग करना तथा इन चारों में से किसी एक के साथ वर्षभर निवास करना।

इन पाँच महापातकों की मनु एवं याज्ञवल्क्य ने विस्तृत व्याख्या दी है, जिनमें कुछ बातों में भिन्नता मिलती है। मनु के अनुसार असत्य भाषण, राजा के

यहाँ चुगलखोरी, गुरु से असत्य कहना ये ब्रह्महत्या के समान है। वेद के अभ्यास का विस्मरण, वेद की निन्दा, गवाही में असत्य भाषण, मित्र की हत्या, निन्दित तथा अभक्ष्य पदार्थों का भोजन-ये छः मद्यपान के समान है। धरोहर को न लौटाना, मनुष्य, घोड़ा, चाँदी, भूमि, हीरा, मणि आदि को चुराना-सुवर्ण चुराने के समान पातक है। अपनी सहोदर बहन, कुमारी, चण्डाली, मित्र तथा पुत्र की स्त्री के साथ संसर्ग करना-ये गुरु पत्नी के साथ सम्भोग करने के समान है। इसके साथ ही पाँच महापातकों के समान बताये गये कर्मों के क्रम में निवास करना-चार महापातकियों के साथ संसर्ग करने के समान है।⁶⁴

इसी प्रकार याज्ञवल्क्य ने भी महापातकों के समान माने जाने वाले कर्मों का उल्लेख किया है, किन्तु मनु द्वारा कथित सोने की चोरी के समान तथा गुरुपत्नी से सम्भोग के समान कर्मों को छोड़कर ब्रह्महत्या के समान तथा सुरापान के समान कर्मों में अन्तर है।

याज्ञवल्क्य के मतानुसार गुरु पर मिथ्या दोषारोपण, वेद की निन्दा, मित्र की हत्या और पठित वेद एवं शास्त्र का आलस्यवश विस्मरण-ब्रह्महत्या के समान तथा निषिद्ध पदार्थों (लहसुन, प्याज) का जानबूझकर भक्षण, कुटिलता, उत्कर्ष प्राप्ति हेतु असत्य भाषण और रजस्वला स्त्री के मुख का चुम्बन सुरापान के समान है।

स्मृतिकार शंख ने उपपातकों की कोई निश्चित संख्या नहीं दी है, उन्होंने प्रायश्चित्त विधान के साथ-ही-साथ विभिन्न उपपातकों का उल्लेख कर दिया है।⁶⁵ जबकि मनु एवं याज्ञवल्क्य ने उपपातकों की विस्तृत सूची दी है। मनु के अनुसार उपपातक हैं-गोवध, जाति तथा कर्म से दूषित व्यक्ति का यज्ञ कराना, परस्त्रीगमन, आत्मविक्रय (स्वयं को बेचना), गुरु, माता-पिता का त्याग अर्थात् उनकी सेवा-सुश्रूषा नहीं करना, वेदाध्ययन, स्मार्त अग्नि एवं पुत्र का त्याग (पुत्र को संस्कृत न करना), परिवित्ति तथा परिवेत्ता को कन्यादान करना एवं उन्हें यज्ञ कराना, कन्यादूषण, निषिद्ध ब्याज लेना, ब्रह्मचर्य व्रतलोप, तालाब, उद्यान, स्त्री एवं सन्तान का विक्रय, व्रात्यभाव (पतितसावित्री), बान्धवों का त्याग, वेतन लेकर वेद पढ़ाना, वेतन देकर पढ़ना, अविक्रेय वस्तुओं का विक्रय, सोने, चाँदी आदि की खानों पर अधिकार करना, बड़े-बड़े यन्त्रों (नदी आदि के प्रवाह को रोकने वाली मशीनों का प्रयोग) को चलाना, औषधियों की हिंसा, स्त्रियों के धन से

जीवन- निर्वाह करना, अभिचारकर्म (जादू-टोने के लिए यज्ञ करना), ईंधन के लिए वृक्षों को काटना, मात्र स्वयं के लिए भोजन पकाना (देवता या पितरों के उद्देश्य से नहीं), अभक्ष्य का भक्षण, यज्ञ नहीं करना, स्तेय, ऋण न चुकाना, निन्दित शाखों का अध्ययन, अभिनय करना (नृत्य, गीत, वाद्यादि), धान्य, सुवर्ण आदि धातुओं तथा पशुओं की चोरी करना, मद्यपान करने वाली द्विज स्त्री के साथ सम्भोग करना, शूद्र, वैश्य एवं क्षत्रिय का वध तथा नास्तिकता।⁶⁶

याज्ञवल्क्य ने भी बहुत कम भेद के साथ इसी प्रकार के उपपातकों की चर्चा की है। इन्होंने नमक बनाना, घातक हथियार बनाना, कुटिलता (कपटपूर्ण व्यवहार), व्यसन⁶⁷, शूद्र की सेवा करना, नीच व्यक्ति से मित्रता, किसी आश्रम में न रहना-को अपनी उपपातक की सूची में शामिल किया है जिनका मनु की सूची में अभाव है। इनमें से कुटिलता एवं शूद्र की सेवा का मनु ने क्रमशः जातिभ्रंशकर पाप एवं अपात्रीकरण पाप में उल्लेख किया है। उन्होंने याज्ञवल्क्य से पृथक् नदी आदि के प्रवाह को रोकने वाले बड़े-बड़े यन्त्रों को चलाना, वशीकरण या जादू-टोने के लिए यज्ञ करना, अभक्ष्य के भक्षण को उपपातक के अन्तर्गत रखा है। शंख ने जिन उपपातकों का वर्णन किया है उनमें मनु एवं याज्ञवल्क्य विहित उपपातकों में समानता के साथ-साथ बहुत कुछ अन्तर भी दृष्टिगोचर होता है, जिनका विवेचन हम उपपातकों के लिए प्रायश्चित्त में करेंगे।

शंखस्मृति में सभी प्रकार के अपराध के लिए एक विशिष्ट प्रायश्चित्त व्रत का विधान प्राप्त होता है, जो सभी पातकी को अपराध के अनुरूप करना पड़ता था। यथा- महापातकी को अधिक तथा उपपातकी को कम।

महापातकों के लिए प्रायश्चित्तः शंखस्मृति के अनुसार सुवर्ण की चोरी, सुरापान, ब्रह्महत्या एवं व्यभिचार करने वाले- इन चार महापातकों को अपने पाप से मुक्ति के लिए बारह वर्ष तक प्रायश्चित्त व्रत करना होता था, जिसमें उसे प्रतिदिन दिन में तीन बार-प्रातः, मध्याह्न एवं सांय स्नान करना, वन में पर्णकुटी बनाकर रहना, भूमि पर शयन करना, जटाओं को धारण करना, पत्ते, मूलों, फलों को खाकर रहना, भिक्षा के लिए ग्राम में प्रवेश करते समय अपने महापाप की घोषणा करना तथा दिन में केवलमात्र एक बार भोजन करना होता था। इस प्रकार बारह वर्ष व्यतीत करने पर ही महापातकी शुद्ध हो पाता था। इस व्रत के अतिरिक्त महापातकी विकल्परूप में गायत्री मंत्र का एक लाख बार जप करके भी

पाप से मुक्त हो सकता था। जहाँ शंख ने महापातकों के लिए एक ही प्रकार के व्रत का विधान किया है वहीं अधिकांशतः स्मृतिकारों ने महापातकों के लिए पृथक् पृथक् प्रायश्चित्तों की व्यवस्था की है, जिनका शंखस्मृति में अभाव है।

ब्रह्महत्या : मनु के अनुसार ब्रह्महत्या (ब्राह्मण की हत्या) करने वाले व्यक्ति को अपने पाप की शुद्धि के लिए वन में कुटिया बनाकर शव के सिर को चिह्न स्वरूप रखकर, सिर मुंडवाकर भिक्षान्न का भोजन करते हुए बारह वर्षों तक वन में निवास करना चाहिये अथवा जलती हुई अग्नि में नीचे सिर करके तीन बार अपने को डाले, जिससे मृत्यु हो जाए। यदि ऐसा न कर सके तो अश्वमेध, स्वर्जित, गोमेध, अभिजित्, विश्वजित्, त्रिवृत्, अग्निष्टुत्-इनमें से कोई एक यज्ञ को करे या स्वल्पाहार करता हुआ जितेन्द्रिय होकर किसी एक वेद को जपता हुआ, सौ योजन (400 कोश) तक गमन करे अथवा वेदज्ञाता ब्राह्मण के लिए अपनी समस्त सम्पत्ति को दे देवे अथवा ब्राह्मण या गाय की रक्षा के लिए अपने प्राण तत्काल समर्पण कर दे आदि।⁶⁸

ब्रह्महत्यारे के विषय में याज्ञवल्क्य का मत है कि वह सिर की खोपड़ी हाथ में लेकर और दूसरी खोपड़ी बांस के डंडे के ऊपर बांधकर, अपने किये हुए कर्म को सबसे बताते हुए, अल्प भोजन करते हुए, बारह वर्ष व्यतीत करने पर पापमुक्त होता है अथवा बहुत दिनों से किसी दुःसह रोग से पीड़ित ब्राह्मण को या गाय को मार्ग में देखने पर, उसको निरोग करने पर ही ब्रह्महत्यारा शुद्ध हो पाता है। इसके साथ ही याज्ञवल्क्य ने ब्रह्मघाती के लिए अन्य प्रायश्चित्तों को भी कहा है।

सुरापान - मनु के मत से सुरापान करने वाला महापातकी प्रायश्चित्त के रूप में अग्नि के समान जलती हुई सुरा का पान कर, शरीर जला लेने पर पाप से मुक्त होता था। याज्ञवल्क्य के अनुसार सुरा पीने वाले का प्रायश्चित्त मृत्यु से ही सम्पन्न हो पाता है अर्थात् उसे खौलती हुई सुरा या खौलते हुए दूध, घी अथवा गोबर को पीना पड़ता था और जब पूर्णरूप से जल उठने पर उसकी मृत्यु हो जाती थी तभी वह सुरापान के पातक से छूटता था।⁶⁹

सुवर्ण-स्तेय - सुवर्ण की चोरी करने वाले पातकी के विषय में मनु का विचार है कि वह राजा के पास जाकर अपने पातक को स्वीकार कर, राजा से दण्ड प्राप्त करे या पुराने वस्त्र को धारण किये हुए, वन में जाकर ब्रह्महत्या के

लिए कहे गये प्रायश्चित्त को करे तो वह अपराध से छुटकारा पा सकता था।⁷⁰ याज्ञवल्क्य ने भी अपराध के लिए राजा से निवेदन करने को कहा है। यदि वह ऐसा न कर सके तो सुरापान करने वाले महापातकी के लिए विहित व्रत का आचरण करते हुए, अपने भार के बराबर या जितने से ब्राह्मण सन्तुष्ट हो जाए उतना सोना दानस्वरूप देकर पातकी शुद्ध हो जाता था।⁷¹

गुरुतल्पगमन - मनु के कथनानुसार गुरुपत्नी के साथ सम्भोग करने वाले व्यक्ति को अपना अपराध स्वीकार कर, तपाए गए लोहे की शय्या पर शयन करना चाहिये तथा स्वी की तप्त लौहमूर्ति का आलिंगन करना चाहिये या उसे अपने लिङ्ग एवं अण्डकोशों को काटकर उन्हें लिए हुए, दक्षिण या दक्षिणपूर्व दिशा में तब तक सीधे चलते रहना चाहिये, जब तक वह मृत होकर गिर न पड़े, तभी वह इस महापातक से छूट सकता था। याज्ञवल्क्य ने भी इसी प्रायश्चित्त का विधान किया है।⁷² मनु एवं याज्ञवल्क्य ने इस दुष्कृत्य के लिए प्राजापत्य एवं चान्द्रायण व्रत करने का भी उपदेश दिया है।

महापातकी-संसर्ग - यदि कोई व्यक्ति इन महापातकियों के संसर्ग में एक वर्ष तक रहता था तो वह भी उतने ही पाप का भागी होता था जितना कि वह महापातकी। इसलिये उसे संसर्ग पाप से मुक्त होने के लिए महापातकों वाला ही प्रायश्चित्त करना पड़ता था। इस प्रकार मनु एवं याज्ञवल्क्य ने महापातकियों के लिए विकल्प रूप में विभिन्न प्रायश्चित्तों की व्यवस्था दी है, जिन्हें पातकी अपने सामर्थ्यानुसार कर सकता था।

उपपातकों के लिए प्रायश्चित्त - महापातकों की तुलना में उपपातक अपेक्षाकृत साधारण पाप हैं। शंखस्मृति में ऐसे पाप को करने वाले उपपातकों के लिए महापातक विहित व्रत को ही आधाररूप में ग्रहण किया गया है। जबकि कुछ अन्य स्मृतिग्रन्थों में उपपातकों के लिए भिन्न-भिन्न प्रायश्चित्त की व्यवस्था दी है। शंखस्मृति के अनुसार हम उपपातकों को सात भागों में विभक्त कर सकते हैं-प्राणिहत्या व जीवहिंसा, रजस्वला से दुष्कर्म, सम्भोग व परस्त्रीगमन, आजीविका विनाश तथा स्तेय, कूटसाक्ष्य व निक्षेपहरण, अभक्ष्य-भक्ष्य, परिवेदन विवाह तथा अन्य प्रकार के उपपातक ।

प्राणिहत्या व जीव-हिंसा - शंखस्मृति काल में किसी भी प्राणी की हत्या को एक जघन्य अपराध समझा जाता था। जो व्यक्ति धार्मिक क्रियाओं का अनुष्ठान

करने वाले, यथा-यज्ञ में उपस्थित क्षत्रिय, यज्ञ करने वाले वैश्य, अग्नि का आधान किये हुए द्विज की पत्नी तथा मित्र की एवं ब्राह्मणी के अज्ञात गर्भ की हत्या अर्थात् ऐसे भ्रूण की हत्या, जो स्त्री, पुरुष या नपुंसक के लिङ्ग ज्ञान से रहित है⁷³ तो उसे महापातकों के लिए विहित व्रत का पालन करना पड़ता था। लेकिन वनवासी ब्राह्मण को तथा पापी राजा को मारना, महापातक से भी बड़ा पाप माना जाता था, तभी तो इनकी हत्या करने पर दगुने व्रत की व्यवस्था थी।

सामान्यतः क्षत्रिय की हत्या करने पर नौ वर्ष, वैश्य की हत्या करने पर छः वर्ष तथा शूद्र की हत्या करने पर एक चौथाई अर्थात् तीन वर्ष के व्रत का विधान था। यहाँ पर ब्राह्मणादि द्विजाति के समान शूद्र की हत्या करने पर निर्धारित प्रायश्चित्त समाज में उसकी अच्छी स्थिति का सूचक है। जबकि मनु के अनुसार कामतः क्षत्रिय की हत्या करने पर ब्रह्महत्या का त्रिवार्षिक, वैश्य की हत्या में अष्टादश माह का तथा शूद्र की हत्या में नवमासिक व्रत करना चाहिये, किन्तु क्षत्रिय की हत्या यदि अकामतः हुई हो तो उसे त्रिवार्षिक व्रत कर, एक बैल सहित सहस्र गायों को दान में देना चाहिये अथवा संयमी व जटाधारी होकर ग्राम से दूर वृक्ष के नीचे निवास करते हुए तीन वर्ष तक ब्रह्महत्या के प्रायश्चित्त को करना चाहिये। यदि वैश्य की हत्या अकामतः हुई हो तो एक वर्ष तक ब्रह्महत्या के व्रत को या एक बैल सहित सौ गायों को दान में दे तथा शूद्र की अकामतः मृत्यु में छः मास तक ब्रह्महत्या के व्रत को अथवा एक बैल सहित दस गायों को दान में दे।⁷⁴ याज्ञवल्क्य ने भी क्षत्रियादि के हत्या की व्यवस्था मनुवत् दी है और यज्ञ में स्थित क्षत्रिय एवं वैश्य की हत्या करने पर ब्रह्महत्या के व्रत का विधान किया है तथा वनवासी या सोमयाग के अनुष्ठान में लगे हुए ब्राह्मण की हत्या करने पर शंखवत् दुगुने व्रत की व्यवस्था दी है।

पाराशर ने मनु एवं याज्ञवल्क्य से भिन्न प्रायश्चित्त का विधान किया है। उनके मत से निर्दोष क्षत्रिय या वैश्य की हत्या किये जाने पर ब्राह्मण को दो अतिकृच्छ्र व्रत करने के उपरान्त बीस गायों को दक्षिणा में देना चाहिये तथा अपने कार्य में सलग्न वैश्य या शूद्र की हत्या पर अथवा दुष्कर्म करने वाले ब्राह्मण की हत्या करने पर ब्राह्मण को एक मास तक चान्द्रायण व्रत करके तीस गायों को दक्षिणा में देना चाहिये।⁷⁵

शंखस्मृति में प्रत्येक वर्गों के पुरुषों की हत्या के अतिरिक्त स्त्री की हत्या करने पर भी विशेष ध्यान दिया गया है। यदि कोई स्त्री की हत्या करता था तो वह महापातकी विहित आधे व्रत को करने पर ही पापमुक्त हो पाता था। मनु एवं याज्ञवल्क्य ने दुराचारिणी तथा अधमवर्ण के पुरुष के साथ व्यभिचार करने वाली स्त्री के विषय में कहा है कि ब्राह्मणी, क्षत्रिया, वैश्या तथा शूद्रा की हत्या करने पर वर्णानुक्रम से जल भरने वाला चमड़े का मशक, धनुष, बकरा और भेड़ का दान करना चाहिये।

तत्कालीन समय में प्राणी के साथ-साथ जीव-अहिंसा पर बल दिया गया था। निर्दोष एवं निरापराधी पशु-पक्षियों की हिंसा को पाप माना जाता था और उनकी हिंसा करने वालों के लिए प्रायश्चित्त की व्यवस्था थी। पशुओं में गोहत्या को अतिनिकृष्ट कर्म माना जाता था। उसकी हत्या करने वाले पातकी को त्रिवार्षिक व्रत करना होता था। जबकि मन्वादि कुछ स्मृतिकारों ने पृथक् प्रायश्चित्त का विधान किया है। मनु के कथनानुसार गाय की हत्या करने वाला सशिखा मुण्डन कराकर, उस मृत गाय के चमड़े से शरीर को ढककर एक मास तक गोमूत्र में सिद्ध यवागू को पीते हुए, गोशाला में रहे, तत्पश्चात् दो मास तक गोमूत्र में स्नान करे तथा चौथे मास में नमक से रहित अल्पमात्रा में हविष्यान्न का सेवन करे, गाय की सेवा करे, जब गायें दिन में चरने आदि कार्यों के लिए वन में जाएं तो उनका अनुगमन करे, उनके खुरों से उड़ाई गई धूलि को पीये, रात्रि में गायों को नमस्कार कर उनके रक्षार्थ वीरासन (एक घुटना मोड़ कर बैठना या योगाभ्यास करते समय एक विशेष मुद्रा) को अवस्था में उनके समीप बैठ जाये, क्रोधरहित एवं जितेन्द्रिय बनकर उनके खड़े होने पर खड़ा हो जावे, चलने पर स्वयं चले तथा उनके बैठने पर बैठ जाए, रोग, चार या घायलादि विपदा से ग्रस्त गाय की सामर्थ्यानुसार सभी उपायों से रक्षा करे, गमा, वर्षा, शीत, आँधी या तुफान से स्वयं की रक्षा से पूर्व यथाशक्ति गाय की रक्षा कर, इस विधि से गोरक्षा करते हुए, गोघातक पाप से छूट जाता है। याज्ञवल्क्य के मत से गोहत्या करने वाला पञ्चगव्य (गोमूत्र, गोबर, दूध, दही, घृत) का पान करे, एक मास तक संयमपूर्वक गोशाला में सोये, उनकी सेवा करे तथा मास के अन्त में एक गौ का दान करे अथवा सजग होकर एक मास तक कृच्छ्र एवं अतिकृच्छ्र व्रत करे तथा दिन-रात तक उपवास करके दस गायों और एक साँड़ का दान करे।⁷⁶ पराशर ने

तो गोहत्या के दुष्फल को निर्दिष्ट करते हुए कहा है कि जो व्यक्ति गाय की हत्या कर, अपने पाप को लोकदृष्टि से छिपाने की चेष्टा करता है वह निश्चय ही कालसूत्र नामक घोर नरक में जाता है और पुनः मर्त्यलोक में उत्पन्न हो, सात जन्मों तक नपुंसक, दुःखी तथा कुष्टरोगी बनकर जीवनयापन करता है।

गोहत्या के अतिरिक्त शंख ने ग्राम्य तथा वन्य पशुओं के आधार पर प्रायश्चित्त विधान किया है। उनके अनुसार ग्राम्य पशुओं का वध करने वाले व्यक्ति को मासिक व्रत, वन्य पशुओं का वध करने वाले को पाक्षिक व्रत तथा पक्षी, साँप, जल एवं बिल में रहने वाले जीवों की हिंसा पर सप्तरात्र व्रत का विधान था। इसी प्रकार असंख्य अस्थिहीन व सहस्र अस्थि वाले जीवों की हिंसा करने पर वर्षभर ब्रह्महत्या के व्रत को करना होता था।⁷⁷ यहाँ पर शंख ने ग्राम्य तथा वन्य पशु कहकर अधिकांशतः पशुओं का समावेश कर दिया है। जबकि अन्य धर्मज्ञों ने इनका विस्तृत वर्णन किया है, जिसमें प्रायश्चित्त विषयक मतभेद द्रष्टव्य है। मनु के अनुसार बिल्ली, नेवला, नीलकण्ठ, मेंढक, कुत्ता, गोह, उल्लू एवं कौवे को मारकर शूद्रहत्या के प्रायश्चित्त को अथवा तीन रात तक दूध पीवे या एक योजन (चार कोश) गमन करे अथवा नदी में स्नान करे। साँप को मारकर काले लोहे का बना दण्ड, सूअर का वध करने पर धी से भरा घड़ा, तीतर के वध पर एक द्रोण (16 सेर) तिल, तोते का वध करने पर दो वर्ष का बछवा, क्रौञ्च पक्षी, हंस, बलाका, बगुला, मोर, वानर, बाज एवं भास (भेड़िया या शिकारी पक्षी) का वध करने पर तीन वर्ष का बछड़ा दान दे। घोड़े का वध कर वस्त्र, हाथी का वध कर पाँच नीले बैल, बकरा व भेड़ का वध कर एक-एक बैल तथा गधे का वध कर एक वर्ष का बछड़ा दान दे। कच्चे मांस खाने वाले बाघादि पशुओं का वध कर दुधारू गाय, मांस न खाने वाले मृगादि पशुओं का वध कर प्रौढतर बछिया, ऊँट का वध कर एक रत्ती (अस्सी मि.ग्रा.) सोना दान दे। मनु ने उपर्युक्त सौंपादि से लेकर ऊँट के वध तक दानों को करने में असमर्थ द्विज को विकल्प रूप में प्रत्येक पाप की निवृत्ति हेतु कृच्छ्र (प्राजापत्य) व्रत करने का विधान किया है।

अस्थि वाले (गिरगिटादि) एक सहस्र जीवों तथा अस्थिहीन खटमल, लीख, नें, मच्छर आदि बैलगाड़ी प्रमाण वाले जीवों को मारकर शूद्रहत्या के लिए विहित प्रायश्चित्त अर्थात् संयमी तथा जटाधारी होकर ग्राम से दूर वृक्ष के नीचे निवास करते हुए छः मास तक ब्रह्महत्या के व्रत को करे तथा एक बैल के साथ सौ

गायों को दक्षिणा में दे। अस्थि वाले जीवों में से किसी एक का वध करने पर ब्राह्मण को कुछ दान में दे और अस्थिहीन में से किसी एक का वध करने पर उत्पन्न पाप से मनुष्य प्राणायाम से शुद्ध हो जाता है। याज्ञवल्क्य ने भी बहुत कम भेद के साथ मनुवत् प्रायश्चित्त का विधान किया है।⁷⁸ किन्तु पाराशर ने मनु एवं याज्ञवल्क्य से भिन्न प्रायश्चित्त की व्यवस्था दी है। उनके अनुसार हंस, सारस, क्रौञ्च (बुंफज), चक्रवाक, मुर्गा, जालपाद एवं शरभ के वध से अहोरात्र व्रत से, बगुला, टिटिहरी, तोता, कबूतरों, आटियों के वध से मात्र रात्रि भोजन से, शिकारी पक्षी (भास), कौवे, कबूतर, मैना, तितिर का वध करने वाला प्रातः एवं सांय दोनों संध्याओं में जल के अन्दर प्राणायाम से, गिद्ध, बाज, मोर, ग्राह, चाष एवं उल्लू को मारने पर निराहर रहने से, चमगादड़, चिड़िया, कोयल, खज्जरीट, बटेर एवं रक्तपाद पक्षियों के वध पर रात्रि में एक समय भोजन से, कारण्डव (हंस विशेष), चकोर, पिंगला (छोटा उल्लू), कुरर, भारद्वाज पक्षी के वध पर शिव पूजा से, भेरुण्ड, कपिञ्जल तथा अन्य सब पक्षियों की हिंसा पर अहोरात्र के व्रत से, नेवले, बिलाव, साँप, अजगर एवं जलसर्प के वध पर ब्राह्मणों को खिचड़ी खिलाने तथा लौहदण्ड दक्षिणा में देने से शुद्धि होती है।⁷⁹ इसी प्रकार उन्होंने अन्य जीव-जन्तुओं का भी उल्लेख किया है।

रजस्वला से दुष्कर्म, सम्भोग व परस्त्रीगमन:- धर्मज्ञों ने आरम्भ से ही स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध में पवित्रता एवं मर्यादा को अधिक महत्त्व दिया और उसका उल्लंघन करने वालों के लिए प्रायश्चित्त विधान किया। रजस्वला से दुष्कर्म अधतम कर्म माना जाता था, ऐसे अपराधी को महापातकों के लिए विहित व्रत को करना होता था।⁸⁰ लेकिन रजस्वला से सम्भोग तथा परस्त्रीगमन करने पर एक चौथाई अर्थात् त्रिवार्षिक व्रत का विधान था।

मनु के मत में यदि व्यक्ति रजस्वला से सम्भोग करता है तब उस पापी को गोमूत्र, गोबर, दूध, दही, घी तथा कुशा का जल-इनमें से प्रत्येक का एक-एक दिन सेवन करके, सातवें दिन उपवास करे। इस प्रकार वह 'कृच्छ्रसान्तपन' व्रत को करते हुए पाप से मुक्त हो जाता है।⁸¹

याज्ञवल्क्य के कथनानुसार अन्य स्त्री के अतिरिक्त अपनी पत्नी के भी रजस्वला होने पर सम्भोग करे तो तीन दिन उपवास करके तथा घृत का पान करके शुद्धि को प्राप्त करे। रजस्वला के अतिरिक्त मनु एवं याज्ञवल्क्य ने सहोदर

बहन, मित्र की स्त्री, पुत्र की पत्नी, कुंवारी कन्या, चाण्डाली आदि के साथ सम्भोग करने पर गुरुपत्नी के साथ सम्भोग करने के प्रायश्चित्त का विधान किया है।⁸² जो शंखस्मृति में अनुपलब्ध है। परस्त्रीगमन के विषय में सम्बर्त्त का मत है कि जो कामवश क्षत्रिया या वैश्या स्त्री में गमन करे, वह 'सांतपनकृच्छ्र' से, शूद्रा में गमन करने पर गोमूत्र में सिद्ध हुए आहार का सेवन अर्धमास तक करने से तथा स्वकुटुम्बी एवं परकुटुम्बी स्त्री में गमन करने पर ब्राह्मण 'प्राजापत्यकृच्छ्र' से शुद्ध होता है।⁸³ अगम्यगमन में स्त्री के लिए भी पुरुषवत् प्रायश्चित्त विधान था। मनु के विचार से यदि स्त्री कामवश अथवा अकामवश अन्य पुरुषों में गमन करती है तो उसे पुरुष के लिए विहित परस्त्रीगमन के प्रायश्चित्त को करना चाहिए। यह प्रायश्चित्त उसे घर में रहकर ही करना चाहिए, किसी अन्य स्थान पर नहीं।

आजीविका विनाश तथा स्तेय:- किसी भी वर्ण के व्यक्ति की आजीविका को नष्ट करना तथा भूमि का अपहरण करना घोर अपराध था। जो किसी की हत्या करने के अपराध से कम नहीं माना जाता था, ऐसे अपराधी को उस उस वर्ण के व्यक्ति की हत्या के लिए विहित प्रायश्चित्त को करना होता था⁸⁴, यथा-क्षत्रिय को नववार्षिक, वैश्य को षड्वार्षिक तथा शूद्र को त्रिवार्षिक व्रत। यहाँ पर ब्राह्मणादि के समान शूद्र की भूमि को अपहृत करने पर प्रायश्चित्त विधान समाज में उसके प्रति उदार भावना के दर्शन की अभिव्यक्ति करता है।

इसके अतिरिक्त जिसकी मृत्यु हो चुकी है, ऐसे व्यक्ति के धन को उत्तराधिकारी के रूप में लेकर तथा उसके लिए प्रेतकर्मों को न करके, प्रत्येक वर्ण के व्यक्ति को इसी प्रकार व्रत करना पड़ता था।⁸⁵ किसी भी प्रकार की वस्तु की चोरी करना पाप था। गाय, बकरी, अश्व, मणि, चाँदी एवं जल का अपहरण करने पर वार्षिक व्रत, तिल, धान्य, वस्त्र, मद्य एवं मांस की चोरी करने वाले को अर्धवार्षिक व्रत, घास, गन्ना, लकड़ी, छाछ, रसों (गुड़, घृतादि), गन्धों (मसालों) तथा घृत की चोरी करने पर मासिक व्रत, लवण, गुड़, मूल एवं फलों को ले लेने पर अर्धमासिक व्रत तथा लौह, बांस के टोकरे, सूत एवं चमड़े की चोरी करने पर पातकी एक रातभर के व्रत से शुद्ध होता था।⁸⁶

मनु ने दास-दासी, खेत, भूमि एवं जलहरण के लिए चान्द्रायण व्रत⁸⁷, भक्ष्य (मिठाई आदि), भोज्य (खीर आदि), यान, शय्या, आसन, फूल एवं फल के स्तेय पर पञ्चगव्य पीने का, तिनके, लकड़ी, वृक्ष, सूखा अन्न-गेहूँ, धान,

चावलादि, गुड़, वस्त्र, चमड़ा एवं मांस की चोरी करने पर तीन रात के उपवास का, मणि, मोती, मूंगा, ताँबा, चाँदी, लोहा, काँसा आदि धातुओं की चोरी में बारह दिन तक कण (खुट्टी) भक्षण का, सूती, रेशमी, ऊनी वस्त्र, दो खुर वाले-गाय, बैल, भैंस आदि, एक खुर वाले-घोड़ा, गधा आदि पशु, पक्षी, गन्ध-कर्पूर, कस्तूरी, चन्दन आदि, औषधि एवं रस्सी को चुराने पर तीन दिन तक दुग्धपान का विधान किया है। जबकि याज्ञवल्क्य ने घोड़ा, रत्न, मनुष्य, स्त्री, भूमि एवं गाय को सुवर्ण की चोरी के समान मानते हुए, ब्राह्मण सुवर्ण के स्तेय में विहित प्रायश्चित्त की व्यवस्था दी है।

कूटसाक्ष्य व निक्षेपहरण - किसी को मिथ्या या कूट साक्ष्य देकर आरोपित सिद्ध करने का प्रयास करना या कराना, धरोहर को न लौटाना एवं शरणागत का परित्याग करना महापातक के समान माना जाता था और ऐसे अपराधी को महापातकों के लिए विहित व्रत को करने का विधान था।⁸⁸ स्मृतिकार मनु ने सुवर्ण या भूमि आदि की गवाही में असत्य बोलने तथा धरोहर का अपहरण करने पर ब्रह्महत्या के समान प्रायश्चित्त कहा है।⁸⁹ उन्होंने शरणागत का परित्याग करने वाले द्विज के लिए एक वर्ष तक यव के आहार से पापमुक्ति बतलायी है। यहाँ पर निक्षेपहरण में इतने कठोर प्रायश्चित्त के विधान का कारण सम्भवतः स्त्री आदि बहुमूल्य वस्तुएँ थी, क्योंकि धरोहर के रूप में सुवर्ण, भूमि के अतिरिक्त स्त्री भी हो सकती है।

अभक्ष्य-भक्ष्य - तत्कालीन समय में विभिन्न प्रकार के खाद्य पदार्थों शाक-सब्जी, मांस, दूध आदि की पवित्रता को अत्यधिक महत्त्व दिया जाता था। यदि कोई शास्त्रनिषिद्ध खाद्य पदार्थों का सेवन करता था तो उसके लिए प्रायश्चित्त विधान था। मनु ने कहा है कि आन्तरिक शुचिता चाहने वाले को निषिद्ध भोजन नहीं खाना चाहिये, यदि उसने अज्ञानवश भोजन खा लिया है तो वमन कर देना चाहिये, यदि वह ऐसा न कर सके तो शुद्धिकारक प्रायश्चित्तों से शुद्धि कर लेनी चाहिये। अभक्ष्य के भक्षण पर प्रायश्चित्त निम्न प्रकार से था

शाक-सब्जी के अन्तर्गत प्याज, लहसुन, मद्य, खुम्भ (कवक) का भक्षण कर संवत्सर व्रत से⁹⁰, वृक्षों की छाल से बाहर निकले हुए लाल गोंद व काटने से उत्पन्न हुए गोद, शुक्त⁹¹ मात्र को, बासी भोजन एवं गुड़ के शुक्त को खाकर तीन दिन के व्रत से शुद्ध होता था। लेकिन घृत मिश्रित गुड़ से बना शुक्त एवं जौ व

गेहूँ से बने सभी पदार्थ भक्षण के योग्य थे। यहाँ पर लहसुन, प्याज आदि खाद्य पदार्थों को वर्जित इसलिए माना गया है, क्योंकि ये सभी खाद्य पदार्थ दुर्गन्धयुक्त, तामसिक और राजसिक हैं।

इनका सेवन करने वाले व्यक्ति का मन एवं स्वभाव भी उसी प्रकार का हो जाता है। शाण्डिल्यस्मृति में कहा गया है कि अशुद्ध अन्न खाने से काम, क्रोध और लोभ की वृद्धि होती है, शरीर को निद्रा, आलस्य आदि दोषों के साथ-साथ अनेक प्रकार के रोग भी घेर लेते हैं तथा व्यक्ति की आयु क्षीण होती जाती है।⁹² इसलिये इनका प्रयत्नपूर्वक त्याग करना चाहिये।

उस समय मांस भक्षण होता था तथापि कुछ पशु, पक्षी, मत्स्यादि के मांस का निषेध था, जिनके भक्षण पर प्रायश्चित्त से शुद्धि मानी जाती थी। घरेलू सूअर, गधे का मांस, गोधा (गोह), हाथी, ऊँट, पञ्चनख पशुओं (गोधा, कछुआ, सेह, गैंडा एवं खरगोश), मांसाहारी जीव तथा मुर्गे का भक्षण कर वार्षिक व्रत से शुद्धि प्राप्त करता था। यद्यपि पञ्चनख पशु खाने योग्य थे फिर भी इनको मारकर व्रत करना होता था।

हंस, मद्रु (पनकौआ), बगुला, कौआ, काकोल, खज्जरीटक, मछलीखोर, मछली, बलाका, तोता, मैना, चकवा, प्लव (जल का पक्षी या शकटबिल नामक बक), कोक, मेंढक, सर्प, राजीव (बरारी या पं के समान रंग वाली), सिंहतुण्ड एवं शकुल खाप की मछलियों का भक्षण करने वाला, इनको खाए बिना, मासिक व्रत से शुद्ध होता था।⁹³

मछलियों में पाठीन (पोठा या पोठिया) एवं रोहित नामक मछलियाँ खाने के योग्य बतलायी गयी हैं। जल में उत्पन्न होने वाले, उसमें विचरण करने वाले, मुख के अग्र भाग में बने नख वाले पक्षियों को, लाल पाँव वाले पक्षियों को, जाल जैसे पाँव वाले पक्षियों को खाने पर साप्ताहिक व्रत का, दोनों जबड़ों में दाँतों वाले, एक खुर वाले, दाँतों वाले पशुओं को मारकर एवं उनके मांस का भक्षण कर अर्धमास तक व्रत का, स्वयं मरे हुए भैंसे व बकरी के खराब मांस एवं गाय के अमेध्य (जो दूध पीने योग्य नहीं है) का सेवन कर पाक्षिक व्रत का, राजीव मृग को भूनकर जो कबाब बनाया जाता है उसका जानबूझकर भक्षण करने पर वार्षिक व्रत का विधान था, किन्तु राजवाडव नामक मृग का मांस बांसी होने पर भी भक्ष्य था। मांस भक्षण का निषेध एवं निन्दा इसलिए की गई है, क्योंकि जीवों की हत्या

किये बिना मांस प्राप्त नहीं होता और उनकी हत्या करना सुख का साधन नहीं है⁹⁴, जो व्यक्ति अपने सुख (जिह्वास्वाद के लिए) निर्दोष जीवों की हत्या करता है, वह इस संसार में जीते हुए तथा मरकर भी सुख को प्राप्त नहीं करता।⁹⁵

यहाँ तक कि मांस भक्षण में थोड़ा सा सहयोग देने वाले को भी अपराधी माना गया है। यम ने तो मांस खाने वाले को सबसे बड़ा पापी कहा है।⁹⁶ अतएव मांस भक्षण का त्याग करने वाला ही सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करता है, ऐसी धारणा है।

निषिद्ध दुग्ध-पान के विषय में भी अनेक नियम थे। शंख के अनुसार-बिना बछड़े वाली गाय का, सन्धिनी गाय का दूध पीकर पाक्षिक व्रत से तथा इस प्रकार के दूध से बने पदार्थों के भक्षण पर सात दिन के व्रत से शुद्धि होती थी। लेकिन कुछ पदार्थ, यथा-शुक्तों में दही एवं दही से बने अन्य पदार्थ तथा पीने योग्य दूध से बने सब पदार्थ भक्ष्य थे।⁹⁷ यहाँ पर गाय, भैंस, बकरी आदि के दूध को एक विशिष्ट समय पर छोड़कर पीने का विधान इसलिए किया गया है, क्योंकि इनका दूध स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त लाभदायक होता है। वह जीवन को शक्ति प्रदान करता है तथा पित्त, अतिसार, क्षय एवं ज्वर आदि रोगों को दूर करता है।

मनु एवं याज्ञवल्क्य ने भी इसी प्रकार अभक्ष्य-भक्ष्य-शाक-सब्जी, मांस एवं दुग्ध का विस्तृत वर्णन किया है⁹⁸, किन्तु इन सभी खाद्य पदार्थों के भक्षण पर शंख से भिन्न प्रायश्चित्त का विधान किया है। मनु ने कवक (कुकुरमुत्ता), ग्राम्य सूअर, लहसुन, मुर्गा, प्याज एवं गृञ्जन (सलजम) के ज्ञानपूर्वक भक्षण करने वाले को पतित माना है और उसके लिए कृच्छ्रसान्तपन' या 'यतिचान्द्रायण' व्रत का विधान किया है तथा अन्य सभी अभक्ष्य पदार्थों को खाने पर एक दिन के उपवास की व्यवस्था दी। साथ ही यह भी कहा है कि यदि व्यक्ति (द्विज) अज्ञात रूप में किसी अभक्ष्य पदार्थ को खाये तो यह शुद्धि के लिए वर्ष में एक बार 'प्राजापत्यकृच्छ्र' को अवश्य करे तथा ज्ञातरूप में खाये अभक्ष्य की शुद्धि के लिए पूर्व कथित प्रायश्चित्त अर्थात् एक दिन के उपवास को ही करे। जबकि याज्ञवल्क्य ने प्याज, ग्राम सूअर, कुकुरमुत्ता, मुर्गा, लहसुन, गृञ्जन के भक्षण पर 'चान्द्रायण व्रत' का तथा अन्य सभी अभक्ष्य दूध, मांस आदि पदार्थों के भक्षण पर तीन दिन के उपवास का विधान किया है।⁹⁹

शाक-सब्जी आदि के अतिरिक्त मनुष्य शरीर से उत्सर्जित मल का भक्षण पाप था। यह मल बारह प्रकार का बताया गया है-वसा (चर्बी), शुक्र (वीर्य), रुधिर, मज्जा (मस्तिष्क स्थित धातु-विशेष), मूत्र, विट् (विष्ठा), घ्राणविट् (नाक की मैल), कर्णविट् (कान की मैल), कफ, अश्रु, अश्रुदूषिका (आँख की मैल) तथा स्वेद (पसीना)। जिनका ज्ञानवश भक्षण करने पर व्यक्ति वार्षिक व्रत से शुद्धि प्राप्त करता था।¹⁰⁰ विज्ञानेश्वर ने इनमें वसा, शुक्र, रुधिर, मज्जा, मूत्र एवं विष्ठा के भक्षण में अधिक तथा घ्राणविट्, कर्णविट्, कफ, अश्रु, अश्रुदूषिका, स्वेद-इन छः के भक्षण में मूत्रपुरीषादि के भक्षण की अपेक्षा आधे प्रायश्चित्त का निर्देश दिया है।

शंखस्मृति में ऐसे बहुत से व्यक्तियों का उल्लेख मिलता है, जिनका भोजन अपवित्र माना जाता था। ऐसे व्यक्तियों के द्वारा उपस्थित भोजन 'परिग्रहदुष्ट भोजन'¹⁰¹ कहलाता था, जो त्याज्य था। वस्तुतः इस काल में खान-पान विषयक सामाजिक बन्धन कठोर थे, विशेषकर ब्राह्मण वर्ग के लिए। शुद्ध के अन्न से परिपुष्ट हान वाले ब्राह्मण को 'पंक्तिदूषक' कहा जाता था।¹⁰²

शूद्र अपने तामसिक गुणों एवं तामसिक भोजन के कारण निकृष्ट या निम्न माना जाता रहा होगा, तभी तो ब्राह्मण के लिए उसके अन्न भक्षण का निषेध किया गया है। यदि वह (ब्राह्मण) शूद्र, नट, चिकित्सक, नीच व्यक्ति, स्त्री, मृगों से आजीविका चलाने वाले, नपुंसक, व्यभिचारिणी स्त्री, बन्धन में बांधने वाले, कैदी, चोर, बांझ स्त्री, चमार, रागी, नामर्द, पतित, सुवर्णकार, धूर्त, ब्याज से आजीविका चलाने वाले, नीच, निर्दयी, वैश्या (गणिका), जुआरी, गणों (सामूहिक), राजा, कुत्तों को बेचने वाले, मूँज से आजीविका चलाने वाले एवं सूतिका (नवप्रसूता स्त्री) के अन्न का सेवन करता था तो वह मासिक व्रत से शुद्ध होता था।¹⁰³

इसी प्रकार वह शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय एवं ब्राह्मण के अन्न का निरन्तर भक्षण करने पर क्रमशः छः मास, तीन मास, दो मास एवं एक मास तक के व्रत से शुद्धि को प्राप्त करता था¹⁰⁴ यहाँ यह स्पष्ट नहीं होता है कि जिस ब्राह्मण एवं राजा का अन्न अभक्ष्य माना है, वे सदाचार से युक्त है या पतित। सम्भवतः सदाचार से हीन का अन्न भक्षण करने पर ही इस प्रकार का विधान होगा।

शंखस्मृति के एक अन्य स्थल पर शंख ने बुद्धिपूर्वक भक्षण करने की स्थिति में 'चान्द्रायण व्रत' का विधान किया है। मनु एवं याज्ञवल्क्य ने बहुत कम

अन्तर के साथ इनका उल्लेख किया है। मनु ने परिग्रहदुष्ट भोजन में परिगणित किसी भी प्रकार के अभोज्य का अन्न अज्ञानपूर्वक खाने पर तीन दिन के उपवास का तथा ज्ञानपूर्वक अन्न ग्रहण करने पर 'कृच्छ्र' (प्राजापत्य) व्रत का विधान किया है।¹⁰⁵ याज्ञवल्क्य ने इसी प्रकार के अन्न का ज्ञानपूर्वक भक्षण करने पर तीन दिन के उपवास की व्यवस्था दी है।

संसर्गदुष्ट भोजन का निषेध था। मनुष्य के उच्छिष्ट का भक्षण या अन्य किसी निकृष्ट सम्पर्क के कारण दूषित भोजन 'संसर्गदुष्ट' कहलाता है। ऐसे भोजन के सेवन पर प्रायश्चित्त विधान था, यथा-शूद्र की झूठन खाने पर ब्राह्मण को मासभर, वैश्य का उच्छिष्ट खाने पर पक्षभर (पन्द्रह दिन), क्षत्रिय का झूठा खाने पर एक सप्ताह एवं ब्राह्मण का उच्छिष्ट खाने पर एक दिन का व्रत करना होता था, लेकिन श्राद्ध में झूठा खाने पर विद्वान् ब्राह्मण को मासभर व्रत का विधान था।¹⁰⁶

इसी प्रकार कौवे से आस्वादित व गाय द्वारा सूँघे हुए भोजन के भक्षण पर पाक्षिक व्रत से, केशों, कीड़ों, चूहों, बन्दरों, मक्खियों एवं मच्छरों से दूषित भोजन करने पर तीन रात के व्रत से शुद्धि को प्राप्त करता था। भोजन के साथ-साथ जल की पवित्रता को भी महत्त्व दिया गया था। इसलिये स्वच्छ पात्रों की आवश्यकता पर बल दिया गया है। यदि कोई ब्राह्मण सुरा के पात्र में तथा किसी अन्य मादक द्रव्यों के पात्रों में रखे हुए, जल का पान करता था तो उसे क्रमशः पाक्षिक एवं साप्ताहिक व्रत करना पड़ता था¹⁰⁷, क्योंकि सुरा या किसी मादक द्रव्यों के पात्रों के संसर्ग से जल पीने योग्य नहीं रहता।

मनु ने उपर्युक्त संसर्गदुष्ट भोजन के अज्ञानपूर्वक भक्षण पर तीन दिन के उपवास की तथा ज्ञानपूर्वक खाने पर 'प्राजापत्य व्रत' की व्यवस्था दी है तथा मद्य (मदिरा) के पात्र का जलपान करने पर शङ्खपुष्पी नामक औषधियों को डालकर पकाये हुए दूध को पाँच रात्रि तक पीने का विधान किया है। याज्ञवल्क्य ने इस प्रकार के भोजन खाने पर तीन दिन के उपवास का नियम दिया है।¹⁰⁸

क्रियादुष्ट भोजन अभोज्य था। भोजन से सम्बन्धित वे सभी क्रियायें, जो शिष्टाचार की परिधि में नहीं आती, ऐसी क्रियाओं से दूषित भोजन 'क्रियादुष्ट' कहा जाता है, यथा-देवता, पितर आदि को न देकर केवलमात्र अपने लिए भोजन बनाने वाला पाप का भागी माना जाता था, ऐसा व्यक्ति तीन दिन के व्रत से हा

पापमुक्त हो सकता था।¹⁰⁹ इस विषय में एक श्रुति प्रचलित है-"केवलाघो भवति केवलादी¹¹⁰ अर्थात् जो किसी का ध्यान रखे बिना स्वयं खाता है, वह अकेला अपने पापों का भोग करता है, किन्तु जो देवताओं, प्राणियों, पितरों एवं अतिथियों को खिलाकर खाता है, वही वास्तविक रूप से खाता है। इसके साथ ही ऐसा व्यक्ति (ब्राह्मण) जो भोजन परोसते समय, भोजन के लिए एक ही पंक्ति में बैठे हुए लोगों को न्यून-अधिक देता था, वह भी पापी समझा जाता था, जो पक्षभर के व्रत से शुद्ध होता था।

भावदुष्ट भोजन त्याज्य था। वाणी एवं विचारों से तिरस्कारपूर्वक दिया गया भोजन अथवा मन को दूषित करने वाला भोजन 'भावदुष्ट' कहलाता है।¹¹¹ इस प्रकार के भोजन का भक्षण करने पर ब्राह्मण तीन दिन के व्रत से शुद्धि प्राप्त करता था। अतएव ऐसे भोजन का त्याग करना चाहिये।

परिवेदन विवाह - परिवेदन विवाह करने पर प्रायश्चित्त था। परिवेदन विवाह अर्थात् बड़े सहोदर भाई के अविवाहित रहते हुए छोटा भाई यदि विवाह करता था तो ऐसा विवाह 'परिवेदन' कहा जाता था। विवाह करने वाला छोटा भाई 'परिवेत्ता', बड़ा भाई 'परिवित्ति', कन्या 'परिवेदनी', कन्या दान करने वाला 'परिदायी' तथा विवाह सम्पन्न कराने वाला याजक 'परियष्टा' कहलाता था।¹¹²

शंख के मत से वह बड़ा भाई जिससे पहले छोटा भाई विवाह करता था, वह छोटा भाई जो अपने बड़े भाई से पहले विवाह करता था, वह कन्या जिसके साथ विवाह किया गया है। कन्या का दान करने वाला पिता और विवाह संस्कार करने वाला याजक-ये सभी पाप के भागी माने जाते थे और इन पाँचों के लिए संवत्सर व्रत का विधान था। मनु ने तो इन पाँचों को नरकगामी कहा है।¹¹³ पराशर ने भी इन्हें नरकगामी माना है और पाप निवृत्ति के लिए परिवेत्ता तथा परिवित्ति में से प्रत्येक के लिए दो कृच्छ्र (प्राजापत्य), परिवेदनी के लिए एक कृच्छ्र, परिदायी के लिए कच्छ्र व अतिकृच्छ्र दोनों तथा परियष्टा के लिए चान्द्रायण व्रत से शुद्धि कही है।¹¹⁴

अन्य प्रकार के उपपातक - कुछ अन्य उपपातक थे, यथा-यदि ब्राह्मण को नीली (नीला रंगा) की लकड़ी से, कुत्ते के काटने से, वेश्या के दाँत से घाव ही जाता था तो उसे तीन दिन तक व्रत करके, फिर अपने पाँवों को अग्नि पर तपाकर तथा

अग्नि को पाँवों के नीचे डालकर एवं कुशाओं से अपने पाँवों को धोकर (माँजकर) एक दिन का व्रत करना होता था। नीली से रंगे हुए वस्त्र को धारण कर, जिसको छूने से स्नान करना योग्य हो, उसके अन्न का भक्षण कर, झाड़ियों एवं बैलों को काटकर, ढाक से बनी शय्या पर बैठकर तथा यान, आसन और खड़ाऊँ पर आरुढ़ होकर तीन दिन के व्रत से शुद्धि पाता था। मनु ने कुत्ता, सियार, गधा, बिल्ली, घोड़ा, ऊँट, सूअर आदि के काटने पर प्राणायाम से¹¹⁵ तथा याज्ञवल्क्य ने व्यभिचारिणी स्त्री, बन्दर आदि के काटने पर जल में खड़े होकर प्राणायाम करने एवं घी खाने से शुद्धि बतलायी है।¹¹⁶

दिन में स्त्री से सम्भोग करने वाला, निरवस्त्र होकर जल में स्नान करने वाला एवं पराई निरवस्त्र स्त्री को देखकर एक दिन के व्रत से, अग्नि एवं जल में अपवित्र द्रव्य को डालकर, अपने से बड़े पर क्रोध करके एक मास तक के व्रत से, कहीं पीने से शेष बचे पानी को पीकर या बाएँ हाथ से पानी को पीकर तीन दिन के व्रत से, ब्राह्मण से अशिष्ट व्यवहार करने पर, अपने से बड़े-गुरु, पिता आदि श्रेष्ठजनों को 'तू' कहकर पुकारने पर एक दिन के व्रत से शुद्ध होता था।¹¹⁷ मनु ने दिन में स्त्री से सम्भोग करने पर सवस्त्र स्नान से, जल में नग्न होकर स्नान करने पर प्राणायाम से, जल को मल-मूत्र से दूषित करने पर वस्त्रसहित स्नान कर व ग्राम के बाहर गौ के स्पर्श से, अपने से बड़ों पर क्रोध करने व 'तू' कहकर सम्बोधित करने पर स्नान करके, शेष दिन उपवास एवं प्रणाम कर प्रसन्न करने से शुद्धि कही है।

याज्ञवल्क्य ने नग्न स्नान करने व दिन में सम्भोग करने पर जल में प्रवेश कर प्राणायाम एवं स्नान करने से तथा बड़ों से अशिष्टतापूर्वक व्यवहार करने पर शीघ्र उनके पैरों में गिरकर उन्हें प्रसन्न करने से शुद्धि बतलायी है।

उपर्युक्त प्रायश्चित्त ब्राह्मण के लिए विहित थे। ब्राह्मण के अतिरिक्त क्षत्रिय एवं वैश्य के लिए भी प्रायश्चित्त की व्यवस्था थी, जिसका अति संक्षेप में उल्लेख मिलता है। क्षत्रिय के लिए कहा गया है कि यदि वह अपने क्षात्रधर्म का पालन नहीं करता था अर्थात् युद्ध से पलायन करता था और फल देने वाले वृक्षों का छेदन करता था तो वह वार्षिक व्रत कर पाप से मुक्त होता था।¹¹⁸

इसी प्रकार यदि कोई विक्रेता (वणिक्) हाथ में तराजू लेकर कम तोलता और निषिद्ध वस्तुओं-लवण एवं मद्य का विक्रय करता था तो वह एक दिन के

व्रत से शुद्ध होता था, किन्तु मांस एवं तिलों का विक्रय करने पर 'महाव्रत करने का विधान था। यह महाव्रत क्या है? स्मृति में इसका वर्णन नहीं किया गया है, मात्र नामोल्लेख मिलता है।¹¹⁹ मन याज्ञवल्क्य ने भी वृक्षों आदि को ईधन के निमित्त काटना उपपातक माना है। पाप से शुद्धि हेतु प्रायश्चित्त व्यवस्था दी है। उनके अनुसार फल देने वाले गुल्म (गुडूची आदि औषधि), लता और बेल के छेदन पर गायत्री का मौन करना चाहिये तथा कृषि से और वन आदि में स्वयं उत्पन्न औषधियों को काटने पर दिनभर दूध पीकर गाय की सेवा करनी चाहिये।

प्रायश्चित्त व्रतों का परिचय

धर्मशास्त्रकारों ने विभिन्न प्रकार के व्रतों को प्रायश्चित्त का साधन माना है। उन्होंने अनेक स्थलों पर कृच्छ्रादि व्रतों का नामोल्लेख करते दाम कि अमुक पाप की शुद्धि अमुक व्रत करने से होती है। साथ ही व्रत विधियों का भी उल्लेख किया है। शंख ने शंखस्मृति में ऐसे बारह व्रतों का वर्णन किया है। किन्तु कौन-सा व्रत किस पाप के लिए किया जाए, यह स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है। ऐसा ज्ञात होता है कि पातकी अपनी सामर्थ्यानुसार व्रत करके पाप से मुक्त हो सकता था। शंख ने कहा है कि-'पापी लोग इन कृच्छ्रों के द्वारा पाप को नष्ट करते हैं और पापरहित होकर स्वर्ग को प्राप्त करते हैं।'¹²⁰ उन्होंने प्रायश्चित्त व्रत विधियों में आचरण योग्य कुछ सामान्य नियमों का उपदेश दिया है, जिनका अनुष्ठान प्रत्येक कृच्छ्रों में करना अनिवार्य था, यथा-सिर मुंडवा कर त्रिषवण अर्थात् प्रातः, मध्याह्न, सांयकाल स्नान करना, जितेन्द्रिय होकर भूमि पर शयन करना, स्त्रियों, शूद्रों व पतितों के साथ वार्तालाप नहीं करना, यथाशक्ति पवित्रों का जप करना तथा अग्नि में होम करना।

मनु ने सभी प्रायश्चित्तों में महाव्याहृतियों के साथ प्रतिदिन होम करना, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, ऋजुता का पालन करना, दिन में तीन बार तथा रात्रि में तीन बार वस्त्रसहित स्नान करना, स्त्री, शूद्र तथा पतितों के साथ बात नहीं करना, दिन में खड़े रहना तथा रात्रि बैठकर बिताना। यदि ऐसा करने में असक्त हो तो पृथ्वी पर सोना, ब्रह्मचर्य का पालन करना, गुरुजनों, देवों एवं ब्रह्मणों की अर्चना करना, निरन्तर यथाशक्ति गायत्री तथा पवित्र मंत्रों का जप करना कहा है।¹²¹

याज्ञवल्क्य ने यम-नियम का विधान किया है-ब्रह्मचर्य, दया, क्षमा, दान, सत्य, सरलता, अहिंसा, अचौर्य, माधुर्य, दम (इन्द्रिय- निग्रह) ये सभी यम हैं। स्नान, मौन, उपवास, यजन, स्वाध्याय, उपस्थ (जननेन्द्रिय) का निग्रह, गुरुसेवा, पवित्रता, अक्रोध और अप्रमाद-ये सब नियम हैं। अतः सभी व्रतों में इनका पालन आवश्यक था।

शंखस्मृति में वर्णित प्रायश्चित्त व्रत निम्न प्रकार से हैं-

अघमर्षण- शंखादि धर्मज्ञों ने अघमर्षण व्रत को समस्त पापों का प्रायश्चित्त बताया है। उनके अनुसार यदि पातकी जल में खड़ा होकर दिन में तीन बार अघमर्षण मन्त्रों का पाठ करे तो वह समस्त पापों से मुक्त हो जाता है।¹²²

महर्षि शंख ने इस व्रत की विधि को विस्तारपूर्वक बताते हुए कहा है कि व्यक्ति तीन दिन तक उपवास करते हुए त्रिकाल (प्रातः, मध्याह्न तथा सांयकाल) स्नान करे, प्रत्येक स्नान में जल में डुबकी लगाकर अघमर्षण सूक्त का पाठ करे और वीरासन में खड़ा रहे तथा अन्त में दूध देने वाली गौ को दान में दे, तो वह सभी दुष्कृत्यों से मुक्ति पा जाता है। मनु¹²³ एवं याज्ञवल्क्य ने भी यही विधि बतलायी है। अन्तर बस इतना है कि शंख ने वीरासन (मुद्रा विशेष) का संकलन कर दिया है जबकि इन दोनों ने इसका उल्लेख नहीं किया है। याज्ञवल्क्य ने ब्राह्मण की हत्या पर इसका किया है।

तप्तकृच्छ्र - यह व्रत बारह दिन में पूर्ण होता है। शंख के अनुसार तीन दिन की प्रथम अवधि में गर्म जल, दूसरे तीन दिन की अवधि में गर्म घी, तीसरी तीन दिन की अवधि में गर्म दूध तथा अगले तीन दिन बिना भोजनादि ग्रहण कर रहे अर्थात् उपवास करे। मन्वादि कुछ स्मृतिकारों का भी यह मत है। लेकिन मनु ने दूसरे तीन दिन की अवधि में गर्म दूध तथा तीसरी तीन दिन की अवधि में गर्म घी पीने को कहा है और इसमें तीन बार के स्थान पर एक बार प्रतिदिन स्नान करने को जोड़ दिया है।¹²⁴ जबकि याज्ञवल्क्य ने भिन्न विधि का उल्लेख करते हुए इस व्रत की अवधि मात्र चार दिनों की कही है। उनके अनुसार इसमें प्रथम दिन उष्ण दूध, द्वितीय दिन तप्त घी, तृतीय दिन तप्त जल तथा चतुर्थ दिन उपवास करना चाहिये। प्रायश्चित्तप्रकाश ने बारह दिनों के तप्तकृच्छ्र को बड़े पापों तथा चार दिनों के व्रत को हल्के पापों के लिए बताया है।

शीतकृच्छ्र - यह तप्तकृच्छ्र के विपरीत है। जो शीतल जल, घी एवं दूध के साथ किया जाता है। इसलिये इसे 'शीतकृच्छ्र' कहा जाता है। इसमें तप्तकृच्छ्रवत् प्रथम तीन दिन शीतल जल का, पुनः तीन दिन शीतल घी का, पुनः तीन दिन शीतल दूध का तथा बाद के तीन दिन वायु का पान अर्थात् निराहार रहना होता है।¹²⁵ इस प्रकार इस व्रत की समयावधि बारह दिनों की है।

पराकव्रत - शंख ने बारह दिनों के उपवास को 'पराक' नामक कृच्छ्र कहा है¹²⁶, किन्तु इसकी विधि पर प्रकाश नहीं डाला है। याज्ञवल्क्य एवं अत्रि ने भी शंख का अनुसरण किया है। जबकि मनु ने इसे आत्मनिग्रहपूर्वक अप्रमत्त होकर पूर्ण करने का विधान किया है। उनका मानना है कि इस प्रकार बारह दिन तक उपवास करने से कर्त्ता के सब पाप नष्ट हो जाते हैं¹²⁷

वारुणकृच्छ्र - वरुण जल के देवता कहे जाते हैं। सम्भवतः इसी कारण शंख ने 'वारुणकृच्छ्र' कहा है। इस व्रत को उदककृच्छ्र, तोयकृच्छ्र या जलकच्छ भी कर जाता है। जो एक मास में सम्पादित होता है। शंख के मत से एक मास तक से विधिवत् पकाए हुए अन्न के सेवन अथवा सत्तु एवं जल को मिलाकर खाने से यह व्रत सम्पन्न होता है। विष्णु ने एक मास तक मात्र जल मिश्रित सत्तू के खाने का विधान किया है।

याज्ञवल्क्य के अनुसार इसमें एक दिन एवं एक रात खड़े रहकर उपवास किया जाता है, रात में जल में खड़ा रहना होता है और दूसरे दिन गायत्री मन्त्र का एक सौ आठ बार जप किया जाता है।" एक अन्य मतानुसार " पापकर्ता उपवास कर एक दिन और एक रात जल में खड़ा रहता और वरुण को संबोधित करने वाले मंत्रों का पाठ करता है तो वह सालभर के पापों को जलकच्छ द्वारा दूर कर देता है।

अतिकृच्छ्र - शंख के अनुसार यह व्रत एक मास तक बेल, आंवला और पवित्र कमल के बीजों से किया जाता है।¹²⁸ जबकि इस सम्बन्ध में मनु एवं याज्ञवल्क्य ने बिल्कुल भिन्न मत प्रस्तुत किया है। मनु के मत से इसमें प्रथम तीन दिन प्रातःकाल एक ग्रास (कौर), दूसरे तीन दिन सांयकाल एक ग्रास, अगले तीन दिन बिना याचना किये हुए एक ग्रास भोजन और अन्तिम तीन दिनों तक पूर्ण उपवास करना चाहिये। याज्ञवल्क्य ने एक ग्रास भोजन के स्थान पर 'पाणिपूरान्न' अर्थात् एक मुट्ठी भोजन की व्यवस्था दी है।

मनु ने इस व्रत का विधान उन लोगों के लिए किया है जो ब्राह्मण को लाठी या किसी अस्त्र से आहत करते हैं। गौतम ने अतिकृच्छ्र के फल को बताते हुए कहा है कि इस व्रत को करके मनुष्य महापातकों के अतिरिक्त जिन अन्य पापों को करता है, वह उनसे भी मुक्त हो जाता है।¹²⁹

सांतपनकृच्छ्र - यह व्रत दो दिन में सम्पादित होता है। स्मृतिकार शंख के अनुसार प्रथम दिन षड्रव्य -गोमूत्र, गोमय (गोबर), गाय का दूध, दही, घृत तथा कुशाओं का जल या रस ग्रहण करे और अगले दिन एक रात्रि का उपवास करे तो वह 'सांतपनकृच्छ्र' कहलाता है।¹³⁰ मनु, याज्ञवल्क्य एवं अत्रि का भी यही मानना है। गोमूत्र, गोमय, गाय का दूध, दही एवं घृत-ये पंचगव्य कहे जाते हैं।

देवल के अनुसार गाय के मूल में वरुण देव का, गोमय में अग्नि का, दुग्ध में सोम का, दही में वायु का तथा घृत में सूर्यदेव का निवास होता है।¹³¹ इसलिये व्रत में पंचगव्य तथा कुशोदक अत्यन्त पवित्र और पाप का नाश करने वाले माने जाते हैं।¹³² इन सभी द्रव्यों को पृथक् पृथक् न लेकर मिश्रित कर एक साथ लेना चाहिये। बौधायनधर्मसूत्र में पंचगव्य की मात्रा के विषय में वर्णित है कि गोमूत्र में आधा अंश गोबर, तीन भाग दूध, दो भाग दही, एक भाग घृत और एक भाग कुशोदक मिलाना चाहिए। इस प्रकार यह व्रत चाण्डाल तक को शुद्ध कर देता है

महासांतपनकृच्छ्र - यह सांतपनकृच्छ्र का ही विकसित रूप है। जो तीन दिन में सम्पन्न होता है। शंख के अनुसार यदि सांतपनकृच्छ्र में कहे गये षड्रव्य के मिश्रण का तीन दिन तक अभ्यास किया जाये तो वह 'महासांतपनकृच्छ्र' कहलाता है।¹³³ जबकि इस कर में याज्ञवल्क्य ने षड्रव्य-गोमूत्र, गोमय, दूध, दही, घृत तथा कुशोदक को कर से एक-एक करके छः दिन तक ग्रहण करने तथा सातवें दिन उपवास करने का विधान किया है। मनु ने इस विषय में कुछ नहीं कहा है, किन्तु कल्लका मनुस्मृति की मन्वर्थमुक्तावली टीका में याज्ञवल्क्य का ही समर्थन किया है।

चान्द्रायणव्रत - जब चन्द्रकला की वृद्धि तथा हास के अनुसार भोजन का ग्रास ग्रहण किया जाता है तो वह 'चान्द्रायण व्रत' कहा जाता है।¹³⁴ शंख ने इस व्रत की विधि का उल्लेख करते हुए कहा है कि चन्द्रमा की कला की वृद्धि के साथ एक-एक ग्रास को बढ़ाते हुए तथा उसकी कला के हास के साथ एक-एक ग्रास को

घटाते हुए, भोजन करने पर यह व्रत पूर्ण होता है। याज्ञवल्क्य एवं अत्रि ने भी इसी विधि का वर्णन किया है। साथ ही यम ने अमावस्या को निराहार रहने का विधान किया है।

मनु के मतानुसार त्रिकाल स्नान करता हुआ कृष्णपक्ष में प्रतिदिन एक-एक ग्रास भोजन घटाते हुए तथा शुक्लपक्ष में एक-एक ग्रास भोजन बढ़ाते हुए, यह व्रत करना चाहिये। यहाँ शंख एवं मनु की व्रत विधि तो समान हैं, किन्तु क्रम में अन्तर है। शंख ने जहाँ चन्द्रकला की वृद्धि अर्थात् शुक्लपक्ष से इस व्रत का प्रारम्भ माना है वही मनु ने कृष्णपक्ष से कहा है। इसके साथ ही मनु ने चान्द्रायण में त्रिकाल स्नान को जोड़ दिया है। तथा यवमध्य चान्द्रायण, अति चान्द्रायण एवं शिशिचान्द्रायण भेदों का भी वर्णन किया है।

वस्तुतः इस व्रत विधि में शुक्लपक्ष से व्रत पास किया जाता है, यथा-प्रतिपदा को एक, द्वितीया को दो ग्रास, इस प्रकार ग्राम संग प्रतिदिन बढ़ती जाती है। पूर्णिमा को पंचदश ग्रास भोजन करके पुनः कृष्णपक्षको ग्रास की संख्या कम से कम होती जाती है, यथा-कृष्ण प्रतिपदा को चौदह मिली को तेरह आदि और अमावस्या को उपवास करके व्रत सम्पन्न हो जाता है। अतः व्रत मासभर में सम्पन्न होता है। इस व्रत का विधान समस्त पापों के नाश कर दिया गया था। यहाँ तक कि स्मृतियों में जिन पापों के प्रायश्चित्त की नहीं है, उनकी शुद्धि भी चान्द्रायण से हो जाती है। प्रायश्चित्त के अतिरिक्त धर्म सञ्चय के लिए भी करने का विधान है। यदि कोई धर्म के लिए एक वर्ष तक इस व्रत को करता है तो वह मरणोपरान्त चन्द्रलोक को प्राप्त करता है।¹³⁵

इस प्रकार व्रत विधियों में अनेक स्थानों पर विधि अथवा काल को लेकर मतवैभिन्न्य प्राप्त होता है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक धर्मशास्त्रकार के काल में पातक-गुरुत्व भिन्न-भिन्न रहा। उन्होंने उस समय प्रचलित अथवा परम्परा से प्राप्त व्रतों की व्यवस्था दोष के अनुरूप प्रस्तुत की। वस्तुतः जिन व्रत विधियों में विकल्प उपलब्ध होता है, वहाँ जाति-शक्ति- गुणापेक्षा से किसी भी एक विधि का प्रयोग करना चाहिये।

पाप निवारण के अन्य उपाय- शंखस्मृति में पापनिवृत्ति तथा पवित्रतम जीवन निर्वहन के लिए प्रायश्चित्त व्रतों के अतिरिक्त अनेक प्रकार के उपायों की व्यवस्था दी गयी है, यथा-प्राणायाम, जप, तप, होम आदि। इनमें से पातकी

यथाशक्ति एक या एक से अधिक उपायों के अनुष्ठान से पापनिवृत्त हो सकता था। जो निम्नलिखित है

प्राणायाम - प्राणायाम से तात्पर्य है-प्राणवायु को रोकना।' शंखस्मृति में प्राणवायु को रोककर ओंकारपूर्वक, व्याहृति और शिरोमन्त्र के साथ गायत्री का तीन बार पाठ करने को 'प्राणायाम' कहा गया है।¹³⁶ जिसमें प्रत्येक व्याहृति-भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम्-से पूर्व 'ओम्' का उच्चारण करके, आदि एवं अन्त म शिरोमन्त्र-ओम् आपो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरोम् के सहित गायत्री मंत्र का मनन किया जाता है। शंख के अनुसार यदि व्यक्ति स्नान के समय एकाग्रचित्त होकर तीन बार प्राणायाम करे तो वह दिन एवं रात्रि में किये हुए कायिक, वाचिक एवं मानसिक पापों से शीघ्र मुक्त हो जाता है। यदि प्रतिदिन व्याहृतियों एवं ओंकार सहित सोलह प्राणायाम किये जाये तो पातकी मासभर में भ्रूणहत्या (विद्वान् ब्राह्मण की हत्या) के पाप से छूट जाता है। मनु एवं सम्वत का भी यही विचार है। याज्ञवल्क्य ने उन सभी पापों के लिए, जिनके लिए कोई विशिष्ट प्रायश्चित्त निर्धारित नहीं है, एक सौ प्राणायाम का विधान किया है।¹³⁷

जप - जप का अर्थ है-मन्द स्वर में या मन-ही-मन में मन्त्र का अथवा किसी देवता का बार-बार स्मरण करना। महर्षि शंख के मत से देवता का ध्यान करते हुए जप करना चाहिये।¹³⁸ इसके अनुष्ठान से चित्त का वशीकरण अर्थात् एकाग्रता प्राप्त होती है और व्यक्ति ध्यानपूर्वक देवता का स्मरण करते हुए उसके सान्निध्य को प्राप्त करता है। जप के अन्तर्गत 'गायत्री' के महत्व को प्रतिपादित करते हुए शंख ने कहा है कि-गायत्री वेदों की माता है, समस्त पापों का नाश करने वाली है, इहलोक और धुलोक में गायत्री से बढ़कर और कुछ पवित्र करने वाला नहीं है।¹³⁹ यही स्वर्ग तथा मोक्ष प्राप्ति का द्वार है। उन्होंने प्रायश्चित्त के विषय में व्यवस्था दी है कि 'यदि गायत्री का सौ बार जप किया जाए तो यह दिनभर में किये हुए पापों को नष्ट कर देती है। एक हजार बार जप करने से अन्य पातकों से उद्धार कर देता है। यदि दस हजार बार जप किया जाए तो समस्त महापापों को नष्ट कर देती है। यहाँ तक कि महापातकी भी एक लाख बार जप करने से शुद्धि को प्राप्त कर लेता है। इसलिये मनोयोगपूर्वक गायत्री का जप करना चाहिये। जप करते समय आदि में देवता, ऋषि और छन्द का स्मरण करे, यथा-इस गायत्री का देवता- सविता है, ऋषि-विश्वामित्र है और छन्द-गायत्री

है। तदुपरान्त ओंकारपूर्वक व्याहृतियों सहित तथा आदि एवं अन्त में शिर के साथ गायत्री मंत्र का जप करना चाहिये। मनु के अनुसार अज्ञानपूर्वक किये गये पाप का मार्जन वैदिक वचनों के जप करने पर हो जाता है, किन्तु जो पाप ज्ञानपूर्वक किये जाते हैं उनका मार्जन प्रायश्चित्तों से ही होता है।

जप तीन प्रकार का होता है- वाचिक, उपांशु एवं मानस। बोलकर किया गया जप 'वाचिक', मुख के अन्दर धीमे स्वर से किया गया 'उपांशु' तथा बिना जिह्वा व ओष्ठ को हिलाए मन में किया गया जप 'मानस' है। इसमें उत्तरोत्तर 'मानस जप अधिक क्षेष्ठ है। इसलिये व्यक्ति को मानस जप करना चाहिये। यह जप किस प्रकार किया जाए। इसक विषय में शंखस्मृति में निर्देश दिया गया है व्यक्ति कुशा के आसन पर संयमपूर्वक बैठकर, कुशा का उत्तरीय धारण करके, कशा की पवित्रियों को हाथ में लेकर, पूर्व दिशा की ओर मुख करके अथवा सूर्य की ओर मुख करके, अक्षों की माला को लेकर देवता का ध्यान करते हुए करो। जप सोने, मणि, मोती, स्फटिक, पद्माक्ष, रुद्राक्ष व पुत्रजीवक में से किसी एक माला को लेकर करे अथवा माला के अभाव में कुशा की रस्सी में गांठें लगाकर या बाएं हाथ की अंगुलियों से गणना करे। यह जप स्नान करके, संयमित चित्त से, पर्णनिष्ठा व भक्तिभाव के साथ करना चाहिए, तभी सार्थक होता है अन्यथा नहीं।

तप:- वे सभी उत्तम कार्य, जिन्हें करने में शारीरिक सन्ताप सहन करना पड़ता है 'तप' के अन्तर्गत आ जाते हैं, यथा-ब्रह्मचर्य, जप, हवन, यथासमय शुद्ध तथा स्वल्प भोजन, राग-द्वेष तथा लोभ का त्याग। इस प्रकार के तपोमय आचरण से मनुष्य के शरीर एवं इन्द्रियों की शुद्धि होती है' अर्थात् यह आन्तरिक एवं बाह्य दोनों प्रकार का शुद्धिकरण करके मन को एकाग्र करता है। यौगिक क्रियाओं व कठिन जप-व्रतादि का निर्वाह बिना तप के अनुष्ठान के असम्भव है। इसलिये शंखस्मृति में कहा गया है कि 'साधक नित्य ही तप के द्वारा अपने शरीर को सुखा लेवे' अर्थात् भूख, प्यास, सुख-दुःख आदि से व्यग्र न होवे।¹⁴⁰ साथ ही तप के फल का निर्देश करते हुए कहा है कि जिस प्रकार सभी तीर्थ पुण्य फल को देने वाले तथा समस्त पापों का विनाश करने वाले हैं उसी प्रकार तप से भी व्यक्ति सभी पापों से मुक्त हो, पवित्र आत्मा वाला होकर पुण्यफल (परमपद) को प्राप्त करता है। मनु के कथनानुसार जो महापातकों एवं अन्य दुष्कर्मों के अपराधी होते हैं वे सम्यक् तप से पापमुक्त हो जाते हैं तथा मन, वचन या काय से जो

पाप हुए रहते हैं वे सब तप से जल जाते हैं। उन्होंने तो तप को ही सुख का मूल, मध्य और अन्त माना है।¹⁴¹

होम या हवन - होम से अभिप्राय 'यज्ञाग्नि में दी जाने वाली घी की आहुति से है'¹⁴², जिसका सम्पादन व्यक्ति देवताओं को प्रसन्न करने, अपराधों की क्षमा याचना या पाप मार्जन के लिए करता था। शंख के मतानुसार व्यक्ति के समस्त पापों का क्षय तथा सब मनोरथों की सिद्धि गायत्री मंत्र के साथ हवन करने से होती है।

यदि व्यक्ति एकाग्रचित्त होकर घी में भीगे हुए तिलों से दस हजार गायत्रियों के साथ होम करता है तो वह सब पापों (उपपातकों) से मुक्त हो जाता है और यदि वह एक लाख आहुतियों के साथ होम करता है तो वह सभी पापों (महापातकों) से मुक्ति के साथ-साथ अभीष्ट लोक को प्राप्त करता है तथा अपनी सब कामनाओं को पूर्ण कर लेता है। याज्ञवल्क्य ने भी शंखवत् पापमुक्ति के लिए गायत्री मंत्र के द्वारा तिल से होम करने को कहा है। मनु के कथनानुसार ब्राह्मण व्यक्ति वैदिक मंत्रों के जप एवं होम से सभी विपत्तियों से छुटकारा पा जाता है।

तीर्थ-यात्रा :- तीर्थ से तात्पर्य-उन पवित्र स्थानों से है, जिनके दर्शनमात्र से या उनमें स्नान करने से मनुष्य के सभी पाप नष्ट हो जाते हैं, यथा-सभी झरने, झीले, पर्वत और नदियाँ पवित्र मानी जाती हैं, विशेषकर गङ्गा नदी। इनके साथ-साथ पवित्र कुण्डों, ऋषियों के आश्रमों, गोष्ठों तथा मन्दिरों को भी पवित्र माना गया है¹⁴³। शंख के अनुसार मनुष्य तीर्थ गमन से पुण्यफल की प्राप्ति करता है और उसके समस्त पापों का विनाश हो जाता है। एक पवित्र आत्मा वाला व्यक्ति तो तीर्थ से अभीष्ट की प्राप्ति करता है।

पराशर के मतानुसार चारो वेदों के ज्ञाता ब्राह्मण की हत्या करने वाले को सेतुबन्ध (रामेश्वर) जाना चाहिये। विष्णु ने भी महापातकी को पवित्र स्थाना की यात्रा करने का निर्देश दिया है। तीर्थ स्थानों में गङ्गा नदी को परम पवित्र माना गया है। विष्णुपुराण में गङ्गा तीर्थ की प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि-जब इसका नाम श्रवण किया जाता है, कोई इसके दर्शन की अभिलाषा करता है, जब यह देखी जाती या इसका स्पर्श किया जाता है या इसका जल ग्रहण किया जाता है या कोई इसमें डुबकी लगाता है या इसकी स्तुति की जाती है तो गङ्गा दिन-

प्रतिदिन प्राणियों को पवित्र करती है, जब सहस्रों योजन दूर रहने वाले लोग 'गङ्गा' नाम उच्चारण करते हैं तो तीन जन्मों के एकत्र पाप नष्ट हो जाते हैं।¹⁴⁴

दान - दान का अर्थ है-देना या सौंपना। अर्थात् अपने स्वामित्व की वस्तु को किसी को देना 'दान' है। जो पापनिवृत्ति हेतु कहीं प्रायश्चित्त विधि का अंग है तो कहीं स्वतंत्र रूप से प्रायश्चित्त भी है। शंख ने दान का विस्तृत वर्णन तो नहीं किया है, किन्तु एक स्थल पर दान से पाप के दूर होने की बात कही है। जबकि कुछ अन्य धर्मज्ञों ने दान को समस्त पापों से मुक्ति का साधन माना है। सम्वर्त्त ने सुवर्ण-दान, गो-दान तथा भूमि-दान को अन्य जन्मों में किये हुए पापों को शीघ्र नष्ट करने वाला कहा है तथा कुछ विशिष्ट अवसरों, यथा-माघ मास में पूर्णिमा के दिन उपवास करके, ब्राह्मणों को तिलों के दान करने को सब पापों का विनष्ट करने वाला माना है। यह दान तभी फलित होता है जब उचित समय पर सुपात्र को दिया जाए, अन्यथा कुपात्र को दिया गया दान निष्फल हो जाता है।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि मानव अपनी स्वाभाविक वृत्ति के कारण ज्ञानवश तथा अज्ञानवश अनेक अपराधों एवं दोषों में प्रवृत्त हो जाता है। फलतः जब तक प्रायश्चित्त नहीं कर लेता या अपने कर्मों के दष्परिणामों को भगत नहीं लेता तब तक उसके द्वारा कृत दुष्कृत्यों का प्रवाह जन्म-जन्मान्तरों तक चलता रहता है। कर्म विपाक की इसी धारणा के कारण तत्कालीन समय में सभी प्रकार के छोटे-बड़े पापों के लिए प्रायश्चित्त विधान था। पातकी कामकृत तथा अकामकृत अवस्था में किये गये पाप या अपराध से मुक्ति, शुद्ध अन्तःकरण से विनम्रतापूर्वक पश्चात्ताप या आत्म-स्वीकारोक्ति के साथ व्रत, प्राणायाम, जप, तप, होम आदि साधनों में किसी एक या एक से अधिक साधनों का निर्वाह कर पा सकता था। वस्तुतः अनुताप की अभिव्यक्ति के साथ प्रायश्चित्त, पातकी को पाप से मुक्त कर एक सभ्य नागरिक होने के लिए प्रेरित करता है, जिससे समाज में भी दोषों की अभिवृद्धि रुकती है। अतः समष्टि तथा व्यष्टि का कल्याण ही प्रायश्चित्त व्यवस्था का मूल प्रयोजन था। महत्त्व की दृष्टि से वेदों के अनन्तर स्मृतियाँ ही भारतीय समाज के सर्वविध कल्याण का मार्ग प्रशस्त करती हैं। जिस प्रकार वेदों में मानव जीवन को उत्पेरित या लक्ष्यबद्ध करने वाले समस्त तत्व निहित हैं उसी प्रकार स्मृतियों में भी विद्यमान है।¹⁴⁵

महर्षि अत्रि ने इनके महत्त्व को प्रदर्शित करते हुए कहा है स्मृतियों की अवहेलना करता हुआ मनुष्य यदि सम्पूर्ण वेद का अध्ययन करे तो भी वह पशु के समान है¹⁴⁶ अर्थात् स्मृतियाँ वेदों का अविभाज्य अंग है। इसलिये इनका ज्ञान होना भी आवश्यक है।

ये मनुष्य को जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त तक के सभी कर्म धर्मपूर्वक करने का उपदेश देती हैं तथा उसके पतन के कारणों का निराकरण करती हैं, यथा विहित कर्मों को न करना, असंयम, निन्दित कर्मों को करना इत्यादि।¹⁴⁷

कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, धर्म -अधर्म, ग्राह्य- त्याज्य, उचित- अनुचित का ज्ञान कराती हैं। इनमें वर्णित नियम, उपनियम, मान्यताएँ, परम्पराएँ आज भी ग्राह्य हैं। जो समाज को सामाजिक एवं नैतिक दृष्टि से नियन्त्रित एवं मर्यादित करती हैं और उसे उच्छृङ्खल नहीं होने देती।

मनुष्य अपने जीवन को सार्थक बनाने के लिए धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति में सम्पूर्ण जीवन व्यतीत कर देता है, उन सबकी प्राप्ति स्मृतियों में वर्णित सिद्धान्तों के पालन करने पर ही सम्भव है। इनके द्वारा मनुष्य के भौतिक व आध्यात्मिक साधनों की वृद्धि होती है। जिससे उसके सुख का मार्ग प्रशस्त होता है।¹⁴⁸

वस्तुतः स्मृतियाँ न केवल अर्थ व काम अपितु धर्म और मोक्ष के लिए भी सदा प्रयत्नशील रहने के लिए प्रेरित करती हैं। यहाँ यह कहना युक्तिसंगत है कि अर्थ, काम एवं मोक्ष का मूल धर्म ही है। यह धर्म किसी सम्प्रदाय या मत का घोटक नहीं है, प्रत्युत समाज के अंग के रूप में मनुष्य के कृत्यों व व्यवहार को व्यवस्थापित करता रहता है तथा उसमें क्रमशः विकास लाता हुआ लक्ष्य तक पहुँचने के योग्य बनाता है।¹⁴⁹

साथ ही इनमें निर्दिष्ट नियमों का अनुसरण करने वाला व्यक्ति सब प्रकार के कर्मदोष से छूट जाता है।¹⁵⁰ और धर्म का सञ्चय करता है¹⁵¹ किन्तु इनके विपरीत नियमों का आचरण करने वाला अधर्म का सञ्चय करता है¹⁵² जो अवनति का कारण बनाता है।¹⁵³ इसलिये वेद एवं स्मृति में कहे हुए अपने कर्त्तव्यों कर्मों का धर्मानुसार आचरण करते हुए तथा आलस्य - रहित होकर पालन करना चाहिए।¹⁵⁴

याज्ञवल्क्य के अनुसार मन, वचन, कर्म से धर्म का आचरण करना चाहिए और लोकविरुद्ध कर्म को नहीं करना चाहिए।¹⁵⁵ अतः समाज में नियमों का पालन बिना धार्मिक विचारों के सम्भव नहीं हो सकता। धर्म ही मानव की अशुभ प्रवृत्तियों का परिभार्जन कर, उसे सदाचार में प्रवृत्त करता है और उसके सर्गविध (शुभ अशुभ) कर्मों में एक समान सन्तुलन बनाए रखता है। स्मृतियों में जीवन से सम्बन्धित सभी सूक्ष्मतम क्रियाओं (स्नान, शौच आचमन इत्यादि को भी वर्णित किया गया है। जिससे मनुष्य जीवन और समाज में प्रत्येक नियमों का विधिवत् पालनकर जीवन को आनन्दमय बना सके। इनमें कथित धर्म, आचार, व्यवहार, दण्ड की शिक्षा, उपासना, यज्ञ, दान आदि इनके महत्त्व को और भी अधिक बढ़ा देते हैं। ये सभी धार्मिक नैतिक, शारीरिक तथा मानसिक शुद्धि सम्बन्धी नियम व्यवस्थाएँ मानवमात्रा के लिए कल्याणकारी हैं।

अन्ततः स्मृतियों में वर्णित सिद्धान्त ही मानव एवं समाज को उन्नतशील बनाने में समर्थ हैं और आधुनिक समय में भी जीवन के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं। विभिन्न स्मृतियों में जो प्रतिपाद्य (वर्ण्य विषय) उपलब्ध होते हैं जो निम्न लिखित प्रकार से हैं -

स्मृतियों में प्रतिपाद्यवर्ण्य विषय: तालिका

आचार	आचार	आचार	व्यवहार	प्रायश्चित्त
1. मनुस्मृति	1. पराशरस्मृति	1. बृहस्पतिस्मृति	1. नाररीय	1. शातातपस्मृति
2. याज्ञवल्क्यस्मृति	2. कात्यायन स्मृति	2. पुलस्तयस्मृति	2. मनुस्मृति	2. देवल स्मृति
3. आङ्गिरस स्मृति	3. दक्षस्मृति	3. लघुव्याससंहिता		3. यमस्मृति
4. वृद्ध-हारीत स्मृति	4. अत्रिसंहिता	4. व्यासस्मृति		4. काश्यपस्मृति
5. बौधायन स्मृति	5. अत्रिस्मृति	5. शंखलिखितस्मृति		
6. विष्णु स्मृति	6. लघुहरित स्मृति	6. प्रजापति स्मृति		
7. वशिष्ठस्मृति	7. लघुयन स्मृति	7. बुद्ध स्मृति		
8. गौतम स्मृति	8. ब्रह्मदयम स्मृति	8. व्याघ्रपाद स्मृति		
9. कपिल स्मृति	9. वाधूलस्मृति	9. आपस्तम्बस्मृति		
10. लौहित स्मृति	10. वृद्धगौतमस्मृति	10. भारद्वाजस्मृति		
	11. शंख स्मृति			

	12. लघुशंख स्मृति			
	13. लिखित स्मृति			
	14. संवर्त स्मृति			
	15. बृह्यपराशंरास्मृति			
	16. औशनस स्मृति			
	17. लध्वाश्वलायन			
	18. अरुणस्मृति			
	19. ब्रह्मोक्तयाज्ञवल्क्य			
	20. कण्व स्मृति			
	21. दाल्भ्य स्मृति			
	22. मार्कण्डेयस्मृति			
	23. लौंगासि स्मृति			

सन्दर्भ सूची

1. मनुस्मृति-2/10
2. स्त्रियां क्तिन्-सूत्रेण
3. क. शब्दकल्पद्रुमः पृ.464।
ख. संस्कृत हिन्दी कोश पृ. 1153.।
ग. पारिजीत कोश पृ.1017।
घ. ससंस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ पृ.10309.। ड.संक्षिप्त हिन्दी शब्द सागर पृ.1081
च. इतिहास पुराण निर्वचन कोश पृ.203
4. स्मरते सर्वकार्याणि तेनासौ स्मृतिरुच्यते। इतिहास -पुराण विवर्चन कोश, पृ.203
5. स्मरते यत्समृतिः सर्वत् यतः। लिं. पु.-8/72
6. स्मृतिस्तु धर्मसंहिता। अमरकोश 1.6.6
7. धर्मशास्त्रं स्यात्समृतिः धर्मसंहिता। अभिधानचिन्तामणि 2.165
8. अनुभूतविषयासम्प्रोषः स्मृतिः। पात. यो. समाधिपादः प्रथमः पृ.43
9. ससंस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः। तर्क. सं. पृ.80
10. पूर्वानुभूतं यद् ध्यानमथ तत्समरणं स्मृतिः म. पु. तथा ब्रा. 181.6
11. वेबर अल्फ्रेड, भारतीय साहित्य, अनु. उमेश चन्द्र पाण्डेय, इलाहाबाद, 1968 पृ.11
12. महा. शा. पृ. 48/64 महाभारत शाकु, पर्व 48/64
13. वेद की पुत्री सिम्रित भाई। श्रीगुरुग्रन्थ साहिब गरुडी कवीज जी पृ. 329
14. मनुस्मृति
15. J.Duncon, Dharm Shastra and Juridical literature, Vol.V.A.B.O.R.I. Poona, p.336
16. कल्याण, धर्मशास्त्राङ्ग पृ. 1996
17. काणे पी. वी.- धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग पृ. 40-41
18. उत्सन्नविप्रकीर्णशाखानां मन्वादिभिः स्मरणं स्मृतिः- अमरकोश
19. पराशर स्मृति, 1/20
20. याज्ञ, स्मृति, आचाराहचाय श्लोक 4-5

21. पराशर स्मृति, 1/24
22. गौतम, प्रजापति, मनु, यम एवं हारीत।
23. काणे, पी. वी. धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग पृ.स.41
औपजंघानि, कात्यायन, कश्यप, गौतम, प्रजापति, मौदगल्य तथा हारीत।
24. मार्क. स्मृ. स्मृति सन्दर्भ षष्ठ भाग पृ.63
25. परा. स्मृति, 1/13-15
26. या. स्मृति, 1/4-5
27. भारद्वाज स्मृति, 1/3/5
28. नारद स्मृति. 13/4
29. वृद्ध गौतम स्मृति 1/11-25
30. काणे, पी. वी. धर्मशास्त्र का इतिहास प्रथम भाग पृ 41-42
31. धर्मशास्त्र संग्रह, भाग 1.7
32. स्मृतियुक्ताफल पृ.8
33. शर्मा रघुनन्दन प्रसाद, स्मृतियों में भारतीय जीवन पद्धति पृ. 14
34. परा. स्मृति-पृष्ठसंख्या- 1/24
35. (क) अल्बेरूनी का भारत-पृष्ठ 35-36
(ख) गैरोला, वाचस्पति, ससंस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ.737
36. शर्मा, रघुनन्दन प्रसाद, स्मृतियों में भारतीय जीवन पद्धति, पृ.14
37. काणे पी. वी. धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, पृ. 41
38. काणे पी. वी. धर्मशास्त्र का इतिहास प्रथम, पृ. 46-65, 35-38
39. पी. वी. काणे धर्मशास्त्र का इतिहास प्रथम भाग, पृ. 65
40. गैरोला महोदय, वाचस्पति, ससंस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ. 742
41. धर्मशास्त्र का इतिहास। धर्महुम, पृ. 36-59
42. मनु. 1/1 कुल्लूकभट्ट की टीका मन्वर्थमुक्तावली में उद्धृत ब्रह्मस्पति का वचन
43. परा. स्मृति. 1/37।
44. मनुस्मृति, 4/157 पृष्ठ पर
- 45.(क) मनु. 8/4-7,9,10
(ख) ना. मनु. 1/15-19(व्यवहार/माविधिः)
(ग) या. स्मृ. 2/10

46. ना. स्मृति, 1/2
47. या. स्मृति, 2/1
48. सर्वाः दण्ड एवाभिरक्षति(मनु. 7/18)
49. मनुस्मृति - 7/19
50. श्रुतिस्मृत्योर्विरोधे तु श्रुतिरेव गरीयसी। मनु. 2/13
51. या. स्मृति, 1/7, मिताक्षार व्याख्या में उद्धृत। 19
52. या. स्मृ., 3/206 पर बालम्भट्टी की टीका
53. (क) प्रायो नाम तपः प्रोक्तं चित्तं निश्चय उच्यते।
तपोनिश्चयसंयुक्तं प्रायश्चित्तमिति स्मृतम् ॥ मनु., 11/47, क्षेपक अंश, 5
(ख) उत्तरांगिरसस्मृति, 4/1
54. अकामतः कृतं पापं वेदाभ्यासेन शुध्यति।
कामतस्तु कृतं मोहात्प्रायश्चित्तैः पृथग्विधैः॥ मनु., 11/46
55. तस्मात्तेनेह कर्तव्यं प्रायश्चित्तं विशुद्धये।
एवमस्यान्तरात्मा च लोकश्चैव प्रसीदति। वही, 3/220
56. काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, तृतीय भाग, पृ. 1046
57. इह दुश्चरितैः केचित्केचित्पूर्वकृतैस्तथा।
प्राप्नुवन्ति दुरात्मानो नरा रूपविपर्ययम्॥ मनु.. 11/48
- 58.(क) बहून्वर्षगणान्धोरान्नरकान्प्राप्य तत्क्षयात्।
संसारान्प्रतिपद्यन्ते महापातकिनस्त्विमान्॥ मनु., 12/54
(ख) महापातकजान्धोरान्नरकान्प्राप्य दारुणान्।
कर्मक्षयात्प्रजायन्ते महापातकिनस्त्विह॥ या. स्मृ., 3/206
59. मनु., 11/229
60. कृत्वा पाप बुधः कुर्यात्पर्षदोऽनुमतं व्रतम्॥
आलोच्य धर्मशास्त्राणि समेत्य ब्राह्मणैः सह।
प्रायश्चित्तं द्विजो दद्यात्स्वेच्छया न कथंचन ॥ शं. स्मृ., 17/62 तथा 66
61. मनु., 11/100, 104
62. मनु., 11/54, 59-70
63. हेमस्तेयी सुरापश्च ब्रह्महा गुरुतल्पगः।
व्रतेनैतेन शुध्यन्ते महापातकिनरित्यमे ॥ शं. स्मृ., 17/3

64. मनु., 11/55-58
65. शं. स्मृ., 17/4-61
66. मनु, 11/59-66
67. मृगयाऽक्षो दिवास्वप्नः परिवादः स्त्रियो मदः।
तौर्यत्रिकं वृथाट्या च कामजो दशको गणः ॥
पैशुन्य साहसं द्रोह ईष्यासूयार्थदूषणम्।
वाग्दण्डजं च पारुष्य क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः ॥ मनु., 7/47-48
68. मनु, 11/72-82
69. या. स्मृ., 3/253-255
70. मनु., 11/99-101
71. या. स्मृ.. 3/257-258
72. या. स्मृ., 3/259
73. प्रकृतस्वादब्राह्मणगर्भविषयं स्वीपुंनपुंसकत्वेनाविज्ञातं।
मनु., 11/87 की कुल्लूकभट्ट की व्याख्या से उद्धृत
74. मनु., 11/126-130
75. परा.स्मृ., 8/16-18
76. या. स्मृ., 3/263-264
77. पशून्हत्वा तथा ग्राम्यान्मांसं कृत्या विचक्षणः।
आरण्यानां वधे तद्वत्तदर्थं तु विधीयते॥
हत्वा ब्रिज तथा सर्प जलेशयबिलेशयान्।
सप्तरात्रं तथा कुर्याद् व्रतं ब्रह्महणस्तथा।
अनस्थना शकटं हत्या सास्थना दशशतं तथा।
ब्रह्महत्याव्रतं कुर्यात्पूर्णं संवत्सरं नरः॥ शं. स्मू., 17/10-12
78. या. स्मृ.. 3/269-275
79. परा. स्मृ., 6/2-9
80. एतदेव व्रतं कुर्यादात्रेयीविनिषूदकः॥ शं. स्मृ., 17/4
81. मनु., 11/173,212
82. (क) मनु, 11/170 (ख) या. स्मृ. 3/231
83. सं.स्मृ., 156-158 सम्बर्त

84. यस्य यस्य च वर्णस्य वृत्तिच्छेद समाचरेत् ।
 तस्य तस्य वधे प्रोक्तं प्रायश्चित्तं समाचरेत्॥
 अपहृत्य तु वर्णानां भुवं प्राप्य प्रमादतः।
 प्रायश्चित्तं वधे प्रोक्तं ब्राह्मणानुमतं चरेत्॥ शं. स्मृ.. 17/13-14
85. प्रेतस्य प्रेतकार्याणि अकृत्या धनहारकः।
 वर्णानां यद् व्रतं प्रोक्तं तद् व्रतं प्रयतश्चरेत् ॥ शं. स्मृ.. 17/61
86. गोऽजावस्यापहरणे मणीनां रजतस्य च।
 जलापहरणे चैव कुर्यात्संवत्सरव्रतम्॥
 तिलानां धान्यवस्त्राणां मद्यानामामिषस्य च।
 संवत्सरार्धं कुर्वीत व्रतमेतत्समाहितः॥
 तृणेषुकाष्ठतक्राणां रसानामपहारकः।
 मासमेकं व्रतं कुर्याद् गन्धानां सर्पिषा तथा।
 लवणानां गुडानां च मूलानां कुसुमस्य च।
 मासार्धं तु व्रतं कुर्यादेतदेव समाहितः ॥
 लौहानां वैदलानां च सूत्राणां चर्मणां तथा।
 एकरात्रव्रतं कुर्यादेतदेव समाहितः ॥
87. मनु, 11/163
88. कूटसाक्ष्यं तथैवोक्त्वा निक्षेपमपहृत्य च।
 एतदेव व्रतं कुर्यात्त्यक्त्वा च शरणागतम् ॥ शं. रगू., 17/5
89. मनु., 11/88
90. भुक्त्वा पलाण्ड लशुनं मद्यं च कवकानि च। कुर्यात्संवत्सरं व्रतम् ॥ शं. स्मृ., 17/20-21
91. (क) शुक्त उस पक्वान्न को कहते हैं जो बासी न होने पर भी खट्टा हो गया हो, यथा-पकाने के समय अन्य वस्तु दही आदि मिलाये पक्वान्न खट्टा हो जाता है, उसे नहीं करना चाहिये। आप.ध., 1/5/17/18,20
 (ख) कांजी या सिका आदि जो अधिक समय तक रखने आदि के कारण से स्वभावतः मधुर होते हुए भी खट्टे हो गये हों। मनु., 5/9
92. कामः क्रोधस्तथा लोभः परहिंसा रुचिस्तथा।
 निद्रालस्यादयो दोषा अमेध्यान्ननिषेवणात् ॥

- विषयेष्वभिषक्तानामायुः प्रक्षीयतेऽन्तरा ॥
 स्मृतियों में भारतीय जीवन पद्धति, शाण्डि. स्मृ., पृ.220-221
93. नारं मलं तथा मांसं विङ्गराहं खरं तथा।
 गौधेरकुञ्जरोष्ट्रं च सर्वपञ्चनखं तथा।
 क्रव्यादं कुक्कुटं ग्राम्यं कुर्यात्संवत्सरं व्रतम् ॥
 भक्ष्याः पञ्चनखास्त्वेते गोधाकच्छपशल्लकाः।
 बटगश्च शशकश्चैव तान्हत्वा च चरेद् व्रतम् ॥ श. स्मृ., 17/20-22
94. नाकृत्वा प्राणिनां हिंसा मांसमुत्पद्यते क्वचित् ।
 न च प्राणिवधः स्वयंस्तस्मान्यास विवर्जयेत्॥ मनु., 5/48
95. योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया।
 स जीचंश्च मृतश्चैव न क्वचित्सुखमेधते ॥
96. आह्निक प्रकाश, पृ.533 पर यम का वचन।
97. दधि भक्ष्यं च शुक्तेषु यच्चान्यद्वधिसंभवम्।
 यवगोधूमजाः सर्वे विकाराः पयसश्च ये। वही, 17/33-34
98. या.स्मृ., 1/170-177
99. या. स्मृ., 1/175-176
100. भुक्त्वा नारं मलं कुर्यात्संवत्सरं व्रतम्॥ शं. स्मृ., 17/20-21
101. अत्र प्रकरणे 'मूत्रपुरीष' ग्रहणे वसाशुक्रासृडमज्जानामुपलक्षणम्
 कर्णविट्प्रभूतिमलषट्के त्वर्धं कल्पनीयम्। या. स्मृ., 3/289 पर मिताक्षरा
 टीका से उद्धृत
102. शूद्रान्नरससंपुष्टा ब्राह्मणा पङ्क्तिदूषकाः॥ श.स्मृ., 14/4
103. शं. स्मृ., 17/36-40 K
104. शंखेन त्येतानेव किञ्चिदधिकान्पठित्वा चान्द्रायणमुक्तं, तदभ्यासविषयकम्॥
 या. स्मृ., 3/289 की मिताक्षरा टीका में उद्धृत शंख का वचन
105. या. स्मृ., 1/176
106. शुदोच्छिष्टाशने मांसं पक्षमेकं तथा विशः।
 क्षत्रियस्य तु सप्ताहं ब्राह्मणस्य तथा दिनम्।
 अथ श्रद्धाशने विद्वान्मासमेव व्रती भवेत् ॥ शं. स्मृ., 17/43-44
107. अपः सुराभाजनस्थाः पीत्वा पक्षं व्रतं चरेत् ।

मद्यभाण्डगताः पीत्वा सप्तरात्रं व्रतं चरेत्। वहीं, 17/42-43

108. या. स्मृ., 1/175

109. वृथा कुसरसंयावपायसापूपशकुलीः ॥

भुक्त्वा निरात्रं कुर्वीत व्रतमेतत्समाहितः । शं. स्मृ., 17/47-48

110. मनु., 3/118 की कुल्लूकभट्ट की टीका में उद्धृत

111. भोजयित्राऽवज्ञानेन दत्त भौकार्वा गनसो दुष्टिकर भावदुष्टम्। गौ.ध.,
2/8/12 पर हरदत्त की मिताक्षरा टीका से उद्धृत

112. मनु., 3/171-172

113. सर्वे ते नरकं यान्ति दातृयाजकपञ्चमाः॥ मनु., 3/172

114. परा. स्मृ., 4/27

115. मनु., 11/199

116. या. स्मृ., 3/277

117. दिवा च मैथुनं गत्या स्नात्वा नग्नस्तथाऽम्भसि।

नग्नां परस्त्रियं दृष्ट्वा दिनमेकं व्रती भवेत्॥

क्षिप्त्वाऽग्नावशुचि द्रव्यं तदेवाम्भसि मानवः।

मासमेकं व्रतं कुर्यादुपकुध्य तथा गुरुम् ॥

पीतावशेष पानीयं पीत्वा च ब्राह्मणः क्वचित् ।

त्रिरात्रं तु व्रतं कुर्याद्वामहस्तेन वा पुनः॥

हुकारं ब्राह्मणस्योक्त्वा त्वंकारं च गरीयसः।

दिनमेकं व्रतं कुर्यात्प्रयतः सुसमाहितः ॥ शं. स्मृ., 17/54-56, 60

118. क्षत्रियस्तु रणे दत्त्वा पृष्ठ प्राणपरायणः।

संवत्सरव्रतं कुर्याच्छिप्त्वा वृक्ष फलप्रदम्॥ शं. स्मृ., 17/63

119. (क) मनु., 11/64 तथा (ख) या. स्मृ., 3/240

120. पापात्मानस्तु पापेभ्यः कृच्छ्रेः संतारिता नराः।

गतपापादिक यान्ति नात्र कार्या विचारणा॥ शं. स्मृ., 18/14

121. मनु., 11/223-226

122. (क) पापक्षये प्रकीर्तितः ॥ शं.स्मृ., 9/11

(ख) हैवात्मानमन्तज्जते वाऽघममर्ष त्रिरावर्तयन्

पन्तेभ्यो मुच्यत। गौ.ध.सू., 5/3 तथा 24/11

- (ग) व.ध., 26/8 (घ) मनु., 11/259 (ङ)
 या. स्मृ., 3/301 (च) वि.स्मृ., 55/7
123. मनु., 11/259
124. (क) मनु., 11/214
 (ख) त्रयहमुष्णाः पिबेदपस्त्र्यहमुष्णं घृतं त्रयहमुष्ण
 पयस्त्र्यहं च नाशनीयादेष तप्तकृच्छ्रः ॥
125. (क) शीतैः शीतमुदाहृतम्। श.स्मृ., 18/5
 (ख) एष एव शीतैः शीतकृच्छ्रः। वि. स्मृ., 46/4
 (ग) त्र्यहं शीतं पिबेत्तोयं त्रयहं शीतं पयः पिबेत्।
 त्र्यहं शीतं घृतं पीत्वा वायुभक्षः परं त्रयहम् ॥
 या. स्मृ. 3/317 पर मिताक्षरा में उद्धृत यम का वचन
126. द्वादशाहोपवासेन पराकः परिकीर्तितः॥ शं. स्मृ., 18/5
127. यतात्मनोप्रमत्तस्य द्वादशाहमभोजनम्।
 पराको नाम कृच्छ्रोऽयं सर्वपापापनोदनः ॥ मनु, 11/215
128. बिल्वैरामलकैर्वाऽपि पद्माक्षरथवा शुभैः।
 मासेन लोकेऽतिकृच्छ्रः कथ्यते बुद्धिसत्तमैः॥ शं. स्मृ., 18/7
129. द्वितीयं चरित्वा यत्किञ्चिदन्यन्महापातकेभ्यः
 पापं कुरुते तस्मात् प्रमुच्यते ॥ गौ. स्मृ., 27/4
130. गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम्।
 एकरात्रोपवासश्च कृच्छ्रे सांतपनं स्मृतम्। शं. स्मृ., 18/8
131. वरुणो देवता मूत्रे गोमये हव्यवाहनः।
 सोमः क्षीरे दधि वायुघृते रविरुदाहृतः॥ दे. स्मृ., 62
132. गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम्।
 निर्दिष्टं पञ्चगव्यन्तु पवित्र पापनाशनम् ॥ परा. स्मृ., 11/29
133. ब्रतैस्तु त्रयहमभ्यस्तं महासांतपनं स्मृतम्॥ शं. स्मृ., 18/8
134. चन्द्रस्यायनमिवायनं चरणं यस्मिन्कर्मणि
 हासवृद्धिभ्यां तच्चान्द्रायणम्। या. स्मृ., 3/323
 पर मिताक्षरा व्याख्या में उद्धृत
135. (क) अनादिष्टेषु पापेषु शद्धिश्वान्द्रायणेन चा

- धर्मार्थं यश्वरेदेतच्चन्द्रस्यैति सलोकताम्॥ या. स्मृ., 3/226
- (ख) एष चान्द्रायणो मासो मासमेतमाप्त्वा विपापो विपाप्मा सर्वमेनो हन्ति
द्वितीयमाप्त्वा दशपूर्वान् दश वरानात्मानञ्चैकविंशं पतोश्च पुनानि
संवत्सरं थाप्त्वा चन्द्रमसः सलोकतामाप्नोति। गौ. स्मृ., 28/3
136. सव्याहृति सप्रणवां गायत्री शिरसा सह।
त्रिः पठेदायतप्राणः प्राणायामः स उच्यते । शं. स्मृ., 7/13
137. या.स्मृ., 3/305
138. देवताध्यायी जपं कुर्यात्। शं. स्मृ., 12/4
139. (क) गायत्री वेदजननी गायत्री पापनाशिनी।
गायत्र्य परमं नास्ति दिवि चेह च पादनम्॥ शं. स्मृ., 12/24
(ख) मनु., 1/79, 81,83
140. तपसा शोषयेन्नित्यं स्वकञ्चैव कलेवरम्॥ शं. स्मृ., 6/5
141. संस्कृत-हिन्दी कोश, वागन शिवराम आप्टे, पृ. 1181
142. हुता देवी विशेषेण सर्वकामप्रदायिनी।
सर्वपापक्षयकारी वरदा भक्तवत्सला॥ शं. स्मृ., 12/19
143. (क) सर्वे शिलोच्चयाः सर्वाः रावन्त्यः पुण्या हृदास्तीर्थान्यृषि निवासा
गोष्ठपरिस्कन्धा इति देशाः॥ गौ.ध., 19/14
(ख) व.स्मृ., 22/12
144. श्रुताभिलषिता दृष्टा स्पृष्टा पीतावगाहिता।
या पावयति भूतानि कीर्तिता च दिने दिने॥
गंगा गंगेति यैर्नाम योजनानां शतेष्वपि।
स्थितैरुच्चारितं हन्ति पापं जन्मत्रयार्जितम् ॥ वि.पु., 2/8/120-121
145. पुलस्तय - 25
146. अ. स. 1/11
147. या. स्मृ. 3/219
148. काणे पी. वी. धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग पृ. 1.1
149. मनु. 2/9
150. मनु 1/104
151. मनु, 1/104

152. व. ध. 4/1
153. श्रीमद्. 6/1/40 (पष्ठस्कन्धः अध्याय 1-40)
154. सांख्यकारिका 44
155. मनु. 4/155-158
156. कर्मणा मनसा वाचा यत्नाद्धर्म समाचरेत् ।
अस्वर्ग्यं लोकविद्रिष्टं धर्म्यमव्याचरेन्न तु ॥ या स्मृति 1/56

द्वितीय अध्याय
स्मृति साहित्य में परिवार :
एक अनुशीलन

द्वितीय अध्याय

स्मृति साहित्य में परिवार : एक अनुशीलन

स्मृति साहित्य में परिवार की अवधारणा

मनुष्य ने अपने सामाजिक जीवन को पुष्ट एवं स्थायी बनाने तथा उसे सुखमय स्वरूप देने के लिए जिन संस्थाओं की रचना की, उनमें परिवार का स्थान सर्वोपरी है। इसने मानव-जाति को निरंतरता प्रदान की है, उसे अमरत्व दिया है। “मनुष्य मरण-धर्मा है, किन्तु मनुष्य जाति अमर है। व्यक्ति उत्पन्न होते हैं, बचपन, यौवन और वृद्धावस्था भोगकर समाप्त हो जाते हैं परन्तु वंश परम्परा द्वारा उनका संतान-क्रम परिवार द्वारा का दोनों का समन्वय हुआ है। व्यक्ति भले ही मर जाए, पर परिवार और विवाह द्वारा मानव जाति अमर हो गई है।¹

हिन्दू परिवार का स्वरूप संयुक्त है। परिवार का यह स्वरूप प्राचीन है जो आज भी भारतीय हिन्दू परिवारों में प्रचलित है। प्राचीन परम्परा का पालन करते हुए याज्ञवल्क्य ने तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था में संयुक्त परिवार का प्रतिपादन किया है।² संयुक्त परिवार का उल्लेख ऋग्वेद³, रामायण⁴, गौतम धर्मसूत्र⁵, अर्थशास्त्र⁶, नारद⁷, बृहस्पति⁸, देवल⁹, मनु¹⁰ आदि धर्मशास्त्रों में मिलता है। संयुक्त परिवार प्रणाली में पिता परिवार का कर्ता, मुखिया था। पिता के संरक्षण में सभी सदस्य रहते थे। माता-पिता की मृत्यु के पश्चात् सभी भाई सम्पत्ति का बराबर विभाजन करते थे। सभी स्मृतिकारों ने दायभाग व्यवस्था का उल्लेख किया। कुछ धर्मशास्त्रकारों ने भाइयों के विभक्त हो जाने को धर्मवृद्धि मानकर धर्मसंगत माना। स्मृतिकालीन पारिवारिक जीवन में ऐक्य, सौहार्द्र और सद्भावना थी। पुत्र, माता-पिता की आज्ञा का पालन करते थे। स्त्रियाँ पति को देव-तुल्य मानती थी। परस्पर सहयोग से सभी सदस्य प्रेम पूर्वक रहते थे। संयुक्त परिवार की अपनी विशेषता और उपयोगिता थी।

2. स्मृति साहित्य में परिवार के प्रकार

भारतीय हिन्दू परिवार का जीवन दर्शन पुरुषार्थ, संस्कार, सहयोग की भावना पर आधृत है। भारतीय परिवार मनुष्य के सभ्य और सुसंस्कृत होने का स्वाभाविक तारतम्य है जिसके माध्यम से मानव जीवन का उद्धार होता है। परिवार में पति-पत्नी, माता-पिता, भाई-बहिन, पुत्र-पुत्री सभी सहयोग व प्रेम की भावना से बंधे रहते हैं। वस्तुतः परिवार और

समाज अन्योन्याश्रित है। परिवार से ही समाज का निर्माण होता है। संयुक्त परिवार भारतीय सामाजिक संगठन और हिन्दू परिवार की एक प्रमुख विशेषता है। एक आदर्श संयुक्त परिवार के सदस्यों में एक-दूसरे के प्रति सहयोग और उत्तरदायित्व की भावना पाई जाती है। समाजवाद तथा समूह कल्याण के सुन्दर आदर्श निहित है। संयुक्त परिवार के सदस्य 'संयुक्तता की भावना से ओत-प्रोत होते हैं। प्रख्यात विद्वान मैक्समूलर ने इसे 'भारत की आदि-परम्परा' कहा है।

संयुक्त परिवार का इतिहास

संयुक्त पारिवारिक संस्था भारत में प्राचीन काल से है जिसका स्वरूप आदिम साहित्य ऋग्वेद के काल से ही स्थिर होने लगा था। अतः पूर्व वैदिक युग से ही संयुक्त परिवार की कल्पना की गई है ऋग्वेद में एक स्थल पर वर-वधू को आशीर्वाद देते हुए पुरोहित कहता है कि "तुम सास, ससुर, ननद और देवर पर शासन करने वाली रानी बनो।"¹¹

ये कथन प्रमाणित करते हैं कि पूर्ववैदिक काल में संयुक्त परिवार था जिसमें माता-पिता, पति-पत्नी, भाई-बहिन, पुत्र-पुत्री सभी रहते थे।

उत्तरवैदिक काल, ग्रहयसूत्रों, बौद्ध युग में भी संयुक्त परिवार प्रचलन में थे। स्मृतिकारों ने भी संयुक्त परिवार का विशद चित्रण किया है।¹²

शंखलिखित ने संयुक्त परिवार को महत्व दिया है, इससे भौतिक उन्नति में वृद्धि होती है।¹³ पृथक परिवार का समर्थन और प्रशंसा भी इस युग में प्रारम्भ हो गई थी। मनु का मत है कि संयुक्त परिवार में छोटे भाई संयुक्त रह सकते हैं यदि धर्म की वृद्धि हेतु पृथक-पृथक रहना चाहते हैं तो पृथक-पृथक रहे। अलग रहने से धर्म की वृद्धि होती है अतः विभाजन भी धर्मयुक्त है।⁴ नारद तथा मनु के मत से संयुक्त परिवार में साथ रहने तथा एक ही चूल्हे पर पका अन्न साथ-साथ खाने वालों के द्वारा पितृ, ब्राह्मण तथा देवपूजा सम्मिलित रूप से होती है। परन्तु अलग होने पर वहीं पूजा प्रत्येक व्यक्ति द्वारा अलग-अलग तथा प्रत्येक गृह में होती है जिससे धर्म की वृद्धि होती है।

श्लोक

याज्ञवल्क्य एवं नारद स्मृतियों में 'कुटुम्ब'⁶ एवं 'अविभक्त कुटुम्ब' शब्द का प्रयोग किया है।

"अविभक्तेः कुटुम्बगर्थे ग्रहणं तु कृतं भवेत्। (याज्ञ, स्मृति) एक पूर्णज के सभी व्यक्ति जो उत्तराधिकारी हैं संयुक्त परिवार में आते हैं- जैसे - पति, पत्नी, कुमारी कन्या

इत्यादि। विवाह पश्चात् कन्या पतिगृह की सदस्या बन जाती है। अतः परिवार के अन्तर्गत सभी सदस्यों का एक-दूसरे से संबंध सीधा और प्राकृतिक होता है। प्रत्येक युग और काल में परिवार किसी न किसी रूप में रहा है तथा जन-जीवन में अपना विस्तार करता रहा है जिससे उसका सामाजिक परिवेश बढ़ता गया। सम्यता और संस्कृति के साथ-साथ परिवार का भी उत्थान होता रहा है तथा साह ही मनुष्य जीवन की पूर्णता भी होती रही।

संयुक्त परिवार के प्रकार

स्मृतिकालीन पारिवारिक संस्था का गहन अध्ययन करने के पश्चात् भारत में संयुक्त परिवार के निम्नलिखित दो आधार स्पष्ट होते हैं-

1. पारिवारिक सत्ता के आधार पर
2. साम्प्रतिक अधिकार के आधार पर

(1) पितृवंशीय तथा पितृ-सत्तात्मक संयुक्त परिवार

यह भेद पारिवारिक सत्ता के आधार पर है। संयुक्त परिवार में सत्ता का अधिकार पति या पिता के हाथ में रहता है। वंश परम्परा पिता से पुत्र को प्राप्त होती है। सम्पत्ति-अधिकार पिता से पुत्र को मिलता है। पारिवारिक व्यवस्था में पुरुष का प्रमुख हाथ रहता है। पुरुष पक्ष की चार पीढ़ियों तक के सदस्य सामान्यतया साथ साथ रहते हैं। इन परिवारों को पितृ स्थानीय भी कहते हैं। क्योंकि इनमें निवास-स्थान पति या पिता का होता है पति तथा बच्चे वहीं रहते हैं। स्पष्टता की दृष्टि से पितृ सत्तात्मक या पितृवंशीय परिवार की मुख्य विशेषताएँ निम्नलिखित हैं -

- (1) पारिवारिक मामलों में और सम्पत्ति के सम्बन्ध में पिता को सम्पूर्ण अधिकार होता है।
- (2) सम्पत्ति, सम्मान या किसी विशेष पद का हस्तान्तरण पिता से पुत्र को होता है।

सामाजिक या पारिवारिक पहल पद, उपाधि आदि प्राप्त करने में सबसे बड़े पुत्र का स्थान व अधिकार सबसे पहले होता है।

- (3) ऐसे परिवारों में पिता उसके भाई, उन सबके लड़के, उन लड़कों के बच्चे, उनकी पत्नियाँ अविवाहित लड़कियाँ आदि सम्मिलित होते हैं।
- (4) विवाह के बाद पत्नी को पति के घर पर आकर रहना होता है अथवा स्थान परिवर्तन पुरुष की इच्छा पर निर्भर करता है।
- (5) वंशनाम और परिचय पुरुष के नाम से सम्बन्धित होता है स्त्री के नाम का सन्दर्भ या तो आता ही नहीं या बहुत कम आता है। बच्चे पिता के कुल या वंश के समझे जाते हैं, माता के वंश या कुल के नहीं।

विशेष - भारत के अधिकांश भाग में रहने वाले हिन्दुओं और यहाँ की अधिकांश जातियों में पितृ सत्तात्मक तथा पितृवंशीय संयुक्त परिवार ही पाये जाते हैं। संयुक्त परिवार का यह रूप हिन्दू समाज में आदर्श माना जाता है।

(2) मातृ सत्तात्मक अथवा मातृवंशीय संयुक्त परिवार

इन संयुक्त परिवारों का निर्माण एक स्त्री, उनके भाइयों, बहिनो और भाई बहिनो के बच्चों द्वारा होता है। परिवार में सत्ता स्त्री की होती है तथा बच्चे अपनी माता के कुल या वंश का नाम ग्रहण करते हैं। ऐसे परिवारों की सभी विशेषताओं को मैकाइयर तथा पेज ने अग्रानुसार व्यक्त किया है-

- (1) मातृ-सत्ता का यह अर्थ नहीं है कि समस्त आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक अधिकार माता को ही प्राप्त होते हैं और पुरुष का कोई स्थान नहीं होता। वस्तुतः व्यावहारिक रूप में परिवार का संगठन पुरुषों द्वारा ही निर्धारित होता है और वे सामाजिक राजनीतिक आदि विषयों में सम्मानित पद प्राप्त करते हैं।
- (2) सम्पत्ति का उत्तराधिकार भी पिता द्वारा पुत्र को प्राप्त न होकर माता द्वारा उसकी पुत्री या पुत्रियों को प्राप्त होता है। पुरुष को यदि उत्तराधिकार में कुछ मिल सकता है तो यह केवल मातृ पक्ष की ओर से ही सम्भव है।
- (3) बच्चों का पालन पोषण पत्नी के सम्बन्धियों द्वारा अधिक होता है। परिवार में पत्नी के भाई का आधिपत्य होता है और प्रायः भाई या भानजा ही सम्पत्ति का अधिकारी बनता है।
- (4) सम्पत्ति का उत्तराधिकार भी पिता द्वारा पुत्र को प्राप्त न होकर माता द्वारा उसकी पुत्री या पुत्रियों को प्राप्त होता है।
- (5) विवाह के बाद पत्नी अपने ही घर में रहती है और पति को ही उसके घर जाकर रहना पड़ता है।
- (6) वंश का नाम माता से पुत्रों को हस्तान्तरित होता है, पिता से नहीं। विवाह के बाद पुरुष का गोत्र स्त्री के गोत्र के अनुसार परिवर्तित हो जाता है। बच्चे माता के वंश से ही जाने जाते हैं।

(3) मिताक्षरा संयुक्त परिवार

लगभग बारहवीं शताब्दी से हिन्दू संयुक्त परिवार की संरचनात्मक विचारधाराओं में दो मतों का समावेश हुआ जिन्होंने दो अलग विचारधारों को जन्म दिया और आज ये दो सम्प्रदायों के रूप में विद्यमान हैं। इन सम्प्रदायों को क्रमशः “मिताक्षरा” और “दायभाग” की संज्ञा दी गई है।

इन सम्प्रदायो में पाये जाने वाले संयुक्त परिवार क्रमशः मिताक्षरा संयुक्त परिवार और दायभाग संयुक्त परिवार कहे जाते हैं। संयुक्त परिवारों का यह विभाजन सम्पत्ति के अधिकार के आधार पर आधारित है।

मिताक्षरा संयुक्त परिवार जिन सिद्धान्तों पर आधारित है उनका मुख्य आधार मिताक्षरा नामक टीका है जो (1070-1100) के बीच विज्ञानेश्वर द्वारा 'याज्ञवल्क्य' स्मृति पर लिखी गई थी। मिताक्षरा परिवार-संरचना में कर्ता को परिवार का अधिकारी माना जाता है।

कर्ता शब्द का प्रयोग पिता या परिवार के किसी अन्य बयोवृद्ध व्यक्ति के लिए होता है। कर्ता परिवार के सदस्यों के हित के लिए जो भी वैध कार्य करता है, सबको मानना पड़ता है। इस सम्बन्ध में कर्ता के विशेषाधिकार होते हैं। अविभाजित परिवार में वह सभी सदस्यों के भरण पोषण का ध्यान रखता है और कोई भी सदस्य उससे आय व्यय का हिसाब नहीं मांग सकता। परिवार के सदस्यों को स्वतन्त्रता होती है कि वे स्वेच्छा से संयुक्त परिवार से अलग हो जाएँ।

अविभाजित परिवार में पैतृक सम्पत्ति पर सभी साझेदारों का संयुक्त स्वामित्व होता है। नियम यह है कि बालक के गर्भ में आते ही पैतृक सम्पत्ति में उसका अधिकार स्वीकार कर लिया जाता है।

पैतृक सम्पत्ति का एकमात्र संरक्षक पिता होता है और यदि पुत्र अथवा पौत्र (अपने हिस्से की माँग करे तो पिता को उनका हिस्सा तुरन्त देना पड़ता है। अविभाजित परिवार में किसी हिस्सेदार की मृत्यु हो जाने पर उसका हिस्सा उसके रक्त-सम्बन्धियों में ही विभाजित हो सकता है।

मिताक्षरा संयुक्त परिवारों में नई सन्तानों (उत्तराधिकारियों) के जन्म लेने अथवा वृद्धों या अन्य साझेदारों के मर जाने से सम्पत्ति पर अधिकार रखने वालों की संख्या घटती बढ़ती रहती है। इन परिवारों में स्त्रियों को पुरुष उत्तराधिकारियों के समान सम्पत्ति पर अधिकार नहीं होता। यह भी नियम है एक पुरुष के तीसरी पीढ़ी तक के पुरुष-वंशज की सम्पत्ति में अधिकार रख सकते हैं।

इस अधिनियम के लागू हो जाने से अब यह नियम प्रभावी है कि यदि एक हिन्दू संयुक्त परिवार की सम्पत्ति में अपना हिस्सा छोड़कर मर जाए तो उसकी विधवा स्त्री को उसका उत्तराधिकार मिले। यह उत्तराधिकार इस दृष्टि से सीमित है कि वह इस तरह

प्राप्त अपनी सम्पत्ति का उपभोग तो कर सकती है, लेकिन किसी को बेच या दे नहीं सकती। लेकिन धार्मिक कर्तव्यों को निभाने के लिए वह ऐसा कर सकती है।⁷

मिताक्षरा संयुक्त परिवारों में सम्पत्ति का प्रयोग करने से सम्बन्धित कर्ता के अधिकार कुछ दृष्टियों से काफी सीमित रखे गए हैं। कर्ता सम्पत्ति का उपयोग पहले के ऋणों को चुकाने या किसी कानूनी कार्य के लिए तो कर सकता है, किन्तु उसे बेच नहीं सकता और दान में भी नहीं दे सकता। अन्य हिस्सेदार भी संयुक्त सम्पत्ति में अपने स्वयं का दूसरे हिस्सेदारों से पूछे बिना इच्छानुसार विनियोग नहीं कर सकते।

मिताक्षरा संयुक्त परिवार एक निगम के समान है जिसमें सभी व्यक्तियों को नहीं परन्तु कर्ता के भाई, भतीजे, पोते, या नाती जो क्रमागत तीन पीढ़ियों के होते हैं, सम्मिलित रूप से उपभोग करने, नियन्त्रण करने, देख भाल करने, कर्ज का समान रूप से बँटवारा करने या सम्पत्ति उत्तराधिकारियों में सबसे पहले लड़के आते हैं, और उनके न होने पर पोते, नाती तथा भाई आते हैं।

(4) दायभाग संयुक्त परिवार (DAYABHAG – JOINT FAMILY) -

दायभाग-परिवार-संगठन बंगाल और असम के हिन्दू परिवारों की अपनी विशेषता है। खासतौर पर ये परिवार बंगाल में ही अधिक मिलते हैं। ये परिवार जिन सिद्धान्तों द्वारा संचालित होते हैं उनका प्रधान आधार 1090 जीमूतवाहन 1130 ई. के बीच जीमूलवाहन द्वारा लिखित दायभाग ग्रन्थ है इन परिवारों में पतृक सम्पत्ति में अधिकार का सिद्धान्त मिताक्षरा के विपरीत है। दायभाग संयुक्त परिवारों की विशेषताएँ ये हैं-

1. इनमें सम्पत्ति पर अधिकार जन्म से ही नहीं वरन् पिता की मृत्यु के बाद ही प्राप्त होता है।
2. पुत्र पिता के जीवन काल में सम्पत्ति के विभाजन की माँग नहीं कर सकते।
3. अपने जीवन काल में पिता को संयुक्त परिवार की सम्पत्ति का भी प्रकार उपयोग करने का पूर्ण अधिकार होता है। पिता पैतृक और स्व अर्जित दोनों प्रकार की सम्पत्ति का अपनी इच्छानुसार विनियोग, विक्रय, दान आदि कर सकता है।
4. मिताक्षरा की भाँति केवल पुरुष ही नहीं वरन् - स्त्रियाँ भी सम्पत्ति में उत्तराधिकारिणी होती हैं।
5. पिता की मृत्यु के बाद सम्पत्ति उसके रक्त - सम्बन्धियों में विभाजित हो जाती है और न ही मिताक्षरा और दायभाग का प्रभाव समाप्त हो गया है अब सभी संयुक्त परिवारों के समान उत्तराधिकार की व्यवस्था लागू हो गई है।

6. अधिनियम⁸ पारित होने के बाद से अब मिताक्षरा और दायभाग का प्रभाव समाप्त हो गया है अब सभी संयुक्त परिवारों के समान उत्तराधिकार की व्यवस्था लागू हो गई है।

3. पारिवारिक सदस्यों के कर्तव्य एवं अधिकार

परिवार एक ऐसी कार्यशाला है जहाँ व्यक्ति का निर्माण होता है। परिवार में जन्म लेने के बाद बच्चे की सुप्त मानसिक शक्तियाँ परिवार में स्पर्श से जाग्रत होती हैं। बच्चे के भावी जीवन के बीज परिवार में ही बोए जाते हैं। परिवार ही उसमें सामाजिक गुणों और नैतिकता का प्रारंभिक संचार करता है जो आगे चलकर विभिन्न संपर्कों से विकसित होता जाता है। पारिवारिक कार्यों की सूची इतनी लम्बी है कि सभी का उल्लेख करना और उन्हें विभिन्न दृष्टिकोणों से समझना बहुत कठिन है। यदि हम किसी एक भारतीय आदर्श संयुक्त परिवार को ले और उसका गम्भीरतापूर्वक विश्लेषण करें तो हमें सरलता से यह पता चल जाएगा कि परिवार के प्राणि-शास्त्रीय कार्य क्या हैं?

परिवार के शारीरिक देखभाल के काम क्या हैं? परिवार में बच्चों का समाजीकरण कैसे होता है? शैक्षिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक कार्यों में सहयोग कैसे करता है?

परिवार के सभी सदस्यों के परस्पर सहयोग और समर्थन से परिवार का विकास होता है। माता-पिता, पति-पत्नी और पुत्र-पुत्री के संयोजन से परिवार सार्थक होता है। यहाँ हम परिवार के सदस्यों के कर्तव्यों का निदर्शन करेंगे।

(1) पिता (कर्ता)

परिवार का मुखिया, धन व्यवस्थापक, वरिष्ठ सदस्य के रूप में पिता का स्थान महत्वपूर्ण है। परिवार का भरण पोषण, देख-रेख शिक्षण-प्रशिक्षण, रक्षण-संरक्षण ऋग्वैदिक काल से आज तक भी पिता के ही अधिकार क्षेत्र में आते हैं। अनेक भाग्यकारों ने भी पिता को शिक्षक रूप में स्वीकार किया है।⁹ विद्वान् पिता पुत्र का आचार्य माना गया है।¹⁰ पिता के दायित्व और कार्य पर विचार करते हुए मनु ने अपना मत व्यक्त किया है कि माता-पिता संतान उत्पन्न करने में जो क्लेश सहते हैं, उसका बदला 100 वर्ष में भी उनकी संतान नहीं चुका सकती।¹¹

“यं मातापितरौ क्लेशं सहते सम्भवे नृणाम्।

न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि॥” - मनु

कुटुम्ब का सर्वोच्च व्यक्ति होने के कारण पिता सदस्यों के प्रति सहृदय, जागरूक और उत्सर्जित रहता है।

2. माता

पारिवारिक जीवन की माता अटूट कड़ी है, जिससे परिवार के सभी सदस्य जुड़े हैं। वेदों में माता का अभिनन्दन किया है। परिवार की संरचना में माता का अभूतपूर्ण योगदान है, जो उसकी घनिष्ठता, अपनत्व, उत्सर्ग और स्नेह का प्रतीक है। प्राचीन काल से माता का यही उत्कृष्ट स्वरूप रहा है।

पुत्र को माता के मनोनुकूल रहने की सलाह दी जाती थी।¹² ब्रह्मचारी को भी आचार्य यह उपदेश देता था कि वह देवता की तरह माता की पूजा करे।¹³ धर्मसूत्रों में माता को श्रेष्ठ गुरु कहा गया है।¹⁴ क्योंकि संतान अपनी प्रारम्भिक शिक्षा आज भी माँ से ही ग्रहण करती है। आपस्तम्ब, बौधायन और वशिष्ठ जैसे धर्मशास्त्रकारों ने यह व्यवस्था दी कि पति व पिता को छोड़ा जा सकता था, किन्तु माँ नहीं छोड़ी जा सकती। स्मृतिकारों ने माता को 'परमगुरु' मानकर परिवार एवं समाज में सर्वोच्चता दर्शित की है।¹⁵ स्पष्ट है कि परिवार में माता का पद अत्यन्त सम्मानित, महिमामय और आदर्शात्मक रहा है।

3. पति-पत्नी

प्राचीन हिन्दू परिवार में पति का स्थान पत्नी के साथ आकलित होता रहा है। ऋग्वैदिक काल में भी पति दम्पति के रूप में कुटुम्ब की देखभाल करता था और पत्नी के समान स्वत्व स्वीकार करता था। स्मृति काल में भी पति के समान धरातल पर स्त्री की संयुक्तता स्वीकार की गई। जो पति था, वही पत्नी।¹⁶ मनु का धर्म सम्मत कथन है कि पुरुष अपनी पत्नी की रक्षा से अपने पुत्र, चरित्र, कुल, आत्मा और धर्म का रक्षण करता है।¹⁷ प्रायः सभी धर्मशास्त्रकारों ने स्त्री को उच्च स्थान प्रदान करते हुए उसके साथ पति को सर्वोत्तम व्यवहार करने का निर्देश दिया है। पुरुष भी प्रत्येक स्थिति में अपनी पत्नी का ध्यान रखता था तथा कठिन परिस्थितियों में अपने कर्तव्यों के प्रति सजग रहता था।

पत्नी ही घर की आत्मा और प्राण थी। इसलिए वह ऋग्वेद में 'घर' मानी गई है। पतिसेवा और पातिव्रत्य धर्म का पत्नी के लिए अपार महत्व था। वह अपनी सद्वृत्तियों से परिवार को सुखमय बनाये रखती थी। गुणी पत्नी के लिए स्मृतिकारों ने कहा कि वह सर्वदा हँसमुख रहे, गृहकार्य दक्षतापूर्वक करे तथा सच्चरित्रता व संयमपूर्वक रहे।¹⁸ वह परिवार के सदस्यों के बीच संबंध-स्थापन, गृह निर्माण, संचालन और पालन में महत्वपूर्ण योगदान करती रही।

4. पुत्र

कुटुम्ब का उद्भव विवाह से होता है और विकास संतान से होता है। वैदिक युग का पुरुष संतान की कामना से ही विवाह करता था। पुत्र प्राप्ति के निमित्त 'गर्भाधान' और 'पुंसवन' संस्कार सम्पन्न किये जाते थे। पुत्र की अभिलाषा का प्रधान कारण था कि उससे परिवार का पोषण, रक्षा और निरंतरता होती थी। पितृ ऋण से मुक्ति प्राप्त करना सभी द्विजों का उद्देश्य था और पितृ ऋण से मुक्ति पाने का एकमात्र साधन पुत्र प्राप्ति ही था। पुत्र का माता के प्रति स्वाभाविक आदर और सम्मान रहा है। माता-पिता का भरण-पोषण करना तथा उनकी सेवा करना पुत्र का परम कर्तव्य माना है।¹⁹ अवहेलना करते हुए उसकी सेवा नहीं करता था वह दंडनीय माना गया।²⁰

5. पुत्री

पुत्री अथवा कन्या का स्थान हिन्दू संयुक्त परिवार में पुत्र की तुलना में उपेक्षणीय ही रहा। उसके सामाजिक-आर्थिक अधिकार गौण ही रहे। वैदिक युग से ही कन्या इन्हीं विषम विडम्बनाओं से छली जाती रही और कठिन परिस्थितियों से उलझती रही है। कुछ धर्मशास्त्रकारों ने कन्या के प्रति सहानुभूति दर्शित की तथा उसकी महत्ता और प्रतिष्ठा स्वीकार की। मनु ने उसे पुत्र के समान माना तथा पुत्र के अभाव में उसे उत्तराधिकारी माना।²¹

पारिवारिक सदस्यों के अधिकार

परिवार समाज की महत्वपूर्ण ईकाई है क्योंकि जन्म के पश्चात् मनुष्य अपने परिवार में ही समाज के नियमों, संस्कारों, कर्तव्यों को सीखता है। परिवार के अधिकारों को निम्नलिखित तरीके से रेखांकित किया जा सकता है।

1. **लैंगिक** - परिवार में समाज द्वारा संस्थापित नियमों के आधार पर लैंगिक संबंध होते हैं। इस प्रकार लैंगिक संबंधों की अभिव्यक्ति पर सामाजिक नियंत्रण होने से समाज में संतुलन बना रहता है।
2. **प्रजननात्मक** - इस समाजीकृत लैंगिक संबंध से संतान का जन्म होता है। समाज के स्थायीकरण का मार्ग भी प्रशस्त होता है। (दोनों अधिकार जैविक आवश्यकताओं से संबंधित हैं)
3. **आर्थिक** - परिवार मनुष्य के भरण-पोषण, खान-पान तथा आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। यह कार्य विभाजन से ही संभव है।

4. शैक्षिक - बच्चों का समाजीकरण परिवार में अग्रज व्यक्तियों द्वारा होता है। जिसके फलस्वरूप उनमें परम्परागतनियम व नैतिक मूल्य ठीक ढंग से पनप पाते हैं। इस प्रकार मानव संस्कृति की निरंतरता एवं उसका संरक्षण संभव हो पाता है।

(दोनों अधिकार सामाजिक अधिकार हैं)

5. आवास - परिवार उन सभी सदस्यों के लिये एक आवासीय ईकाई है जो समाज द्वारा स्वीकृत संबंधों से जुड़े होते हैं।

6. मनोवैज्ञानिक - परिवार से सदस्यों को सामाजिक पहचान प्राप्त होती है। बच्चे अपने माता-पिता तथा अन्य परिवारजनों को देखकर सामाजिक व्यवहार सीखते हैं। जिससे उनका व्यक्तित्व विकसित होता है।

4. सनातन संस्कृति को परिवार के सदस्यों का योगदान

अथर्ववेद का कथन है कि सत्य और आस्तिकता से यह पृथ्वी रूकी हुई है।²² जिस परिवार में सत्य और आस्तिकता है, वहाँ सुख और शान्ति है, जहाँ इनका अभाव है वहाँ दुख और अशांति है। परिवार के सभी सदस्यों को सुखी रहने के लिए आवश्यक है कि उनमें धार्मिक भावना जाग्रत हो। भारतीय सनातन संस्कृतिक को समुन्नत बनाने और समाज के सभी पक्षों का उत्कर्ष करने में परिवार के सदस्यों का एक ईकाई के रूप में महत्वपूर्ण योगदान है। इस दृष्टि से परिवार के सदस्यों का योगदान निम्नलिखित प्रकार से है-

1. धार्मिक योगदान
2. पारिवारिक योगदान
3. सामाजिक योगदान
4. आर्थिक योगदान
5. राजनीतिक योगदान
6. चारित्रिक योगदान

1. धार्मिक योगदान - परिवार को सुखी रखने के लिये सनातन संस्कृति का अनुसरण अत्यावश्यक है। परिवार के सदस्यों में धार्मिक भावना जाग्रत हो, धार्मिक भावना के जागरण से ही आस्तिकता, सच्चरित्रता, सामाजिक सौदार्द और आत्मिक सुख की अनुभूति होती है। धार्मिक भावना के अभाव में परिवार में अनाचार, पाप-भावना, हिंसा, अत्याचार और अनैतिकता का वातावरण तैयार होता है। अतएव वेद का आदेश है कि परमात्मा को सर्वव्यापक मानते हुए सदैव शुभ कर्म करो। अपने पुरुषार्थ से प्राप्त धन का ही उपयोग करो। दूसरे के धन की ओर लोभयुक्त दृष्टि से न देखो। ईश्वरोपासना ही सुख-

शांति का मूल है। व्यक्ति और समाज दोनों के अभ्युदय हेतु ईश्वर का ध्यान अत्यन्त उपयोगी है। परिवार पंच महायज्ञों का विधान है। यज्ञ को पृथ्वी का धारक माना है।²³ मनु ने भी पाँच पापों (चुल्ली, पेषणी, उपस्कर, कण्डनी और जलकुम्भ) से मुक्ति हेतु पाँच यज्ञों का विधान किया है।²⁴ नैतिक व धार्मिक धरातल पर स्थित ये पंचमहायज्ञ जीवन के धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक पक्ष को विकसित करने वाले थे। जो व्यक्ति गृहवासी होकर निरन्तर इन यज्ञों के पालन में व्यस्त रहते थे, वे आत्मशुद्धि और मानस-परिष्कार के सही मार्ग का दिगदर्शन कर लेते थे। मनुष्य को धर्म के प्रतिसचेष्ट कक्षा इसकी प्रधान भावना थी।

2. पारिवारिक योगदान - परिवार में सुख का मूल प्रेम है। परिवार और समाज में यदि प्रेम है, सद्भाव है तथा परस्पर सहयोग की भावना है तो वह परिवार और समाज सदा फलता-फूलता रहेगा। अंतएव वेदादेश है कि भाई-भाई में प्रेम हो, बहिन-बहिन में प्रेम हो। सब मिल-जुलकर काम करे तथा मधुवचन ही बोले। संतान माता-पिता की आज्ञाकारी हो। पुत्र-पिता का सहयोगी बने तथा माता का आदर करे।

3. सामाजिक योगदान - वैदिक काल से ही चारों वर्ण समाज के चार स्तम्भ हैं। यदि स्तम्भ दृढ़ हैं तो भवन भी सुदृढ़ रहेगा। समाज का गौरव चारों वर्णों की श्री वृद्धि पर निर्भर करता है। वैदिक राष्ट्रीय प्रार्थनाओं में ब्राह्मण के लिए कहा गया है कि वे ज्ञानी और तेजस्वी हों। क्षत्रिय वीर, योद्धा और महारथी हो। वे रथों पर बैठकर शत्रुसेना पर विजय प्राप्त करें। वैश्य संपत्तिशाली हो और उनके पुत्र भी वीर और सुशील हो। चारों वर्णों के लिए तेजस्विता की प्रार्थना की गई है।

जिस समाज में तेजस्विता होती है, उसका ही यश में फैलता है। तेजस्वी समाज दूसरों पर अपना प्रभुत्व स्थापित करता है और उन्हें अपने अनुकूल बनाता है। ब्रह्म शक्ति और क्षत्र शक्ति समाज की धुरी है। जहाँ इन दोनों शक्तियों का सामंजस्य है, वहाँ शक्ति और तेजस्विता है।

ब्राह्मण दिशा-निर्देश करता है, मार्ग प्रदर्शन करता है और क्षत्रिय उसकों कार्यन्वित करता है। समाज के चारों वर्णों का परस्पर सहयोग, समन्वय अनिवार्य है। समाज को सुसंगठित करने एवं एक सूत्र में बाँधने में खान-पान का बहुत महत्व है। वैदिक काल से ही सनातन संस्कृति में सहभोज, सपीति अर्थात् सह-जलपान का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। साथ मिलकर खाने-पीने से पास्परिक सद्भाव व स्नेह की वृद्धि होती है।

समाज को संगठित करने के लिए आवश्यक है कि समाज में परस्पर सहयोग की भावना हो।

जहाँ सहानुभूति और समवेदना होती है, वहाँ हार्दिक एकता होती है। यह सहयोग की भावना ही समाज को प्रगति की ओर अग्रसर करने में योगदान देती है। सामूहिक या सामाजिक कार्यों को सहयोग भी भावना से करें। सामाजिक कार्यों में असहयोग या उपेक्षा से प्रगति अवरूद्ध होती है। प्रत्येक समाज की कुछ प्राचीन परम्पराएँ होती हैं। ये परम्पराएँ उस समाज की प्राचीन सनातन संस्कृति की पोषक हैं।

4. आर्थिक योगदान - भारतीय संस्कृति में चार पुरुषार्थ, धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष स्वीकार किए गए हैं। व्यक्ति इनकी पूर्ति गृहस्थाश्रम में रहकर ही सम्पन्न कर सकता है। गृहस्थाश्रम में ही व्यक्ति धार्मिक कार्यों को पूरा करता है एवं अर्थोपार्जन भी करता है। आजीविका चलाने के लिए परिवार विभिन्न आर्थिक क्रियायें करता है। वंशानुगत व्यवसाय हो या कृषि या अन्य कोई व्यवसाय परिवार का प्रत्येक सदस्य अपनी क्षमतानुसार कार्य करता है।

प्रायः परिवार एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी के लिए व्यावसायिक ज्ञान और कला का विशिष्ट माध्यम होता है। अनेक परिवारों में घरेलू उद्योग-धन्धे होते हैं और परिवार के बच्चे भी उनको ही आगे बढ़ाते हैं। वंशानुगत व्यवसाय घरेलू उद्योग-धंधों को आने वाली पीढ़ी को सिखाकर हम भारतीय सनातन संस्कृति में आर्थिक योगदान की नींव रखते हैं। परिवार संतुलित बजट बनाना सीखता है क्योंकि प्रायः खर्च की विभिन्न मदों पर आय के साधनों का ध्यान रखते हुए काफी ध्यान दिया जाता है। यदि पारिवारिक अर्थव्यवस्था को पूरे समाज में ठीक ढंग से लागू किया जाए तो इससे अच्छी और उत्तम कोई अन्य समाजवादी अर्थव्यवस्था नहीं हो सकती।

5. राजनीतिक योगदान - परिवार से समाज, समाज से राष्ट्र का निर्माण होता है। परिवार राजनीतिक शिक्षा का भी आरम्भ स्थल है। इसे हम राज्य का एक छोटा-सा स्वरूप कह सकते हैं। जिस प्रकार परिवार का कोई न कोई प्रधान होता है उसी प्रकार राज्य में भी एक प्रधान होता है। भारत में संयुक्त परिवारों में मुखिया की यही स्थिति है। वह दयावान, वैधानिक या निरंकुश हो सकता है।

जिस प्रकार राज्य के नियमों का पालन किया जाता है, उसी प्रकार पारिवारिक नियमों पर सम्पूर्ण परिवार का आचरण निर्भर करता है। राज्य की भाँति परिवार में भी कार्य-विभाजन व्यवस्था कामय है।

6. चारित्रिक योगदान - परिवार का एक महत्वपूर्ण कार्य है कि वह प्राणिशास्त्रीय प्राणी के रूप में बालक को सामाजिक प्राणी में बदल देता है। परिवार नैतिक, सामाजिक गुणों का पालन है तथा चारित्रिक उत्थान की आधारशिला है। जो कुछ बाल्यकाल में सीखा जाता है वहीं जीवन को अच्छा या बुरा बनाता है। स्नेह, प्रेम, त्याग, सहयोग, विश्वास, अनुशासन, परिश्रम, नैतिकता, परोपकारिता आदि गुणों का स्थायी विकास बच्चे में पारिवारिक वातावरण के फलस्वरूप ही हो पाता है। परिवार में रहकर ही बच्चे अपनी मौलिक धारणाओं, आदर्शों का निर्माण करते हैं। वही आगे चलकर चरित्र निर्माण में महत्वपूर्ण योगदान देते हैं।

5. स्मृतिकालीन परिवार एवं वर्तमान पारिवारिक व्यवस्था की समीक्षा - ऋग्वेद में संयुक्त परिवार के मर्म को समझाया गया है कि “मनुष्य को एक साथ चलना चाहिए, एक साथ बोलना चाहिए और एक-दूसरे के मन को अच्छी तरह समझना चाहिए” परम्परागत हिन्दू संयुक्त परिवारों के अन्य सदस्यों में चाचा-चाची, भाई-बहिन, ननद-भौजाई, सास-बहू भी रहे हैं, जिनका हिन्दू परिवारों में आज भी महत्व है। सभी रिश्तो से मिलकर ही संयुक्त परिवार का ढांचा पूर्ण होता है। वैदिक काल से ही परिवार के सभी सदस्यों के कर्तव्यों को समय-समय पर साहित्य-शास्त्रों में वर्णित किया गया। सभी सदस्यों की पारस्परिक सहभागिता से पारिवारिक जीवन आह्लादपूर्ण व स्नेह का सम्मिलित रूप रहा है। संयुक्त परिवार में सभी के परस्पर सहयोग से सभी का जीवन सम्मानित व सुन्दर ढंग से व्यतीत हो जाता है। हिन्दू समाज को सुदृढ़ और प्राणवान बनाने में संयुक्त परिवार का प्रमुख योगदान है, जिसमें रहकर व्यक्ति का धार्मिक, सामाजिक और आध्यात्मिक उत्कर्ष होता रहा है। भारतीय परिवारों के कुछ विशेष गुण विद्यमान हैं-

1. सार्वभौमिकता
2. भावनात्मक आधार
3. रचनात्मक आधार
4. उत्तरदायित्व की भावना
5. सामाजिक नियन्त्रण
6. एक उत्पादक ईकाई
7. सामाजिक ढाँचे में केन्द्रीय स्थिति
8. कर्ता की सर्वोच्चता

उपरोक्त गुणों के होते हुए भी संयुक्त परिवारों में व्यावहारिक रूप से अनेक दोष उत्पन्न हो गए हैं। दुर्भाग्यवश संयुक्त परिवार कालगति के साथ कदम नहीं मिला पा रहे हैं। इसलिए विघटन का शिकार हो रहे हैं।

संयुक्त परिवार में व्यक्तिवादिता का कुठाराघात हो रहा है। व्यक्तिवादी धारणा संयुक्त परिवारों पर धन की चोट कर रही है। आज विभिन्न कारणों से हिन्दू समाज के संयुक्त परिवार खण्ड-खण्ड होने लगे हैं। वर्तमान में संयुक्त परिवारिक व्यवस्था दोष पूर्ण हो गई है जो निम्नलिखित हैं-

1. आलस्य पर निर्भरता
2. आर्थिक संकट
3. कलह व अशांति
4. पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव

कोई भी संस्था तभी विकासमान और प्राणवान रहती है जब वह लचीली हो तथा समय की मांग के अनुकूल होने की क्षमता रखती हों। दुर्भाग्यवश संयुक्त परिवार इस विशेषता को ग्रहण नहीं कर सके हैं। आज भी अधिकांश परिवार वहीं पुरानी रूढ़िवादिता अपनाए हुये हैं। परिवार के बुजुर्ग अपने से छोटे सदस्यों को वाँछित स्वतन्त्रता देना पसन्द नहीं करते। महिलाओं की स्थिति आज भी यथावत् दयनीय ही बनी हुई है। समयानुसार नवीन नवाचारों के अभाव में संयुक्त परिवार विघटित होने लगते हैं। आज के युग में जब चारों ओर परिवर्तन हो रहे हैं हमारे सामाजिक मूल्य और आदर्श नया रूप ले रहे हैं तो यह स्वाभाविक है कि परिवार जैसी सामाजिक संस्था भी आधुनिक प्रवृत्तियों से प्रभावित हो। कोई भी सामाजिक या आर्थिक या राजनीतिक संस्था प्राणवान् तभी रह सकती है जब वह समयानुकूल ढले। यद्यपि भारतीय पारिवारिक संरचना आज भी परम्परागत है और कार्यों, धारणाओं आदि की दृष्टि से आज भी हमारे परिवार अधिकांशतः रूढ़िवादी हैं फिर भी आधुनिक परिवर्तन की चपेट में आते जा रहे हैं।

विभिन्न विषमताओं के बावजूद भी विद्वानों की धारणा है कि भारतीय मनोवृत्ति आज भी संयुक्त परिवारों के पक्ष में है और इसलिए विभिन्न तनावों तथा भार को सहन करते हुए भी संयुक्त परिवार बने रहेंगे। डॉ. एम. एस. गौरे से परिवारों के अध्ययन के आधार पर इस तथ्य को प्रतिपादित किया कि लोगों का झुकाव आज भी संयुक्त परिवार के पक्ष में अधिक है। संयुक्त परिवार के संरचनात्मक पक्ष में विघटन हो रहा है, जबकि प्रकार्यात्मक दृष्टि में उसका महत्व आज भी सर्वोपरि है। भारतीय संयुक्त परिवार प्रणाली

एक ऐसा आदर्श है, जिसका अस्तित्व भारत में सर्वदा स्थापित रहेगा। आधुनिकता के दौर में भारत को इसका त्याग नहीं करना चाहिए। हमें उन परिस्थितियों का निर्माण करना चाहिए जिससे इस प्रणाली के सभी दोष मिट कर यह फल-फूल सके। एक संयुक्त परिवार सामाजिक एवं नागरिक गुणों की शाश्वत पाठशाला इसलिए कहा जाता है कि उसमें सहयोग, संगठन, त्याग और स्नेह का सामंजस्य होता है। संयुक्त परिवार का आदर्श स्वरूप भी यही है और उसे प्राप्त करने के लिए हमें अपनी कमियों और दोषों पर विजय प्राप्त करनी चाहिए। अपने दोषों पर, निर्बलताओं पर अंकुश रखे बिना तो कोई भी परिवार प्रणाली सफल नहीं हो सकती है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. वेदालंकार हरिदत्त, हिन्दू परिवार-मीमांसा, पृ. 1
2. याज्ञ., 2/45-46
3. ऋग्वेद, 10/85/42
4. रामायण, 2/27/4-5
5. गौतम धर्मसूत्र, 28/1
6. अर्थशास्त्र, 3/5
7. नारद स्मृति, 16/2
8. बृहस्पति, 26
9. देवल, 13
10. मनु, 9/104
11. मनु., 5/227।
12. अर्थवेद, 3.30. 2, मात्रा भवतु सम्मनाः।
13. तै. उपनिषद, मातृदेवो भव।
14. गौ. धर्म सूत्र, 2.50, आचार्यः श्रेष्ठ गुरुणां मातेत्येके।
15. मनु. 2.145 याज्ञ. 1.35
16. मनुस्मृति, 9.45।
17. मनु. 9.7, स्वां प्रसूतिं चरित्रं च कुलमात्मानतमेव च।
स्वं च धर्मं प्रयत्नेन जां रक्षन्ति रक्षति॥
18. मनु. 5.150।
19. मनु. 9. 10-11
20. याज्ञ. 2-237
21. मनु. 9-130
22. अथर्ववेद-मन्त्र - 28
23. ऋग्वेद मन्त्र - 23
24. मनु., 3.68 - 70

तृतीय अध्याय
स्मृति साहित्य में समाज : एक
अनुशीलन

तृतीय अध्याय

स्मृति साहित्य में समाज : एक अनुशीलन

1. स्मृति साहित्य में समाज का अर्थ, स्वरूप

मानवशास्त्रियों में आज भी इस बात पर मतभेद है कि संस्कृति और समाज में से कौन अधिक महत्वपूर्ण है। कुछ विचारकों का कहना है कि संस्कृति समाज को बनाती है, उसके सदस्यों को सामाजिक प्राणी बनाती है एवं यह अनुकूलन की प्रक्रिया में सहायक है, इसलिये समाज से संस्कृति की भूमिका अधिक प्रभावशाली है।

समाज संस्कृति शब्द से जुड़ा है। इसके विपरीत कुछ मानव शास्त्री मानते हैं कि मानव की अतिजीविता में समाज की भूमिका महत्वपूर्ण है। सामाजिक मूल्यों, नियमों, आदर्शों आदि से ही एक समाज के सभी सदस्य एकीकरण के सूत्र में बन्ध पाते हैं। प्रख्यात मानवशास्त्री रैड क्लिफ ब्राऊन ने संस्कृति शब्द को महत्वहीन मान कर उसका प्रयोग न करने पर जोर दिया था। कुछ मानवशास्त्री इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि संस्कृति एवं समाज एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। ये दो अलग अलग विश्लेषक वर्ग हैं, एवं दोनों का इस्तेमाल एक ही उद्देश्य के लिये किया जा सकता है।

सर्वप्रथम 'समाज' और 'सामान्य रूप में समाज' के अन्तर

सामान्य तौर पर समाज का अर्थ होता है सामाजिक संरचना एवं संगठन। मानवशास्त्री अवधारणा में समाज एक सामाजिक प्रणाली है, किन्तु समाज की परिभाषा देने में कई परेशानियाँ हैं।¹

समाज का अर्थ - उस मानव समूह से लगाया जा सकता है जो बड़ा हो, स्वतन्त्र हो, आत्मस्थायी हो (जनसांख्यिकीय) तौर से एवं सामाजिक रिश्तों के संगठन द्वारा स्वचालित हो। समाज की परिभाषा उन सामाजिक रिश्तों के नेटवर्क के रूप में दी जा सकती है जो स्थाई रूप से विद्यमान हों।

ये स्थाई सामाजिक संबंध काफी समय बीत जाने पर अथवा स्थान परिवर्तन के बाद भी अपना अस्तित्व बनाए रखते हैं। सामाजिक रिश्ते अद्वितीय/अपूरणीय एवं अनश्वर हैं जबकि वह व्यक्ति जो इन रिश्तों में प्रवेश करता है वह

नश्वर हैं या स्थापनीय हैं। ये सामाजिक रिश्ते नातेदारी के रिश्तों के रूप में अभिव्यक्त होते हैं।

एक व्यवस्था के रूप में समाज की तुलना एक जैविक प्राणी से की जा सकती है। इसके अनुसार जैसे किसी प्राणीकी निश्चित रचना होती है और उसका विकास होता है, उसी प्रकार समाज का भी विकास होता है। एक प्राणी के शरीर में कई कोशिकाएँ मिलकर ऊतक का निर्माण करती हैं, कई ऊतक मिल कर अंग बनाते हैं, और इस प्रकार एक प्राणी निर्माण होता है। निम्ने प्राणियों की अंग संरचना सरल होती है, एवं उनके अंगों की क्रियाओं में समन्वयन एवं परस्पर निर्भरता होती है।

जैसे-जैसे प्राणी का जाति (species) के स्तर का विकास होता है और हम उच्चस्तर प्राणी तक पहुँचते हैं, उसकी अंग रचना में जटिलता आने लगती है। शारीरिक अंगों की क्रिया प्रणाली में भी अन्तर आता है। उसी प्रकार एक मानव समाज भी विभिन्न व्यक्तियों से बना है, जो मिलकर कई समूह बनाते हैं।

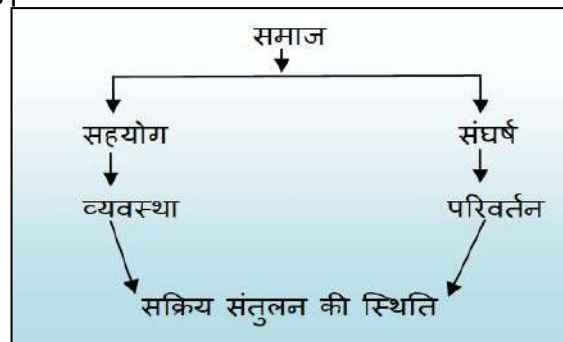
ये सभी समूह मिल कर विभिन्न सामाजिक तंत्र बनाते हैं, जिनका अलग अलग कार्य है। इन तन्त्रों के बीच स्थापित समन्वयन, समाकलन एवं परस्पर निर्भरता से पूर्ण समाज एक इकाई के रूप में क्रियान्वित होता है। सरल समाज में समन्वयन, समाकलन एवं निर्भरता अधिक होती है। उसमें निरन्तर गति होती है एवं वे प्रकृति से प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित होते हैं। जैसे जैसे हम उच्चतर या अधिक विकसित समाज की ओर बढ़ते हैं ये सभी लक्षण कम होते जाते हैं, एवं प्रत्येक सामाजिक तन्त्र का विशिष्टीकरण हो जाता है। उनकी एकरूपता कम होती जाती है, एवं वे अधिक विषमांगी हो जाते हैं।

समाज जनसंख्या का अनुरक्षण/भरण पोषण करता है। समाज मनुष्य की कई मूलभूत आवश्यकताओं को पूरा करता है। यहाँ लोगों में कार्य का विभाजन लिंग एवं उम्र के अनुसार करता है। सामाजिक नियमों के कारण समूह में एकता बढ़ती है एवं इन्हीं नियमों के आधार पर सामाजिक प्रणाली स्थायीकृत होता है। आपसी सहयोग समाज के प्राचीनता के स्थाईकरण का एक महत्वपूर्ण पहलू है, क्योंकि इससे समाज में व्यवस्था स्थापित होती है। इसके विपरीत संघर्ष या विरोध से समाज के प्राचीनता के स्थाईकरण का एक महत्वपूर्ण पहलू है, क्योंकि

इससे समाज में व्यवस्था स्थापित होती है। इसके विपरीत संघर्ष या विरोध से समाज में परिवर्तन आता है।

प्रारम्भ में सहयोग को मानवशास्त्रियों ने एक सकारात्मक गुण माना जिससे समाज के स्थाईकरण में सहयोग मिलता है। इसके विपरीत संघर्ष को समाज के लिये नकारात्मक गुण माना जाता था। इस कारण मानवशास्त्री संघर्ष को महत्व नहीं देते थे। किन्तु आधुनिक समय में सहयोग एवं संघर्ष दोनों का, समाज के स्थायीकरण में महत्वपूर्ण भूमिका है। व्यवस्था और परिवर्तन दोनों ही समाज के लिये आवश्यक तत्व हैं जब सहयोग और संघर्ष दोनों एक सन्तुलन में होते हैं तो समाज में स्थिरता आती है।²

- समाज
- सहयोग
- संघर्ष
- व्यवस्था
- परिवर्तन



सक्रिय संतुलन की स्थिति

विद्वान् किंगस्ले डेविस - ने मानव समाज एवं अन्य प्राणियों के समाज में अन्तर दर्शाते हुए कहा कि मानव समाज सामाजिक-सांस्कृतिक व्यवस्था है, जबकि अमानवीय समाज जैविक सामाजिक व्यवस्था है। अर्थात् अमानवीय समाज प्राणियों के आनुवांशिक रचना द्वारा निर्धारित होता है जबकि मानव समाज अधिजैव हैं, एवं उनका निर्धारण मानव की आनुवांशिक संरचना से नहीं होता।

राल्फ लिंटन - ने समाज एवं भीड़ में अन्तर बताते हुये कहा है कि मानव समाज व्यक्तियों का एक समूह है, पर यहाँ सामाजिक रिश्ते स्थाई एवं अविरत है। भीड़ में व्यक्तियों के रिश्ते कुछ समय के लिये बनते हैं, फिर समाप्त हो जाते हैं जबकि वैदिक स्मृतियों में ऐसा उल्लेख नहीं है।

यहाँ सभी व्यक्ति खेल देखने के लिये एकत्र होते हैं, उनमें क्षणिक सम्बन्ध बनते हैं, और खेल समाप्त होने के बाद सब अलग हो जाते हैं। एक समाज में उसके सदस्यों के बीच अधिक नजदीकी एवं सहयोग पूर्ण सम्बन्ध होता है। सदस्यों के उद्देश्य पूर्ण होने के बाद भी उसमें आपसी सम्बन्ध कायम रहता है।

स्मृति साहित्य में समाज का स्वरूप

वेदों और स्मृतियों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वैदिक विचारधारा के अनुसार समाज मनुष्यकृत न होकर दैवीय संस्था है। यह समाज भौगोलिक बन्धनों से मुक्त है। यह किसी देश या कालविशेष से सम्बन्ध नहीं है। इसका सम्बन्ध मानवमात्र से है। मानव सृष्टि के साथ ही समाज की सृष्टि हुई। मानव की समस्त जीवनलीला समाज में ही प्रारम्भ होती है और उसका अन्त भी समाज में ही होता है।

ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद के अनुसार समस्त ब्राह्मण ही विराट पुरुष या एक महामानव है।³ इस विराट पुरुष का वर्णन करते हुए कहा गया है कि सूर्य उसका नेत्र है, चन्द्रमा उसका मन है, अग्नि उसका मुख है, वायु उसका प्राण है, अंतरिक्ष उसकी नाभि है, घुलोक उसका सिर है, पृथ्वी उसका पैर है। दिशाएँ उसके कान हैं, कहा भी गया है -

चन्द्रमा मनसो जातः चक्षोः सूर्या अजायत ।

मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च, प्राणाद् वायुरजायत ॥

नाभ्या आसीदन्तरिसं, शीष्णो धौः समवर्तत ।

पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्।⁴

ऋग्वेद, यजुर्वेद, और अथर्ववेद वेदों के मन्त्रों से ज्ञात होता है पूरे समाज को चार मुख्य श्रेणियों में बांटा गया है। इन चार श्रेणियों को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र नाम दिये गये हैं। विराट पुरुष से इनकी उत्पत्ति का वर्णन करते हुए कहा गया है कि ब्राह्मण उसका मुख है, राजन्य (क्षत्रिय) उसकी भुजाएँ हैं, वैश्य उसकी जंघा (या मध्यभाग) है और शूद्र उसके पैर है। इन चारों वर्णों को चतुर्वर्ण या चातुर्वर्ण्य कहा जाता है। यह चातुर्वर्ण्य भारतीय समाज का आधार है। इसी चातुर्वर्ण्य व्यवस्था के आधार पर भारतीय समाज का संगठन और विकास हुआ है।⁵

समाज के गुण - समाज का निर्माण किन गुणों के आधार पर होता है, इस विषय पर विचार करते हुए धर्मशास्त्रों में कहा गया है कि समाज के निर्माण के लिए कुछ विशिष्ट गुण चाहिए। ये गुण हैं -

- (1) रक्षण शक्ति
- (2) ज्ञान (बुद्धिबल)

- (3) प्रजा पालन या भरण पोषण की सामर्थ्य।
- (4) श्रमशक्ति का विभाजन व योगदान
- (5) मौलिक एकता।

समाज में ब्राह्मण ज्ञान या बुद्धि का प्रतीक है, राजन्य (क्षत्रिय) रक्षणशक्ति है, वैश्य प्रजा पालन या उसके भरण पोषण की सामर्थ्य है, शूद्र श्रमशक्ति है। इसको ही यजुर्वेद ने इस प्रकार रखा है। ब्राह्मण, ज्ञान, विधा, बुद्धि के लिए ब्राह्मण है, रक्षण के लिए राजन्य (क्षत्रिया) है, प्रजा के भरण पोषण के लिए वैश्य है और तप (श्रमशक्ति) के लिए शूद्र है। ब्राह्म, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र में चारों एक विराट् पुरुष के अंग हैं, अतः इनकी मौलिक एकता है। प्रत्येक अंग के पृथक पृथक कार्य के अनुरूप प्रत्येक वर्ण के पृथक कार्य निर्धारित किये गये हैं।⁶

इस प्रकार आदर्श समाज वह है, जिसमें कार्य-विभाजन की योजना के अनुसार समाज का संगठन होता है। कार्य-विभाजन की प्रणाली होने पर भी उसमें मौलिक एकता अवश्य होनी चाहिए।

प्लेटो के अनुसार- जब राज्य की जनता में इन गुणों के आधार पर कार्य-विभाजन होता है, तब आदर्श राज्य की स्थापना होती है। ऐसे राज्य में सभी वर्गों, सभी व्यक्तियों तथा सभी संस्थाओं का समान रूप से कल्याण होता है और सर्वोदय होता है।

स्मृतिसाहित्य में आदर्श समाज का उद्देश्य

यजुर्वेद के एक मंत्र है। जिसमें इस बात पर ध्यान आकृष्ट किया गया है कि बाधक जो तत्त्व या छिद्र हैं, उनको दूर करो।⁷ अर्थात् कल्याण को सर्वप्रथम रखो और जनहित में इससे ज्ञात होता है कि लोक हित समाज का मुख्य उद्देश्य है।

महाभारत में भी क्षात्रधर्म की व्याख्या में निर्देश दिया गया है कि आदर्श समाज का लक्ष्य होना चाहिए -

- (1) अच्छालम् छल कपट का अभाव।
- (2) सुखभूयिष्ठम् - सुख और शान्ति का पूर्ण अस्तित्व ।
- (3) सर्वलोकहितम् - सारे समाज का हित और पूर्ण कल्याण।⁸
- (4) शुक्रनीति ने समाज के लक्ष्य की ओर संकेत किया है कि समाज का उद्देश्य है पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति।

पुरुषार्थ चतुष्टय में चार तत्व हैं-

- (1) धर्म कर्तव्यपालन करना
- (2) अर्थ धन वैभव की निरन्तर उपलब्धि ।
- (3) काम-सभी कामनाओं की पूर्ण प्राप्ति।
- (4) मोक्ष निर्वाण की प्राप्ति।

शुक्रनीति का यह भी कथन है कि राजनीतिशास्त्र का लक्ष्य है सभी लोगों का हित साधना और समाज की स्थिति को सुरक्षित करना।⁹ श्रम से सम्बन्ध सभी कार्यों को करके समाज का गतिशील और विकासशील बनाना है।¹⁰

इससे ज्ञात होता है कि समाज का प्रमुख लक्ष्य है पुरुषार्थ चतुष्टय की प्राप्ति। इसकी प्राप्ति के लिए समाज में शान्ति की व्यवस्था, सुख सुविधाओं की प्रचुरता तथा विघ्नों का शमन करना समाज का पूर्ण दायित्व है।

समाज में गुणों के अनुसार कार्यों की व्यवस्था -

प्रत्येक व्यक्ति की रुचि, स्वभाव और कार्यक्षमता पृथक् होती है, वेदों और स्मृतियों में इस बात को स्पष्ट किया गया है कि प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक कार्य के लिए उपयुक्त नहीं है इसी दृष्टि से वेदों में वर्ण व्यवस्था का उल्लेख है ब्राह्मण मुख का कार्य करता है। ये कार्य निम्नलिखित प्रकार से हैं -

- (1) भाषण ।
- (2) शास्त्रार्थ।
- (3) क्रियाकलाप।
- (4) प्रवचन।

इसी प्रकार क्षत्रिय या राजन्य को बाहु कहने का अभिप्राय है शौर्य कार्य, रक्षण कार्य और शस्त्र-अस्त्र से संबद्ध क्रियाकलाप।

वैश्य को मध्यभाग या उदर कहने का अभिप्राय है उदर के तुल्य धन संग्रह करना और उसका यथास्थान समुचित उपयोग। इसमें व्यापार और वाणिज्य से सम्बन्ध सभी विषयों का समावेश हो जाता है। वैश्य ही समाज की अर्थ-व्यवस्था का संचालन और नियन्त्रक है। शूद्र को पैर कहने का अभिप्राय है जिस प्रकार पैर गमन आगमन का साधन है, शरीर का भार ढोते हुए उसे क्रियाशील बनाता है, उसी प्रकार विवेक समाज में गुणों के अनुसार कार्य करने की

क्षमता को विकसित करता है। उसी प्रकार परिश्रम से संबद्ध सभी अनिवार्य समाज के कार्यों को करके समाज को गतिशील क्रियाशील और विकासशील बनाता है।¹¹

इसी भाव को स्पष्ट करते हुए यजुर्वेद में कहा गया है- ब्रह्मणे ब्राह्मणम्, क्षत्राय, राजन्यम्, महद्भ्यो वैश्यम्, तपसे शूद्रम्।¹² इसका अभिप्राय है कि ब्रह्म ज्ञान से सम्बन्ध सभी कार्यों के लिए ब्राह्मण वर्ण है। क्षत्र या रक्षण कार्य के लिए क्षत्रिय है। मरुत् देव वृष्टि के देवता हैं। ये जलसंचय करते हैं और यथास्थानजल की वर्षा करते हैं इसी प्रकार वैश्य वर्ण का कार्य है - धन का संग्रह करना और समाज की आवश्यकता के अनुसार उसका यथास्थान व्यय करना।

शूद्र के लिए तपस् कार्य कहा है। तपस् से अभिप्राय है तप या श्रम से संबद्ध सभी कार्य। उद्योग और विकास से संबद्ध सभी कार्यों के लिए तप और श्रम चाहिए। कठोर परिश्रम से ही उद्योग और विकास के सभी कार्य सफल होते हैं, इस प्रकार जहाँ ब्रह्मशक्ति, क्षत्रशक्ति और मरुत् शक्ति समाज के लिए अनिवार्य हैं, उसी प्रकार श्रमशक्ति के बिना कोई भी समाज न प्रगति कर सकता है और न विकास इसलिए तीनों वर्णों के तुल्य शूद्र वर्ण भी समाज का अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग है।

यजुर्वेद के 30 वें अध्याय में रुचिभेद से सैकड़ों वृत्तियों का उल्लेख है। इसमें कला सम्बन्धी कार्य, ज्ञान आदि से संबद्ध कार्य, पशुपालन, विविध उद्योगों धन्धों और सभा आदि से सम्बन्ध उद्योगों का भी उल्लेख है।¹³

यह समाज और मनोवैज्ञानिक अध्ययन है कि रुचिभेद से वृत्तिभेद हो जाता है शान्त प्रकृति के व्यक्ति को ज्ञान, विज्ञान, ध्यान, योग, धार्मिक क्रियाकलाप पसन्द आते हैं तो उग्र प्रकृति के व्यक्ति को शस्त्र अक्ष, सैन्य-क्रियाकलाप रुचिकर होते हैं। धन वैभव के इच्छुक व्यक्ति को व्यापार और वाणिज्य के कार्य रुचिकर होते हैं। इसी प्रकार शारीरिक शक्ति वाले, किन्तु मन्द बुद्धि, व्यक्ति को श्रमसाध्य कार्य और उद्योगों रुचिकर होते हैं।

वेदों और स्मृतियों में गुण, स्वभाव और कार्यक्षमता को आधार मानते हुए जो वृत्तियों का उल्लेख है, वह अत्यन्त महत्वपूर्ण है। मनुष्य के आर्थिक जीवन के लिए इन गुणों का उल्लेख वेदों की महत्वपूर्ण देन है। व्यवसाय सम्बन्धी ये बातें सिद्धान्त रूप में दी गई हैं। समय स्थान और परिस्थितियों के अनुसार इनके

स्वरूप में आवश्यकता अनुसार परिवर्तन, संशोधन और परिवर्धन किया जा सकता है।

वर्ण व्यवस्था गुण कर्म प्रधानता का स्वरूप

वेदों में जो वर्ण-व्यवस्था दी गई है, वह शुद्धरूप से गुणों और कर्मों पर आश्रित है। वेदों में वर्ण वृत्तिपरक है, जातिपरक नहीं। अतः ब्राह्मण आदि वर्णों का सम्बन्ध जन्म से सर्वथा नहीं है। जिसकी जो वृत्ति होगी, वही उसका वर्ण होगा। अतः वर्ण-व्यवस्था समाज का अभिन्न अंग है।

मनुस्मृति, महाभारत, भगवद् गीता आदि में इस बात का स्पष्ट निर्देश है कि वर्णों की व्यवस्था गुण और कर्म के आधार पर की गई है।

गीता में श्री कृष्ण का कथन है कि गुण और कर्मों के आधार पर ही मैंने चातुर्वर्ण्य की सृष्टि की है।¹⁴ दूसरे स्थान पर कहा गया है कि स्वाभाविक गुणों के आधार पर ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के कर्तव्यों का निर्धारण किया गया है।¹⁵

महाभारत में इस विषय का बहुत विस्तार से विवेचन हुआ है। भीष्म पितामह का कथन है कि ब्राह्मण के ये गुण हैं- संयम, आचारशुद्धि, सरलता, सदाचार, दयालुता, सहनशीलता, निष्काम भाव, मृदुता, अक्रूरता और क्षमाशीलता। जो इन गुणों से युक्त होता है, वही ब्राह्मण कहलाने के योग्य है।

यदि वह पापकर्म करता है तो उसे ब्राह्मण नहीं समझना चाहिये।¹⁶ महाभारत ने कुछ दुर्गुणों का उल्लेख किया है कि इन दुर्गुणों से युक्त ब्राह्मण शूद्र हो जाता है। ये दुर्गुण हैं-

- (1) दुश्चरित्रता
- (2) धैर्यहीनता ।
- (3) कुकर्मरत रहना।
- (4) चुगली करना।
- (5) अपवित्रता का रहना।
- (6) मर्यादा का त्याग करना।
- (7) क्रूरता।
- (8) हिसा।
- (9) धर्म।

(10) और सदाचार का त्याग करना आदि।¹⁷

मनु ने भी ब्राह्मणों को अत्यन्त सम्मानीय माना है, परन्तु निर्देश है कि यदि वे ब्राह्मण के कर्म नहीं करते हैं उन्हें शूद्र समझा जाना चाहिए। मनु का कथन है कि जो ब्राह्मण वेदों को न पढ़कर अन्य शास्त्रों का अध्ययन करता है, वह सपरिवार शूद्र हो जाता है।¹⁸ इसी प्रकार दूसरे स्थान पर कहा है कि जो ब्राह्मण प्रातः और सायं संध्या उपासना कर्म नहीं करता है उसे शूद्र समझना चाहिए और उसका बिरादरी से बहिष्कार किया जाना चाहिये।¹⁹ इससे स्पष्ट है कि वर्ण-व्यवस्था का आधार गुण और कर्म हैं। समाज की सुचारु व्यवस्था के लिए वृत्तियों का विभाजन किया गया है। जो जिस वृत्ति को करता है, उसका उसी प्रकार समाज में आदर और सम्मान होता है।

स्मृति साहित्य में समाज का निर्माण अवयव-अवयवी (अंश-अंशी) सिद्धान्त का स्वरूप

जिस प्रकार एक वृक्ष की अनेक शाखा प्रशाखाएँ होती हैं, उसी प्रकार मूलभूत एक तत्त्व के अनेक अंग या अवयव हो जाते हैं। इस दृष्टि से वेदों में "आवयविक सिद्धान्त का सर्वप्रथम प्रतिपादन किया गया है। ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद के पुरुष सूक्त में विराट ब्रह्मा या महामानव की कल्पना की गई है। उसी विराट के अंग प्रत्यंगों से यह समस्त ब्रह्माण्ड प्रकट हुआ है। उस विराट पुरुष को काल्पनिक रूप में हजारों हाथ, पैर, आँख, नाक, कान और सिर वाला कहा गया है।²⁰

उससे न केवल घुलोक, अन्तरिक्ष और पृथ्वी ही उत्पन्न हुए, अपितु सारा चराचर जगत् उत्पन्न हुआ। उससे ही मनुष्य, पशु, वृक्ष वनस्पति आदि हुए। उससे ही समाज के अंग ब्राह्मण, वैश्य, और शूद्र हुए।²¹ इससे स्पष्ट है "अवयव - अवयवी" सिद्धान्त की सर्वप्रथम स्थापना और व्याख्या वेदों में हुई है। यह पुरुषसूक्त तीनों वेदों में आया है।

पूरे वैदिक वाङ्मय में इस सूक्त का अनेक सन्दर्भों में उल्लेख मिलता है। इस प्रकार समाज निर्माण के आवयविक-सिद्धान्त की स्थापना का श्रेय स्मृतिसाहित्य को तथा सम्पूर्ण वेदों का श्रेय जाता है।

समाज में सदस्यों के बीच पारस्परिक सहयोग समाज भावना एक ही भूभाग में निवास करने से, समान परम्परा एवं समान आचरण करने से उत्पन्न

होता है। सामाजिक व्यवस्था में पारस्परिक सहिष्णुता एवं सम्बद्धता का भी उतना ही महत्वपूर्ण योगदान है। समाज के सभी सदस्य अपने को एक समूह के रूप में देखते हैं, एवं समय आने पर बाहरी लोगों के खिलाफ एक सूत्र में बंध जाते हैं। प्रत्येक सदस्य से यह अपेक्षा की जाती है कि वह सामाजिक नियमों के अनुसार आचरण करे।

संक्षेप में समाज की विशेषताओं का सार इस प्रकार दिया जा सकता है -

- (1) समाज उन मानवीय संबंधों का नेटवर्क है जो स्थाई एवं स्थिर है।
- (2) समान, भूभाग, भावना, परंपरा एवं आचरण समाज के विशेष लक्षण हैं।
- (3) पारस्परिक सहयोग, चेतना, सहिष्णुता एवं समन्वयन से सामाजिक व्यवस्था बनी रहती है।
- (4) समाज के सभी अंगों के बीच पारस्परिक क्रियात्मक निर्भरता होती है, जिसके कारण समाज का अस्तित्व बना रहता है।
- (5) मानवीय समाज सामाजिक सांस्कृतिक व्यवस्था है - आनुवांशिक संरचना से इसका संबंध नहीं है।
- (6) पारस्परिक सहयोग एवं संघर्ष जब संतुलन की स्थिति में रहते हैं तो समाज में सक्रिय संतुलन बना रहता है।
- (7) समाज मनुष्य की मूल जरूरतों को पूरा कर उसकी उत्तर जीविता में सहायता करती है।
- (8) सामाजिक व्यवहार का वंशानुगत संचार सामाजीकरण एवं द्वारा होता है।
- (9) समाज अनुभवातीत है- वह मनुष्य के ऊपर है।
- (10) सामाजिक व्यवहार सामाजिक नियमों पर आधारित है, जिसका पालन करना सभी सदस्यों का कर्तव्य है।

2. स्मृति साहित्य में वर्णव्यवस्था की अवधारणा

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज से पृथक् रहकर उसका अपना कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। समाज को व्यवस्थित, समुन्नत एवं सुसंगठित बनाने का पूर्ण दायित्व भी मनुष्य का ही है। इसलिये प्राचीन भारतीय मनीषियों ने एक आदर्श समाज की परिकल्पना की, जिसे साकार या मूर्तरूप देने के लिए नानाविध संस्थाओं को विकसित किया। जिनमें से एक 'वर्णव्यवस्था' थी। यह सामाजिक स्तरीकरण की एक ऐसी व्यवस्था थी, जो समाज के प्रत्येक वर्ग को समान

महत्त्व एवं अवसर प्रदान कर, उसके कर्तव्य-कर्मों पर बल देती थी, जिससे उनमें सामञ्जस्य बना रहे, संघर्ष की स्थिति उत्पन्न न हो,

अतएव मनुष्य जोकि समाज की एक महत्त्वपूर्ण इकाई है, उसे चार वर्गों में विभाजित किया- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र। उनके लिए क्रमशः शिक्षण, शासन, व्यवसाय एवं श्रम को निर्धारित किया गया। इसके अधीन रहकर ही सभी वर्ण अपने धर्म का पालन करते थे और समाज के प्रति अपना पूर्ण उत्तरदायित्व निभाते थे। यही कारण है कि यह हजारों वर्षों तक भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता का अभिन्न अंग बनी रही।

वर्ण शब्द की अवधारणा - वर्ण शब्द अति प्राचीन है जिसका सर्वप्रथम वर्णन हमें ऋग्वेद में उपलब्ध होता है। जहाँ यह 'रंग' अथवा 'प्रकाश' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

समस्त स्मृति साहित्य प्राचीन भारतीय संस्कृति, सभ्यता, परम्परा, धर्म, आचार, नैतिकता आदि पर मूल्यवान् प्रकाश डालता है और इतने विषयों का सूक्ष्मदृष्टि से विशद् विवेचन करता है कि सीमित शब्दों में बहुत कुछ कह देना सम्भव नहीं है। ब्राह्मणादि वर्गों के कर्म, चारों आश्रमों के धर्म, संस्कार, पञ्चमहायज्ञ, आचमन, प्राणायाम, योग, अघमर्षण, गायत्री जप, तर्पण, शुद्धि, अशौच, श्राद्ध तथा प्रायश्चित्त विधान आदि इसके महत्त्व को प्रकट करते हैं। मानवजीवनोपयोगी ये समस्त मूल्य समाज को अनुशासित, व्यवस्थित व विधिसम्पन्न बनाते हैं।

मनुष्य का शारीरिक, मानसिक व बौद्धिक विकास कर उसमें उच्च नैतिक गुणों का आधान करते हैं। उसके चरित्र का निर्माण कर अन्तःकरण की शुद्धता व पवित्रता को स्थापित करते हैं। उसे सदाचार, शिष्टाचार, अनुशासन, संयम एवं विनम्रता का पाठ पढ़ाकर व्यवहारकुशल व धर्मपरायण बनाते हैं। प्राणीमात्र में समता का भाव उत्पन्न करते हैं जिससे मनुष्य सर्वाङ्गीण विकास के साथ-साथ समाज के प्रत्येक वर्ग-मनुष्य, देव, पितर आदि का पोषण करते हुए उसका विकास कर सके। अतएव इसमें निहित शिक्षा कर्तव्यच्युत को धर्मानुसार व नियमानुकूल सच्चरित्र जीवन व्यतीत करना तथा अनियमित व अनाचारयुक्त जीवन का त्याग करना सिखाती है जिससे मनुष्य सांस्कृतिक जीवन का विकास कर लोक और परलोक दोनों को सिद्ध कर सके।

आज के वैज्ञानिक युग में मनुष्य जहाँ मात्र स्वार्थसिद्धि रूपी लक्ष्य की प्राप्ति हेतु कर्म करता जा रहा है, प्रतिस्पर्धावश उसके अन्तःकरण में जो दुष्प्रवृत्तियाँ जन्म लेती जा रही हैं तथा समाज में जो अव्यवस्था बढ़ती जा रही है, उसका कारण स्मृति विहित धर्मसम्बन्धी जीवन-मूल्यों को निरर्थक मानते हुए उनकी अवहेलना का ही दुष्परिणाम है। अतः इस स्मृति के आदर्श नियम व सिद्धान्त आज भी मनुष्य की चरमोन्नति में सहायक हैं।

वर्ण शब्द की व्युत्पत्ति एवं अर्थ

परवर्ती साहित्य में यह विविध अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। निरुक्त में वर्ण की व्युत्पत्ति 'वृञ्' धातु से की गई है जिसका अर्थ है- चुनाव करना या वरण करना।²² कोशग्रन्थ में वर्ण शब्द को 'वर्ण' धातुपूर्वक 'घञ्' प्रत्यय से निष्पन्न बताया है जिसमें उसके रंग, रूप, सौन्दर्य, मनुष्य श्रेणी, जनजाति, कबीला, ब्राह्मणादि जाति, श्रेणी, वंश, जनजाति इत्यादि अर्थ किये गये हैं।²³ इसके अतिरिक्त 'वृ' धातु का प्रयोग वरण, वर्णन, आच्छादित करने एवं जीविका के अर्थ में हुआ है।²⁴ कह सकते हैं कि जीविका आदि के लिए व्यवसाय का वरण करना 'वर्ण' है।

अतएव वर्ण शब्द से आर्य एवं अनार्य जाति विशेष, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र-इन चार वर्णों का बोध होता है। वर्णव्यवस्था से तात्पर्य इन्हीं चार वर्णों से है। कालान्तर में वर्ण तथा 'जाति' शब्द को समानार्थक माना जाने लगा। महर्षि शंख ने वर्ण शब्द चारों वर्णों के लिए प्रयुक्त किया है और 'जाति' शब्द 'वर्ण' के लिए नहीं वरन् मनुष्य जाति के लिए किया है। स्मृतिकार मनु ने वर्ण शब्द का प्रयोग कुछ स्थानों पर 'जाति'²⁵ अर्थ में तो कहीं पर मिश्रित जातियों के अर्थ में किया है। आधुनिक समय में तो 'वर्ण' तथा 'जाति' को पर्याय ही माना जाता है, किन्तु इन दोनों का गहनतापूर्वक अध्ययन करें तो इनमें विभिन्नता दिखाई देती है।

'जाति' शब्द स्त्रीलिंग का वाचक है। जो 'जन्' धातु 'क्तिन्' प्रत्यय अथवा जनी प्रादुर्भावे धातु से निष्पन्न हुआ है। इसमें जनन या उत्पन्न होने का भाव निहित है। गौतमन्यायसूत्रभाष्य में जाति की व्युत्पत्ति करते हुए कहा है कि- "समानप्रसवात्मिका जातिः। अर्थात् जो प्राणी अपने ही समान प्रजनन में समर्थ हो, उसकी एक जाति होती है, यथा-मनुष्य जाति, पशु जाति, तिर्यक जाति आदि।

महाभाष्यकार ने आकृति भेद को जाति का बोधक मानते हुए जाति को परिभाषित किया है कि "आकृति के द्वारा जिसका ज्ञान हो, जो सम्पूर्ण लिंगों को ग्रहण न करे और जो एक बार उपदेश से ही जान ली जाये, वह जाति है।

वस्तुतः जो शब्द सभी लिंगों में व्यवहृत न होकर मात्र स्त्रीलिंग व पुल्लिंग में प्रयुक्त हो, जातिवाचक शब्द है। राम शब्द जातिवाचक नहीं है, क्योंकि इससे मात्र एक व्यक्ति का बोध होता है जबकि कुम्हार, बढई इत्यादि शब्द जातिवाचक हैं, क्योंकि इनसे अनेक मनुष्यों की कुम्हार आदि जाति के रूप में पहचान होती है और ये सभी शब्द मात्र स्त्रीलिंग और पुल्लिंग में ही प्रयुक्त होते हैं। इस प्रकार मनुष्य जाति, गौ जाति, पशु जाति, पक्षी जाति इत्यादि आकृति भेद से पृथक् पृथक् जातियाँ हैं।

श्री केतकर ने जाति को एक सामाजिक समूह मानते हुए इसकी दो विशेषताएँ बतलाई हैं -

- (1) जाति की सदस्यता जन्मजात होती है तथा
- (2) इसके सदस्यों को एक सामूहिक नियमों के बंधन में ही रहना पड़ता है।

इसी प्रकार डॉ. एन. के. दत्त ने जाति के विषय में कहा है कि "एक जाति के सदस्य स्वजाति के बाहर विवाह सम्बन्ध नहीं कर सकते, अन्य जातियों के लोगों के साथ बैठकर न भोजन और न कोई पेय ही ग्रहण कर सकते हैं। अधिकतर जातियों का अपना एक निश्चित व्यवसाय होता है। इनके साथ ही कुछ ऊँच-नीच के विभेद परस्पर जातियों में बने होते हैं। किसी व्यक्ति का सम्बन्ध किसी जाति विशेष से जन्म के ही आधार पर किया जाता है। एक जाति का दूसरी जाति में परिवर्तन तब तक सम्भव नहीं है जब तक कि व्यक्ति को किसी विशेष नियम के उल्लंघन के कारण अपनी जाति से बहिष्कृत न कर दिया जाए।²⁶

कुछ विचारकों ने वर्ण एवं जाति के अन्तर को स्पष्ट किया है। पी.वी. काणे के अनुसार "वर्ण की धारणा वंश, संस्कृति, चरित्र (स्वभाव) एवं व्यवसाय पर मूलतः आधारित है। इसमें व्यक्ति की नैतिक एवं बौद्धिक योग्यता का समावेश होता है और यह स्वाभाविक वर्गों की व्यवस्था का सूचक है। स्मृतियों में भी वर्णों का आदर्श है कर्तव्यों पर, समाज या वर्ग के उच्च मापदण्ड पर बल देना, न कि जन्म से प्राप्त अधिकारों एवं विशेषाधिकारों पर बल देना। जबकि

जातिव्यवस्था जन्म एवं आनुवांशिकता पर बल देती है। यह बिना कर्तव्यों के आचरणों पर बल दिये, केवल विशेषाधिकारों पर ही आधारित कही जा सकती है।²⁷

इसी प्रकार वर्ण तथा जाति के भेद को अभिव्यक्त करते हुए किरण टण्डन ने वर्ण को कर्ममूलक तथा जाति को जन्ममूलक कहा है। उनके मत से "वर्णव्यवस्था लचीली है, क्योंकि व्यक्ति का वर्ण उसके कर्मानुसार बदल सकता था, यथा-जाति की दृष्टि से विश्वामित्र क्षत्रिय थे, किन्तु वर्ण की दृष्टि से 'ब्रह्मर्षि' पद प्राप्त करने पर ब्राह्मण बन गये थे। यह व्यवस्था समानता के सिद्धान्त का पालन करती है। इसमें अनुलोम विवाहादि की स्वीकृति मिल जाती है। यह कर्तव्यनिष्ठा का प्रतीक तथा सामाजिक अनुशासन का मूल है।

इसके विपरीत जातिव्यवस्था कठोर है, क्योंकि जाति में परिवर्तन सम्भव नहीं है। यह ऊँच-नीच, असमानता, भेदभाव का प्रतीक बनी हुई है। इसमें एक जाति के व्यक्ति के वैवाहिक सम्बन्ध दूसरी जाति के व्यक्ति से नहीं हो सकते। यह सामाजिक, धार्मिक प्रतिबन्धों पर जोर देती है तथा यह वर्णव्यवस्था का ही विकृत रूप है।²⁸ वस्तुतः वर्ण और जाति दोनों भिन्न अभिप्राय के वाचक हैं, किन्तु वर्तमान समय में लोग भ्रमवश दोनों को एक ही अर्थ का बोधक समझ लेते हैं।

वर्णों की उत्पत्ति तथा विकास

वर्णों की उत्पत्ति विषयक धारणा सर्वप्रथम ऋग्वेद के पुरुषसूक्त से स्पष्ट होती है। जहाँ विराट् पुरुष के मुख, भुजाओं, जंघाओं एवं पैरों से क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र की उत्पत्ति बतलाई गई है।²⁹ जो प्राचीन-कालीन वर्णव्यवस्था को द्योतित करती है। जबकि कुछ विचारकों के अनुसार यह सूक्त अर्वाचीन है। उनका मानना है कि काल की दृष्टि से यह सूक्त बाद में जोड़ा गया है।³⁰

परवर्ती साहित्य में भी वर्णों के उत्पत्ति विषयक इसी सिद्धान्त को यथावत् स्वीकार कर लिया गया। वर्णों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में तैत्तिरीय ब्राह्मण में भेद अवश्य मिलता है जिसमें तीन वेदों में तीन वर्णों की उत्पत्ति कही गयी है, यथा-सामवेद से ब्राह्मण, यजुर्वेद से क्षत्रिय एवं ऋग्वेद से वैश्य।³¹ स्मृतिकार मनु ने वर्णों की उत्पत्ति का आधार ब्रह्मा को मानते हुए कहा है कि सृष्टि के

विकास हेतु स्वयं ब्रह्मा ने इनकी उत्पत्ति की है। महाभारत के शांतिपर्व से ज्ञात होता है कि ब्रह्मा ने एक साथ चारों वर्गों को उत्पन्न नहीं किया वरन् सर्वप्रथम ब्राह्मण को उत्पन्न किया और बाद में उसकी सहायता के लिए अन्य वर्गों को। जिनमें प्रारम्भ में किसी प्रकार का कोई भेद नहीं था, सम्पूर्ण जगत् ही ब्राह्मण था अर्थात् एक ही वर्ण था-ब्राह्मण, किन्तु बाद में कर्मों की विविधता के कारण ब्राह्मण ही अपने-अपने कर्मानुसार पृथक् पृथक् वर्गों में विभक्त हो गया।³² यहाँ इतना तो स्पष्ट होता है कि पहले वर्णभेद नहीं था, लेकिन बाद में सामाजिक आवश्यकताओं के परिप्रेक्ष्य में कर्म के अनुसार वर्ण विभाजन हो गया।

कर्म-विभाजन के कारण ही विभिन्न जातियों का उद्भव हुआ। वैदिकग्रन्थों में चारों वर्गों के अतिरिक्त कुछ ऐसे व्यवसायों के नामोल्लेख मिलते हैं। जो बाद में जाति के परिचायक हो गये थे, यथा-बढ़ई, रथकार, वैद्य, लोहार, कुम्हार, चमार इत्यादि। धर्मशास्त्रीयग्रन्थों में भी असंख्य जातियों-चाण्डाल, अम्बष्ठ, आयोगव, आशिक, कुम्भ-कार, चर्मकार (चमार), कर्मकार (लोहार), कास्यकार आदि के होने का वर्णन मिलता है। यहाँ पर चाण्डाल-शूद्र द्वारा ब्राह्मणी में उत्पन्न प्रतिलोम सन्तान है। जो शवों को ढोने या जल्लाद का कार्य करता है। अम्बष्ठ-ब्राह्मण एवं वैश्य नारी की अनुलोम सन्तान है। यह शल्यजीवी या वैद्य का कार्य करने वाला है। आयोगव-वैश्य पुरुष एवं क्षत्रिय नारी से उत्पन्न प्रतिलोम सन्तान है। इसका कार्य लकड़ी काटने, धान उत्पन्न करने या कपड़े बेचने का है। आशिक क्षत्रिय पुरुष एवं वैश्य नारी के गान्धर्व विवाह से उत्पन्न है। यह घोड़े का व्यापार करने वाला है।³³

इसी प्रकार स्मृतिग्रन्थों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में कतिपय जातियाँ व उपजातियाँ बन चुकी थी। शंखस्मृति में चारों वर्गों-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र के अतिरिक्त शिल्पकार, नट, चिकित्सक, स्त्री व मृगों से आजीविका कमाने वाले, चमार, रागी, सुनार, ब्याज से आजीविका करने वाले, कुत्तों से आजीविका करने वाले, मूँज से आजीविका करने वाले तथा वणिक जातियों का वर्णन उपलब्ध होता है। आज जो विविध जातियाँ दिखाई देती हैं वे प्रचलित ऐतिहासिक आचार परम्पराओं एवं धार्मिक, आर्थिक कारकों का ही परिणाम है।

वर्ण विभाजन का आधार

वर्ण विभाजन के सम्बन्ध में सामान्यतः तीन सिद्धान्त प्रचलित हैं- कर्मगत, गुण एवं कर्मगत तथा जन्मगत एवं कर्मगत। इन तीन सिद्धान्तों के अन्तर्गत ही वर्ण-विभाजन विषयक समस्त विषयों का समावेश हो जाता है।

(1) कर्मगत- प्राचीनकालीन वर्णव्यवस्था में कर्म को विशेष महत्त्व दिया गया था। इसमें व्यक्ति की योग्यता व क्षमता के आधार पर कर्तव्य-कर्मों पर बल दिया गया था। यह सिद्धान्त मुख्यतः दो मान्यताओं पर प्रकाश डालता है। प्रथम तो यह है कि जिस व्यक्ति ने अपनी क्षमता के अनुसार जिस कर्म या व्यवसाय को स्वीकार किया, उसी के आधार पर उसके वर्ण का निर्धारण हुआ, यथा-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र।

अतएव जो व्यक्ति ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुआ है वह सदैव ब्राह्मण रहे, यह आवश्यक नहीं था, वह अपनी इच्छानुसार किसी भी वर्ण का वरण कर सकता था। ऋग्वेद में एक ऐसे परिवार का वर्णन प्राप्त होता है जिसमें एक मंत्रकार के पिता को वैद्य तथा माता को अनाज पीसने वाली बताया गया है।³⁴ साथ ही ब्राह्मणत्व जन्म से नहीं वरन् आचरण से माना गया था। एक संवाद के अनुसार जबाला का पुत्र सत्यकाम हरिद्रुमत के पुत्र गौतम के पास जाकर कहता है- भगवन्! मैं आपका ब्रह्मचारी बनना चाहता हूँ। इसलिये आपके समीप आया हूँ। तब आचार्य गौतम ने कहा- हे सौम्य! तू किस वंश के हो, उसने कहा भगवन्! मैं नहीं जानता कि मैं किस वंश का हूँ। मैंने अपनी माता से पूछा था। उसने कहा है कि अपनी युवावस्था में मैंने दासी के रूप में अनेक लोगों की सेवा की थी, तब तूझे प्राप्त किया था। इसलिये मैं नहीं जानती कि तू किस वंश का है। मेरा नाम जबाला है और तू सत्यकाम है। तू अपने को सत्यकाम जाबाल बतला देना। अतएव हे गुरु! मैं सत्यकाम जाबाल हूँ। गौतम ने सत्यकाम से कहा-एक सच्चे ब्राह्मण के अतिरिक्त अन्य कोई इतना स्पष्टवादी नहीं हो सकता, जाओ उपनयन के लिए समिधा ले आओ। मैं तुम्हें अपना शिष्य स्वीकार करता हूँ, क्योंकि तूने सत्य का त्याग नहीं किया। दूसरे मत के अनुसार किये गये कर्मों के प्रतिफल के रूप में प्राप्त पुनर्जन्म, यथा-शूद्र के घर जन्म लेने वाला व्यक्ति यदि अपने जीवनकाल में अच्छे कर्म करता है तो हो सकता है वह पुनर्जन्म में उच्च वर्ण को

प्राप्त करे, क्योंकि ऐसा माना जाता है कि व्यक्ति के द्वारा किया गया कर्म कभी व्यर्थ नहीं जाता अपितु उसका प्रतिफल अवश्य प्राप्त होता है।³⁵

(2) गुण एवं कर्मगत - यहाँ गुण तथा कर्म से अभिप्राय व्यक्तियों की स्वाभाविक प्रवृत्तियों एवं उसके सामाजिक दायित्वों से है, जिसके आधार पर उन्हें चार वर्गों में विभाजित किया गया था। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं कहा है कि-मैंने गुण और कर्म के आधार पर चारों वर्गों की सृष्टि की है।³⁶ गुण तीन प्रकार के कहे गये हैं- सत्त्व, रजस् एवं तमस्। इनमें सत्त्वगुण निर्मल, प्रकाशमान एवं क्लेशरहित होने के कारण सुख तथा ज्ञान की प्राप्ति कराने वाला है। रजोगुण राग-द्वेष एवं विषयों की ओर आकृष्ट कर कर्म की ओर प्रेरित करता है। तमोगुण प्रसाद, आलस्य, निद्रा को उत्पन्न कर मोहयुक्त कर देता है।

अतएव सत्त्वगुण धर्म, रजोगुण अर्थ तथा तमोगुण काम या अज्ञान का हेतु है। इनमें धर्म की ओर प्रवृत्त करने के कारण सत्त्वगुण सर्वश्रेष्ठ है। महाभारत के एक पद्य से स्पष्ट होता है कि ब्रह्मा ने वर्गों की उत्पत्ति सम्भवतः सत्त्व, रजस् एवं तमस्-इन तीन गुणों के आधार पर की हो, तभी तो ब्राह्मणों में सत्त्वगुण व पवित्रता की, क्षत्रियों में रजोगुण व तेज की, वैश्यों में रजस् व तमस् की तथा शूद्रों में तमोगुण व अज्ञान की प्रधानता मानी गयी है।³⁷ जिस प्रकार चारों वर्गों के गुण भिन्न-भिन्न हैं उसी प्रकार उनके पुरुषार्थ (कर्म) भी अलग-अलग हो गये। धर्म कार्य को करने वाले ब्राह्मण, विषयों में आसक्त, तीक्ष्ण स्वभाव वाले, क्रोधी तथा साहस का काम करने वाले क्षत्रिय, कृषि, व्यवसायादि को प्रधानता देने वाले वैश्य तथा पवित्रता एवं सदाचार से हीन एवं लोभयुक्त होकर निन्दित कर्मों से जीविका चलाने वालों को शूद्र कहा जाने लगा। इस प्रकार गुणों के आधार पर चारों वर्गों के पुरुषार्थ में भेद हो गया।

(3) जन्मगत एवं कर्मगत - स्मृतियों ने जन्मगत एवं कर्मगत दोनों सिद्धान्तों को मान्यता दी है। इनके प्रणयन समय में वर्णव्यवस्था इतनी अधिक सुदृढ़ हो गयी थी कि वर्ण का आधार जन्म को स्वीकार किया जाने लगा था, कर्म को नहीं। इस सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति जिस किसी वर्ण में जन्म लेता है वह उसी वर्ण का माना जाता है, यथा- ब्राह्मण का पुत्र ब्राह्मण एवं क्षत्रिय का क्षत्रिय होगा। स्मृतियों में ऐसे बहुत से उद्धरण मिलते हैं जो जन्मना वर्णव्यवस्था की पुष्टि

करते हैं। मनुस्मृति में जन्म से ही ब्राह्मण को अन्यान्य वर्गों की अपेक्षा श्रेष्ठ माना गया है।

लघुहारीतस्मृति में ब्राह्मण के द्वारा ब्राह्मण स्त्री में उत्पन्न को ब्राह्मण कहा गया है।³⁸ यदि हम किसी बालक के नाम या संस्कार की बात करें तो जन्म से ही इनका निर्धारण होता है न कि कर्म से, क्योंकि एक बालक का तो कोई कर्म निर्धारित नहीं होता, तब तो उसका नाम या संस्कार उसके जन्मगत वर्ण के आधार पर ही किये जाएंगे। ये सभी तथ्य जन्मना वर्णव्यवस्था की ओर संकेत करते हैं, किन्तु स्मृतियों में मात्र जन्म या वंश से ही ब्राह्मणत्व को स्वीकार नहीं किया गया है अपितु उनके आचार, चारित्रिक श्रेष्ठता एवं कर्मों पर भी अधिक बल दिया गया है, क्योंकि विहित कर्मों को न करने से तथा निषिद्ध कर्मों को करने से मनुष्य पतित होता है। मनु के अनुसार आचारहीन ब्राह्मण शूद्रत्व को प्राप्त करता है और आचारयुक्त शूद्र श्रेष्ठ जाति को।

शंखस्मृति में जन्म एवं कर्म दोनों को वर्ण विभाजन का आधार माना गया है। एक स्थान पर ब्राह्मण को उपदेश दिया गया है कि वह उसी का यज्ञ कराये व उसी से दान स्वीकार करे, जिसने परम्परागत आजीविका का परित्याग न किया हो और कर्म एवं जन्म से उसका नियमपूर्वक पालन किया हो। शंखस्मृति में यह भी उल्लेख मिलता है कि ब्राह्मण बालक का नाम शर्मन् अन्त वाला (रामदेव शर्मा), क्षत्रिय का वर्मन् (रणवीर वर्मा), वैश्य का धनयुक्त (मोतीलाल गुप्त) एवं शूद्र का दास अन्त वाला (हरिदास) होना चाहिये। यहाँ ब्राह्मणादि वर्गों का शर्मनादि नाम रखा जाना जन्मगत वर्णव्यवस्था को इंगित करता है, किन्तु शंख ने स्पष्ट कहा है कि संस्कार के अभाव में वे (द्विज) शूद्र के समान समझे जाएंगे। और उपनयन के पश्चात् वेदाध्ययन से ही उनको द्विज माना जाएगा। उन्होंने ब्राह्मण को परिभाषित करते हुए कहा है कि जो जन्म-मृत्यु, आधि-व्याधि आदि किसी परिस्थिति में विचलित नहीं होता, वह ब्राह्मण है।³⁹

अतएव शंख ने जन्मना ब्राह्मण होने पर भी कर्म से ब्राह्मणत्व की सार्थकता मानी है। इस प्रकार स्मृतिकाल में जन्मतः वर्ण होने पर भी कर्म एवं आचार ही ब्राह्मणत्व एवं शूद्रत्व के निर्णायक थे। इसलिये वर्ण का आधार मात्र जन्म को मानना युक्तिसंगत न होगा। जो लोग ऐसा समझते हैं वह वस्तुतः अज्ञानवश ही ऐसा करते हैं।

संक्षेपतः प्राचीनकाल में व्यक्तियों की कर्मगत विशिष्टता को ध्यान में रखकर समाज का चार वर्गों में विभाजन किया गया था और स्मृतिकाल में जन्म के साथ-साथ कर्म एवं आचार को प्रधानता दी गयी थी। कालान्तर में जन्मगत होने से व्यक्ति को माता-पिता के वर्ण से जोड़कर उसकी चिन्तन शक्ति, योग्यता एवं चरित्र का विचार किये बिना उसे अनेक सुविधाओं से वंचित कर दिया गया, जिससे उनमें ऊँच-नीच की भावना पनपती रही और वर्गों में विरोध एवं अलगाव उत्पन्न हो गया। यहाँ यह विचारणीय है कि किसी वर्ण का निर्धारण मात्र जन्म के आधार पर करना क्या संगत है? क्योंकि यह आवश्यक नहीं है कि ब्राह्मण परिवार में उत्पन्न बालक में ब्राह्मणोचित गुण हो। यह ठीक है कि अनेकशः ऐसा होता है, परन्तु इसे आधार मानना भी तो उचित नहीं है। आज गुण या योग्यता का विचार किये बिना मात्र जन्म के आधार पर वर्ण का निर्धारण करने के कारण ही समाज में असन्तोष तथा अव्यवस्था उत्पन्न हो चुकी है। इसी कारण बहुत से विद्वानों ने वर्णव्यवस्था के गुण-दोषों की भी चर्चा की है मेरिडिथ टाउनसन्ड वर्णव्यवस्था को सकारात्मक देखते हुए कहते हैं कि "यह एक अद्भुत आविष्कार है, समाजवाद का एक रूप है जिसने सदियों से हिन्दू समाज को अराजकता एवं औद्योगिक तथा प्रतिस्पर्धात्मक जैसी जीवन की हानिकारक बुराईयों से बचाया है। यह निर्धन के लिए स्वतः प्रवृत्त कानून और सर्वाधिक सुदृढ व्यवसायिक संगठन है।⁴⁰ सिडनी लॉ के अनुसार भारतीय समाज को राजनैतिक आघात (प्रभाव) और प्राकृतिक विकल्पों के लिए सबल बनाने वाली तथा मूलभूत स्थिरता और सतोष का प्रमुख कारण, यहाँ की वर्णव्यवस्था है। जो प्रत्येक मनुष्य को समाज में उसका स्थान, आजीविका, जीवन प्रणाली और मित्रमण्डली देती है। यह उसे आरम्भ से ही एक सामूहिक संगठन की सदस्यता प्रदान करती है तथा उसे आजीवन समाज की विनाशकारी दुष्प्रवृत्तियों (ईर्ष्या, अपूर्ण आकांक्षाओं) से बचाती रहती है।⁴¹

दूसरी ओर कुछ विद्वान् वर्णव्यवस्था की निन्दा करते हैं। सर हेनरी मेन ने इसकी भर्त्सना करते हुए, इसे सबसे अधिक विनाशकारी बताया है, किन्तु अध्ययन से स्पष्ट होता है कि प्रारम्भ में यह उतनी कठोर नहीं थी, जितनी कालक्रम के प्रभाव से लोगों ने धर्म, सम्प्रदाय इत्यादि से जोड़कर इसे कठोर बना दिया। डॉ. राधाकृष्णन् के अनुसार 'जातिभेद रूपी संस्था सिद्धान्तविहीन पुरोहितों

का आविष्कार न होकर समय की अवस्थाओं द्वारा मनुष्य, समाज का स्वयं विकसित रूप थी, जो कि ब्राह्मणग्रन्थों के काल तक आते-आते दृढ़ हो चुकी थी। उनके अनुसार उस समय अनुलोम एवं प्रतिलोम विवाह प्रचलन में थे, किन्तु बाद में रक्त के अत्यधिक सम्मिश्रण को बचाने के लिए सवर्ण विवाह को ही महत्त्व दिया जाने लगा। इस प्रकार जो संस्था प्रारम्भ में केवल सामाजिक रूप में थी, उसे धार्मिक रूप दे दिया गया और जाति विषयक नियम अटल बन गये। प्रारम्भिक वर्णधर्म में जो लचीलापन था उसके स्थान पर जाँत-पाँत के नियम अत्यन्त कठोर हो गये।

प्राचीन वैदिककाल में पौरोहित्य एक व्यवसाय था। कोई भी आर्य इस कर्म को कर सकता था, किन्तु इन्हें वैश्य वर्ग से श्रेष्ठ नहीं समझा जाता था। कभी-कभी उन्हें घृणा की दृष्टि से भी देखा जाता था, लेकिन अभिमान के कारण जो अलग रहने का भाव आ गया था, वह जाति का आधार बन गया। इस प्रवृत्ति के कारण स्वतन्त्र विचार दब गये और चिन्तन सम्बन्धी उन्नति पिछड़ गई। सदाचार का मानदंड खण्डित हो गया। जो व्यक्ति जात-बिरादरी के नियमों का उल्लंघन करता था उसे विद्रोही समझा जाता था और जाति से बहिष्कृत कर दिया जाता था। शूद्रों के लिए द्विज कमर्मी के अनुष्ठान पर प्रतिबन्ध था, यह धारणा दृढ़ हो चली थी। इस कारण पारस्परिक घृणा बढ़ती गयी।⁴²

वैदिककाल से चली आयी वर्णव्यवस्था का विकसित व सुदृढ़ रूप स्मृतिग्रन्थों में उपलब्ध होता है। मन्वादि स्मृतिकारों ने इसका विशद वर्णन किया है वहीं महर्षि शंख ने अपने शंखस्मृति नामक धर्मशास्त्रग्रन्थ की रचना ही चारों वर्गों के हितसम्पादनार्थ की है।⁴³ उन्होंने इसमें जिन सांस्कृतिक तथ्यों (वर्णाश्रमादि) को उद्धृत किया है उनसे तत्कालीन समाज का जीवन प्रतिबिम्बित होता है। जिनमें से प्रथमतः वर्णव्यवस्था को विवेचित किया है।

महर्षि ने वर्णव्यवस्था सम्बन्धी वर्णोत्पत्ति पर नाममात्र का भी प्रकाश नहीं डाला है केवल शास्त्र के प्रारम्भ में "स्वयम्भुवे नमस्कृत्य सृष्टिसंहारकारिणे। कहा है और चारों वर्गों के धर्म-कर्मों पर संक्षिप्त चर्चा की है। ऐसा लगता है कि महर्षि ने अपने से पूर्व मन के ब्रह्मा से वर्ण उत्पत्ति विषयक सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया हो, इसलिये उन्होंने इसका वर्णन करना उचित न समझा हो। सम्भवतः वर्ण-व्यवस्था का विस्तृत वर्णन न करने का एक कारण यह हो सकता

हैं कि तत्कालीन समाज में यह व्यवस्था सम्यक् रूप से चल रही हो, इसलिये चारों वर्ण अपने कर्तव्यों को विस्मृत न करने लगे, उन्होंने अपने शास्त्र के माध्यम से उनको अपने धर्म का स्मरण कराया।

दूसरी ओर यह अनुमानित किया जा सकता है कि तत्कालीन समाज में वर्ण विषयक नियमों में कहीं-न-कहीं क्षीणता आने लगी हो, जिनके संरक्षण हेतु महर्षि ने सर्वप्रथम वर्णधर्म को अपना विषय बनाया। कारण चाहे जो भी रहा हो पर शंखस्मृति में चारों वर्गों के आचार अथवा कर्तव्य-कर्मों पर बल दिया गया है, क्योंकि व्यक्ति के कर्तव्यच्युत होने से धर्म पराङ्गमुख हो जाता है।⁴⁴

चारों वर्गों के लिए स्व-स्व उपयोगिता के आधार पर कार्य निर्धारण किया गया था और सभी वर्गों को अपने- अपने धर्म पालन का उपदेश दिया गया था।⁴⁵ दैवी सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मणों की उत्पत्ति हुई है। मुख बौद्धिक विकास अर्थात् ज्ञान-विज्ञान का परिचायक है। इसलिये ब्राह्मणों को ज्ञान के प्रचार-प्रसार व समाज के मार्गदर्शन का कार्यभार सौंपा गया। ब्रह्मा की भुजाओं से क्षत्रिय की उत्पत्ति कही गयी है। भुजाएँ शक्ति का प्रतीक हैं और शरीर के रक्षण कार्य में सहायक हैं।

अतएव समाज की सुरक्षा व शासन संचालन का कार्य क्षत्रियों को दिया गया। वैश्यों की जंघाओं से उत्पत्ति वर्णित है। जघा शरीर का आधारस्तम्भ है। इस प्रकार वैश्यों को समाज का आधारस्तम्भ मानते हुए, उनके लिए कृषि, व्यापार एवं पशुपालन आदि व्यवसाय के द्वारा समाज के भरण-पोषण का कार्य निर्धारित किया गया। इसी प्रकार ब्रह्मा के पैरों से शूद्र की उत्पत्ति मानी गयी है। पैरों का कार्य शरीर के भार को संभालना तथा उसे गति प्रदान करना है। अतः समाज के लिए शूद्र की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए, उसे अन्य तीन वर्गों की सेवा का कार्यभार दिया गया।

इससे स्पष्ट होता है कि कार्यात्मक दृष्टि से समाज में किसी वर्ण को उच्च तथा किसी को निम्न नहीं माना गया था अपितु सभी वर्गों को समान महत्ता दी गयी थी। ये चारों वर्ण एक-दूसरे के पूरक थे, जिनकी सहभागिता के बिना समाज का संचालन असम्भव था। गृहस्थरत्नाकर में कहा गया है कि जिस प्रकार से एक मानव शरीर का निर्माण एवं संगठन मुख, बाहू, जघा तथा पैर-इन अंगों की समष्टि से हुआ है उसी प्रकार हमारे समाज का निर्माण इन चारों वर्गों

के संगठन से हुआ है। ये पृथक् पृथक् स्वतन्त्र रूप से कार्य नहीं कर सकते अपितु इनके पारस्परिक संगठित रूप से कार्य करने पर ही समाज का कल्याण सम्भव है।

अतएव मानव के विभिन्न अंग उसके लिए जितने महत्त्वपूर्ण हैं उतने ही समाज के लिए ये चारों वर्ण आवश्यक थे। चारों वर्गों में से प्रथम तीन-ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य को 'द्विज' की संज्ञा दी गयी थी। इन तीनों को द्विज इसलिए कहा जाता था कि इनका प्रथम जन्म माता के गर्भ से और द्वितीय जन्म उपनयन के समय यज्ञोपवीत धारण करने से माना जाता था।⁴⁶ चतुर्थ वर्ण शूद्र को अन्य तीन वर्णों की अपेक्षा निम्न स्थान दिया गया था और अन्य किसी पंचम वर्ण को मान्यता नहीं दी गयी थी।

3. वर्ण व्यवस्था में सदस्यों के कर्तव्य एवं अधिकार

ब्राह्मण - धर्म एवं ज्ञान के प्रतिष्ठापक होने तथा आध्यात्म की ओर उन्मुख रहने के कारण ब्राह्मणों का समाज में सर्वोच्च स्थान था। जन्म से ही अन्य वर्गों की अपेक्षा उन्हें अधिक आदर-सम्मान का पात्र माना गया था। वैदिक⁽⁴⁷⁾ एवं धर्मशास्त्रीय साहित्य में सर्वत्र उसकी श्रेष्ठता को प्रतिपादित करते हुए, उसे देवता स्वरूप माना गया है।

महर्षि शंख ने अन्य वर्गों की अपेक्षा ब्राह्मण को सर्वश्रेष्ठ मानते हुए, उसे सभी वर्गों का स्वामी कहा है⁽⁴⁸⁾ और ब्राह्मण वर्ग में भी पंक्ति को पवित्र करने वाले ब्राह्मण को श्रेष्ठ स्थान दिया है। उनके अनुसार जो वेद-वेदाङ्गों में पाराङ्गत व उनका अध्ययन करने वाला, मन्त्रोच्चारण व ऋचाओं का ज्ञाता, ज्येष्ठ-साम मन्त्रों का गान करने वाला व पवित्र अग्नियों में यज्ञ करने वाला तथा ब्राह्म-विवाह से उत्पन्न है, वही पंक्तिपावन ब्राह्मण है। उन्होंने अनध्याय काल में अध्ययन करने वाले, पवित्रता एवं आचार से हीन, शूद्रों के अन्न से परिपुष्ट होने वाले ब्राह्मण की निन्दा की है और विद्वान् (वेदादि शास्त्रों के ज्ञाता), नित्य योग में रत, सम दृष्टि रखने वाले, ध्यानशील, संयमी, ज्ञानवान् ब्राह्मण की प्रशंसा की है। इससे स्पष्ट होता है कि ब्राह्मण सदैव सम्मान के योग्य था।

शंखस्मृति के अनुसार ब्राह्मण के लिए यज्ञ करना व कराना, दान देना व लेना तथा वेद का अध्ययन करना व कराना-ये छः कर्म विहित थे। मनु ने भी इन्हीं कर्मों का उपदेश किया है⁴⁹, किन्तु मनु एवं शंख की तालिका में क्रमभेद

प्राप्त होता है। शंख ने जहाँ यजन-याजन को प्रथम स्थान दिया है वहीं मनु ने अध्यापन-अध्ययन को प्रथम स्थान दिया है। इन वर्णित कर्मों में से यज्ञ कराना, दान लेना एवं वेदाध्ययन कराना ब्राह्मण की जीविका के साधन थे। इसके अतिरिक्त यज्ञ करना, दान देना एवं वेदाध्ययन करना उसके आवश्यक कर्तव्य या धर्म थे। अतएव उसके लिए आत्म-कल्याण की दृष्टि से यज्ञ करना, दान लेना व अध्ययन करना तथा सामाजिक-कल्याण की दृष्टि से यज्ञ कराना, दान देना व अध्ययन कराना आवश्यक था।

शंखस्मृति में ब्राह्मणों के षट्कर्मों में सर्वप्रथम यज्ञ को स्थान दिया गया है और यज्ञ करना तथा करवाना उसका परमधर्म माना गया है। ब्राह्मण के लिए ही नहीं अपितु क्षत्रिय एवं वैश्य के लिए भी यज्ञ करना अनिवार्य था, क्योंकि यज्ञ पाप का नाशक तथा अमरत्व को दिलाने वाला है। वह समस्त कामनाओं की पूर्ति तथा कल्याण का हेतु है।⁵⁰

अतएव इष्ट की प्राप्ति तथा अनिष्ट के परिहार हेतु यज्ञ आवश्यक था। एक द्विज के लिए यज्ञकर्म ब्रह्मचर्यावस्था से ही प्रारम्भ हो जाता था। नाचिकेत अग्नि में तीन बार यजन करने वाला एवं पाँच पवित्र अग्नियों में यज्ञ करने वाला श्रेष्ठ ब्राह्मण माना जाता था। इसके विपरीत यज्ञकर्म को न करने वाला निन्दित माना जाता था। एक गृहस्थ द्विज के लिए अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास, पशुबन्ध, चातुर्मास्य यज्ञों तथा अन्य यज्ञों (आग्रहायण, अग्निष्टोमादि) को करने का विधान था, किन्तु उसे निर्देश दिया गया है कि यदि इन धार्मिक कार्यों के लिए उसके पास अत्यल्प धन है तो वह वैश्वानरी इष्टि का अनुष्ठान करे, पर शूद्र से धन की याचना न करे।

इससे सिद्ध होता है कि तत्कालीन समय में शूद्र से यज्ञ के लिए धन लेना गर्हित माना जाता था, परन्तु शूद्र से बिना याचना किये यज्ञ के लिए धन मिलने पर उसे शास्त्रविरुद्ध नहीं माना जाता होगा अपितु यज्ञ सम्पादन में उसका प्रयोग कर लिया जाता होगा। मनु ने भी इन्हीं यज्ञों को करने का विधान किया है और यज्ञ के लिए शूद्र से धन की याचना का निषेध किया है, क्योंकि शूद्र से धन लेकर यज्ञ करने वाला ब्राह्मण मरणोपरान्त चाण्डाल बनता है।⁵¹ इसके विपरीत उन्होंने यह भी कहा है कि यज्ञ के लिए धनाभाव होने पर किसी से भी धन लिया

जा सकता है, यहाँ तक कि शूद्र के घर से भी।' जबकि शंख ने इस प्रकार की कोई छूट नहीं दी है।

शंख ने याजन के विषय में ब्राह्मण को उपदेश दिया है कि वह सदैव उसी का यज्ञ कराए, जिसने शूद्र से धन की याचना न की हो, परम्परागत आजीविका का परित्याग न किया हो वरन् कर्म एवं जन्म से उसका नियमपूर्वक पालन करते हुए, धनार्जित किया हो।⁵² इस याजन कर्म के सम्पादन से ही ब्राह्मण दक्षिणारूप में विभिन्न वस्तुओं को प्राप्त करता था, जिससे वह अपनी आजीविका के साथ-साथ दान देकर लोक का कल्याण करता था।

यज्ञ के समान दान देना व लेना भी ब्राह्मण का आवश्यक कर्तव्य था। ब्राह्मण के समान क्षत्रिय एवं वैश्य को भी दान देना होता था, तभी तो महर्षि ने गृहस्थाश्रम में निवास करने वाले गृहस्थी को श्रेष्ठ माना है, क्योंकि गृहस्थी ही दान देने में समर्थ होता है। उसकी कृपा से ही अन्य आश्रमों का परिपालन होता है। दान किसे दिया जाए? इसका विचार शंख ने नहीं किया है, किन्तु अन्य स्मृतिकारों ने दान एक योग्य पात्र को ही देने का विधान किया है कुपात्र को नहीं। ऐसा माना जाता है कि कुपात्र को दिया गया दान सात पीढ़ी तक को नष्ट कर देता है। जबकि एक योग्य पात्र को दिया गया दान पुण्य फल को देने वाला होता है। इसलिये सुपात्रों माता-पिता, गुरु, मित्र, चरित्रवान् व्यक्ति, उपकारी, दीन (दरिद्र), अनाथ और विशिष्ट गुण वाले व्यक्ति को दान देना चाहिए, कुपात्रों-धूर्तों, मन्दबुद्धियों, कुवैद्यों, जुआरियों, वञ्चकों, चापलूसों, चारणों, चोरों को नहीं। अतएव दान किसी भी दशा में मुख को न देकर गुणवान् को देना चाहिए।

दूसरी ओर महर्षि शंख ने दान ग्रहण करने के सम्बन्ध में निर्देश दिया है कि ब्राह्मण उसी से दान ग्रहण करे, जिसने अपनी वर्ण की वृत्ति का पालन करते हुए, धर्मानुसार धनार्जित किया हो। इसी प्रकार मन्वादि धर्मशास्त्रकारों ने दान लेने का तो विधान किया है, परन्तु उसे उत्तम नहीं माना, क्योंकि उनका मानना था कि दान लेने से ब्राह्मण का ब्रह्मतेज नष्ट हो जाता है।⁵³ शंखस्मृति में दान लेने के कुफल का वर्णन नहीं मिलता, जिससे स्पष्ट होता है कि इस समय दान की भावना का कोई महत्त्व नहीं रह गया था, वह मात्र क्रिया या आडम्बर बनकर रह गया था।

ब्राह्मण के लिए यज्ञ एवं दान के अतिरिक्त अध्ययन व अध्यापन कर्म अनिवार्य था। श्रुति में ब्राह्मण के लिए वेदाध्ययन को परमावश्यक मानते हुए कहा गया है कि ब्राह्मण को षड्वेदाङ्गों-शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द एवं ज्योतिष सहित चारों वेदो-ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद एवं अथर्ववेद में पाराङ्गत होना चाहिए, उसे ऋग्वैदिक मन्त्रों के उच्चारण के साथ-साथ बहुत सी ऋचाओं का ज्ञान होना चाहिए तथा वह ज्येष्ठ साम मन्त्रों का गान करने वाला होना चाहिए। यहाँ पर ऋग्वैदिक मन्त्रों में तीन मन्त्रों के उच्चारण को विशेष स्थान दिया गया है जिसमें यज्ञवेदिका, प्राणवायुरूप देवता तथा जगत् के पालनकर्त्ता परमेश्वर का वर्णन किया गया है। इसी प्रकार ज्येष्ठ साम मन्त्रों में प्रजापति विषयक वर्णन उपलब्ध होता है।

मनु ने तो ब्राह्मण के लिए वेदाध्ययन को परमधर्म तथा अन्य को उपधर्म कहा है।⁵⁴ याज्ञवल्क्य का मानना है कि विधाता ने ब्राह्मणों को वेदों की रक्षा, देवों एवं पितरों की तुष्टि तथा धर्म की रक्षा के लिए ही उत्पन्न किया है।⁵⁵ महाभाष्यकार ने तो ब्राह्मणों को बिना किसी कारण के धर्म, वेद एवं वेदाङ्गों का अध्ययन करने को कहा है, क्योंकि जो ब्राह्मण नित्य वेद का अध्ययन न करके अन्य शास्त्रों में व्यर्थ ही परिश्रम करता है वह अपने जीवनकाल में परिवार सहित शूद्रत्व को प्राप्त करता है। यद्यपि वेदाध्ययन का अधिकार तीनों द्विजातियों को था, किन्तु अध्यापन का अधिकार मात्र ब्राह्मण वर्ग को था। गुरु शिष्य का उपनयन करके, शौच, आचार, यज्ञकर्म एवं सन्ध्योपासना की शिक्षा देकर उसे वेद का ज्ञान प्रदान करता था।⁵⁶ शिष्य को यह ज्ञान विधिवत् ग्रहण करना होता था। वह गुरु से आज्ञा लेकर, ब्रह्माञ्जलि बनाकर, नतमस्तक होकर, गुरु के मुख को देखते हुए, स्वाध्याय करता था। वेदपाठ के आरम्भ तथा समाप्ति पर 'ओम्' का उच्चारण करता था, पर उसके लिए अनध्याय के समय अध्ययन का निषेध था। अध्यापन विषयक इसी प्रकार के विचार मनु ने भी अभिव्यक्त किये हैं।⁵⁷

इस प्रकार अध्यापन विषयक उसके तीन प्रमुख उद्देश्य थे-धर्म ज्ञान, अर्थ लाभ और परोपकारार्थ । वस्तुतः ब्राह्मण प्राचीनकाल से ही सरल एवं सात्त्विक जीवन व्यतीत करते हुए, अपने ज्ञान एवं तप की साधना से मानव समाज को सत्पथ पर अग्रसर करते रहे हैं। युगों-युगों से चली आयी संस्कृति के विकास, संरक्षण एवं संवर्धन का श्रेय ब्राह्मण वर्ग को ही जाता है।

क्षत्रिय - महत्त्व की दृष्टि से द्विजातियों में ब्राह्मण के पश्चात् क्षत्रिय का द्वितीय स्थान था। जिस प्रकार ब्राह्मणों का स्थान अपने धर्म एवं विद्या की साधना तथा प्रजा में उसके बौद्धिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक उत्थान की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण रहा, उसी प्रकार देश की सुरक्षा एवं उसके संचालन तथा सामाजिक, सांस्कृतिक उत्थान की दृष्टि से क्षत्रिय की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। सुरक्षा के अभाव में न तो मनुष्य अपने योगक्षेम को सिद्ध करने में समर्थ हो सकता है, न अभ्युदय एवं निःश्रेयस को प्राप्त कर सकता है और न ही सामाजिक व्यवस्था चल सकती है। अतएव समाज व राष्ट्र का कल्याण सुरक्षा पर आधारित है। जो क्षत्रिय का स्वाभाविक कर्म था। कहा गया है कि जो क्षत् (संकट) से रक्षा करे, वही क्षत्रिय है।⁵⁸

शंखस्मृति में क्षत्रिय और राजा दो शब्द आये हैं जो भिन्न अर्थ के नहीं अपितु एक अर्थ के ही वाचक है। क्षत्रिय ही राजा है। क्षत्रिय की श्रेष्ठता को प्रतिपादित करते हुए, ब्राह्मण को धर्म का मूल एवं क्षत्रिय को धर्म का अग्रभाग कहा गया है और इन्हें एक-दूसरे की समृद्धि का हेतु माना गया है, क्योंकि ब्राह्मण धर्म का मार्ग प्रशस्त करता है तो क्षत्रिय उसी धर्म की रक्षा कर उसका संवर्धन करता है। बिना सुरक्षा व शान्ति के धर्म की वृद्धि होना असम्भव है। इसलिये क्षत्रिय के प्रति धर्म की रक्षा का उपदेश दिया गया है। क्षत्रियों ने ही धर्म का अनुसरण कर अपने पराक्रम एवं बाहुबल से सज्जनों की रक्षा तथा दुर्जनों का दमन कर समाज एवं राष्ट्र की सुरक्षा-व्यवस्था को स्थिरता प्रदान की।

शंखस्मृति में प्रजा की रक्षा करना, दान देना, वेद पढ़ना एवं विधिवत् यज्ञ करना क्षत्रिय के कर्म कहे गये हैं।⁵⁹ मनु ने शंख विहित कर्मों के अतिरिक्त विषयों में आसक्त न होना' को भी स्वीकार किया है⁶⁰, क्योंकि विषयों में आसक्त राजा शासन का संचालन नहीं कर सकता। इनमें से प्रजा की रक्षा करना क्षत्रिय की वृत्ति थी, जबकि दान देना, वेदाध्ययन एवं यज्ञ करना उसका धर्म था। इस प्रकार तत्कालीन समय में उसे दान देने, वेदाध्ययन करने एवं यज्ञ करने का तो अधिकार प्राप्त था, परन्तु उसे दान लेने, वेदाध्यापन एवं यज्ञ कराने का अधिकार नहीं था, क्योंकि ये कर्म ब्राह्मणमात्र के लिए विहित थे। वह प्रजापालन के द्वारा ही अपनी जीविका चला सकता था। शंखस्मृति में प्रजापालन के महत्त्व को प्रदर्शित करते हुए कहा गया है कि "राजा न व्रतों, न उपवासों और न ही विविध

प्रकार के यज्ञों से स्वर्ग को प्राप्त करता है।⁶¹ वह तो प्रजाओं के परिपालन से ही स्वर्ग को प्राप्त करता है। एक स्थान पर आए वर्णन से ज्ञात होता है कि युद्ध के समय एक कुशल, निर्भीक, साहसी, धैर्य से युक्त योद्धा ही प्रशंसनीय माना जाता था, तभी तो महर्षि ने प्राणों के रक्षार्थ कायरतापूर्ण व्यवहार करने वाले क्षत्रिय को निन्दा का पात्र मानते हुए, उसके लिए 'प्रायश्चित्त व्रत' का विधान किया है। अतः क्षत्रिय का प्रमुख दायित्व समाज में शांति- व्यवस्था स्थापित कर, एक सुनियन्त्रित शासन की स्थापना तथा जनता व राष्ट्र की रक्षा करना था।

वैश्य - समाज में क्रम से ब्राह्मण व क्षत्रिय के उपरान्त वैश्य का द्विजाति के रूप में तृतीय स्थान था। यद्यपि उसका स्थान ब्राह्मण एवं क्षत्रिय की अपेक्षा निम्नतर था तथापि कर्म की दृष्टि से उसकी महत्ता ब्राह्मण, क्षत्रिय से किसी भी प्रकार कम नहीं थी। यह तो सत्य है कि क्षुधा से पीड़ित एवं निर्धन व्यक्ति अपने कर्तव्यों का निर्वहन समुचित रूप से नहीं कर सकता, चाहे वह समाज का कोई भी वर्ग क्यों न हो? अन्न और धन तो उसके जीवन के मूलाधार हैं। अतएव समाज के भरण-पोषण, उसके आर्थिक पक्ष को सुदृढ़ बनाने एवं धन-धान्य की अभिवृद्धि हेतु साधन जुटाने का पूर्ण उत्तरदायित्व वैश्य वर्ग पर था।

शंखस्मृति के अनुसार वैश्य के कार्य कृषि करना, पशुओं की रक्षा करना, व्यापार करना, दान देना, वेद पढ़ना तथा विधिवत् यज्ञ करना है। मनुस्मृति में शंखोक्त वैश्य कर्मों के साथ 'सूद लेना' नामक कार्य को भी सम्मिलित किया गया है, जिनमें मुख्य रूप से क्रमभेद प्राप्त होता है।⁶² महाभारत में तो सूद को छोड़कर इन्हीं कर्मों के साथ शुचितापूर्वक धनार्जन करने, सदाचार, अतिथि सत्कार, शम, दम, ब्राह्मणों का आदर तथा त्याग पर भी बल दिया गया है। ये कर्म वैश्यों की वैचारिक शुद्धता व निष्कपट आचरण को अभिव्यक्त करते हैं।⁶³ इनमें से कृषि करना, पशुपालन एवं वाणिज्य-वैश्यों के जीविका के साधन थे तथा दान देना, वेद पढ़ना एवं विधिवत् यज्ञ करना उनका धर्म था। अतएव क्षत्रिय के सदृश उसे दान देने, वेद पढ़ने एवं यज्ञ करने का अधिकार तो प्राप्त था, किन्तु वेदाध्यापन, यज्ञ कराना एवं दान लेना उसके लिए वर्जित थे, क्योंकि शास्त्रविधान के अनुसार एक ब्राह्मण को ही इन्हें करने का अधिकार था, अन्य किसी द्विजाति को नहीं। वह कृषि, पशुपालन एवं व्यापार के द्वारा ही जीविका चला सकता था। शंखस्मृति में इन कर्मों की विस्तृत व्याख्या उपलब्ध नहीं होती है मात्र कर्मों का निर्देश किया

गया है, जबकि मनुस्मृति में इनका विस्तारपूर्वक उल्लेख मिलता है। कृषि-विज्ञान के विषय में कहा गया है कि एक कृषक को बीजों को बोने की विधि, कौन से बीज किस समय में, कैसे खेत में, कितने प्रमाण में, किस प्रकार बोये जायें, खेतों के गुण तथा दोष, माप एवं मापने के उपायों की जानकारी होनी चाहिये। इसके साथ ही उत्पादन के स्रोतों-मणि, मोती, मूंगा, लोहा, कपड़ा, कपूर, नमकादि रस के मूल्य की वृद्धि एवं उसके "स को देशकालानुरूप जानकर आचरण करे।

इसके अतिरिक्त उसे वस्तुओं की श्रेष्ठता एवं निम्नता, देशों व स्थानों के गुण-दोष, क्रय-विक्रय के लाभ एवं हानि, पशुओं के बढ़ाने के उपाय, श्रमिकों को वेतन देश, काल एवं परिश्रम के अनुरूप देना, विभिन्न देशों की भाषाओं का ज्ञान, वस्तुओं की सुरक्षा के लिए उचित-अनुचित स्थान इत्यादि की जानकारी होनी चाहिये, जिसके माध्यम से अधिक-से-अधिक लाभ प्राप्त किया जा सके।⁶⁴ इस प्रकार कहा जा सकता है कि जिस प्रकार ज्ञान का संचार कर ब्राह्मण ने, राष्ट्र-सुरक्षा का कार्यभार वहन कर क्षत्रिय ने सामाजिक उत्थान में पूर्ण सहयोग दिया उसी प्रकार पोषक वर्ग के रूप में वैश्य ने धनार्जन कर समाज व राष्ट्रहित में अपना योगदान दिया।

शूद्र - वर्णों के अन्तर्गत शूद्र को अन्तिम स्थान प्राप्त था। ब्रह्मा के पैरों से उत्पन्न होने के कारण मात्र शारीरिक श्रम ही उसका प्रधान कार्य था। ऐसा माना जाता है कि ब्रह्मा ने द्विजों के सेवार्थ ही शूद्रों की रचना की। अपने इसी कर्म के कारण उसने समाज में एक विशिष्ट स्थान प्राप्त किया था, क्योंकि सेवाकर्म के अभाव में समाज का गतिशील बने रहना असम्भव है। इसी ने समाज के अन्य वर्गों की अपेक्षित सहायता कर, उन्हें गतिशील बनाया। जिससे सभी वर्ग अपने-अपने धर्म-कर्म का समुचित रूप से निर्वहन करने में समर्थ हो सके।⁶⁵

यदि प्राचीनकालीन साहित्य पर दृष्टिपात करे तो स्पष्ट होता है कि ये आर्य समाज के अंग तो बन गये थे, किन्तु उनका स्थान अति निम्न था। ऐतरेयब्राह्मण में उल्लेख मिलता है कि "शूद्र दूसरों से अनुशासित होता है, यह किसी की आज्ञा पर उठता है, उसे कभी भी ताड़ित किया जा सकता है। उसके लिए वेदाध्ययन, उपनयन संस्कार, अग्निहोत्र आदि वैदिक क्रियाओं को करने का निषेध था।⁶⁶ यहाँ तक कि उसके समीप वेदाध्ययन करना भी वर्जित था। गौतम ने कहा है कि यदि शूद्र जानबूझकर स्मरण करने के लिए वेद-पाठ सुने तो उसके

कर्णकुहरों को सीसा और लाख से भर देना चाहिये और यदि उसने वेद पर अधिकार कर लिया है तो उसके शरीर को छेद देना चाहिए।⁶⁷ अतएव प्राचीन भारतीय समाज में उसकी स्थिति अच्छी नहीं थी।

कालान्तर में उसकी स्थिति में सुधार हुआ। उसे बिना वैदिक मन्त्रोच्चारण के पाकयज्ञ, पञ्चमहायज्ञ, व्रतादि धार्मिक क्रियाओं को करने का अधिकार दिया गया। यद्यपि उसे अपने स्वामी द्वारा दी गई वस्तुओं-जूठा अन्न, पुराने वस्त्र, खाट, बर्तन इत्यादि पर निर्भर रहना पड़ता था तथापि समाज में सदाचार से युक्त नैतिक मूल्यों का द्विजातियों की भांति पालन करने वाले पवित्र वृत्ति सम्पन्न शूद्र को श्रेष्ठ एवं प्रशंसनीय माना गया था। वह अपने सदाचरण एवं कर्म से ब्राह्मणत्व को प्राप्त कर सकता था।

अधिकांश ग्रन्थों के अनुसार द्विजातियों की सेवा करना ही शूद्र का मुख्य धर्म था। जबकि शंखस्मृति में तीनों वर्गों की सेवा के अतिरिक्त उसके कार्यक्षेत्र में वृद्धि करते हुए, उसे शिल्पकर्म का भी अधिकार प्रदान किया और क्षमा, सत्य, दम, मन, वचन, कर्म की पवित्रता आदि गुणों को धारण करते हुए, अपने कर्म में रत रहना ही उसका धर्म बताया गया है।⁶⁸ इसी प्रकार कुछ अन्य ग्रन्थों में प्राप्त मत भी शंखस्मृति की साम्यता रखते हैं। इन विहित कर्मों के अतिरिक्त उसके लिए कुछ धार्मिक कर्मों को करना निषिद्ध था।

यद्यपि शंखस्मृति में इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है, किन्तु द्विजमात्र के लिए विहित उपनयन संस्कार के वर्णन से स्पष्ट होता है कि तत्कालीन समय में शूद्र का उपनयन नहीं होता था, वह वेदाध्ययन एवं यज्ञ नहीं कर सकता था, क्योंकि एक उपनीत के लिए ही इनका विधान था।⁶⁹ पर शंखस्मृति में शूद्रों से सम्बन्धित कोई कठोर व्यवस्था उपलब्ध नहीं होती है जिससे तत्कालीन समाज में उनकी अपेक्षाकृत उत्तम स्थिति का अनुमान लगाया जा सकता है।

वर्गों की आपत्कालीन वृत्तियाँ

चारों वर्ण यदि अपनी निर्धारित वृत्तियों से जीवन-निर्वाह न कर सके तो वह अन्य किस वर्ण की वृत्ति को स्वीकार करे, इसका निर्देश महर्षि शंख ने नहीं किया है, किन्तु अन्य स्मृतिकारों ने इनकी आपत्कालीन वृत्तियों का स्पष्ट उल्लेख किया है। उनके अनुसार यदि ब्राह्मण स्ववृत्ति से जीवन-निर्वाह न कर

सके तो वह क्रम से क्षत्रियवृत्ति एवं वैश्यवृत्ति को अपना सकता था, किन्तु उसके लिए शूद्रवृत्ति (सेवाकर्म) का निषेध था, क्योंकि शूद्रवृत्ति 'श्ववृत्ति' के समान मानी गई थी।⁷⁰

इसी प्रकार क्षत्रिय कृषिकर्म को न करते हुए, वैश्यवृत्ति द्वारा, वैश्य द्विजातियों की जूठनादि को न खाते हुए शूद्रवृत्ति द्वारा तथा शूद्र वैश्यवृत्ति अर्थात् सूपादि कारीगरी के द्वारा जीवनयापन कर सकता था। यद्यपि आपत्काल में सभी वर्ण अपने से निम्न वर्ण की वृत्तियों को अपना सकते थे, किन्तु निम्न वर्ण वाला अपने से उच्च वर्ण की वृत्तियों को नहीं अपना सकता था। मनु ने कहा है कि स्वधर्म निकृष्ट होने पर भी उत्तम होता है और दूसरे का धर्म उत्कृष्ट होने पर भी ग्राह्य नहीं है, परधर्म का पालन करने वाला तत्क्षण ही जातिभ्रष्ट हो जाता है।' यहाँ तक कि जन्म-जन्मान्तरों तक निन्दित योनियों को प्राप्त कर विचरण करता है।

यदि चारों वर्ण शास्त्रविहित अपने-अपने निर्धारित कर्मों का पालन करते हैं तो वे उत्तम गति को प्राप्त करते हैं। इसलिये आपत्काल न रहने पर सभी के लिए अपनी निर्धारित वृत्तियों से ही जीवन-निर्वाह करने का विधान था।

इस प्रकार शंखस्मृति में वर्णित वर्णव्यवस्था एक आदर्श समाज का स्वरूप प्रस्तुत करती है। जहाँ प्रत्येक वर्ण को अपनी योग्यता एवं कार्य के आधार पर स्थान प्राप्त था। जिस वर्ण के कार्य एवं भूमिका जितनी महत्त्वपूर्ण रही, उसे उतना ही उच्च स्थान दिया गया और अपने-अपने दायित्व-निर्वाह के लिए कुछ विशेष अधिकार एवं सुविधाएँ प्रदान की गईं। ये अधिकार किसी दूसरे वर्ण के अधिकारों का हनन करने के लिए नहीं अपितु स्व-स्व धर्म के रक्षार्थ दिये गये थे। सभी वर्ण एक-दूसरे के सहयोगपूर्वक स्वधर्म का पालन करते थे। यही कारण है कि सभी वर्गों के एक-दूसरे से सम्बद्ध होने पर तत्कालीन समाज प्रतिस्पर्धा जैसी भयावह दोषों से सुरक्षित रहा।

4. स्मृति कालीन समाज एवं वर्तमान समाज की समीक्षा

आधुनिक समय में वर्ण-व्यवस्था का स्थान 'जातिप्रथा' ने ले लिया है। आज भारतीय हिन्दू समाज चार वर्गों में नहीं वरन् कई हजार जातियों तथा उपजातियों में विभाजित है। यह व्यवस्था भारतवर्ष में ही पाई जाती है अन्य देशों में नहीं। यहाँ पर ध्यातव्य है कि यह व्यवस्था भारतवर्ष में ही क्यों पाई जाती है?

तो इसका कोई एक कारण नहीं है अपितु अनेक कारण बतलाए जाते हैं जो सदियों से इसे पोषित करते आ रहे हैं, यथा-कालान्तर में परम्परागत चिन्तन के फलस्वरूप इसका विकास हुआ, ब्राह्मणों ने स्वार्थवश इसे बनाया, विभिन्न प्रजातियों के मिश्रण, अनुलोम-प्रतिलोम विवाह, कार्यक्षेत्र को अपनाने तथा भौगोलिक क्षेत्रों में बसने के कारण आदि।⁷¹

हट्टन ने भारत में जातिप्रथा की उत्पत्ति का प्रमुख कारण बताते हुए कहा है कि "भारतीय जातिप्रथा अनेक भौगोलिक, सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक एवं आर्थिक कारकों के पारस्परिक सम्बन्धी कार्यों का प्राकृतिक फल है। ये कारण इस प्रकार सम्बन्धित अन्य कहीं नहीं पाये जाते हैं।"⁷²

इस व्यवस्था के अनुसार व्यक्ति जिस किसी जाति विशेष में जन्म लेता है वही उसकी जाति मान ली जाती है। यदि एक व्यक्ति ब्राह्मण जाति में उत्पन्न हुआ है तो जीवनभर ब्राह्मण ही रहेगा। इसी प्रकार शूद्र आजीवन शूद्र ही रहेगा और समाज में वह निम्न स्तर ही प्राप्त करेगा, चाहे उसके कार्य कितने ही अच्छे क्यों न हो, परन्तु वह संवैधानिक धर्मनिरपेक्षता के सिद्धान्त के अनुसार किसी भी धर्म को अपना सकता है।⁷³ इसके अतिरिक्त इस व्यवस्था के अन्तर्गत अपनी जाति से अलग जाति में विवाह करना धार्मिक अपराध माना जाता था और ऐसे दम्पती के बच्चों की गणना 'वर्णसंकर' सन्तान के रूप में की जाती थी।

आज वर्णसंकर जातियों की संख्या अनगिनत है, क्योंकि समाज में अन्तर्जातीय विवाह प्रारम्भ से ही होते रहे हैं चाहे समाज ने उनका विरोध ही किया हो। इसलिये जाति को सीमित मर्यादा में नहीं बांधा जा सकता। जहाँ पुरातन विचारधारा प्रचलन में है वहीं पर रक्त की शुद्धता देखी जा सकती है, लेकिन शहरी वातावरण में यह लुप्तप्राय है।

आज अध्यापक, वकील, क्लर्क, डॉक्टर, इन्जीनियर आदि जो भी व्यवसाय करते हों, लेकिन ये अपने कार्यक्षेत्र से नहीं अपितु जाति से पहचाने जाते हैं। इससे पूर्व वर्ण के आधार पर जाना जाता था। आज परिवेश के परिवर्तित होने पर जातिप्रथा बदली नहीं अपितु परिस्थितियों के अनुसार उसने नवीन रूप धारण कर लिया है।

वर्तमानकाल में जाति व्यवस्था को चार भागों में वर्गीकृत किया गया है-

- (1) उच्च जातियों
- (2) मध्यम जातियाँ
- (3) निम्न जातियाँ और
- (4) अति निम्न जातियाँ।

उच्च जातियों को सामान्य वर्ग, मध्यम जातियों को अन्य पिछड़ा वर्ग, निम्न जातियों को अनुसूचित जाति तथा अति निम्न जातियों को जनजातियों की श्रेणी में रखा गया है। इनमें से जनजातियाँ वे अविकसित जातियाँ हैं जो जंगलों, पहाड़ियों, घाटियों, तराई क्षेत्रों आदि में निवास करने वाली हैं। इन्हें आदिवासी, वन्य जाति, वनवासी, आदिम जाति भी कहा जाता है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 342 के अन्तर्गत इन जातियों को अनुसूचित जनजाति के रूप में निर्दिष्ट किया गया है।⁷⁴ इस प्रकार समग्र भारत में हजारों जातियों-उपजातियों का निवास है जिनकी तालिका निम्न है (देखें तालिका अग्रिम पृ.)

तालिका में उद्धरणस्वरूप दी गई उच्च जातियाँ सामान्यतौर पर प्राप्त ब्राह्मण उप जातियाँ हैं। मध्यम जातियों और निम्न जातियों में दिल्ली राज्य की पूर्ण केन्द्रीय सूची तथा अति निम्न जातियों में मध्य प्रदेश राज्य की जातियाँ दी गई हैं। अन्य राज्यों की जातियों का विवरण परिशिष्ट में दिया गया है।'

उपर्युक्त जातियों और जनजातियों के साथ-साथ भारत में कई धर्म और सम्प्रदाय भी हैं, यथा-मुसलमान, सिक्ख, ईसाई आदि। इनमें जाति एवं वर्ण को कोई स्थान नहीं दिया गया है। ये सामूहिक समानता पर बल देते हैं। फिर भी इनमें किसी-न-किसी रूप में जातीय विभेद पाया जाता है। जो इस प्रकार है -

उच्च जातियाँ (सामान्य वर्ग) आज ब्राह्मण जाति (वर्ग में नहीं) में प्राप्त उपजातियाँ	मध्यम जातियाँ (अन्य पिछड़ा वर्ग) दिल्ली राज्य	निम्न जातियाँ (अनुसूचित जाति) दिल्ली राज्य, अनुसूचित जातियाँ और अनुसूचित जनजातियाँ सूची (उपान्तरण) आदेश, 1956	अति निम्न जातियाँ (अनुसूचित जनजातियाँ) मध्य प्रदेश राज्य, अनुसूचित जातियाँ और अनुसूचित जनजातियाँ आदेश (संशोधन) अधिनियम, 1976
1. वसिष्ठ 2. हुसेनी 3. चितपावन 4. शक/गौड	1. अब्बासी, भिस्ती, सक्का 2. अगरी, खरवाल 3. अहीर, यादव, ग्वाल 4. अरैन, रायी, कुजड़ा	1. आदि-धर्मी 2. अगरिया 3. अहेरिया 4. बलाई 1-न.	1. अगरिया 2. आन्ध 3. बैगा 4. भैना

5. भार्गव	5. बढई, बरई, खाती,	5. बजारा	5. भारिआ भूमिआ, भुईहार
6. पुष्करणी	तर्खन, जागड़ा-ब्राह्मिन	6. बावरिया	भूमिया, भूमिआ, भारिया,
7. कन्नौजिया	विश्वकर्मा, रामगढ़िया	7. बाजीगर	पालिहा, पांडो
8. निरोला	पाँचाल, धीमान्	8. भंगी	6. भत्तरा
9. मैथिल	6. बड़ी	9. भील	7. भील, भिलाला, बरेला,
10. मालवीय	7. बैरागी	10. चमार, चंवर चमार,	पटलिया
11. सारस्वत	8. बैरवा, बेरवा	जटिया या जाटव चमार,	8. भील मीना
12. द्विवेदी	9. बरई, बरी, तम्बोली	मोची, रामदासिया, रवि	9. भुजिया
13. त्रिवेदी	10. बौरिया/बावरिया	दासी, रैदासी, रेहगर या	10. बीआर, बीयार
14. चतुर्वेदी	11. बाजीगर, नट, कलंदर	रैगर	11. बिंझवार
15. झा	12. भरभूजा, कनु	11. चोहड़ा (स्वीपर)	12. बिरहुल, बिरहोर
16. ओआ	13. भाट	12. चुहड़ा (बाल्मीकि)	13. दमोर, दामरिया
17. पाठक	14. भाटिआरा	13. धनक या धनुक	14. धनवार
18. उपाध्याय	15. चाक	14. धोबी	15. गडाबा, गडबा
19. अवस्थी	16. चिप्पी, टोंक, दर्जी,	15. डोम	16. गोंड, अरख, अरख,
20. देशस्थ	इद्रिशी	16. घर्माभी	अगरिया, असुर, बड़ी
21. विरोन	17. डकौत, प्रादे	17. जुलाहा (वीवर)	मारिया, बड़ा मारिया,
22. शुक्ला	18. धीनवर, झीनवर,	18. कबीर पंथी	भटोला, भीमा, भुता.
23. वाजपेयी	निषाद, केवट/मल्लाह, कहर,	19. कछन्धा	कोइलाभुता, कोलियाभुती
24. मिष	कश्यप	20. कंजर या गियरह	भार, बिसोनहान्न मारिया,
25. कोकणस्थ	19. धोबी, कस्सर	21. खटीक	छोटा मारिया, दंडामी
26. पाराशर	20. धुनिया, पिंजारा, कंदेरा-	22. कोली	मारिया, धुरु, धुरवा, धोबा,
27. व्यास	करन, धुन्नेवाला नद्वपफ,	23. लालबेगी	धुलिया, डोरला, गयकी,
28. गोसायी	मन्सूरी	24. मदारी	गढ़ा, गढ़ी, गैटा, गोवारी,
29. गिरि पर्वत	21. फकीर	25. मल्लाह	हिल मारिया, कंडरा, कलंगा,
30. पारसीका	22. गडरिया, गडेरी, गड्डी,	26. मजहबी	खटोला, कोइतर कोया,
31. शर्मन	गरी	27. मेघवाल	खिरवार, खिरवारा, कुचा
32. शाक द्दीपी	23. घसिआरा	28. नारीबत	मारिया, कुचाकी, नारिया,
33. अंग	24. गुजर / गुज्जर, गुर्जर	29. नट (राणा)	माडिया, मारिया, माना,
34. तिवारी	25. जोगी, गोस्वामी	30. पासी	मन्नेवार, मोध्या, मोगिया,
35. चौबे	26. जुलाहा, अंसारी	31. पेरना	मोध्या, मुडिया, मुरिया,
36. दूबे	27. कच्ची, कोइरी, मुरै,	32. सांसी या भेदकूट	नगारची, नागवंशी, ओझा,
37. पाण्डेय	मुराओ	33. सपेरा	राज गोंड, सोन्झारी
38. तैलंग	28. कसाई, कस्सब, कुरैशी	34. सिकलीगर	झरेकाथाटिया, थोट्या, वडे
39. नागर		35. सिंगीवाला या	मारिया, डरोई
40. मिश्रा	29. कसेरा, तमेरा, ठठिआर	कालबेलिया	17. हलबा, हलबी
	30. खटगुने	36. सिरकीबन्द	18. कमार
	31. खटिक		19. कारकू
	32. कुम्हार, प्रजापति		20. कवर, कंवर, कौर,
	33. कुर्मी		चेरवा, राथिया तँवर, छत्री
	34. लेखड़ा, मनिहार		21. कीर
	35. लोदी, लोदा, लोद,		22. खैरवार, कोडर
	महा-लोद		23. खरिया
	36. लुहार, भुमलिया, सैफी		24. कोध, खोड, कांध
	37. माची, मच्छेरा		25. कोल
	38. माली, सैनी, साउथिया,		26. कोलम
	सगरवंशी माली, नायक		27. कोरकु, बोपची, मोवासी
	39. मेमार, राज		निहाल, नाहुल, बोधी, बोंडेया
	40. मिणा / मीणा		28. कोरवा, कोडाकू

41. मेरसी, मिरासी	29. माझी
42. मोची	30. मझवार
43. नाई, हज्जम, नाई (सबिता), सलमानी	31. मवासी
44. नलबद	32. मोना
45. नक्कल	33. मुंडा
46. पाखीवाड़ा	34. नग्रेसिया, नगासिया
47. पटवा	35. उरांव, धनका, धांगड
48. पथार-चेरा, संगतरश	36. पनिका
49. रंगरेज़	37. पाओ
50. सुनार	38. परधान, पथारी, सरोती
51. तेली, तेली-मलिक	39. पारधी
52. कल्वर	40. पारधी, बहेलिया, बहेल्लिया, चिता पारधी, लंगोली पारधी, फांस पारधी, शिकारी, टकनकर, टाकिया
53. अरक, अरकवंशीय	41. परजा
54. रै-सिख (महतम)	42. सहारिया, सहारिआ, सेहारिआ, सेहरिआ, सोसिआ सोर
	43. साओता, सौता
	44. सौर
	45. सावर, सावरा
	46. सोर

मुस्लिम जातियाँ - भारतीय मुसलमानों में चौधरी, सैयद, शेख, अंसारी, काजी, घोसी, हलवाई, बढई, दर्जी, लुहार, धूना, खटिक, नाई, तेली, कलाल, माहगीर, कसाई, मुगल, पठान, मोमिन, मंसूरी, इब्राहिम, जुलाहा, दफाली इत्यादि।

सिक्ख जातियाँ - कामी सिक्ख, राम गढ़िया सिक्ख, रेहटिया सिक्ख, मजहबी सिक्ख, राय सिक्ख आदि।

ईसाई जातियाँ- विदेशी ईसाईयों में बड़ी-बड़ी जातियाँ अमेरिकन जाति, रसियन जाति, जर्मन जाति, चीनी जाति, जापानी, अंग्रेजी जाति, गौरी एवं काली जाति देखने को मिलती हैं। वहाँ पर इन जातियों का उद्भव वारक्षण के प्रतिबन्ध न होने के कारण ही हुआ। जबकि भारतीय ईसाईयों में सीरिअन ईसाई, नाडार ईसाई, वेल्लालास ईसाई, मादिगस ईसाई, सीरिअन रोमन, लैटिन रोमन, जैकोबाइट, लैटिन केथोलिक, मारथोमाइट, सीरियन केथोलिक, प्रोटेस्टेन्ट आदि। ये स्वयं को एक-दूसरे से पृथक् मानते हैं।

इन सभी सूचीबद्ध समूहों की जातियों को एक समान नहीं माना जाता। इनमें ऊँच-नीच का भेद व्याप्त है। उच्च और मध्यम जातियों की अपेक्षा निम्न

और अति निम्न जातियों की स्थिति अति शोचनीय है। परम्परागत रूप से यह सबसे वंचित वर्ग रहा है और है भी। उच्च वर्ग के लोग इन्हें घृणा की दृष्टि से देखते हैं। अपनी निम्न जाति के कारण इनको ऐसे व्यवसाय करने पड़ते हैं। जो सबसे कम वांछित माने जाते हैं, यथा-चमारों के द्वारा परम्परागत रूप से जानवरों की खाल उतारना एवं जूते तथा चमड़े के अन्य सामान बनाना। भंगी के द्वारा सफाई इत्यादि का कार्य करना।

आरम्भ से ही नीची जातियों को ऊँची जातियों के कुएं, तालाब से पानी भरना, सार्वजनिक स्थल, मंदिरों में प्रवेश करना, विद्यालयों में पढ़ना, छात्रावास में रहना, होटल में ठहरना, अच्छे मकान, कपड़े एवं आभूषणों को पहनना, धार्मिक पुस्तकों का अध्ययन व उपदेशों का श्रवण करना, उच्च व्यवसाय इत्यादि का प्रतिबन्ध था। इन सब से वंचित रहने के कारण ये स्वयं को ऊँची जातियों के समक्ष कमजोर और पतित समझने लगे। जिससे इनका जीवन नरकमय हो गया था। इस जातीय संकीर्णता के कारण भारतीय समाज की स्थिति चिन्तनीय बनी रही। सदियों से उच्चकुल में उत्पन्न लोगों ने अपने जातीय अधिकारों का दुरुपयोग किया। दूसरी ओर शूद्र जाति में उत्पन्न व्यक्तियों को अपनी क्षमताओं के समुचित विकास का अवसर प्राप्त नहीं हुआ और उनका सदियों तक शोषण होता रहा। इसलिये वर्तमानयुग में यह आवश्यक समझा गया कि दलित वर्ग को संरक्षण प्रदान किया जाए।

आज संवैधानिक कानून व्यवस्था में किसी के भी साथ इस प्रकार के व्यवहार को दण्डनीय अपराध घोषित किया गया है जिससे पुराने नियम शिथिल पड़ते जा रहे हैं और निम्न जाति के लोग सामान्य जीवन जीने के लिए अग्रसर हो रहे हैं। वर्तमान में शिक्षा और ज्ञान बढ़ता जा रहा है, आवागमन एवं संदेशवाहन के साधनों की वृद्धि के कारण भौगोलिक पृथक्ता समाप्त होती जा रही है, उद्योग-धन्धों के बढ़ने के कारण लोगों का आपसी सम्पर्क बढ़ रहा है, लोगों का रुझान विज्ञान की ओर बढ़ रहा है, नवीन विचारधारा एवं धार्मिक सुधारों का प्रभाव तथा धन का महत्त्व बढ़ता जा रहा है। फिर भी कुछ लोगों की आन्तरिक भावना अभी भी परिवर्तित नहीं हुई है। वे अभी भी जातीय भेदभाव में विश्वास रखते हैं, किन्तु जाति व्यवस्था में बहुत से परिवर्तन हो गए हैं, यथा-अब किसी

भी जाति-धर्म के लोग एक साथ रह सकते हैं, खान-पान कर सकते हैं। इसमें कोई प्रतिबंध नहीं है।

जहाँ अधिकांश जातियों की निश्चित वृत्तियाँ थी और वंशपरम्परागत हस्तान्तरित होती रहती थी वहीं आज प्रत्येक जाति के व्यक्ति अपनी योग्यतानुसार किसी भी प्रकार की वृत्तियों को अपनाने के लिए स्वतंत्र है। चमार, धोबी, धानुक, मेहतर, दर्जी इत्यादि के कार्य, जिन्हें निम्न कार्य माना जाता था, ब्राह्मण, ठाकुर, बनिया, कुर्मी, काडी, किसान जैसी ऊँची जातियों के लोग करने लगे हैं। इसके साथ ही उच्च वर्गों के समान निम्न जातियाँ भी प्रशासनिक क्षेत्र में उन्नति कर रही हैं, यथा-उत्तर प्रदेश में मायावती तथा बिहार में लालू प्रसाद यादव का अपने-अपने प्रदेश में मुख्यमंत्री बनना। इनके द्वारा सत्ता की बागडोर सम्भालने पर अस्पृश्य एवं पिछड़े वर्ग का तेजी से विकास प्रारम्भ हो गया है और उनकी सामाजिक स्थिति में सुधार हुआ है।

यद्यपि पहले अन्तर्जातीय विवाह होते थे, किन्तु आज ग्रामीण क्षेत्रों के लोग ऐसे विवाहों को अनादर की दृष्टि से देखते हैं। वे अपनी ही जाति में विवाह करना उचित मानते हैं। यदि कोई जाति से बाहर विवाह करता है तो उसे जाति से बहिष्कृत कर दिया जाता है। लेकिन नगरों में शिक्षित वर्ग की मनोवृत्ति इस ओर उदार होती जा रही है। ऐसा लगता है कि जातिप्रथा के जो बन्धन कठोर हो गये थे, उनमें शिथिलता आ रही है, परन्तु वास्तविकता तो यह है कि आन्तरिक जातीय भावना अत्यधिक दृढ़ होती जा रही है और गम्भीर रूप धारण कर रही है।

एक जाति का दूसरी जाति से सामाजिक संघर्ष बढ़ता जा रहा है। बाह्यरूप से तो लोग जातिप्रथा के विरुद्ध चर्चा करते हैं, उसका विरोध करते हैं, परन्तु आन्तरिक दृष्टि से वे जातिप्रथा के अत्यधिक पोषक हैं। लोग एक-दूसरे को उन्नति करते हुए देख नहीं सकते, वैमनस्य का भाव रखते हैं, जिससे भीषण जातिवाद का स्वरूप अन्दर-ही-अन्दर पनपता जा रहा है। इस भावना के कारण एक जाति के व्यक्ति देश या समाज के सामान्य हितों को दृष्टि में न रखते हुए, केवल अपनी जाति सदस्यों के उत्थान, एकता एवं सामाजिक स्थिति की वृद्धि चाहते हैं। यह प्रयास प्रत्येक क्षेत्र में हो रहा है। यही कारण है कि यह अनिष्टकारक होने पर भी भारतवासियों के चिन्तन में रमी हुई है, और लोग इसे छोड़ना नहीं चाहते। हट्टन ने जातिप्रथा के गुणों पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि-

जाति का महत्त्वपूर्ण कार्य भारतीय समाज को अखण्ड बनाना और विभिन्न प्रतिद्वंदी समूहों को एक समुदाय में जोड़ना है।⁷⁵

एक ओर जाति अपने सदस्यों को मानसिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक सुरक्षा प्रदान करती है। विभिन्न समुदायों को एकता के सूत्र में बांधती है। समूहों में सहयोग की भावना का संचार करती है⁷⁶ तो दूसरी ओर यह प्रथा ही राष्ट्रीय एकता में बाधक है, क्योंकि इसके कारण जातियों एवं उपजातियों में जो ऊँच-नीच का भाव आ गया है उसने ही एक सुदृढ़ राष्ट्र का निर्माण नहीं होने दिया। इसने ही साम्प्रदायिकता, अलगाववाद, अस्पृश्यता, अप्रवेश्यता और अदर्शनीयता को जन्म दिया, जिसमें व्यक्ति-व्यक्ति के बीच इतना भेद किया जाने लगा कि निम्न जाति के स्पर्शमात्र, प्रवेशमात्र और दर्शनमात्र से ही उच्च जातियों के व्यक्ति अपवित्र माने जाने लगे। जातिगत आरक्षण को प्रोत्साहन भी इसी की देन है, किन्तु व्यक्ति की योग्यता की उपेक्षा नहीं की जानी चाहिये।

आज जातिप्रथा ने व्यक्ति-व्यक्ति में प्रतिस्पर्धा को इतना बढ़ा दिया है कि वह धर्म एवं राष्ट्रहित के स्थान पर व्यक्तिगत लाभ एवं निजी स्वार्थ को अत्यधिक महत्त्व देता है तथा अधिक-से-अधिक लाभ, धनार्जित करने के लिए उचित एवं अनुचित रीतियों का उपयोग करता है। वस्तुतः जातीय भावना राष्ट्रीय भावना को पनपने नहीं देती, अपितु उसे विघटन की ओर ले जाती है जबकि राष्ट्रीय भावना संगठन की ओर। अतएव हमें जातिगत विसंगतियों को दूर करना होगा।

समानता और स्वतंत्रता के विचारों पर आधारित आधुनिक विचारधारा में जातिवाद के लिए कोई स्थान नहीं है। समय-समय पर अनेक समाज सुधारकों तथा विचारकों ने इसके विरुद्ध आवाज उठाई है। स्वामी दयानन्द सरस्वती, स्वामी रामकृष्ण परमहंस, राजाराममोहन राय, स्वामी विवेकानन्द, गुरु नानक, कबीर, महात्मा गांधी, डॉ. भीमराव अम्बेडकर आदि सभी ने जातीय उत्पीड़न के विरुद्ध दलितों के उत्थान तथा जातिवाद एवं अस्पृश्यता की समाप्ति के लिए संघर्ष किया। लेकिन यह समाप्त नहीं हुई अपितु अपना स्वरूप परिवर्तित करती रही। बाद में भारतीय संवैधानिक व्यवस्था में जातीय भेदभाव तथा अस्पृश्यता को समाप्त करने के लिए एक समान व्यवस्था का प्रावधान किया गया।

कुछ नियम-कानून इस प्रकार हैं-

- **अनुच्छेद 15** (1) के अनुसार राज्य के द्वारा किसी भी नागरिक से केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्म- स्थान के आधार पर कोई भेदभाव नहीं किया जाएगा। इसके साथ ही अनुच्छेद 15 (2) राज्य और व्यक्तियों दोनों को धर्म, मूलवंश आदि इनमें से किसी के आधार पर सार्वजनिक दुकानों, होटलों, मनोरंजन के स्थानों, कुओं, तालाबों, घाटों, सड़को एवं अन्य सार्वजनिक स्थान के उपयोग में विभेद करने का निषेध करता है।⁷⁷
- **अनुच्छेद 16** (1) के अन्तर्गत राज्य के अधीन नौकरियों या पदों पर नियुक्ति के सम्बन्ध में सब नागरिकों के लिए अवसर की समता का अधिकार प्रदान किया गया है। तो अनुच्छेद 16 (2) के तहत केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्मस्थान, निवास या इनमें से किसी के आधार पर किसी नागरिक के लिए राज्य के अधीन किसी नौकरी या पद के विषय में न अपात्रता होगी और न विभेद किया जाएगा।
- **अनुच्छेद 17** अस्पृश्यता को गैर-कानूनी घोषित करता है और उसका किसी भी रूप में आचरण करने का निषेध करता है। इस व्यवस्था के अतिरिक्त अस्पृश्यता के विरुद्ध "अस्पृश्यता अपराध अधिनियम 1955" पारित किया गया। इसके अन्तर्गत अस्पृश्यता का आचरण करने वाले तथा उसे प्रोत्साहित करने वाले को छः मास तक की कारावास तथा पाँच सौ रुपये जुर्माने की सजा दी जा सकती है।
- **अनुच्छेद 29** (2) के अधीन राज्य द्वारा पोषित अथवा राज्य निधि से सहायता पाने वाली किसी शिक्षा संस्था में प्रवेश से किसी नागरिक को केवल धर्म, मूलवंश, जाति इत्यादि किसी भी आधार पर वंचित नहीं रखा जाएगा।
- **अनुच्छेद 46** के अनुसार राज्य, जनता के दुर्बलतर विभागों (वर्गों) विशेषतया अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के शिक्षा तथा अर्थ सम्बन्धी हितों को विशेष सावधानीपूर्वक उन्नत करेगा तथा सामाजिक अन्याय तथा सब प्रकार के शोषण से उनका संरक्षण करेगा।

यहाँ सरकारी सेवाओं एवं सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों में नौकरी के लिए आरक्षण स्थापित करने का उद्देश्य भारतीय समाज के वंचित वर्गों को सहायता

प्रदान करके एक न्यायसंगत समाज का निर्माण करना है। साथ ही उन्हें सामाजिक, आर्थिक एवं शैक्षिक आदि सभी प्रकार की गतिशीलता के लिए अवसर उपलब्ध कराना भी है।

समाज के दुर्बल वर्गों के पक्ष में इन संवैधानिक संरक्षण के अतिरिक्त कुछ संरक्षात्मक एवं शोषण विरोधी अधिनियम की भी व्यवस्था की गई। 1989 में संसद ने अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति 'अत्याचार निवारण अधिनियम 1989' में पारित कर, इन वर्गों पर होने वाले अत्याचारों को रोकने के लिए आवश्यक कदम उठाए। लेकिन धीरे-धीरे प्रशासन और पुलिस की मानसिकता के कारण इसे निष्प्रभावी बनाने का प्रयास जारी रहा। इसलिये 11 अगस्त, 2012 में दिल्ली में इस अधिनियम को निष्प्रभावी बनाये जाने के विरोध में एक दिवसीय सम्मेलन का आयोजन किया गया। इस सम्मेलन में न्यू डेमोक्रेटिक पार्टी ऑफ इण्डिया के महासचिव एडवोकेट अरुण मांझी ने और जाति विरोधी संगठन, दिल्ली के कामरेड जयप्रकाश ने क्रमशः एस.सी. या एस.टी. एक्ट 1989 पर तथा दलितों पर उत्पीड़न के सम्बन्ध में पर्चा पेश किया। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि इस एक्ट के तहत दलितों और आदिवासियों पर अत्याचार की घटनाओं के सभी मामलों को दर्ज किया जाना चाहिए। जिससे वे शोषण से बच सकें और इस अधिनियम का लाभ पा सकें।⁷⁸

वर्णित कानून व्यवस्था के अतिरिक्त समय-समय पर अखिल भारतीय सामाजिक संस्थाओं, यथा-अखिल भारतीय हरिजन सेवक संघ दिल्ली, ईश्वरशरण आश्रम इलाहाबाद, हिन्दू-मिशन कलकत्ता, दी सर्वेण्ट्स ऑफ इण्डियन सोसायटी पूना, भारतीय दलित वर्ग संघ नई दिल्ली, भारत दलित सेवक संघ पूना, केन्द्रीय समाज-कल्याण बोर्ड नई दिल्ली इत्यादि ने अस्पृश्यता के विरुद्ध कार्य किया तथा अब भी कार्यरत हैं। इन्होंने सार्वजनिक सभाओं, सम्मेलनों, सिनेमा, पोस्टरों आदि के माध्यम से प्रचार किया। सामाजिक कल्याण केन्द्र खोले। हरिजनों के लिए अनेक छात्रावास, मन्दिर, जलपानगृह, धर्मशालायें, कूएं, नाई की दुकानें खुलवाई। मन्दिरों एवं कुओं पर प्रवेश करवाया आदि।⁷⁹

सरकार (केन्द्रीय तथा राज्य सरकारें) अनुसूचित जाति तथा जनजाति के शैक्षणिक, आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक स्थितियों इत्यादि के उत्थान के लिए प्रतिवर्ष गैर सरकारी संस्थाओं को अनुदान दे रही है। वे संस्थाएँ हैं- अखिल

भारतीय हरिजन सेवक संघ दिल्ली, भारतीय दलित वर्ग संघ नई दिल्ली, ईश्वरशरण आश्रम इलाहाबाद, भारत दलित सेवक संघ पूना, केन्द्रीय समाज-कल्याण बोर्ड नई दिल्ली आदि। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय सरकार राज्य सरकारों को धनराशि देती है, जिससे उन्हें शिक्षा के क्षेत्र में निःशुल्क शिक्षा, छात्रवृत्तियाँ, फीस में रियायत, छात्रावास की दृष्टि से छात्रवृत्तियाँ, विदेशों में अध्ययनार्थ छात्रवृत्तियाँ, पब्लिक स्कूलों में योग्य छात्रों के लिए छात्रवृत्तियाँ, प्रौद्योगिक विद्यालयों में प्रवेश के लिए स्थान सुरक्षित की सुविधा, आर्थिक क्षेत्र में भूमि अधिकार की सुरक्षा, कुटीर उद्योग के प्रशिक्षण, अन्न भण्डारों को खोलने, कर्ज की ब्याज की दर कम करने, जन स्वास्थ्य के लिए औषधालय की व्यवस्था, गृह निर्माण आदि की सुविधा दी जाती है।⁸⁰

इस प्रकार पहले दलित वर्गों को अनेक सुविधाओं से वंचित रखा गया था और आज अनेक सुविधाओं के साथ-साथ विभिन्न अधिकार प्रदान किये गये हैं, किन्तु शिक्षा-संस्थानों तथा सरकारी सेवाओं आदि में विभिन्न राज्यों में हुए आरक्षण के कारण सामान्य श्रेणी और निम्न श्रेणी के लोगों में तनाव की स्थिति उत्पन्न हो गई है, क्योंकि आरक्षण विरोधियों का यह मानना है कि उनकी योग्यता की उपेक्षा की जा रही है।

यद्यपि आज न्यायव्यवस्था सभी के लिए समान है और विभिन्न संस्थायें जातिवाद के खिलाफ कार्य कर रही हैं। फिर भी वर्गगत भेद अभी तक समाप्त नहीं हो पाया है। दलितों के पीड़ित होने की अनेक घटनाएँ देखने को मिलती हैं तथा अपराधी व्यक्ति विभिन्न उपायों से प्रायः दण्डमुक्त रह जाते हैं। राजनीतिज्ञ अपने प्रभाव से, पूँजीपति धन के बल से, शिक्षित अपने बौद्धिक चातुर्य से दण्डित नहीं हो पाते। आज आवश्यकता इस बात की है कि न्यायव्यवस्था किसी भी प्रकार के प्रभाव से मुक्त रहते हुए निष्पक्ष भाव से अपना कार्य करती रहे।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि आधुनिक भारत में वर्णव्यवस्था का नहीं जातिवाद का प्राबल्य है। कतिपय सन्दर्भों में यह पहले की अपेक्षा अधिक संगठित तथा आक्रामक हो चुकी है। आज यह अपने जिस उग्र रूप में है उसे सहजतापूर्वक समाप्त तो नहीं किया जा सकता, क्योंकि कुछ लोग इसे हितकर तो कुछ अहितकर मानते हैं, परन्तु इसके दोषों को दूर करने का प्रयास अवश्य करते रहना चाहिये।

डॉ. मजूमदार का मत है कि 'अस्पृश्यता एक जाति का दूसरी जाति द्वारा शोषण है और ऐसी ही अन्य इस प्रथा की हानिकारक सहयोगी प्रथाओं को समाप्त कर देना चाहिये, न कि सम्पूर्ण व्यवस्था को। क्षतग्रस्त विषाक्त अंगुली को काटना चाहिये न कि पूरे हाथ को।⁸¹ यदि हम जनतंत्र को सुदृढ़ करना चाहते हैं तो जातिगत रूढ़ियों को शिथिल करना होगा और योग्यता एवं समानता को महत्त्व देना होगा।

सन्दर्भ ग्रंथ सूची

1. मानव शास्त्र भाग-पृष्ठ सख्या -83
2. इस अवस्था को सक्रिय संतुलन (पृष्ठ सख्या - 84) मानवशास्त्र -1
3. ऋग्वेद - 10.90। यजुं अध्याय - 31 अथर्व-31.-19.6
4. ऋग्वेद - 10.90,13-14
5. मनुस्मृति - पृष्ठ -146(इस दृष्टि से समाज एक शाश्वत संस्था है।)
6. यजुर्वेद-30.5
7. यजुर्वेद-15.59
8. शान्तिपर्व- 64.5
9. शुक-1.5
10. ऋग्वेद-10.90.12
11. ब्राह्मणोडस्य मुखमासीर . ऋग्वेद 10.90.12
12. यजुर्वेद-30.5
13. भूत्यै जागरणम्, पुष्ट्यै गोपालम्-यजुर्वेद-30.5 से 21
14. चातुर्वर्ण्यं मया पृष्ठ गुणकर्म विभागशः। गीता 4.13
15. भगवद् गीता - 18.41
16. शान्तिपर्व - 63.7 से 8 तक
17. शान्तिपर्व - 63.4 से 6 तक
18. मनुस्मृति 2.168
19. मनुस्मृति 2.1031
20. यजुर्वेद - 31.1
21. यजुर्वेद - 31.11
22. वर्णो वृणोतेः। निरु., द्वितीय अध्यायः प्रथम पादः, पृ.71
23. संस्कृत-हिन्दी कोश, वामन शिवराम आप्टे, पृ. 101
24. वृ वरणे, वर्ण वर्णने, वृ आच्छादने। जीविकां वियते इति वर्णः। वर्णयति वा पुरुषम् इति वर्णः। सरला दूबे, भारतीय समाज और राज्य, पृ. 100
25. हीनजातिस्त्रिय मोहादुद्वहन्तो द्विजातयः।
कुलान्येव नयन्त्याशु ससन्तानानि शुद्रताम् ॥
कर्मणाऽपि समं कुर्याद्वनिकायाधमर्णिकः।

समोऽवकृष्टजातिस्तु दद्याच्छ्रेयांस्तु तच्छनैः॥

भर्तुः शरीरशुश्रूषां धर्मकार्यं च नैत्यकम्।

स्वा चैव कुर्यात्सर्वेषां नारयजातिः कथञ्चन ॥ मनु., 3/15, 8/177 तथा
9/86

26. सहाय, डॉ. शिवस्वरूप, हिन्दू राज्य और समाज, प्रथम सं. 1976, पृ.151

27. काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम 'भाग. पृ. 119

28. डॉ. किरण टण्डन, भारतीय संस्कृति, पृ.290-291

29. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहु राजन्यः कृतः।

उरु तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥ ऋ.. 10/90/12

30. डॉ. प्रीति प्रभा गोयल, भारतीय संस्कृति, पृ.21

31. ऋम्भ्यो जातं वैश्यं वर्णमाहुः। यजुर्वेदं क्षत्रियस्याऽहुर्योनिम्। सामवेदो
ब्राह्मणानां प्रसूतिः। तै.ब्रा., का.3. प्र.12, अनु. 9

32. न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदजगत्।

ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णता गतम्॥ महा.शा.प., 181/10

33. काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, पृ. 125-129

34. कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना।

नानाधियो मसूयवोऽनु गा इव तस्थिमेन्द्रायैन्दो परिस्रया। ऋ., 9/112/3

35. श्रीमद् गी. 6/44-45

36. चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः॥ वहीं, 4/13

37. ब्राह्मणानां सितो वर्णः क्षत्रियाणां तु लोहितः।

वैश्यानां पीतको वर्णः शूद्राणामसितस्तथा। महा.शा.प., 181/5

38. ब्राह्मण्यां ब्राह्मणेनैव द्युत्पन्नो ब्राह्मणः स्मृतः। ल. हा. स्मृ., 1/15

39. जन्मना यस्तु निर्विण्णो मरणेन तथैव च।

आधिभिव्याधिभिश्चैव तं देवा ब्राह्मणं विदुः॥ वही, 7/9

40. "If firmly believe caste to be a marvellous discovery a form
of socialism which through ages has protected Hindoo
society from anarchy and from the worst evils of industrial
and competitive life it is an automatic poor-law to begin
with, and the strongest form known of trades Union",

Townsend, Meredith, Asia and Europe, edition 1901, p.72.

41. "There is no doubt that it is the main cause of the fundamental stability and contentment by which Indian society has been braced for centuries against the shocks of politics and the cataclysms of nature. It provides every man with his place, his career, his occupation his circle of friends. It makes him, at the outset, a member of a corporate body, it protects him through life from the canker of social jealousy and unfulfilled aspirations. "Low, Sidney, Vision of India, Second edition 1975, p.262-263.
42. डॉ. राधाकृष्णन, भारतीय दर्शन, भाग-1, पृ.121-122
43. चातुर्वर्ण्यहितार्थाय शङ्खः शाखमथाकरोत् । शं. स्मृ., 1/1
44. चतुर्णामपि वर्णानामाचारो धर्मपालकः।
आचारभ्रष्टदेहाना भवेद्धर्मः पराङ्मुखः॥ परा. स्मृ., 1/37
45. (क) शं.स्मृ., 1/2-5
(ख) मनु., 10/97
(ग) श्रीमद् गी., 3/35
46. (क) ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातयः।
तेषा जन्म द्वितीयन्तु विज्ञेय मौञ्जिबन्धनम् ॥ श. स्मृ.. 1/6
(ख) मनु.. 10/4 (ग) या. स्मृ., 1/10, 1/39
47. (क) क्र., 4/50/8 (ख) अथर्व., 5/18/8 (ग) तै.सं., का. 1. प्र.7, अनु.3, 3
48. यथा भर्ता प्रभुः स्त्रीणां वर्णानां ब्राह्मणो यथा। शं. स्मृ., 5/7
49. अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥ मनु. 1/88
50. श्रीमद् गी., 3/10-11
51. मनु., 4/10, 26-27. 11/24
52. वृत्तिन्तु न त्यजेन्नृत्विजं पूर्वमेव तु । कर्मणा जन्मना शुद्ध विधिना च
वृणीत तम्। एतैरेव गुणैर्युक्त धर्माजितधनं तथा। याजयीत सदा विप्रो
ग्राहयस्तस्मात् प्रतिग्रहः॥ शं. स्मृ., 5/18-19

53. (क) मनु., 4/186-191 (ख) या. स्मृ., 1/202
54. मनु., 4/147
55. या. स्मृ., 1/198
56. उपनीय गुरुः शिष्यं शिक्षयेच्छौचमादितः।
आचारमग्निकार्यं च संध्योपासनमेव च॥
स गुरुर्यः क्रियां कृत्वा वेदमस्मै प्रयच्छतिः शं. स्मृ., 3/1-2
57. मनु., 2/69, 71, 74, 140
58. (क) क्षतान्नस्वास्यते सर्वानित्येवं क्षत्रियोऽभवत्। महा.द्रो.प., 69/2
(ख) क्षताच्च नस्वायतीति स तस्मात्क्षत्रियः स्मृतः॥ महा.शा.प., 29/130
(ग) क्षतात् त्राणं क्षतत्राणम्। कल्पतरु, द्वितीय भाग, पृ.252
(घ) क्षतात्किल त्रायत इत्युदनः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः। रघु. महा., 2/53
59. दानमध्ययनञ्चैव यजनञ्च यथाविधि।
क्षत्रियस्य तु वैश्यस्य कर्मद परिकीर्तितम् ॥
क्षत्रियस्य विशेषेण प्रजानां परिपालनम्॥ शं. स्मृ.. 1/3-4
60. मनु.. 1/89 न
व्रतोपवासैश्च न च यज्ञः पृथग्विधैः।
61. राजा स्वर्गमाप्नोति प्राप्नोति परिपालनात् ॥ शं. स्मृ., 5/9
62. पशूना रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च॥ मनु.. 1/90
63. (क) दानमध्ययनं यज्ञः शोचेन धनसंचयः॥ महा.शा.प., 60/21, 23
(ख) वैश्यस्य सततं धर्मः पाशुपाल्य कृषिस्तथा।
अग्निहोत्रपरिस्पन्दो दानाध्ययनमेव च॥
वाणिज्यं सत्पथस्थानमातिथ्य प्रशमो दमः।
विप्राणां स्वागतं त्यागो वैश्यधर्मः सनातनः॥
महा. अनु.प., 128/53-54 (दानधर्मपर्व-उमामहेश्वरसंवादः)
64. मनु, 9/329-331, 333
65. तथैव शूद्रा विहिता : सर्वधर्मप्रसाधकाः।
शूद्रश्च यदि ते न स्युः कर्मकर्ता न विद्यते ॥ महा. अनु.प., 141/60 तथा
विद्या, परशुराम लक्ष्मण, महाभारतस्य- श्लोकपादसूची, द्वितीय भाग, पृ.

66. (क) शूद्रोः मनुष्याणामश्वः पशूनां तस्मात्तौ भूतसंक्रामिणावश्वश्च शूद्रश्च तस्माच्छूद्रो यज्ञेनवक्लृप्तः। तै.सं., का. 7. प्र. 1, अनु. 1, 6 (ख) जैमिनि, 1/3/25-28
67. अथ हास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्या श्रोत्रप्रतिपूरणमुदाहरणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेदः। गौ. ध.. द्वितीय प्रश्नः, तृतीय अध्यायः, सू.4
68. शूद्रस्य द्विजशुश्रूषा सर्वशिल्पानि चाप्यथ। क्षमा सत्यं दमः शौचं सर्वेषामविशेषतः॥ शं. स्मृ., 1/5
69. गर्भाष्टमेऽब्दे कर्तव्यं ब्राह्मणस्योपनायनम्। गर्भदिकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः ॥ उपनीय गुरुः शिष्यं शिक्षयेच्छौचमादितः। आचारमग्निकार्यं च संध्योपासनमेव च॥ शं. स्मृ., 2/6 तथा 3/1
70. मनु, 4/4,6
71. तोमर, प्रो. राम बिहारी सिंह, भारतीय सामाजिक संस्थाएं, प्र.सं. 1959, पृ.159 -165
72. "It is urged emphatically that the Indian Caste System is the natural result of the interaction of a number of geographical, social, political, religious and economic factors not elsewhere found in conjunction. Hutton, J.H. Caste in India, P.188.
73. पाण्डेय, डॉ. जय नारायण, भारत का संविधान, संस्करण पैंतालिसवां, 2012, संविधान का अनुच्छेद 25, पृ.314-315
74. (क) सम्पा., रमणिका गुप्ता, आदिवासी कौन, प्र.सं. 2008, पृ.26-27
(ख) जैन, श्रीचंद्र, आदिवासियों के चीच, प्र.सं. 2007, पृ.11-12
75. It will be understood then that one important function of caste, perhaps the most important of all its functions' and the one which above all others makes caste in India an unequal institution, is or has been, to integrate Indian Society, to weld in to one community the various competing, if not incompatible groups composing it. Hutton, J.H., Caste in India, p. 119.

76. तोमर, प्रो. राम बिहारी सिंह, भारतीय सामाजिक संस्थाएँ, प्र.सं. 1959, पृ.176-177
77. पाण्डेय, डॉ. जय नारायण, भारत का संविधान, पैतालिसर्वो सं.2012.
संविधान का अनुच्छेद 15 (1), 15 (2), पृ.127-128
78. सम्पा. नरेला, जे.पी., पत्रिका-जाति उन्मूलन, जाति विहीन, वर्ग विहीन
समाज निर्माण के लिए, अंक 1, मार्च-मई 2013, हिन्दी, पृ.28
79. तोमर, प्रो. राम बिहारी, भारतीय सामाजिक संस्थाएँ, पं.सं. 1959, पृ. 205-209
80. तोमर, प्रो. राम बिहारी, भारतीय सामाजिक संस्थाएँ, पं.सं. 1959, पृ.216-226
81. "Untouchability, exploitation or one caste by another and such other harmful concomitants of the system should be done away with, and not the whole system, the broken, poisoned finger should be amputated not the whole hand." Mazumdar, D.N. and Madan, T.N.'Social Anthropology, P. 238.

चतुर्थ अध्याय
स्मृति साहित्य में संस्कार एवं
आश्रम व्यवस्था : एक अनुशीलन

चतुर्थ अध्याय

स्मृति साहित्य में संस्कार एवं आश्रम व्यवस्था: एक अनुशीलन

1. संस्कार शब्द का अर्थ, स्वरूप एवं प्रकार

प्राचीनकाल से ही मानव अपने भौतिक एवं आध्यात्मिक विकास के लिए निरन्तर प्रयासरत रहा है। जिसके लिए उसने विभिन्न सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक एवं आर्थिक संस्थाओं को विकसित किया। इनमें से संस्कार धार्मिक कृत्य के रूप में स्वीकृत व्यक्तित्व के विकास के प्रथम सोपान माने गये हैं जो मनुष्य के जन्म से पूर्व ही प्रारम्भ होकर मृत्युपर्यन्त निरन्तर उसके व्यक्तिगत, सामाजिक, सांस्कृतिक और आध्यात्मिक जीवन को प्रभावित करते रहते हैं जिससे व्यक्ति ही नहीं वरन् समाज भी परिपुष्ट होता है, क्योंकि एक शुद्ध, परिष्कृत आचार-व्यवहार वाला व्यक्ति ही एक सुसभ्य समाज का निर्माण कर सकता है। यही कारण है कि संस्कार सदियों से हिन्दू-धर्म के साथ-साथ अन्य धर्म, सम्प्रदायों के भी अभिन्न अंग बने हुए हैं। भारतीय संस्कृति को आज तक सुरक्षित रखने का श्रेय भी इन्हीं को जाता है।

संस्कार शब्द की व्युत्पत्ति एवं अर्थ

संस्कार शब्द 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'कृ' धातु से 'घञ्' प्रत्यय लगाकर निष्पन्न हुआ है, जो सामान्यतः शुद्धि, परिष्कार या पवित्रता अर्थ का वाचक है।¹ अंग्रेजी में इसके लिए 'सेक्रामेण्ट' शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसका अर्थ है- धार्मिक विधि-विधान, जो आत्मिक तथा आन्तरिक सौन्दर्य का प्रतीक है।² संस्कार को व्याख्यायित करते हुए कहा गया है कि बालक जब जन्म लेता है तो वह दो प्रकार के संस्कार अपने साथ लेकर आता है। एक प्रकार के वे संस्कार, जिन्हें वह जन्म-जन्मान्तरों से अपने साथ लाता है। दूसरे प्रकार के वे संस्कार, जिन्हें वह अपने माता-पिता के संस्कारों के रूप में वंशपरम्परा से प्राप्त करता है। जिनमें कुछ अच्छे भी हो सकते हैं और कुछ बुरे भी।

अतएव जब बालक जन्म लेता है तो वह उस समय अच्छे और बुरे दोनों ही प्रकार के संस्कारों से आच्छादित रहता है। इसलिये संस्कार मानव के नव-निर्माण की वह योजना है जिसमें बालक को ऐसे पर्यावरण से घेर दिया जाए कि उस पर पड़ने वाले बुरे संस्कार को चाहे वह पिछले जन्म के हो, चाहे माता-पिता से प्राप्त हुए हो,

चाहे वह इस जन्म के हो समाप्त हो जाए और उसमें अच्छे संस्कारों का उदय हो सके।³

विभिन्न शास्त्रज्ञों ने इसके अनेक अर्थ किये हैं। स्मृतिकारों के अनुसार संस्कार से अभिप्राय उन धार्मिक क्रियाओं से है जिनसे मनुष्य के गर्भ सम्बन्धी व अन्य दोषों को दूर कर, उसमें शुद्धि का आधान किया जाता है और अपेक्षित गुणों का विकास किया जाता है।⁴ अधिकांशतः ग्रन्थकारों के मत भी स्मृति विहित अर्थ की ही पुष्टि करते हैं। शबर स्वामी ने संस्कार को परिभाषित करते हुए कहा है कि संस्कार वह है जिसके हो जाने पर पदार्थ या व्यक्ति किसी कार्य के योग्य हो जाता है, यथा- उपनयन संस्कार से वेदाध्ययन की योग्यता तथा जातकर्म संस्कार से वीर्य एवं गर्भाशय के दोष से मुक्ति। स्वामी दयानन्द ने शरीर, मन और आत्मा को उत्तम बना देने वाली क्रियाओं को संस्कार कहा है।⁵

इस प्रकार संस्कार वह धार्मिक अनुष्ठान है जो व्यक्ति के जीवन में विद्यमान दोषों को दूर कर, गुणों का आधान करते हैं, उसे विभिन्न क्रियाओं के योग्य बनाते हैं, शरीर के साथ-साथ आत्मा को भी उन्नत या परिष्कृत कर उसके जीवन को सार्थक बनाते हैं। जिस प्रकार खान से निकले सोने, हीरे आदि की चमक तथा सौन्दर्य के लिए सुनार उसे तपाकर, तराशकर मूल्यवान् आभूषण बनाता है उसी प्रकार उत्पन्न मनुष्य में मानवीय शक्ति के आधान के लिए माता-पिता, गुरु और पुरोहित संस्कार से संस्कारित कर उसे परिवार, समाज और देश का भावी सदस्य बनाते हैं। वस्तुतः शुद्धि व शुचिता सन्निधान, मनः परिष्करण एवं क्रियागत विधान संस्कार की प्रमुख विशेषता है।

संस्कारों का उद्भव तथा विकास

स्मृतिकारों ने संस्कार का जो अर्थ किया है। सम्भवतः वह ही तत्कालीन समय में इनके उद्भव का मूल कारण रहा होगा। उनका मानना था कि मनुष्य में जन्म से पूर्व एवं जन्म के उपरान्त ऐसे विभिन्न दोष आ जाते हैं जो उसके व्यक्तित्व के विकास में बाधक हैं। इसलिये नियमपूर्वक संस्कारों से उनकी शुद्धि की जानी चाहिये।⁶

इनके उद्भव के पीछे यह धारणा भी थी कि मनुष्य का जीवन अनेक विघ्न-बाधाओं एवं अशुभ शक्तियों से बाधित होता रहता है जिससे उसे विभिन्न सांसारिक कष्टों को भोगना पड़ता है। इसलिये निर्बाध गति से जीवन के विकास के लिए इनका

विधान किया गया। संस्कारों में अनेक देवी-देवताओं से अमङ्गल प्रभावों के निवारणार्थ स्तुति व प्रार्थना की जाती है, अग्नि के सम्मुख पवित्र मंत्रों का उच्चारण किया जाता है और उनसे सुखमय जीवन के लिए आशीर्वाद की कामना की जाती है जिससे उस पर अनेक देवी-देवताओं की कृपा बनी रहती है। साथ ही जीवन में नैतिक, आध्यात्मिक और धार्मिक प्रवृत्तियों के निर्माण तथा उनसे अपने व्यक्तित्व को उन्नत करना भी संस्कार-सम्मत मनुष्य का अभिलषित लक्ष्य रहा होगा।⁷

संस्कार शब्द वैदिक-साहित्य में उपलब्ध नहीं होता, किन्तु उद्धरण रूप में प्राप्त विभिन्न मन्त्र वैदिककाल में संस्कारों की अवधारणा को स्पष्ट करते हैं। ब्राह्मण-साहित्य में उपनयन, अन्त्येष्टि सम्बद्ध तथा आरण्यक एवं उपनिषद्-साहित्य में उपनयन तथा ब्रह्मचर्य विषयक कतिपय प्रसंगों का वर्णन प्राप्त होता है। सूत्र-साहित्य के अन्तर्गत गृह्यसूत्रों एवं धर्मसूत्रों में संस्कारों का पूर्ण विकसित रूप दृष्टिगोचर होता है। जहाँ गर्भाधान से लेकर अन्त्येष्टि तक के संस्कारों का सविधि विस्तृत रूप में वर्णन किया गया है, किन्तु धर्मसूत्रों में गृह्यसूत्रों की अपेक्षा अधिक विस्तृत विधि का वर्णन नहीं है। स्मृति-साहित्य में तो संस्कारों को इतना अधिक महत्त्व दिया जाने लगा कि ये मानव जीवन के अनिवार्य अंग बन गये।⁸ जो आज भी मानव समाज को संस्कार के लिए प्रेरित कर रहे हैं।

संस्कारों का प्रयोजन एवं महत्त्व

संस्कारों का उद्देश्य मनुष्य के किसी एक पक्ष को उद्घाटित करना नहीं था अपितु उसके जीवन के प्रत्येक पक्ष को प्रभावित करना था, जिससे व्यक्ति का लौकिक और पारलौकिक कल्याण हो सके। मनुष्य के अभीष्ट की प्राप्ति और उसके प्रयोजन की सिद्धि संस्कारों के माध्यम से मानी गई है। इनके अनुपालन से मनुष्य का शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक एवं वैयक्तिक परिष्कार होता है। उसका समाजीकरण होता है। वह सामाजिक प्रतिमानों, मूल्यों, आदर्शों आदि से परिचित होकर अपने उत्तरदायित्वों का निर्वाह करता है जिससे वह समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करता है। साथ ही उसका नैतिक, धार्मिक और आध्यात्मिक विकास होता है, क्योंकि संस्कार एक धार्मिक क्रिया है और धर्म आध्यात्म का आधार है। इनमें की जाने वाली सभी धार्मिक क्रियायें विभिन्न देवी-देवताओं के अनुष्ठान से सम्बद्ध हैं जो मानव जीवन को अध्यात्म की ओर अग्रसर करती हैं।

संस्कारों से केवल शरीर ही शुद्ध नहीं होता अपितु आत्मा भी संस्कृत होती है⁹ और शरीर ब्रह्म प्राप्ति के योग्य हो जाता है।¹⁰ जिस प्रकार चित्र-रचना धीरे-धीरे अनेक रंगों के समायोजन से विकसित होती है उसी प्रकार व्यक्ति में ब्राह्मणत्व भी विधिवत् किये गये संस्कारों से प्रतिष्ठित होता है।¹¹ महर्षि शंख के अनुसार जन्म से तो प्रत्येक व्यक्ति शूद्र पैदा होता है और संस्कारों के द्वारा वह दूसरा जन्म लेकर द्विज कहलाता है।

शूद्र का अर्थ यहाँ सम्भवतः अशुचिता से है जिसका उस युग के विचारकों ने संस्कारहीन ही नहीं, संस्कारों के अयोग्य भी घोषित किया था। इसके अतिरिक्त उन्होंने कहा है कि संस्कारों से संस्कृत तथा आठ आत्मगुणों¹² से युक्त व्यक्ति ब्रह्मलोक में पहुँचकर ब्राह्मपद को प्राप्त कर लेता है जिससे वह फिर कभी च्युत नहीं होता।¹³ हरद्वारी लाल शर्मा ने संस्कृति और संस्कार में अभिन्नता प्रदर्शित करते हुए संस्कारों के महत्त्व के विषय में स्पष्ट कहा है कि -

"मानव जीवन के सभी संस्कार उसे अनेक मूल्यों से समृद्ध कर, जीवन को चेतना (आत्मतत्त्व) के सम्पूर्ण और सच्चे स्वरूप की ओर ले जाते हैं। इनके अभाव में मनुष्य जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त पशु प्राकृत ही बना रहता है।¹⁴ प्रकृति से उत्पन्न होने वाली प्रत्येक वस्तु 'प्राकृत' कहलाती है।

अतएव आन्तरिक एवं बाह्य शुद्धता, नैतिकता, आध्यात्मिकता, जीवन की परिशुद्धता एवं पवित्रता संस्कारों के माध्यम से सम्भव है।

संस्कारों की संख्या (प्रकार)

वैदिककाल से ही हिन्दू समाज में संस्कारों का प्रचलन रहा है, जिनकी संख्या के विषय में ग्रन्थों में मतभेद मिलता है। कहीं-कहीं नामभेद भी दृष्टिगोचर होता है। प्रारम्भ में इनकी संख्या अधिक नहीं थी। ऋग्वेद में चार संस्कार- गर्भाधान, पुंसवन, विवाह तथा अन्त्येष्टि का और अथर्ववेद में ग्यारह संस्कार-गर्भाधान, पुंसवन, जातकर्म, नामकरण, चूडाकर्म, कर्णवेध, उपनयन, वेदारम्भ, समावर्तन, विवाह तथा अन्त्येष्टि का वर्णन उपलब्ध होता है।¹⁵ बाद में गृह्यसूत्रों के काल से लेकर धर्मसूत्रों के काल तक इनकी संख्या में निरन्तर वृद्धि होती गई।

समय के प्रवाह के साथ-साथ इनमें अनेक व्रत एवं यज्ञों का समावेश होता चला गया, जिससे इनकी संख्या चालीस तक पहुँच गई। आश्वलायनगृह्यसूत्र में

ग्यारह-विवाह, गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, चूडाकर्म, अन्नप्राशन, उपनयन, समावर्तन तथा अन्त्येष्टि का उल्लेख है।

पारस्कर- गृह्यसूत्र में आश्वलायन विहित ग्यारह संस्कारों के अतिरिक्त निष्क्रमण एवं केशान्त को मिलाकर तेरह तथा बौधायनगृह्यसूत्र में केशान्त को छोड़कर कर्णवेध सहित तेरह संस्कारों का वर्णन प्राप्त होता है। वराहगृह्यसूत्र में भी तेरह संस्कार स्वीकार किये गये हैं, जिसमें पूर्व निर्दिष्ट-निष्क्रमण, केशान्त तथा अन्त्येष्टि का वर्णन न होकर, अन्य के साथ दन्तोद्-गमन, वेदव्रत तथा गोदान का उल्लेख मिलता है।

वैखानसगृह्यसूत्र में 18 संस्कार वर्णित हैं। इसमें चूडाकर्म, समावर्तन, पुंसवन तथा अन्त्येष्टि को छोड़कर अन्य दश संस्कार-ऋतुसङ्गमन, विष्णुबलि, उत्थान, प्रवसागमन, पिण्डवर्धन, चौलक, पारायण, व्रतबन्धविसर्ग, उपाकर्म, उत्सर्जन को जोड़ दिया गया है। गौतमधर्मसूत्र में आठ आत्मगुणों सहित चालीस संस्कार-गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, अन्नप्राशन, चौल, उपनयन, चार वेद व्रत-महानाम्नी व्रत, महाव्रत, उपनिषद्बत और गोदान, स्नान,

सहधर्मचारिणी-संयोग, पञ्चमहायज्ञ देवयज्ञ, पितृयज्ञ, मनुष्ययज्ञ, भूतयज्ञ तथा ब्रह्मयज्ञ, सात पाकयज्ञ-अष्टक, पार्वण, श्राद्ध, श्रावणी, आग्रहायणी, चैत्री एवं आश्वयुजी, सात हविर्यज्ञ-अग्न्याधेय, अग्निहोत्र, दर्शपौर्णमास, चातुर्मास्य, आग्रहायणेष्टि, निरुद्धपशुबन्ध और सौत्रामणि, सात सोमयज्ञ-अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ, षोडशी, वाजपेय, अतिरान्त्र तथा आप्तोर्याम का विधान मिलता है, जिनमें अन्त्येष्टि को सम्मिलित नहीं किया गया है।

स्मृतिकाल के आते-आते प्रमुख संस्कारों को ग्रहण किया जाने लगा और इनकी संख्या घटती-बढ़ती रही। मनुस्मृति में जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त तेरह संस्कार-गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामधेय, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूडाकर्म, मौजीबन्धन (उपनयन), केशान्त, समावर्तन, विवाह तथा श्मशान का वर्णन मिलता है।¹⁶ याज्ञवल्क्यस्मृति में मनु विहित तेरह संस्कारों को ही स्वीकृति दी गई है।¹⁷

गौतमस्मृति में गौतमधर्मसूत्र के ही चालीस संस्कारों का उल्लेख प्राप्त होता है।¹⁸ वृद्धहारीतस्मृति में पाँच संस्कार¹⁹ तथा व्यासस्मृति में सोलह संस्कार-गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्त, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, मुण्डन, कर्णवेध,

उपनयन, वेदारम्भक्रियाविधि, केशान्त, स्नान, विवाह, अग्निपरिग्रह और त्रेता (दक्षिणा, गार्हपत्य एवं आह्ननीय) अग्नियों के ग्रहण का वर्णन उपलब्ध होता है।²⁰

शंखस्मृति में संस्कारों की कोई निश्चित संख्या तो नहीं दी गई है, किन्तु अध्ययन से स्पष्ट होता है कि इसमें बारह संस्कार- निषेककर्म, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, आदित्य-दर्शन, अन्नप्राशन, चूडाकर्म, उप-नयन, वेदारम्भ, स्नान और विवाह का उल्लेख किया गया है।

शंखस्मृति में स्त्रीविषयक संस्कारों की चर्चा नहीं की गयी है, किन्तु मनुस्मृति में स्त्रियों के जातकर्मादि संस्कार बिना वैदिक मन्त्रों के करने का विधान किया गया है और उपनयन का निषेध किया गया है, क्योंकि उनका मानना था कि पति की सेवा ही उनका गुरुकुल निवास है। केवलमात्र विवाह संस्कार ही वैदिक मन्त्रों के साथ करने का निर्देश दिया है।²¹

संस्कारों का चतुर्विध विभाजन:-

शंखस्मृति के अनुसार मुख्यतः बारह संस्कारों को अवस्था के अनुसार चार भागों में विभाजित किया जा सकता है-

- जन्म से पूर्व के संस्कार,
- जन्म के बाद शैशवावस्था के संस्कार,
- शैक्षणिक संस्कार और
- विवाह संस्कार।

निषेककर्म, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन-ये तीन संस्कार बालक के जन्म से पूर्व, उसके बाद के पाँच संस्कार-जातकर्म, नामकरण, आदित्य-दर्शन, अन्नप्राशन व चूडाकर्म शैशवावस्था में, शेष तीन शैक्षणिक संस्कार-उपनयन, वेदारम्भ व स्नान बालक के विद्यारम्भ से लेकर विद्या-समाप्ति तक तथा विवाह संस्कार विद्या-समाप्ति के पश्चात् गृहस्थाश्रम में प्रवेश के लिए सम्पादित किये जाते थे।

इन सभी संस्कारों का सम्पादन परिवार में पति-पत्नी, माता-पिता अध्यापक, सगे-सम्बन्धियों के द्वारा किया जाता था। जो निम्नलिखित हैं -

जन्म से पूर्व के संस्कार

निषेककर्म : शंखस्मृति में 'निषेक' शब्द 'गर्भाधान' के लिए प्रयुक्त हुआ है। गर्भ का धारण जिस क्रिया से होता है वह गर्भाधान है।²² विवाह के पश्चात् दम्पती गुणवान् सन्तति की कामना से इस संस्कार को सम्पन्न करते थे। इसमें गर्भ एवं

गर्भधारण करने वाली स्त्री की सुरक्षा, प्रसन्नता एवं सन्तुष्टि को अधिक महत्त्व दिया जाता था। इसके निमित्त गर्भाधान से पूर्व देवी-देवताओं का स्मरण, हवनादि मन्त्रों का उच्चारण किया जाता था।²³

यह संस्कार उचित समय में सम्पन्न किया जाता था। शंख ने रजोधर्म प्रकट होने पर गर्भाधान का समय बताया है,²⁴ किन्तु किस दिन किया जाए, यह निर्धारित नहीं किया है। अन्य स्मृतिकारों ने इसका वर्णन किया है। मनु एवं याज्ञवल्क्य ने इस संस्कार के लिए पत्नी के रजोदर्शन से सोलह रात्रियों के समय का विधान किया है। उन सोलह रात्रियों में प्रथम चार, ग्यारहवीं और तेरहवीं रात्रियाँ गर्भाधान के लिए निन्दित मानी गयी हैं, शेष दस रात्रियाँ उचित मानी गयी हैं। उन्होंने अमावस्या, अष्टमी, पूर्णिमा एवं चतुर्दशी तिथियों में भी गर्भाधान का निषेध किया है। मनुष्य को इन निषिद्ध रात्रियों और तिथियों में गर्भाधान नहीं करना चाहिए। इसका कारण यह है कि इस समय गर्भधारण से दोषयुक्त सन्तान उत्पन्न होती है।²⁵ जबकि विहित रात्रियों और तिथियों में गर्भधारण से उत्तम गुणों से युक्त सन्तान उत्पन्न होती है।

स्मृतिकारों ने पुत्र की उत्पत्ति के लिए सम (छठी, आठवीं इत्यादि) तथा पुत्री की उत्पत्ति के लिए विषम (पाँचवीं, सातवीं, नवीं इत्यादि) रात्रि का विधान किया है। गर्भाधान के लिए रात्रि का समय ही उचित बताया है और दिन के समय का निषेध किया है। इसका कारण यह है कि दिन में सम्भोग करने से शक्तिहीन और अल्पायु सन्तति की उत्पत्ति होती है इस प्रकार काल एवं तिथियों का प्रभाव शिशु पर पड़ता है। अतएव गर्भाधान नियमवत् किया जाना चाहिए।

पुंसवन : पुंसवन से तात्पर्य है- जिस कर्म से पुत्र की उत्पत्ति हो।²⁶ अतः यह संस्कार पुत्र प्राप्ति के निमित्त किया जाता था।²⁷ शंख ने गर्भस्थ शिशु के कम्पन क्रिया से पूर्व इस संस्कार को करने का विधान किया है। याज्ञवल्क्य ने भी इस मत को स्वीकार किया है। जबकि अधिकांशतः स्मृतिकारों ने इस संस्कार को दूसरे²⁸ या तीसरे महीने²⁹ में करने का निर्देश दिया है।

ऐसा माना जाता है कि दूसरे-तीसरे महीने तक बच्चे का लिङ्ग निर्धारित नहीं होता। यह संस्कार लिङ्ग से पूर्व इसलिए किया जाता है, क्योंकि आयुर्वेद की दृष्टि से स्त्रीत्व अथवा पुंसत्व व्यक्त होने से पूर्व वेदोक्त कर्माँ का भलीभाँति प्रयोग करके लिङ्ग बदला जा सकता है। लिङ्ग उत्पत्ति का सूत्रपात होने के पश्चात् लिङ्ग का परिवर्तन करना कठिन है। कुछ धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों तथा आयुर्वेदीय ग्रन्थों में तो

वटवृक्षादि से निर्मित औषधि को गर्भिणी स्त्री के नासिका के दाहिने छिद्र में सुंघाने या डालने का निर्देश दिया गया है।³⁰ जो गर्भपात के निरोध तथा पुंसन्तति के जन्म अर्थात् गर्भस्थ शिशु व माता के संरक्षण एवं निरोगता की ओर संकेत करते हैं। सुश्रुत के अनुसार वटवृक्ष में ऐसे गुण हैं जिनमें गर्भकालीन समस्त कष्टों के निवारण की क्षमता है।

वस्तुतः हिन्दू समाज में पुत्र की उत्पत्ति को अत्यधिक महत्त्व दिया जाता था। उसे ही वंश को आगे बढ़ाने वाला तथा पिता के पिण्डदान का अधिकारी माना जाता था। इसलिये उसकी उत्पत्ति में किसी प्रकार की बाधा उपस्थित न हो, उपर्युक्त क्रियाओं को क्रियान्वित किया जाता था।

सीमन्तोन्नयन : गर्भवती स्त्री के बालों को सँवार कर बीच में से माँग निकालना 'सीमन्तोन्नयन' है।³¹ शंख ने इस संस्कार को गर्भ के छठे या आठवें महीने में सम्पन्न करने का विधान किया है।³² कुछ अन्य स्मृतिकारों का भी यही मानना है। यह संस्कार गर्भवती स्त्री को प्रसन्न रखने के लिए किया जाता था तथा इस समय गर्भ की रक्षा की प्रार्थना³³ की जाती थी, क्योंकि लोगों का ऐसा मानना था कि स्त्री के मन का प्रभाव गर्भस्थ शिशु पर पड़ता है तथा अनेक अदृश्य अमङ्गलकारी शक्तियाँ गर्भ को हानि पहुँचाने का प्रयत्न करती हैं।

आयुर्वेद के अनुसार गर्भकाल के पाचवें महीने में मन का निर्माण होने लगता है। शिशु की मानसिक शक्ति के उन्नयन के लिए भी यह संस्कार अपेक्षित है। अतः शिशु एवं गर्भवती स्त्री के कल्याण के निमित्त यह संस्कार अवश्य करना चाहिए।

जन्म के बाद शैशवावस्था के संस्कार

जातकर्म : यह संस्कार बालक के बुद्धि, आयु तथा बल की वृद्धि हेतु किया जाता था।³⁴ महर्षि शंख तथा कुछ अन्य स्मृतिकारों ने इसे बालक के जन्म पर करने का विधान किया है। जबकि मनु ने यह संस्कार पिता के द्वारा नाल काटने से पूर्व करने को कहा है। उनके अनुसार पिता सोने की शलाका पर घी तथा शहद लगाकर मन्त्रोच्चारण सहित बालक को चटाता था।

इसके अतिरिक्त एक अन्य विधि का भी वर्णन मिलता है कि सोने, चाँदी अथवा काँसे के बर्तन में शहद और घी रखकर सोने से मिलाकर उस शहद और घी को सोने की वस्तु से बच्चे को चटाया जाता था। उसके दोनों कानों पर सोना रखकर दोनों कानों के पास पवित्र मंत्रों का उच्चारण किया जाता था। उस बच्चे के दोनों

कानों का स्पर्श करके हृदय का स्पर्श किया जाता था। यहाँ उल्लिखित तीनों धातुएँ (सोना, चाँदी तथा काँसा) उत्तमकोटि की मानी जाती हैं जो सौन्दर्य की प्रतीक और मानसिक बुद्धि की संवर्धक हैं। घृत सौन्दर्य, मेधा तथा माधुर्य को बढ़ाने वाला, रोगनाशक, पाचनशक्ति, स्मृति, बुद्धि, तेज, वीर्य एवं आयुवर्धक है। मधु तथा स्वर्ण भी बालक के मानसिक विकास में सहायक हैं। इस संस्कार के विषय में ऐसा भी माना जाता था कि इस अवसर पर पुत्र का मुख देखने मात्र से पिता समस्त ऋणों से मुक्त हो जाता है।³⁵ अतएव यह संस्कार पिता एवं पुत्र दोनों के लिए कल्याणकारी है।

नामकर्म : नाम मनुष्य के व्यक्तित्व का परिचायक है। यह समस्त व्यवहार व भाग्य के उदय का हेतु है और इसके द्वारा ही मनुष्य समाज में कीर्ति को प्राप्त करता है। यहाँ तक कि मरणोपरान्त भी इसका सम्बन्ध मनुष्य से बना रहता है।³⁶ यह संस्कार शुभ और मंगल घड़ी में देवपूजन, हवन, आशीः कामना एवं ब्राह्मण भोजादि के साथ सम्पन्न किया जाता था।³⁷

महर्षि शंख ने अशौच बीत जाने अर्थात् सूतक से शुद्ध हो जाने पर नामकरण का विधान किया है। मनु ने बालक के जन्म से दसवें या बारहवें दिन अथवा शुभ तिथि, नक्षत्र, मुहूर्त में करने को कहा है। जबकि कुछ अन्य स्मृतिकारों ने जन्म से ग्यारहवें दिन तथा बारहवें अथवा सोलहवें दिन करने का विधान किया है।

सम्भवतः अशौच का समय भी प्रस्तुत दिन के आस-पास रहा होगा। ग्यारहवें अथवा बारहवें दिन में नाम रखने का कारण यह है कि नवजात शिशु के प्रारंभिक दस दिन बहुत ही नाजुक एवं आशंकाओं से भरे हुए होते हैं। इस अन्तराल में यदि शिशु का नामकरण कर लिया जाये और आपाततः उसकी मृत्यु हो जाये तो जनमानस में उस शब्द के प्रति बहुत ही घृणा आ जाएगी तथा उसे अशुभ माना जाने लगेगा। नाम चाहे स्त्री का रखा जाए या पुरुष का वह उच्चारण में सरल, स्पष्ट अर्थवाला, सुनने में सुखद व मङ्गलसूचक होना चाहिए। पुरुष के नाम के अन्त में "ह्रस्व अक्षर और स्त्री के नाम के अन्त में दीर्घ अक्षर होना चाहिए।³⁸ नाम वर्णानुसार ही रखा जाता था। ब्राह्मण का नाम कल्याणसूचक, क्षत्रिय का बलसूचक, वैश्य का अर्थसूचक और शूद्र का निन्दासूचक शब्दों से युक्त रखने का निर्देश दिया गया है।

इसके साथ ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र के नाम के अन्त में उपनाम क्रमशः शर्मा, वर्मा, गुप्ता एवं दास लगाने की व्यवस्था थी जो इस बात की ओर संकेत करते हैं कि विशिष्ट कुल में उत्पन्न बालक का स्थान व विशेषाधिकार समाज

में पहले से ही निश्चित हो जाते थे। अतएव बालक का नाम सौम्य, प्रेरणापद, सार्थक रखना चाहिए, कर्णकटु, निरर्थक नहीं।

आदित्य-दर्शन : बालक के जन्म के पश्चात् प्रथम बार घर से बाहर ले जाकर सूर्य का दर्शन करना 'आदित्य-दर्शन' या 'निष्क्रमण' संस्कार है। इसका उद्देश्य बालक को बाह्य जगत् से परिचित कराना, उसके

समुचित विकास के लिए शुद्ध वायु का सेवन कराना तथा नेत्रज्योति को बढ़ाना आदि था। शंख व कुछ अन्य स्मृतिकारों ने यह संस्कार जन्म के चौथे महीने में सम्पादित करने का विधान किया है।³⁹ जबकि यम ने चन्द्र-दर्शन को भी महत्त्व देते हुए, तीसरे महीने में सूर्य-दर्शन और चौथे महीने में चन्द्र-दर्शन करने का निर्देश दिया है।

इससे पूर्व बालक को घर से बाहर नहीं ले जाया जाता था। चतुर्थ मास में इस संस्कार को करने का कारण था, बालक की असहनशील त्वचा। चौथे मास से पूर्व अकस्मात् बाह्य वातावरण में निकालना या सूर्य के सम्पर्क में लाने से बच्चे के शारीरिक स्वस्थता पर कुप्रभाव हो सकता है। इसलिये चौथे महीने को ही बालक के लिए उपयुक्त माना गया। इस समय तक बालक के शरीर में वायु, सूर्य, चन्द्रमा की रोशनी को सहने की समर्थता आ जाती है। ज्योतिषशास्त्र के अनुसार इस संस्कार की सम्पन्नता में अमङ्गल तिथियों का त्याग करना चाहिए। इस संस्कार में सूर्य-दर्शन विशेष था। जो पिता के द्वारा कराया जाता था। लघ्वाश्वलायनस्मृति में इस संस्कार को सविधि वर्णित करते हुए कहा गया है कि संस्कार के समय पिता बालक को लेकर घर से बाहर जाए। अभ्युदय देने वाली 'नान्दीमुख' आदि श्राद्ध करके शिशु को गोद में लेकर 'स्वस्ति नौमि' इत्यादि सूक्त का पाठ करते हुए किसी मन्दिर में ले जाए।

इसके पश्चात् 'आशुः शिशानः' इत्यादि को पढ़ते हुए, उस शिशु को लेकर अपने घर जाए। तत्पश्चात् किसी शुभचिन्तक व्यक्ति के घर ले जाए अथवा सूर्य-दर्शन कराए। सूर्य के दर्शन कराते हुए **तच्चक्षुः** इस मन्त्र का पाठ करना चाहिये।⁴⁰ सूर्य के समक्ष बालक को लाया जाना इस बात को इंगित करता है कि इसमें सूर्य की प्रतिभा, पराक्रम तथा अनवरत गतिमत्ता की शक्ति का शुभागमन हो। अतः सूर्य-दर्शन शिशु के अभ्युदय (कल्याण) के लिए महत्त्वपूर्ण है।

अन्नप्राशन - बालक को जन्म के पश्चात् प्रथम बार अन्न खिलाना 'अन्नप्राशन' संस्कार कहलाता है। शंखादि स्मृतिकारों ने इसे छठे महीने में करने का विधान किया

है।⁴¹ साथ ही मनु ने इस संस्कार की सम्पन्नता में कुलाचार को भी मान्यता दी है। जिसका विधान शंख ने नहीं किया है।

यह संस्कार छठे महीने में इसलिए करने का विधान है, क्योंकि इस समय बालक का पाचनतंत्र कुछ मजबूत होकर अधिक क्रियाशील होने लगता है जिससे वह दूध के अतिरिक्त अन्य सुपाच्य आहार को पचाने में समर्थ हो जाता है।⁴²

इसलिये इस अवसर पर बालक को दूध, दही, मधु एवं घृतादि का भोजन खिलाया जाता था। लघ्वाश्वलायन ने तो सोने, चाँदी अथवा काँसे के पात्र में दूध, घी, शहद, दही एवं अन्न रखकर 'अन्नपतेऽन्नस्य' इस मंत्र से खिलाने को कहा है,⁴³ क्योंकि सोने, चाँदी, काँसे के पात्र शुभ माने जाते हैं तथा उनमें रखकर खिलाए जाने वाले सभी भोज्य पदार्थ पोषक तत्वों से युक्त हैं। जो बालक के शारीरिक व मानसिक विकास में सहायक है। आयुर्वेदशास्त्र के अनुसार दही, मधु एवं घृत में रोगनाशक शक्ति होती है। जो बालक को अनेक रोगों से बचाए रखती है। इस प्रकार प्रस्तुत संस्कार का उद्देश्य बालक की शरीर वृद्धि के लिए पवित्र, पौष्टिक, रोगनाशक, बलवर्धक भोजन देना था।

चूड़ाकर्म : यह 'चौलकर्म' या 'भुण्डन संस्कार' कहलाता है, जिसमें बालक के जन्म के बालों को कटवाकर शिखा रखने का विधान था। शिखा छोड़ने के कारण ही इस संस्कार को 'चूड़ाकर्म' कहा गया।⁴⁴ यह संस्कार बालक के दीर्घायु, सौन्दर्य और कल्याण प्राप्ति के उद्देश्य से किया जाता था।⁴⁵

महर्षि शंख व कुछ धर्म विचारकों ने इसे अपने-अपने कुल परम्परा के अनुसार करने का विधान किया है। जबकि मनु ने पहले अथवा तीसरे वर्ष में, विष्णु ने तीसरे वर्ष में, लघ्वाश्वलायन ने तीसरे वर्ष में, उत्तरायण में, शुभ महीने अथवा शुभ दिन सम्पन्न करने का निर्देश दिया है।

यह संस्कार बालक के स्वास्थ्य की दृष्टि से धर्मानुसार विधि-विधानपूर्वक सम्पन्न किया जाता था। बालक के बालों को ठण्डे एवं गर्म जल, मक्खन अथवा दही मिश्रित जल से तीन बार गीला करके मन्त्रपूर्वक पिता इस संस्कार का प्रारम्भ करता था और बाद में नाई इसको सम्पादित करता था। जो बाल बालक के निकलते थे, उसे नाई गोशाला, नदी अथवा तालाब के किनारे गाड़ देता था। तत्पश्चात् शिशु के सिर पर मक्खन लगाकर उसे स्नान कराया जाता था और उसे स्वच्छ वस्त्र धारण करवाये जाते थे। अन्त में अन्न से भरे हुए पात्र नाई को दे दिये जाते थे। वस्तुतः बालों को

थोड़े गर्म जल में भिगोना, मन्त्रपूर्वक दिव्य शक्तियों का आह्वान, सिर पर दही या मक्खन लगाना आदि सब क्रियायें बालक के स्वास्थ्य व रक्षा की दृष्टि से की जाती थी, जिससे बाल कटवाते हुए बालक को किसी प्रकार का कष्ट न हो।⁴⁶

इस संस्कार में शिखा को रखना विशेष था। जो कुलधर्म के अनुसार छोड़ी जा सकती थी, यथा-एक शिखा, तीन शिखा, पाँच शिखा की परम्परा थी।⁴⁷ यदि कोई मोह, द्वेष अथवा अज्ञान के कारण शिखा नहीं रखता था तो उन्हें प्रायश्चित्त व्रत करना पड़ता था। शिखा के बालों को सिर पर छोड़ने का मूल प्रयोजन था 'मस्तिष्क में विद्यमान शिराओं का समूह'। ऐसा माना जाता है कि मस्तिष्क में शिराओं का जो स्थान है वह अत्यन्त संवेदनशील है और वह ठीक शिखा के नीचे का भाग है। इस स्थान पर चोट करने से शीघ्र मृत्यु हो सकती है। अतएव उस स्थान की सुरक्षा के लिए शिखा को छोड़ा जाता था।⁴⁸

शैक्षणिक संस्कार

उपनयन - उपनयन से तात्पर्य है- 'बालक को शिक्षा प्राप्ति हेतु गुरु के समीप ले जाना।'⁴⁹ जिसका सम्बन्ध बालक के बौद्धिक उत्कर्ष से था। इस संस्कार से ही बालक की शिक्षा का सूत्रपात होता था और इसकी सम्पन्नता से बालक वर्ण अथवा समाज का सदस्य बनता था। इसके अभाव में वह शूद्र समझा जाता था। किन्तु इस संस्कार के सम्पादित होने पर वह 'द्विज' नाम से अभिहित किया जाता था। द्विज का अर्थ है दूसरा जन्म। बालक का प्रथम जन्म माता के गर्भ से तथा दूसरा जन्म आचार्य कुल में उपनयन से होता था। इस कारण आचार्य को ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य का 'पिता' तथा सावित्री को 'माता' कहा गया है। जो इस ओर संकेत करता है कि यह संस्कार मात्र द्विज (तीन वर्षों) का ही होता था, शूद्र का नहीं।

इसके पश्चात् ही बालक वेदाध्ययन का अधिकारी बनता था। वस्तुतः उपनयन का प्रधान उद्देश्य वेदाध्ययन ही था।⁵⁰ यह संस्कार ब्राह्मण बालक के जन्म से आठवें, क्षत्रिय के ग्यारहवें तथा वैश्य के बारहवें वर्ष में करने का विधान था। संस्कार की अधिकतम सीमा ब्राह्मण के लिए सोलह वर्ष, क्षत्रिय के लिए बाईस वर्ष और वैश्य के लिए चौबीस वर्ष निर्धारित की गयी थी।⁵¹

इस संस्कार के काल का अतिक्रमण हो जाने पर द्विज सावित्री पाठ के अधिकार से वंचित हो जाते थे। वे सावित्री पतित, व्रात्य और समाज में सब धर्मों से बहिष्कृत समझे जाते थे। इस नियम को बनाने के पीछे मनीषियों की यह धारणा रही

होगी कि सभी द्विज एक निश्चित कालावधि में शिक्षा को प्रारम्भ कर, देश के सांस्कृतिक उत्थान में सहायता करें, क्योंकि इस संस्कार के द्वारा बालक को अनुशासन व संयम की शिक्षा दी जाती थी तथा उसे

समाज के प्रति अपने कर्तव्यों से परिचित कराया जाता था। जिससे वह अपने कर्तव्यों का निर्वाह समुचित रूप से कर सके। इस अवसर पर विद्यार्थी को मेखला, वस्त्र एवं यज्ञोपवीत आदि धारण करने होते थे।

ब्राह्मण को मूँज से बनी हुई, क्षत्रिय को धनुष की प्रत्यञ्चा (मौर्वी की बनी) और वैश्य को सन की डोरी की मेखला पहननी होती थी। आचार्य ही उपनीत बालक के कमर पर मेखला बाँधता था। जो तिगुनी बराबर अर्थात् तिहरी बटी हुई होती थी, जिसका अभिप्राय था कि ब्रह्मचारी सदैव तीनों वेदों से आवृत्त रहता है। मेखला के समान वस्त्र भी तीनों वर्गों को क्रमशः मृग, व्याघ्र और बकरे की खाल के बने धारण करने होते थे। इसी प्रकार प्रत्येक वर्ण के ब्रह्मचारी को क्रमशः ढाक, पीपल और बेल की लकड़ी के बने दण्ड लेने पड़ते थे, जिसकी लम्बाई तीनों वर्गों के लिए पृथक् पृथक् थी। ब्राह्मण के लिए केशों के स्थान तक, क्षत्रिय के लिए मस्तक तक और वैश्य के लिए मुख तक पहुँचने वाले दण्ड का विधान था।⁵²

यहाँ व्यवहारिक रूप में दण्ड एक ओर सुरक्षा का तो दूसरी ओर यात्रा का प्रतीक था। जो ब्रह्मचारी को ज्ञानार्जन के दीर्घ तथा कठिन मार्ग को पार कर, उसे उसके लक्ष्य तक सुरक्षित पहुँचाने में सहायक था। इसलिये ब्रह्मचारी बालक के लिए दण्ड को अनिवार्य माना गया था। इसके साथ ही द्विज बालकों को विभिन्न प्रकार का यज्ञोपवीत, यथा-ब्राह्मण को कपास, क्षत्रिय को क्षुम (सन के बने सूत) और वैश्य को ऊन का पहनना होता था। प्रत्येक यज्ञोपवीत में तीन सूत्र और प्रत्येक सूत्र में नौ तन्तु होते हैं। प्रत्येक सूत्र सोलह अंगुल लम्बा होता है। ऐसा माना जाता है कि ये तीन सूत्र व्यक्ति को तीन ऋणों-ऋषिऋण, देवऋण एवं पितृऋण का स्मरण कराते रहते थे। जिससे वह यज्ञादि कार्यों से देवऋण, ज्ञानार्जन से ऋषिऋण तथा सन्तानोत्पत्ति से पितृऋण से मुक्त हो पाता था।⁵³

सामान्य रूप में मेखला, दण्डादि बालक के सरल जीवन की ओर संकेत करते हैं। इनके धारण करने से बालक का चित्त स्थिर, शुद्ध व उदात्त भावनाओं से संयुक्त हो, उत्तम कर्मों की ओर प्रेरित होता है जिससे उसके व्यक्तित्व का विकास होता था और वह अपने कर्तव्यों के प्रति सदैव सजग रहता था। बालक के द्वारा मेखलादि

धारण कर लेने के उपरान्त उसे सूर्य का दर्शन कराया जाता था। जो विद्यार्थी के अनुशासन, कर्तव्य परायणता और अविचलित स्वरूप का प्रतीक होता था। तदनन्तर आचार्य और विद्यार्थी परस्पर हृदय का स्पर्श करके अपनत्व का भाव व्यक्त करते थे। फिर आचार्य छात्र को पत्थर पर खड़ा करके ज्ञान प्राप्ति के प्रति दृढ़ निश्चयी तथा बल सम्पन्न होने का आशीर्वाद देते थे और हस्तग्रहण करके उसे शिष्य के रूप में स्वीकार करते थे। इसके बाद आचार्य शिष्य को सावित्री मंत्र के साथ उपदेश देता था सावित्री मंत्र बुद्धि और ज्ञान के उत्कर्ष का प्रमुख प्रेरक मंत्र है। जो बालक के आध्यात्मिक विकास में सहायक था। इन कार्यों के सम्पादन के पश्चात् विद्यार्थी को भिक्षा- याचना के लिए निर्देश दिया जाता था, जो उसकी नम्रता, सदाचारिता और परिश्रमपूर्वक जीविकोपार्जन की क्षमता का प्रतीक था। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य बालक क्रमशः आरम्भ, मध्य और अन्त में भवत् शब्द का प्रयोग करते हुए भिक्षा ग्रहण करते थे, यथा-ब्राह्मण-भवति भिक्षा देहि, क्षत्रिय-भिक्षा भवति देहि और वैश्य-भिक्षां देही भवति।⁵⁴

इस अवसर पर विद्यार्थी को जो भिक्षा मिलती थी, उसे वह आचार्य के चरणों में समर्पित करता था। उपनयन के पश्चात् ही आचार्य शिष्य को शौच, आधार, यज्ञकर्म और सन्ध्योपासना आदि का उपदेश देता था।⁵⁵ अतः स्पष्ट है कि हिन्दू समाज में जीवन को अनुशासित, सयमित और ज्ञानसम्पन्न बनाने में उपनयन का महत्त्वपूर्ण स्थान था। बालक के शिक्षा प्राप्ति के योग्य होने पर माता-पिता को यह संस्कार अवश्य करना चाहिए।

वेदारम्भ संस्कार - शंखस्मृति में इस संस्कार का नामोल्लेख नहीं मिलता, किन्तु तृतीय अध्याय के द्वितीय पद्य में उल्लिखित 'स गुरुर्यः क्रियां कृत्वा वेदमस्मै प्रयच्छति' अर्थात् वही गुरु होता है जो उपनयन सम्बन्धित क्रियाओं को करके बालक को वेद प्रदान करता है। जो तत्कालीन समय में इस संस्कार की विद्यमानता को स्पष्ट करता है। यह संस्कार उपनयन के पश्चात् बालक के वेदाध्ययन से प्रारम्भ होता था। गुरु की सार्थकता वेद प्रदान करने पर ही मानी जाती थी। गुरु की एक अन्य कोटि भी थी जिसे 'उपाध्याय' कहा जाता था,⁵⁶ क्योंकि वह शुल्क लेकर अध्यापन कराता था।

वेद का अध्ययन करना शिक्षा का प्रधान अंग था और छात्र का प्रमुख कर्तव्य था। शंख ने तो वेदाध्ययन से ही द्विजत्व को माना है। उनके अनुसार वेद का

अध्ययन करने पर ही बालक का दूसरा जन्म सिद्ध होता है अन्यथा वह शूद्र ही माना जाता है। छात्र वेद का आरम्भ प्रातः काल उठकर, स्नान करके, अग्नि में आहुतियाँ डालकर, शांतचित्त होकर, भक्तिपूर्वक गुरुजनों का अभिवादन करके, तदुपरान्त गुरु से आज्ञा लेकर, ब्रह्माञ्जलि बनाकर, नतमस्तक होकर, गुरु के मुख को निहारते हुए करता था।⁵⁷

व्यास के अनुसार शुभ दिन गुरु की अनुमति लेकर, मन्त्रों के द्वारा अग्नि में आहुतियाँ डालकर, ओंकार और गायत्री का स्मरण करके ऋग्वेदादि का आरम्भ करना चाहिए। वेदाध्ययन के आरम्भ और अन्त में 'ओम्' का उच्चारण करना अनिवार्य था, क्योंकि ऐसा माना जाता था कि जो छात्र आरम्भ और अन्त में 'ओम्' का उच्चारण नहीं करता, उसके द्वारा ग्रहण किया गया वेद का ज्ञान क्रमशः धीरे-धीरे नष्ट होता जाता है और स्थिर नहीं हो पाता है।⁵⁸ अतः यही संस्कार बालक को ज्ञान से युक्त कर उसके व्यक्तित्व का निर्माण करता था। उसे अन्य जीवों की अपेक्षा अलग पहचान प्रदान करता था। उसके बौद्धिक और आध्यात्मिक उत्कर्ष का मूल यह संस्कार ही था।

स्नान संस्कार : विद्याध्ययन की समाप्ति पर शिष्य का गुरु की आज्ञा से अपने घर लौटना 'समावर्तन' संस्कार है।⁵⁹ इसी को शखस्मृति में 'स्नान' संस्कार के नाम से अभिहित किया गया है, क्योंकि इस अवसर पर जल से स्नान की क्रिया अत्यधिक महत्त्वपूर्ण थी। स्नान किया हुआ वह शिष्य 'स्नातक' कहलाता था।⁶⁰ इस संस्कार को सम्पन्न करने के लिए कोई निश्चित आयु निर्धारित नहीं थी। इसकी अवधि तभी मानी जाती थी, जब ब्रह्मचारी बालक वेद का अध्ययन पूर्ण कर लेता था। वस्तुतः ब्रह्मचर्य आश्रम ही शिक्षा ग्रहण करने की अवधि थी। शिक्षा के पूर्ण होने पर ही स्नान अथवा समावर्तन किया जाता था।⁶¹ यह संस्कार किसी शुभ दिन सम्पन्न किया जाता था। शिष्य गुरु के साथ हवन करता था। वेदी के समीप जलयुक्त आठ कलश रखे जाते थे, जो आठ दिशाओं के प्रतीक थे। ब्रह्मचारी गुरु की आज्ञा से उन कलशों के जल से स्नान करता था और अपनी पवित्रता, ऐश्वर्य, यश एवं ब्रह्मतेजादि के लिए देवताओं से प्रार्थना करता था। स्नान के उपरान्त वह ब्रह्मचर्याश्रम के चिह्न स्वरूप मेखला, दण्ड, वस्त्रादि को त्यागकर नवीन वस्त्र को धारण करता था और सूर्य की स्तुति करता था।

तदनन्तर दही और तिल खाता था और अपने बाल, नाखूनादि को कटवाकर स्वच्छ हो जाता था। वह आचार्य द्वारा दिये गए सुन्दर अलंकार, पुष्प, पगड़ी, अञ्जन, छत्र, जूतादि वस्तुओं को धारण करता था। इस प्रकार विधिवत् स्नान कराकर गुरु शिष्य को उसके कल्याण के लिए उपदेश देता था। जो उसके भावी जीवन के लिए सदा उपादेय था। संस्कार सम्पन्न होने के बाद स्नातक आचार्य का कृतज्ञता-ज्ञापन करता था और दक्षिणा के रूप में धन देकर तत्पश्चात् स्नान अर्थात् शिक्षा का समापन करता था।⁶²

मनु के मत से वह अपने सामर्थ्य के अनुसार धन, सुवर्ण, भूमि, वस्त्रादि कुछ भी दे सकता था। अन्ततः वह गुरु के आशीर्वाद और अनुमति से घर की ओर प्रस्थान करता था। यह संस्कार इस बात का प्रतीक था कि छात्र की शिक्षा-दीक्षा समाप्त हो चुकी है और वह इतना योग्य हो गया है कि अपना, अपने परिवार और समाज के प्रति कर्तव्यों का समुचित निर्वाह कर सकता है।

विवाह संस्कार - भारतीय परम्परा में विवाह अत्यन्त पवित्र एवं महत्त्वपूर्ण संस्कार है। यही गृहस्थाश्रम का आधारस्तम्भ है। व्यक्ति परिवार और समाज के प्रति अपने नये दायित्वों का प्रारम्भ इस संस्कार से करता है। इसका प्रमुख उद्देश्य धार्मिक कृत्यों का सम्पादन, सन्तानोत्पत्ति व स्वाभाविक कामतृप्ति था। शखस्मृति में पत्नी को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि 'पत्नी वह है जो अपने पति के साथ यज्ञ में भागीदार हो, जो पति के व्रत वाली हो, जिसे पति प्राणों से भी अधिक प्यारा हो तथा जो सन्तान वाली हो।'⁶³

शतपथब्राह्मण में इसके महत्त्व को वर्णित करते हुए कहा गया है कि "जब तक पुरुष पत्नी को प्राप्त नहीं करता, जब तक प्रजा उत्पन्न नहीं करता तब तक वह अपूर्ण है।"⁶⁴ अतः यह संस्कार ही मानव के सम्पूर्ण जीवन व समाज की आधारशिला है। इसलिये महर्षि शंख ने शिक्षा समाप्ति के पश्चात् अपने प्रवर और गोत्र से भिन्न प्रवर और गोत्र वाली अथवा माता की पाँच पीढ़ी तथा पिता की सात पीढ़ी से परे वाली कन्या से विधिवत् विवाह करने का निर्देश दिया है।⁶⁵

स्मृतिकार मनु का भी यही मत है।⁶⁶ इस प्रकार ऐसी कन्या विवाह के लिए उत्तम मानी जाती थी। जो माता-पिता के प्रवर और गोत्र की न हो तथा माता के पाँच पीढ़ी और पिता की सात पीढ़ी तक की न हो। यहाँ गोत्र तथा प्रवर में भेद है। काणे महोदय के अनुसार गोत्र प्राचीनतम पूर्वज है या किसी व्यक्ति के प्राचीनतम

पूर्वजों में से एक है, जिसके नाम से युगों से कुल विख्यात रहा है, किन्तु प्रवर उस ऋषि या उन ऋषियों से बनता है जो अति प्राचीनतम रहे हैं, अत्यन्त यशस्वी रहे हैं और जो गोत्र ऋषि के पूर्वज या कुछ दशाओं में अत्यन्त प्रख्यात ऋषि रहे हैं।⁶⁷

अतः सगोत्र, सप्रवर और सपिण्ड (एक शरीर से उत्पन्न हुए या निकट रक्त सम्बन्धी) से विवाह का निषेध था, क्योंकि एक ही गोत्र वाले भाई-बहन माने जाते हैं तथा माता व पिता के क्रमशः पाँच व सात पीढ़ी तक सपिण्डता बनी रहती है। विवाह से पूर्व गोत्र एवं प्रवर के अतिरिक्त वर-वधू के कुल, गुण, योग्यतादि का विचार किया जाता था। शंख ने इनके विषय में कुछ नहीं कहा है, किन्तु मनु ने ऐसे दस कुलों से सम्बन्ध जोड़ने को मना किया है- जहाँ संस्कार न किये जाते हों, पुत्र की उत्पत्ति न होती हो, वेदाध्ययन न होता हो, सदस्यों के शरीर पर केश अधिक मात्रा में हो, जहाँ लोग बवासीर, क्षयरोग, अजीर्ण, मिर्गी, श्वेत कुष्ठ या किसी गलित कुष्ठ राग से पीड़ित हों तथा भूरे बालों वाली, अधिक अंगों वाली (यथा-छः अंगुलियों वाला), सदा रोगी रहने वाली, शरीर पर बहुत अधिक बालों वाली, अधिक बोलने वाली और भूरी-भूरी आँखों वाली कन्या से विवाह नहीं करना चाहिए। निर्दोष अंगों वाली, शुभ नाम वाली, हंस या गज की भांति चलने वाली, जिसके शरीर के बाल छोटे हों, जिसके दाँत छोटे- छोटे हों, जिसका शरीर कोमल हो, उससे विवाह करना चाहिए। यही गुण याज्ञवल्क्य ने भी बताये हैं।

इन्होंने ऐसी कन्या से भी विवाह करने का निषेध किया है जिसका भाई न हो क्योंकि ऐसा माना जाता है कि भ्रातृहीन पुत्री का पिता उसके विवाह के समय वर से यह तय कर लेता था कि उससे उत्पन्न पुत्र उसका (लड़की के पिता का) हो जाएगा और अपने नाना को पुत्र के समान पिण्डदान देगा। इसका प्रतिफल यह होता था कि इस प्रकार की लड़की का पुत्र अपने पिता को पिण्डदान नहीं करता था और न अपने पिता के कुल को चलाने वाला होता था। इसलिये भ्रातृहीन कन्या को विवाह के अयोग्य माना गया है। इन सभी तथ्यों का विचार कर विवाह सम्बन्ध स्थापित किया जाता था। समाज में आठ प्रकार के विवाहों का प्रचलन था-ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस और पैशाच। इनका वर्णन निम्न है-

(1) **ब्राह्म**: यह सर्वश्रेष्ठ विवाह माना जाता था। इस विवाह में कन्या का पिता योग्य वर को स्वयं आमन्त्रित करके कन्या का दान करता था।⁶⁸ मनु ने इसमें अलंकृत करके कन्यादान की बात कही है जबकि शंख ने ऐसा कोई विधान नहीं किया

है। सम्भवतः विवाह बिना किसी दहेज के साधारण विधि से होता था। ब्राह्मण के योग्य होने से यह ब्राह्म विवाह कहा गया। इस विवाह से विवाहित कन्या से उत्पन्न पुत्र अपने से पूर्व की दस व आगे बाले दस तथा अपने को अर्थात् इक्कीस पीढ़ियों के वंशजों को पाप से मुक्त कर देता है।

(2) **दैव:** पिता जब यज्ञ सम्पन्न करने वाले ऋत्विज् को अपनी कन्या देता था तो वह 'दैव विवाह' कहा जाता था।⁶⁹ देव सम्बन्धित यज्ञादि को करने वाले ऋत्विज के साथ विवाह करने से यह दैव विवाह कहलाया। उक्त विवाह से उत्पन्न पुत्र अपने से पूर्व और आगे वाले सात-सात पीढ़ियों को तथा अपने को अर्थात् पन्द्रह पीढ़ियों के वंशजों को पाप से मुक्ति दिला देता है।

(3) **आर्ष:** जब पिता वर से दो गाय लेकर कन्यादान करता था तो वह 'आर्ष विवाह' कहलाता था।⁷⁰ वर से दो गाय कन्या के विक्रय की भावना से नहीं अपितु नियम या धर्म के पालन हेतु ली जाती थी। इस विवाह को धर्मयुक्त विवाहों की श्रेणी में रखा जाना ही प्रस्तुत बात को सिद्ध करता है। दूसरी ओर स्मृतियों में विवाह में शुल्क ग्रहण करने की निन्दा की गई है। इसलिये दो गाय को लेना शुल्क नहीं माना जा सकता। वस्तुतः दो गाय को लेना आर्ष विवाह का अनिवार्य अंग था। ऋषि परम्परा के अनुरूप होने से इसका नाम 'आर्ष' हुआ। ऐसी मान्यता थी कि आर्ष विवाह से उत्पन्न पुत्र अपने से पूर्व और बाद के तीन-तीन पीढ़ियों तथा अपने को अर्थात् सात पीढ़ियों के वंशजों को पाप से मुक्त कर देता है।

(4) **प्राजापत्य :** इस विवाह में पिता वर तथा कन्या दोनों के लिए प्रार्थना करता था कि 'तुम दोनों साथ- साथ गृहस्थ धर्म का पालन करो। तत्पश्चात् वर को कन्या दी जाती थी।'⁷¹ इससे उत्पन्न पुत्र अपने से पूर्व और आगे वाले छः-छः पीढ़ियों तथा अपने को अर्थात् तेरह पीढ़ियों के वंशजों को पाप से छुड़ा देता है, ऐसी विचारणा है।

(5) **आसुर :** पिता के द्वारा वर पक्ष वालों से धन स्वीकार कर या वर कन्या पक्ष वालों को धन देकर अपनी इच्छानुसार कन्या से विवाह करता था तो वह 'आसुर विवाह' कहा जाता था।⁷² कुछ विद्वान् इस विवाह को कन्या का विक्रय मानकर, इसकी निन्दा करते हैं। बौधायन के अनुसार शुल्क देकर खरीदी गई स्त्री पत्नी न होकर दासी हो सकती है तथा शुल्क लेने व देने वाले घोर नरक के भागी होते हैं।⁷³ सम्भवतः निन्दा का कारण यही है कि इसमें धार्मिक विधि-विधान की अपेक्षा धन को अधिक महत्त्व दिया गया है।

(6) **गान्धर्व** - जब वर और कन्या स्वेच्छा से आपस में मिल जाते थे तो वह 'गान्धर्व विवाह' माना जाता था। जो परस्पर प्रेम का प्रतीक था।⁷⁴ धार्मिक विधि-विधानों से पूर्व ही संयुक्त होने के कारण उसे 'गान्धर्व' नाम दिया गया।

(7) **राक्षस** - युद्धपूर्वक कन्या का बलात् हरण करके, जो विवाह किया जाता था, वह राक्षस नाम से जाना जाता था।⁷⁵ यहाँ युद्ध से अभिप्राय कन्यापक्ष के लोगों के साथ अत्यधिक मार-पीट करने, तोड़-फोड़ करके रोती-चिल्लाती हुई कन्या को बलपूर्वक उठा लेने से है। इस प्रकार से हरण करना राक्षस प्रवृत्ति है। सम्भवतः इसी कारण इसका नाम 'राक्षस विवाह' पड़ा। धर्मग्रन्थों में इस विवाह को पराक्रम का प्रतीक मानते हुए, क्षत्रिय के लिए प्रशंसनीय माना है।

(8) **पैशाच**: कन्या से जब छलपूर्वक सम्भोग किया जाता था तो वह 'पैशाच विवाह' कहलाता था।⁷⁶ मनु के अनुसार सोई हुई, मदिरा से उन्मत्त तथा स्वयं की रक्षा करने में प्रमादयुक्त कन्या के साथ सम्भोग करना पैशाच विवाह है। यह अत्यन्त ही निकृष्ट विवाह माना जाता था। इसलिये धर्मज्ञों ने इसका निषेध किया है। लेकिन इसे विवाह की श्रेणी में रखकर निश्चय ही धर्मज्ञों ने स्त्री व उसकी सन्तान को समाज में पैशाचकृत्य के अभिशाप से बचाने का प्रयास तथा सम्मानपूर्वक जीने का अवसर प्रदान किया था। सम्भवतः पैशाच इसे इसलिए कहा गया, क्योंकि पैशाच जन अप्रत्यक्ष रूप से ऐसा करने वाले माने गये हैं।

उपर्युक्त आठ प्रकार के विवाहों में से प्रथम चार विवाह-ब्राह्म, दैव, आर्ष एवं प्राजापत्य धर्मसंगत माने गये थे और ब्राह्मण के लिए विहित थे। गान्धर्व एवं राक्षस विवाह क्षत्रिय के लिए उत्तम माने गये थे तथा अन्तिम पैशाच विवाह सबसे निकृष्ट माना गया था। आसुर के विषय में कुछ नहीं कहा गया है, न ही वैश्य और शूद्र के लिए विवाह का प्रकार निश्चित किया गया है।⁷⁷ जबकि मनु ने ब्राह्मण के लिए छः विवाह-ब्राह्म, दैव, आर्ष, प्राजापत्य, आसुर एवं गान्धर्व, क्षत्रिय के लिए चार विवाह-आसुर, गान्धर्व, पैशाच एवं राक्षस, वैश्य और शूद्र के लिए तीन प्रकार के विवाह-आसुर, गान्धर्व एवं पैशाच का विधान किया है। इनमें भी पहले चार ब्राह्मण के लिए, क्षत्रिय के लिए राक्षस तथा वैश्य और शूद्र के लिए आसुर विवाह को प्रशंसनीय माना है। इसके अतिरिक्त मनु ने ब्राह्म, दैव और आर्ष के बाद के पाँच विवाहों-प्राजापत्य, आसुर, गान्धर्व, राक्षस तथा पैशाच में से प्राजापत्य, गान्धर्व और राक्षस को धर्मयुक्त और पैशाच तथा आसुर को अधर्मयुक्त माना है। इसलिये मनुष्य को सर्वथा

धर्मयुक्त विवाह करना चाहिए, अधर्मयुक्त विवाह नहीं करना चाहिए। इसका कारण यह है कि धर्मयुक्त व अधर्मयुक्त विवाह का प्रभाव सन्तान पर पड़ता है। धर्मयुक्त विवाह से उत्तम गुणों से युक्त तथा अधर्मयुक्त विवाह से दोषयुक्त सन्तान उत्पन्न होती हैं। धर्मयुक्त विवाह से उत्पन्न सन्तान ही अपने वंशजों का कल्याण करने वाली होती है। यही बात याज्ञवल्क्य ने भी कही है।⁷⁸ अतः परिवार, समाज व कुल का कल्याण गुणवती स्त्री से धर्मयुक्त विवाह संस्कार द्वारा ही सम्भव है।

शंखस्मृति में विवाह विषयक स्त्री-पुरुष की किसी निश्चित आयु का विधान नहीं मिलता, किन्तु अध्ययन से स्पष्ट होता है कि पुरुष का विवाह विद्याध्ययन की समाप्ति के पश्चात् अर्थात् युवा होने पर होता था। स्त्री के विवाह की आयु के विषय में कोई संकेत नहीं मिलता। जबकि मनुस्मृति में स्त्री के विवाह की आयु का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है। कहा गया है कि तीस वर्ष की अवस्था वाला व्यक्ति बारह वर्ष की अवस्था वाली कन्या के साथ विवाह करे अथवा जो इससे पूर्व चौबीस वर्ष की अवस्था में विवाह करना चाहता है वह आठ वर्ष की कन्या के साथ विवाह करे।⁷⁹ जो स्त्री के 'बाल विवाह' की ओर संकेत करता है। सम्भवतः शंख ने मनु विहित स्त्री की विवाह आयु को ही स्वीकार कर लिया हो तभी तो उन्होंने स्त्री की आयु के विषय में कुछ नहीं कहा है।

शंखस्मृति में विधिवत् विवाह का निर्देश दिया गया है, किन्तु विवाह-विधि का कहीं भी वर्णन उपलब्ध नहीं होता है। एक स्थान पर 'पाणिग्रहण' विवाह-क्रिया का उल्लेख अवश्य प्राप्त होता है, जो सवर्ण (सजातीय) विवाह के प्रसंग में आया है। अतः विवाह परम्परागत विधि-विधान के अनुसार ही सम्पन्न होता रहा होगा। हिन्दू धर्म-ग्रन्थों में विवाह में अपनायी जाने वाली विभिन्न क्रियाओं का उल्लेख मिलता है, यथा-वधूवर-गुण परीक्षा, वर प्रेषण (कन्या के लिए बातचीत करने के लिए लोगों को भेजना), वाग्दान (विवाह तय करना), मण्डपकरण (विवाह के लिए पण्डाल बनाना), नान्दीश्राद्ध एवं पुण्याहवाचन, वधूगृहगमन (वर का बारात के रूप में वधू के घर जाना), मधुपर्क (वधू के घर में वर का स्वागत), स्नापन, परिधान एवं सन्नहन (वधू को स्नान कराना, नया वस्त्र देना, उसकी कटि में धागा या कुश की रस्सी बाँधना), समञ्जन (वर एवं वधू को उबटन लगाना), प्रतिसरबन्ध (वधू के हाथ में कंगन बाँधना), वधूवर-निष्क्रमण (घर के अन्तः कक्ष से वर एवं वधू का मण्डप में आना), परस्पर-समीक्षण (एक-दूसरे की ओर देखना), कन्यादान (वर को कन्या देना),

अग्निस्थापन एवं होम (अग्नि की स्थापना करना एवं अग्नि में आज्य की आहुतियाँ डालना), पाणिग्रहण (कन्या का हाथ पकड़ना), लाजाहोम (कन्या द्वारा अग्नि में धान के लावे (खीलों) की आहुति देना), अग्निपरिणयन (वर-वधू को लेकर अग्नि एवं कलश की प्रदक्षिणा करना), अश्मारोहण (वधू को पत्थर पर चढ़ाना), सप्तपदी (वर एवं वधू का साथ-साथ सात पग चलना), मूर्धाभिषेक (वर-वधू के सिर पर जल छिड़कना), सूर्योदीक्षण (वधू का सूर्य की ओर देखना), हृदयस्पर्श (मन्त्र के साथ वधू के हृदय का स्पर्श), प्रेक्षकानुमन्त्रण (नव विवाहित दम्पती की ओर संकेत करके दर्शकों को सम्बोधित करना), दक्षिणादान (आचार्य को भेंट), गृह-प्रवेश (वर के घर में प्रवेश), गृहप्रवेशनीय होम (वर के घर में प्रवेश करते समय होम), धुवारुन्धती-दर्शन (विवाह के दिन वधू को ध्रुव एवं अरुन्धती तारे का दर्शन कराना), आग्नेय स्थालीपाक (अग्नि को पक्वान्न की आहुति देना), त्रिरात्रव्रत (विवाह के उपरान्त तीन रात्रियों तक कुछ नियम पालन), चतुर्थीकर्म (विवाह के उपरान्त चौथी रात्रि का कृत्य), सीमान्त पूजन (वधू के ग्राम पर वर एवं बारात का स्वागत), हर-गौरी-पूजा, इन्द्राणी-पूजा (इन्द्र की रानी की पूजा), तैल-हरिद्रारोपण (वधू के शरीर पर तेल एवं हल्दी के लेप के उपरान्त बचे हुए भाग से वर के शरीर का लेपन), मंगलसूत्र-बन्धन, उत्तरीयप्रान्त-बन्धन (वर एवं वधू के वस्त्र के कोने में हल्दी एवं पान बाँधकर दोनों कोनों को एक में बाँधना अर्थात् गठबन्धन) देवकोत्थापन एवं मण्डपोद्वासन (बुलाये गये देवी-देवताओं से विदा लेना तथा मण्डप को हटाना) आदि।⁸⁰

बहुपत्नी विवाह - समाज में एक से अधिक पत्नी रखने की प्रथा थी। जो चारों वर्गों के लिए पृथक् पृथक् थी। ब्राह्मण तीन, क्षत्रिय दो तथा वैश्य और शूद्र एक-एक पत्नी रख सकते थे। ब्राह्मण को क्रम से-ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य कन्या से, क्षत्रिय को-क्षत्रिय एवं वैश्य कन्या से, वैश्य को मात्र वैश्य कन्या से तथा शूद्र को शूद्र कन्या से ही विवाह करने का विधान था। द्विज के लिए आपत्काल में भी शूद्र कन्या से विवाह करने का निषेध था,⁸¹ क्योंकि उस शूद्र पत्नी से जो सन्तान उत्पन्न होती थी, उसके लिए कोई प्रायश्चित्त नहीं है। यदि कोई तपस्वी, यज्ञशील, धर्म का पालन करने वाला है तो भी वह ऐसे शूद्र कन्या से उत्पन्न होने वाले पुत्र से तेरह श्राद्ध प्राप्त हो जाने पर निश्चित रूप से शूद्रत्व को प्राप्त हो जाता है। वे सभी सपिण्डजन भी जिनका कुलपरम्परा के अनुसार ऐसे शूद्र कन्या से उत्पन्न होने वाले पुत्र के द्वारा श्राद्ध किया

जाता है, भले ही उन्होंने अपने कर्मों से स्वर्ग को भी जीत लिया हो, सब के सब शूद्रत्व को प्राप्त हो जाते हैं।

यहाँ तक कि अपने मृत सम्बन्धी के लिए कुल परम्परा के अनुसार बारह मासिक श्राद्ध करने के पश्चात् जब तेरहवें श्राद्ध की उपस्थिति होती है तो शूद्र कन्या से उत्पन्न पुत्र उस श्राद्ध को भी करने का अधिकारी नहीं है। इसलिये शूद्र कन्या से विवाह करने का निषेध किया गया था। जबकि मनु ने वर्गों के लिए सवर्ण विवाह को श्रेष्ठ माना है और यह व्यवस्था भी दी है कि वे कामवश अन्य वर्गों की स्त्रियों से विवाह कर सकते हैं, यथा-ब्राह्मण वर्णानुक्रम से चार-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र कन्या से, क्षत्रिय तीन-क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र कन्या से, वैश्य दो-वैश्य एवं शूद्र कन्या से तथा शूद्र एक-शूद्र कन्या से विवाह कर सकता है। साथ ही उन्होंने यह विधान भी किया है कि आपत्काल में भी किसी द्विजाति को मोहवश शूद्र जाति की स्त्री से विवाह नहीं करना चाहिए। यदि ऐसा करता है तो वह अपनी सन्तान सहित कुलों को भी शूद्रत्व प्राप्त करा देता है। इसलिये द्विजमात्र को शूद्र कन्या के साथ विवाह कदापि नहीं करना चाहिए। यद्यपि समाज में अनुलोम विवाह (अपने वर्ण से निम्न वर्ण की कन्या से विवाह करना) मान्य था तथापि उनसे उत्पन्न सन्तान को वर्णसंकर माना जाता था। सम्भवतः समाज में अपने से निम्न वर्ण में विवाह करना उत्तम नहीं माना जाता रहा होगा, तभी तो धर्मज्ञों ने इस प्रकार का नियम बनाया, जिससे वर्णसंकरता को रोका जा सके। अतएव समाज में सवर्ण विवाह को ही उत्तम माना जाता था।

इस प्रकार संस्कार मानव जीवन के क्रमिक विकास की ऐसी धार्मिक क्रियाये हैं जो समय-समय पर नियमवत् किये जाने से अनेक दोषों का परिहार कर, सगुणों का संचार करती है। जिससे व्यक्ति का जीवन व्यवस्थित व अनुशासित होता है और वह समाज में अनेक कर्मों का सम्पादन करते हुए अपने जीवन को सुखमय बनाने में समर्थ होता है।

2. आश्रमव्यवस्था की अवधारणा

प्राचीनकाल में हिन्दू संस्कृति एवं समाज का अविभाज्य अंग 'आश्रमव्यवस्था' थी। भारतीय चिन्तकों ने मानव जीवन के क्रमिक विकास हेतु इसकी नियोजना की थी। जो सम्पूर्ण समाज के लिए नियमित एवं संयमित जीवन का मार्ग प्रशस्त करते हुए, उसे जीवन के आध्यात्मिक लक्ष्य की ओर अग्रसर करती थी। इसमें ज्ञान-विज्ञान,

कर्म-धर्म, भोग-त्याग का अद्भुत समन्वय था। व्यक्ति सश्रम अपने सात्त्विक, शुद्धाचरित एवं योगमय आदर्शयुक्त मार्ग का अनुसरण करते हुए क्रमानुसार एक आश्रम से होते हुए अन्तिम आश्रम में पहुँचकर चरम लक्ष्य (मोक्ष) की प्राप्ति करता था। अतएव आश्रमव्यवस्था का प्रधान उद्देश्य मानव के लौकिक एवं पारलौकिक जीवन को सुखमय एवं आनन्दमय बनाना था।

आश्रम शब्द की व्युत्पत्ति एवं अर्थ

आश्रम शब्द 'आङ्' उपसर्गपूर्वक 'श्रम्' धातु से 'घञ्' प्रत्यय लगाकर निष्पन्न हुआ है, जिसका सामान्य अर्थ है- कुटी, पर्णशाला, संन्यासियों का आवास स्थान या धर्मसंघ। अर्थात् वनों में वह स्थान जहाँ ऋषि-मुनि कुटिया बनाकर रहते और तपस्या करते थे।⁸² "आ श्राम्यन्ति अस्मिन् इति आश्रमः"⁸³ इस व्युत्पत्ति के अनुसार आश्रम से अभिप्राय जीवन की ऐसी अवस्थाओं से, जिनमें मनुष्य परिश्रम करता है अथवा उन क्रियाओं से, जिनमें श्रम किया जाए। पी.एन. प्रभु ने इसका अर्थ-विश्राम-स्थल' किया है, क्योंकि इसमें व्यक्ति श्रमपूर्वक प्रत्येक आश्रम के कार्य सम्पन्न करने के उपरान्त ही आगामी आश्रम के लिए सन्नद्ध होता था।⁸⁴

जीवन की ये चार अवस्थायें या विश्राम स्थल थे- ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास। इनमें मनुष्य धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष की प्राप्ति हेतु क्रमशः चार प्रकार से श्रम करता था-अध्ययनात्मक, सर्जनात्मक, तपस्यात्मक एवं योगात्मक। वस्तुतः आश्रम की यह सम्पूर्ण योजना श्रमयुक्त थी, जो मनुष्य के जीवन को परिश्रम के आधार पर विकसित करती हुई उसके जीवन के अन्तिम लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति में विश्राम स्थल के रूप में कार्य करती थी। महाभारत⁸⁵ में कहा गया है कि जीवन के चार आश्रम चार विकास की सीढ़ियों के दण्ड हैं। जिनसे जीवन यात्रा में ऊपर चढ़ता हुआ मनुष्य परमपद की प्राप्ति कर लेता है। जो मानव जीवन का चरम लक्ष्य है।

आश्रमों का उद्भव एवं विकास

यद्यपि वैदिक संहिताओं में 'आश्रम' शब्द उपलब्ध नहीं होता तथापि आश्रमों का उद्भव वैदिककाल से माना जा सकता है। जहाँ पर आश्रमसूचक शब्दों की चर्चा हुई है। वैदिकग्रन्थों में ब्रह्मचारी, गृहपति एवं मुनि शब्द प्राप्त होते हैं। इनमें 'वानप्रस्थ' के विषय में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता, किन्तु ताण्ड्यमहाबाह्मण में उपलब्ध 'वैखानस' शब्द को 'वानप्रस्थ' का समानार्थक मान सकते हैं, क्योंकि कुछ धर्मसूत्रों में वानप्रस्थ के लिए वैखानस शब्द का प्रयोग किया गया है। ऐतरेयब्राह्मण के एक पद्य

में वर्णित 'अजिन' (मृगचर्म), मल (सम्भवतः सम्भोग), 'श्मश्रूणि' (दाढ़ी) एवं 'तप' शब्द भी क्रमशः ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास की ओर संकेत करते हैं। सायण ने स्वयं एक स्थल पर ऐतरेयब्राह्मण की व्याख्या करते हुए कहा है कि वहाँ चारों आश्रमों का विवेचन किया गया है। जो वैदिककाल में आश्रमों की स्थिति को अभिव्यक्त करते हैं।

उपनिषद् साहित्य में प्राप्त अनेक वर्णन तत्कालीन आश्रम व्यवस्था के वाचक हैं। बृहदारण्यकोपनिषद् के कुछ स्थलों पर गृहस्थ से प्रव्रज्या धारण करने का उल्लेख मिलता है। मुण्डकोपनिषद् में ब्रह्मचारी की भिक्षावृत्ति के वर्णन के अतिरिक्त संन्यास शब्द भी आया है। छान्दोग्योपनिषद् में धर्म की तीन शाखायें वर्णित हैं, जिनमें से प्रथम में यज्ञ, अध्ययन व दान, द्वितीय में तप तथा तृतीय में आचार्य कुल में वास करने का उपदेश दिया गया है। जो क्रमशः गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं ब्रह्मचर्य आश्रम को द्योतित करती हैं। जाबालोपनिषद्⁸⁶ में तो चार आश्रमों का स्पष्ट उल्लेख हुआ है। अतः उपनिषद्काल तक आश्रमों का प्रचलन हो चुका था।

सूत्रकाल में यह व्यवस्था अपने व्यवस्थित रूप में प्रतिष्ठित हुई। इसी काल में प्रत्येक आश्रम के लिए पृथक् पृथक् नियमों एवं कर्तव्यों का विधान किया गया। यद्यपि धर्मसूत्रों में चार आश्रमों का उल्लेख है तथापि उनके नाम एवं अनुक्रम में भेद मिलता है। गौतमधर्मसूत्र में ब्रह्मचारी, गृहस्थ, भिक्षु एवं वैखानस का वर्णन किया गया है। आपस्तम्बधर्मसूत्र⁸⁷ में गृहस्थ, आचार्यकुल, मौन तथा वानप्रस्थ का उल्लेख है, जिनमें आचार्यकुल व मौन का तात्पर्य क्रमशः ब्रह्मचर्य व संन्यास आश्रम से है। वसिष्ठधर्मसूत्र में ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ व परिव्राजक इन चार आश्रमों की गणना की गई है। इसी धर्मसूत्र के एक अन्य स्थल पर प्रयुक्त 'यति' शब्द चतुर्थ आश्रम का वाचक है। अन्य धर्मसूत्रों में भी इसी प्रकार आश्रमों की चर्चा की गई है। यहाँ पर उद्धरणों से स्पष्ट है कि संन्यास से सम्बन्धित व्यक्तियों को विभिन्न नामों से सम्बोधित किया जाता था-भिक्षु, मुनि, परिव्राजक या परिव्राट् एवं यति। जीवनवृत्ति के रूप में भिक्षा ग्रहण करने वाले को 'भिक्षु', जीवन-मृत्यु के रहस्यों पर विचार-विमर्श करने में लगे हुए को 'मुनि', किसी एक स्थान पर न ठहरकर सर्वत्र विचरण करने वाले को परिव्राजक या परिव्राट् तथा इन्द्रियों का निग्रह कर संयमित जीवन व्यतीत करने वाले को 'यति' के रूप में जाना जाता था।⁸⁸

स्मृतिकाल तक यह व्यवस्था पूर्ण विकसित हो चुकी थी। इस काल में सभी आश्रमों को एक निश्चित क्रम में निर्धारित कर, आश्रमवासियों के धर्म-कर्मों की विस्तृत व्याख्या की गई थी। स्मृति साहित्य में सर्वप्रथम मनुस्मृति में ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास का विशद् वर्णन उपलब्ध होता है। तत्पश्चात् शखस्मृति और अन्य स्मृतियों में इसका उल्लेख मिलता है।

इस प्रकार अध्ययन से स्पष्ट होता है कि वैदिककाल में इसके विभाजन का प्रारूप नहीं बना था, लेकिन व्यवहारिक रूप में इसका स्थान अवश्य था। इसका सैद्धान्तिक एवं व्यवस्थित स्वरूप उपनिषदों के रचना के समय से प्रारम्भ होकर सूत्रकाल तक होता रहा और स्मृतिकाल में यह पूर्ण विकसित अवस्था में स्थापित हुई। साथ ही यह भी ज्ञात होता है कि प्रारम्भ में तीन आश्रम थे-ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ (मुनि)। वानप्रस्थ एवं संन्यास को एक ही आश्रम के अन्तर्गत रखा गया था, क्योंकि दोनों का आधार आध्यात्म था और लक्ष्य सत्य की खोज तथा मोक्ष प्राप्ति था। सम्भवतः इसीलिए दोनों में भेद करना उचित नहीं समझा गया। बाद में चतुर्विध विभाजन हुआ अतएव प्राचीनकाल से ही इसे द्विज के व्यक्तिगत जीवन का अनिवार्य अंग माना गया था।

भारतीय मनीषियों ने मानव जीवनावधि को सौ वर्षों का मानकर (शतायुवैपुरुषः) उसके जीवनकाल की चार अवस्थाओं-बाल्यकाल, युवावस्था, प्रौढ़ावस्था एवं वृद्धावस्था के सुचारु रूप से विकास के लिए पच्चीस-पच्चीस वर्ष का समय निर्धारित किया और इन चार अवस्थाओं को क्रमशः ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास के नाम से अभिहित किया गया, जिन्हें 'आश्रम' कहते हैं। इन सभी आश्रमों के कार्य धर्मबद्ध और नियमबद्ध थे। कब शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए, कब व्यक्ति को गृहस्थ बनना चाहिए और कब उसे त्याग तथा उदासीनता का जीवन व्यतीत करना चाहिए। वस्तुतः इनकी व्यवस्था पूर्ण मनोवैज्ञानिक ढंग से की गई थी।⁸⁹ जिनके पालन द्वारा मनुष्य के व्यक्तित्व का उत्तरोत्तर विकास होता था।

ब्रह्मचर्याश्रम, जो जीवनरूपी भवन की नींव था। इसमें बालक अधिकाधिक बौद्धिक, शैक्षणिक एवं शारीरिक विकास कर सकता था। वहीं बालक की शारीरिक एवं मानसिक शक्तियाँ विकृत न हो जाएँ, इसलिये प्राचीन विचारकों ने ब्रह्मचारी के प्रति उपनयन से पच्चीस वर्ष पर्यन्त कठोर व्रत, तप एवं संयमित जीवन व्यतीत करने का निर्देश दिया। ब्रह्मचारी इनका पालन कर धर्म की प्राप्ति करता था। गृहस्थाश्रम में

मनुष्य को सामान्यतः पच्चीस से पचास वर्ष तक का समय दिया गया था। इस आश्रम में वह अपनी धर्मपत्नी के सहयोग से अर्थ एवं काम को प्राप्त करता था। वह सन्तानोत्पत्ति, अतिथि सेवा, यज्ञ और धन आदि प्राप्त करने के लिए कार्य करता था। पञ्चमहायज्ञ के माध्यम से देव, ऋषि एवं पितृऋण से उऋण होने का प्रयत्न करता था। पचास से पिचहत्तर वर्ष तक मनुष्य की शारीरिक एवं मानसिक शक्तियों में परिवर्तन होता है। वह विषय भोग, मोह-ममता से विमुख होने लगता है। वह ब्रह्मचर्याश्रम में अर्जित शक्तियों का जो कि गृहस्थाश्रम में क्षीण हो जाती है, उन्हें पुनः प्राप्त करना चाहता है। इसके लिए वह जप, तप, व्रत, यज्ञ, स्वाध्याय, संयम एवं धार्मिक उपदेशों का सहयोग लेकर, वानप्रस्थ बनकर संन्यास (मोक्ष) की ओर प्रवृत्त होता है।

पिचहत्तर वर्ष से लेकर मृत्युपर्यन्त मनुष्य अनुभव करता है कि अब उसे सर्वस्व त्यागकर लोकोपकार एवं भगवद् भजन आदि श्रेष्ठ कार्यों में मन लगाना चाहिये, जिससे उसका जीवन सार्थक हो सके। अतः वह चित्तवृत्तियों का संयमन करके लोकोपकारी बन संन्यासी हो जाता था। इस प्रकार पूर्ण मनोवैज्ञानिक क्रम से विकास की प्रक्रिया चलती थी।

महत्त्व की दृष्टि से चारों आश्रमों का सापेक्षित महत्त्व था। प्रत्येक आश्रम अपने पूर्व के आश्रम से व्यवहारिक दृष्टि से सम्बद्ध था। एक के बिना दूसरे का विकास समुचित रूप से सम्भव न था। बिना धर्म साधना के अर्थ और काम का क्षेत्र पूर्ण नहीं हो सकता और बिना इनकी पूर्ति के मानव सन्तुष्ट नहीं हो सकता। अतएव इनके अभाव में वानप्रस्थाश्रम का धर्म-इन्द्रिय-निग्रह का निर्वाह नहीं हो सकता। इसी प्रकार जब तक उसकी चित्तवृत्तियों का पूर्णतया निरोध न हो या उसकी सम्पूर्ण कामनाओं की पूर्ति न हो तब तक वह संन्यास (मोक्ष) की ओर अग्रसर नहीं हो सकता। इस प्रकार अपने-अपने स्थान पर चारों आश्रम पूर्णतया युक्तिसंगत थे, किन्तु गृहस्थाश्रम को शेष आश्रमों की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया गया था, क्योंकि पुरुषार्थ, यज्ञ, ऋण तथा संस्कार, जिन्हें आश्रमव्यवस्था का आधार माना गया था उनका निर्वाह एक साथ गृहस्थाश्रम में ही सम्भव था। ब्रह्मचर्य में तो केवल धर्म की साधना होती थी, वानप्रस्थ में मोक्ष की तैयारी करता था तथा संन्यास में ब्रह्मतत्त्वमय हो जाता था। जबकि गृहस्थाश्रम में वह लगभग समस्त आधारों को साध लेता था।

वस्तुतः चतुर्विध पुरुषार्थों धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष की प्राप्ति क्रमशः चारों आश्रमों-ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं सन्यास के पूर्णरूपेण पालन से होती थी। कापड़िया ने उचित लिखा है-"पुरुषार्थ के सिद्धान्त की वास्तविक अभिव्यक्ति हिन्दू आश्रम की योजना में की गई है।⁹⁰ ये ही पुरुषार्थ आश्रम व्यवस्था के मनोनैतिक आधार हैं।⁹¹ जिनसे मनुष्य के व्यक्तित्व का निर्माण, सामाजिक और आध्यात्मिक उन्नति होती है।

आश्रमव्यवस्था का समाज से घनिष्ठ सम्बन्ध था। समाज में रहकर ही व्यक्ति इस व्यवस्था के अन्तर्गत अपने समस्त दायित्वों का पूर्णरूप से निर्वाह करता था। समाज भी उनके प्रति भोजन, वस्त्र, ज्ञान आदि की व्यवस्था कर अपना उत्तरदायित्व पूर्ण करता था, जिससे व्यक्ति अपने जीवन को अनुशासित, संयमित व नियमित बनाकर अपना तो सर्वाङ्गिण विकास करता ही था। साथ ही वह अपने सामाजिक कर्तव्यों के प्रति सचेष्ट होकर समाज के कल्याण कार्यों में संलग्न रहता था और व्यक्ति तथा समाज के मध्य सामञ्जस्य बना रहता था। जो इसकी महत्ता को स्वतः स्पष्ट करता है।

ब्रह्मचर्याश्रम -

जीवन के विकास का प्रथम सोपान 'ब्रह्मचर्याश्रम' था। व्यक्ति की शिक्षा, मानसिक परिपक्वता, बौद्धिक निपुणता, नैतिक एवं चारित्रिक उत्थान के निमित्त इस आश्रम की व्यवस्था की गई थी। व्यक्ति ब्रह्मचर्यपूर्वक इसका पालन करता था। 'ब्रह्मचर्य' शब्द 'ब्रह्म' उपपद रहते 'चर्' गतौ धातु से 'यत्' प्रत्यय लगने पर निष्पन्न हुआ है। ब्रह्म का अर्थ 'वेद' या 'महान' तथा 'चर्य' का अर्थ 'विचरण' या 'अनुसरण' करना है। अतएव वेद के अध्ययन के लिए लिया जाने वाला व्रत 'ब्रह्मचर्य' है और तदनुकूल नियमों या व्रतों के पालन करने वाले को 'ब्रह्मचारी' कहा जाता था।⁹² ब्रह्मचारी के लिए इस आश्रम का प्रारम्भ उपनयन संस्कार से होता था। यह संस्कार मात्र द्विज वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य) का ही होता था शूद्र का नहीं। इसलिये एक द्विज के लिए इस आश्रम का विधान था।

प्रत्येक द्विज के लिए उपनयन की पृथक् पृथक् आयु निर्धारित की गई थी। जो ब्राह्मण ब्रह्मचारी की आठ वर्ष, क्षत्रिय ब्रह्मचारी की ग्यारह वर्ष, वैश्य ब्रह्मचारी की बारह वर्ष थी। विकल्प रूप में ब्राह्मण ब्रह्मचारी का यह संस्कार सोलह वर्ष, क्षत्रिय का बाईस वर्ष तथा वैश्य का चौबीस वर्ष की आयु में किया जा सकता था। इस

प्रारम्भिक और अन्तिम समयावधि के अन्तर्गत ही इस संस्कार को सम्पन्न करना अनिवार्य था, अन्यथा इस समय के अतिक्रमण होने पर गुरु के लिए इस संस्कार को करने का निषेध था। जो बालक इस निश्चित समयावधि में संस्कृत नहीं होते थे, वे सावित्री-पतित या व्रात्य कहे जाते थे, उन्हें ब्रह्मचर्याश्रम तथा सावित्री व्रत आदि सब धर्मों के पालन का अधिकार नहीं रह जाता था।

महर्षि मनु ने भी ब्रह्मचारी के उपनयन की आयु शंखवत् मानी है। साथ ही उन्होंने अधिक ज्ञान प्राप्ति के इच्छुक ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य के लिए क्रमशः पाँच, छः एवं आठ वर्ष का भी विधान किया है। याज्ञवल्क्य ने अवस्था निर्धारण में कुल, स्थान तथा देश के आधार पर विचार करने का निर्देश दिया है।

परिधान : ब्रह्मचर्याश्रम में उपनयन संस्कार के अवसर पर प्रत्येक ब्रह्मचारी को कुछ विशेष परिधान मेखला, वस्त्र, दण्ड एवं यज्ञोपवीत धारण करना आवश्यक था। ब्राह्मण ब्रह्मचारी को मूँज की, क्षत्रिय को धनुष की प्रत्यञ्चा की और वैश्य को सन की डोरी की मेखला धारण करनी होती थी। वस्त्र तीनों वर्गों को क्रमशः, मृग, व्याघ्र और बकरे की खाल से बने हुए पहनने होते थे। इसी प्रकार प्रत्येक वर्ण के ब्रह्मचारी को क्रमशः, ढाक, पीपल एवं बेल की लकड़ी के दण्ड ग्रहण करने होते थे, जिसकी लम्बाई तीनों वर्गों के लिए पृथक् पृथक् थी। ब्राह्मण के लिए केशों के स्थान तक, क्षत्रिय के लिए मस्तक तक और वैश्य के लिए मुख तक पहुँचने वाले दण्ड का विधान था। इसके साथ ही द्विज ब्रह्मचारी को भिन्न-भिन्न प्रकार का यज्ञोपवीत, यथा-ब्राह्मण को कपास, क्षत्रिय को क्षुम (सन के बने सूत) और वैश्य को ऊन का पहनना होता था। प्रत्येक ब्रह्मचारी के लिए इन वस्तुओं को धारण कराने का उद्देश्य था-उनमें अपने-अपने वर्ण के अनुसार आवश्यक क्षमता को उत्पन्न करना, यथा-ब्राह्मण ब्रह्मचारी में ब्रह्मतेज, शान्ति, शुचिता को, क्षत्रिय में शौर्य, धैर्य, तेज को तथा वैश्य में धन की वृद्धि विषयक गुण को। इसके अतिरिक्त सामान्य रूप में मेखला, वस्त्रादि बालक के साधारण जीवन की ओर संकेत करते हैं। इसके धारण करने से बालक का चित्त स्थिर, शुद्ध व उदात्त भावनाओं से संयुक्त हो उत्तम कर्मों की ओर प्रेरित होता है। जिससे उसके व्यक्तित्व का विकास होता था और वह अपने कर्तव्यों के प्रति सदैव सजग रहता था। मन्वादि स्मृतिकारों ने भी ब्रह्मचारी के लिए इसी प्रकार के परिधान आदि का उल्लेख किया है। उपनयन संस्कार की यह समस्त क्रिया विधिवत् गुरु के द्वारा सम्पादित की जाती थी।

शिक्षा : इस आश्रम में ब्रह्मचारी अध्यापक के सान्निध्य में रहकर अपनी शिक्षा-दीक्षा को पूर्ण करता था। अध्यापक की सामान्यतः दो कोटियाँ थी-गुरु और अध्यापका जो बालक को उपनयन संस्कार से संस्कारित करके उसे वेद का ज्ञान प्रदान करता था, वह 'गुरु' और जो शुल्क लेकर अध्यापन का कार्य करता था, वह 'उपाध्याय कहलाता था।⁹³ ब्रह्मचारी इनकी आज्ञाओं का पालन करता था तथा उनके निर्धारित आदर्शों को चरितार्थ करता था।

ब्रह्मचारी के कर्तव्य - ब्रह्मचारी गुरुगृह में अनुशासित एवं संयमित जीवन व्यतीत करते हुए अनेक कर्तव्यों का निर्वाह करता था। उसके लिए आचार, व्यवहार सम्बन्धी शुचिता आवश्यक थी। वह संयमपूर्वक प्रातःकाल उठकर अपनी दैनिक क्रियाओं स्नानादि से निवृत्त होकर, अग्निकर्म को पूर्ण करने के पश्चात् शान्तचित्त होकर पूर्ण भक्तिभाव से गुरु का चरण स्पर्श कर अभिवादन करता था। गुरु के अतिरिक्त माता-पिता तथा अन्य वृद्धजनों का आदर-सम्मान करना भी उसका कर्तव्य था। शंखस्मृति में वर्णित है कि माता-पिता और गुरु व्यक्ति के लिए सदैव पूजनीय हैं। जो इनका आदर-सत्कार नहीं करता, उसकी समस्त क्रियायें निष्फल हो जाती हैं।⁹⁴

इस प्रकार ब्रह्मचारी में नम्रता लाने का प्रयास अभिवादन के द्वारा किया गया था। गुरुजनों के अभिवादन के उपरान्त वह गुरु से आज्ञा लेकर, ब्रह्माञ्जलि बनाकर, नतमस्तक हो गुरु के मुख को निहारते हुए स्वाध्याय करता था। उसे वेद पाठ के आरम्भ और अवसान के समय 'ओम्' का उच्चारण करना होता था। वस्तुतः वेद का अध्ययन करना ब्रह्मचारी का प्रमुख कर्तव्य था। वेद अर्थात् ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद एवं अथर्ववेद के साथ-साथ वेदाङ्ग-शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष भी उसके अध्ययन के विषय थे। वेद अध्ययनार्थ कतिपय नियमों का विधान था, जिनमें शुभ-अशुभ तिथियों, स्थान, परिस्थितियों आदि का विचार प्रस्तुत किया गया है, यथा-अमावस्या, पूर्णिमा, सूर्य व चन्द्र ग्रहण के समय, उल्कापात, भूकम्प, मृत्यु आदि के अशीच में, ग्राम में विप्लव होने पर, काम की भावना जागृत होने, मेघों की गर्जना के समय, बाजों के कोलाहल में और युद्ध के समय वेद का अध्ययन करना निषिद्ध था। यहाँ तक कि किसी के द्वारा अनुरोध किये जाने पर भी देवालय, वल्मीक, श्मशान और शव के समीप विशेष प्रयत्न व ऊँचे स्वर के साथ वेद का अध्ययन वर्जित था।⁹⁵

भिक्षाचरण - ब्रह्मचारी के दैनिक कर्तव्यों में भिक्षाचरण एक आवश्यक अंग था, क्योंकि जीवन निर्वाह के लिए वह न तो अर्थोपार्जन की वृत्ति अपना सकता था और न अपने बन्धुजनों से आर्थिक सहायता प्राप्त कर सकता था।⁹⁶ उसके लिए विधिपूर्वक ब्राह्मण परिवारों से ही भिक्षा मागने का विधान था। ब्राह्मण ब्रह्मचारी 'भवति भिक्षां देहि', क्षत्रिय ब्रह्मचारी 'भिक्षा भवति देहि' और वैश्य ब्रह्मचारी 'भिक्षां देहि भवति' कहकर गृहस्वामिनी को सम्बोधित करता था। इस प्रकार वह प्रतिदिन प्राप्त भिक्षा को गुरु को समर्पित करके तत्पश्चात् उनके आदेशानुसार भोजन के रूप में ग्रहण कर, पवित्र व पूर्वाभिमुख होकर खाता था। मनुस्मृति में भी इसी प्रकार भिक्षा ग्रहण करने का उल्लेख मिलता है। यहाँ पर ब्रह्मचारी के लिए भिक्षा याचना का उद्देश्य उसे निराभिमानी बनाना तथा लज्जा मुक्त करना था जिससे वह अपने दायित्वों का निर्वाह समुचित रूप से कर सके।

गुरु की सेवा : गुरु के प्रति श्रद्धा रखते हुए उन्हें सेवाकर्म से सन्तुष्ट रखना भी ब्रह्मचारी का दायित्व था। वह भिक्षाचरण के बाद सांयकालीन सन्ध्या की उपासना तथा अग्निकर्म को करने के उपरान्त अहंभाव से रहित होकर गुरु की सेवा किया करता था। सेवा रूप में वह गुरु के विभिन्न कार्यों (हवनादि के लिए समिधा लाना, गुरुगृह को स्वच्छ रखना, पशुओं की देखरेख करना आदि) को सम्पादित करता था। प्रातःकाल गुरु से पूर्व उठता और रात्रि को गुरु के पश्चात् शयन करता था।⁹⁷ अतएव सब प्रकार से उसे गुरु के प्रिय हित को साधना होता था। शंखस्मृति में गुरु सेवा के फल को अभिव्यक्त करते हुए कहा गया है कि "ब्रह्मचारी न स्नान, न होम और न ही अग्नि की पूजा करने से स्वर्ग को जाता है, वह तो गुरु की पूजा से स्वर्ग को प्राप्त करता है। कौटिल्य अर्थशास्त्र में भी ब्रह्मचारी के उक्त कर्तव्यों का समर्थन करते हुए उसके लिए वेद का अध्ययन, भिक्षावृत्ति से जीवन-निर्वाह, आचार्य व गुरु की सेवा आदि का विधान किया गया है।⁹⁸

वर्जित कर्म - ब्रह्मचारी को सभी प्रकार के इन्द्रिय-सुखों का त्यागकर, ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए धर्म की साधना करनी होती थी। अतएव उसके लिए कुछ कर्मों को करने का निषेध किया गया था, यथा-मधु व मांस का भक्षण, आँखों में अञ्जन लगाना, श्राद्ध के भोजन को ग्रहण करना, गायन, नृत्य, हिंसा (किसी को हानि न पहुँचाना), निन्दा, विवाद करना, पलंग के ऊपर सोना तथा विशेष रूप से स्त्रियों के साथ क्रीड़ा करना आदि। मनु आदि स्मृतियों में भी इसी प्रकार अकरणीय

कर्मों का उल्लेख मिलता है। मनुस्मृति में तो ब्रह्मचारी के लिए गुरु की निन्दा करना व सुनना, गुरु के पुत्र को उबटन लगाना, स्नान कराना, उसका उच्छिष्ट भोजन करना, उसके पाद प्रक्षालित करना, गुरु की स्त्री का तैलमर्दन करना, उबटन लगाना, उसके केश-प्रसाधन या पुष्प आदि से उसका शृंगार करना आदि को भी वर्जित माना है।⁹⁹

इस प्रकार ब्रह्मचर्याश्रम में ब्रह्मचारी शरीर व इन्द्रियों को पुष्ट तथा मन, बुद्धि, चित्त व आत्मा का पूर्ण विकास करता हुआ सात्विक जीवन व्यतीत करता था। शिक्षा की समाप्ति पर गुरु को यथाशक्ति दक्षिणा रूप में धन आदि देकर, उनकी आज्ञा से घर को लौटता था। तत्पश्चात् आगामी आश्रम में प्रवेश करता था।

गृहस्थाश्रम

द्वितीय आश्रम के रूप में गृहस्थ का स्थान था। ब्रह्मचर्य के पश्चात् इसका विधान इसलिए किया गया था कि एक ज्ञानसम्पन्न एवं बुद्धिसम्पन्न व्यक्ति ही गृहस्थाश्रम के समस्त उत्तरदायित्वों-व्यक्तिगत, पारिवारिक, धार्मिक तथा सामाजिक आदि का निर्वाह समुचित रूप से कर सकने में समर्थ हो सकता है। उसके लिए 'गृहस्थ' एवं 'गृही' ये शब्द प्रचलित थे। इस आश्रम की श्रेष्ठता उसके सामाजिक मूल्य एवं महत्त्व पर आधारित थी। यही अन्य आश्रमों के संरक्षण एवं पोषण का मूलधार था। शंखस्मृति में गृहस्थाश्रम की प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि-वानप्रस्थी, ब्रह्मचारी, संन्यासी एवं ब्राह्मण-ये सब गृहस्थ की कृपा से ही जीवित रहते या परिपालित होते हैं। गृहस्थ ही यजन करता है, तप करता है और दान देता है। इसलिये गृहस्थाश्रम सर्वश्रेष्ठ है।¹⁰⁰ विष्णुस्मृति में शंखस्मृति के समान विचार अभिव्यक्त करते हुए गृहस्थाश्रम को ज्येष्ठ व श्रेष्ठ दोनों बताया गया है।

वसिष्ठस्मृति में गृहस्थाश्रम को माता के तुल्य माना है, जिसका आश्रय पाकर सभी प्राणी प्राण धारण करते हैं।¹⁰¹ मन्वादि स्मृतियों में भी गृहस्थाश्रम की महिमा को इसी प्रकार प्रतिपादित किया गया है।

गृहस्थाश्रम का मूल उद्देश्य था-धर्म, अर्थ, काम एवं सामाजिक कर्तव्यों का निर्वहन। यद्यपि मोक्ष पुरुषार्थ चतुष्टय का अन्तिम लक्ष्य माना जाता है तथापि उस तक पहुँचने का आधार भी यह आश्रम ही है, किन्तु गृहस्थ त्रिवर्ग की सिद्धि व सेवन के पश्चात् ही मोक्ष प्राप्ति का अधिकारी था, ऐसा उल्लेख धर्मग्रन्थों में मिलता है।

मनु ने स्पष्ट कहा है गृहस्थाश्रम में यज्ञ का सम्पादन करके, पुत्र उत्पन्न करके ही संन्यास ले। यदि कोई ऐसा नहीं करता तो वह अधोगति को प्राप्त होता है। महर्षि वेदव्यास ने तो इन तीन पुरुषार्थों के बिना वैराग्य की ओर उन्मुख होना अनुचित माना है। कौटिल्य अर्थशास्त्र में भी एक स्थल पर आता है कि अपने परिवार, स्वी-पुत्रादि के भरण-पोषण का समुचित प्रबन्ध करने में असमर्थ व्यक्ति संन्यास ग्रहण करने पर दण्ड का भागी होता है। वस्तुतः सभी के लिए गृहस्थाश्रम का नियमपूर्वक पालन आवश्यक था।

गृहस्थाश्रम का प्रारम्भ समावर्तन के पश्चात् विवाह संस्कार से होता था। शंखस्मृति में वर्णित है कि द्विज विद्या-स्नान कर, अपने समान वर्ण वाली सुकन्या से विधिपूर्वक विवाह करे। अन्य स्मृतिकारों का भी यही मत है। महाभारत के शान्तिपर्व में उल्लिखित है- "न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते" अर्थात् मात्र गृह को ही गृह नहीं कहते, गृहिणी को ही गृह कहते हैं, इसलिये गृहस्थाश्रम का प्रथम कर्तव्य 'विवाह करना' था। व्यक्ति विवाहोपरान्त भार्या के पारस्परिक सहयोग से धर्ममर्यादित धार्मिक कर्तव्यों का सम्पादन, सन्तानोत्पत्ति, अर्थोपार्जन और सामाजिक कर्तव्यों का निर्वाह करता था। इसके साथ ही वह परिवार का भरण-पोषण, स्वाध्याय, श्राद्ध, तर्पण तथा शास्त्रों की मर्यादा का पालन आदि कर्मों को सम्पादित करता था। यहाँ पर पत्नी का महत्त्व स्पष्ट है कि व्यक्ति पत्नी के अभाव में गृहस्थाश्रम का निर्वाह नहीं कर सकता। अतः पत्नी ही धर्म, अर्थ एवं काम की पूर्णता में मुख्य सहायिका थी।¹⁰²

गृहस्थ के कर्तव्य - मानव जीवन की सार्थकता नियमित एवं पवित्र जीवन व्यतीत करने में है। इसलिये गृहस्थ के लिए सर्वप्रथम सदाचरण का पालन आवश्यक था। क्षमा, सत्य, दम (मन का संयम), पवित्रता, सेवाभाव, अहिंसा, सब प्राणियों के प्रति दया आदि गृहस्थ के श्रेष्ठ धर्म थे। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे कर्म थे, जिनका सम्पादन प्रत्येक गृहस्थ को प्रतिदिन नियमित रूप से करना ही होता था, यथा-शौच, आचमन, स्नान, सन्ध्यावंदन तथा पञ्चमहायज्ञ।

शौच : शौच से अभिप्राय 'शरीर की शुद्धता' से है। शरीर जो धर्म प्राप्ति का साधनभूत है, उसको बाह्य तथा आभ्यन्तर रूप से शुद्ध रखना गृहस्थ के लिए अनिवार्य था।¹⁰³ हारीत ने शौच के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए कहा है कि "शौच धार्मिक जीवन की प्रथम सीढ़ी है, यह ज्ञान का आयतन है, इसमें श्री का निवास है,

वित्त प्रसन्न रहता है, आध्यात्मिक ज्ञान में सहायक है और बुद्धि परिष्कृत होती है।¹⁰⁴ इसके अभाव में उसकी समस्त क्रियायें निष्फल हो जाती हैं। इसलिये महर्षि शंख एवं अन्य स्मृतिकारों ने सदैव शौचाचार में प्रयत्नशील रहने का उपदेश दिया है। बाह्य शौच में गृहस्थ को शारीरिक रूप से शुद्ध करनी होती थी, शारीरिक शुद्धता में गुप्तांगों के लिए उसे मिट्टी एवं जल का प्रयोग करना होता था, जिससे अंग पूर्णतः स्वच्छ हो जाए। उसके लिए विधान था कि वह मल-त्याग करने के उपरान्त गुदा में सात बार और मूत्र-त्याग करने पर लिंग में दो बार मिट्टी लगाकर शुद्धि करे। बायें हाथ में बीस बार और दोनों हाथों में चौदह बार व नाखूनों को स्वच्छ करके मिट्टी से तीन बार शुद्धि करे। इसके अतिरिक्त शुद्धि की इच्छा वाले पुरुष को पाँवों पर तीन बार मिट्टी लगाकर शुद्धि करनी चाहिये। एक बार में इतनी मिट्टी लेनी चाहिये, जिससे अंगुलियों के तीन पर्व भर जाए। जबकि मनु एवं दक्ष ने मिट्टी का एक भाग लिंग पर, तीन भाग मलयस्थान पर, दस बायें हाथ में, सात दोनों हाथों में लगाने को कहा है। जिससे ज्ञात होता है कि शंख ने मनु एवं दक्ष की अपेक्षा अधिक शुद्धि का विधान किया है। यह शुद्धि मात्र गृहस्थों के लिए थी। ब्रह्मचारी, वानप्रस्थी और सन्यासी के लिए गृहस्थों की अपेक्षा क्रमशः दुगुना, तिगुना और चारगुना बार शौच का विधान था।¹⁰⁵ जो तत्कालीन समय में अपेक्षाकृत अधिक शुद्धता की ओर संकेत करता है।

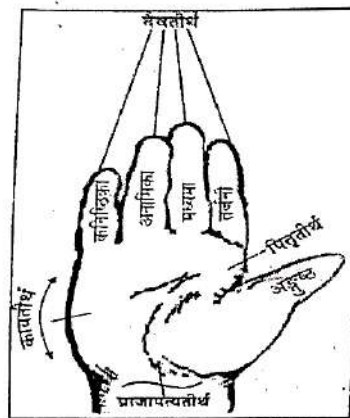
आभ्यन्तर शौच में गृहस्थ के लिए मानसिक रूप से शुद्ध होना आवश्यक था। इसलिये स्मृतिकारों ने मन के भावों को शुद्ध रखना 'आभ्यन्तर शौच' कहा है। गृहस्थ को ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, लोभ, मोह, घृणा इत्यादि दुष्प्रवृत्तियों से दूर रहना चाहिए। यह आन्तरिक शुद्धि व्यक्ति में शाखविहित कर्मों के करने से आती है। जब तक व्यक्ति आन्तरिक रूप से शुद्ध न हो तब तक बाह्य शुद्धि का भी कोई लाभ नहीं है। अतः इन दोनों ही प्रकार के शौच का पालन करने वाला व्यक्ति पवित्र होता है, ऐसा दक्ष का विचार है।

आचमन - आचमन से तात्पर्य 'मुख शुद्धिकरण' की क्रिया से है। इसे आचमन इसलिए कहा जाता था कि इस क्रिया में जल का आन्तरिक रूप से आस्वादन किया जाता था।¹⁰⁶ शौचकृत्य से निवृत्त होने के पश्चात् इसे करने का विधान था। यह क्रिया व्यक्ति को शारीरिक रूप से ही नहीं अपितु मानसिक रूप से भी पवित्र कर, उसके अन्तःकरण को शुद्ध करती है। कुछ विद्वान् इसे मानसिक, वाचिक, कायिक-त्रिविध पापों की निवृत्ति, कण्ठ की शुष्कता, कफ निवृत्ति, वास-प्रश्वास क्रिया व मंत्रादि के

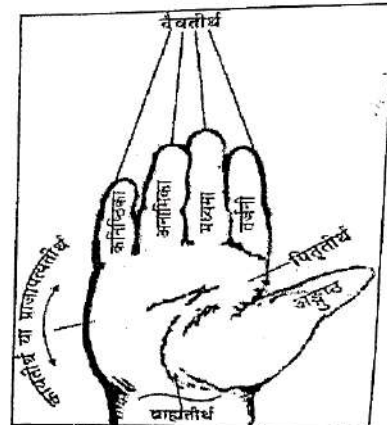
शुद्ध उच्चारण में अपेक्षित शुद्धता, मानसिक उत्तेजना, काम, क्रोधादि विविध दोषों को दूर करने तथा ध्यान लगाने में भी सहायक मानते हैं।

यह क्रिया दाहिने हस्त¹⁰⁷ में निर्दिष्ट तीर्थों के द्वारा सम्पन्न की जाती थी। शंखस्मृति के अनुसार कनिष्ठिका अंगुली के मूल में कायतीर्थ, अंगूठे के मूल में प्राजापत्य तीर्थ, अंगुलियों के अग्रभाग में दैवतीर्थ और तर्जनी अंगुली के मूल में पितृतीर्थ का निर्देश किया गया है।¹⁰⁸

स्मृतिकार मनु एवं याज्ञवल्क्य ने भी शंख की भांति चार तीर्थों का वर्णन किया है, किन्तु उन्होंने कायतीर्थ एवं प्राजापत्यतीर्थ को पृथक् पृथक् न मानकर एक ही माना है और उसका स्थान कनिष्ठिका अंगुली के मूल में बताया है। इसके अतिरिक्त प्राजापत्यतीर्थ के स्थान पर ब्राह्मतीर्थ को स्थान दिया है तथा इसका स्थान अंगूठे के मूल में बताया है। अन्य तीर्थों दैवतीर्थ एवं पितृतीर्थ का स्थान शंखवत् ही माना है। इन तीर्थों को चित्र 1.1 तथा 1.2 के माध्यम से भलीभांति समझा जा सकता है-



चित्र 1.1
शंखस्मृति के अनुसार



चित्र 1.2
मनुस्मृति एवं याज्ञवल्क्यस्मृति
के अनुसार

व्यक्ति को पितृतीर्थ छोड़कर अन्य तीन तीर्थों से आचमन करना चाहिए, क्योंकि पितृतीर्थ का प्रयोग पितरों के लिए किये जाने वाले कृत्यों में होता है, ऐसा मनु का मत है। इसमें इतना जल अवश्य लेना होता था जो उसके हृदय, कण्ठ, तालु या मुख को पवित्र कर सके।¹⁰⁹

तत्कालीन समय में यह क्रिया विधिपूर्वक सम्पादित की जाती थी, क्योंकि विधिवत् करने पर ही इसका लाभ प्राप्त हो सकता था। गृहस्थ सर्वप्रथम पाँवों को प्रक्षालित, शिखा बांधकर, यज्ञोपवीत धारण करके, दोनों भुजाओं को घुटने के अन्दर

किये हुए, शान्तचित्त होकर पूर्व की ओर मुख करके बैठे हुए या संयतचित्त होकर उत्तर की ओर मुख करके, दिशाओं को न देखते हुए, पूर्णतः स्वच्छ जल से उक्त मन्त्र के द्वारा जलरूप परमात्मा का ध्यान करते हुए आचमन करता था, जिसमें कहा गया है- हे जला सब ओर मुख वाले तूम् प्राणियों के अन्दर हृदयरूपी गुफा में विचरण करते हो, तूम्ही यज्ञ, वषट्कार, जल, प्रकाश, रस और अमृत हो।" मन्त्रोच्चारण के पश्चात् अंगूठे व तर्जनी को मिलाकर दोनों नासपुटों का स्पर्श, फिर अंगूठे व मध्यमा अंगुली को मिलाकर दोनों आँखों का स्पर्श, उसके बाद अंगूठे व अनामिका के द्वारा दोनों कानों का स्पर्श, फिर कनिष्ठिका व अंगूठे को मिलाकर दोनों कंधों का स्पर्श, तथा बाद में अंगूठे व चारों अंगुलियों के योग से नाभि, हृदय और सिर को स्पर्श करता था। इस प्रकार तीन बार आचमन करने पर व्यक्ति से सभी देव-ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि प्रसन्न हो जाते हैं, ऐसी धारणा थी। जो उसके भौतिक जीवन को ही नहीं आध्यात्मिक जीवन को भी सुखी बनाते हैं, किन्तु बिना यज्ञोपवीत धारण किये, बिना शिखा को बांधे तथा पाँवों को धोए बिना आचमन किया हुआ व्यक्ति अपवित्र ही माना जाता था।

स्नान : स्नान 'शरीरशुद्धि' की क्रिया है। गृहस्थ के लिए आचमन के पश्चात् इसका विधान था। स्नान के बिना व्यक्ति किसी भी धार्मिक कृत्य तथा अन्य कृत्य को करने के योग्य नहीं होता। इसका कारण व्यक्ति का नौ छिद्रों वाला शरीर है जिससे दिन-रात मल निकलता रहता है। यह मल शरीर को दुर्गन्धयुक्त कर देता है। इसलिये व्यक्ति को प्रातःकाल के स्नान से इसे शुद्ध करने का निर्देश दिया गया था। इसके महत्त्व को अभिव्यक्त करते हुए कहा गया है कि प्रातःकाल स्नान करने वाला व्यक्ति ही रूप, तेज, बल, पवित्रता, आयु, आरोग्यता, निर्लोभता, दुःस्वप्न का नाश, तप व मेधा-इन दस गुणों को प्राप्त करता है।

इसके अतिरिक्त व्यक्ति के सभी पाप नष्ट हो जाते हैं और उसकी श्रेष्ठ कर्मों में प्रवृत्ति होती है। शंखस्मृति में छः प्रकार के स्नान का वर्णन मिलता है, जिन्हें गृहस्थ के द्वारा विधिवत् सम्पन्न किया जाता था-नित्य, नैमित्तिक, काम्य, क्रियाङ्ग, मलापकर्षण एवं क्रियास्नान।¹¹⁰

नित्य - प्रातःकाल जप, अग्निहोत्र आदि धार्मिक क्रियाओं के सम्पादन हेतु जो स्नान किया जाता था, वह 'नित्यस्नान' था।

नैमित्तिक - जो किसी विशेष प्रयोजन से, विशिष्ट अवसरों पर या किसी व्यक्तियों व पदार्थों से स्पर्श हो जाने पर किया जाता था, यथा चण्डाल, शव, राध, रजस्वला आदि से स्पर्श होने पर। कुछ स्मृतिकारों ने पुत्रोत्पत्ति व यज्ञ के अवसर, किसी की मृत्यु हो जाने, ग्रहण के समय, वमन हो जाने, अधिक बार मल त्याग करने, केश कटवाने, दुःस्वप्न देखने, सम्भोग करने, श्मशान में जाने, चिता के धूम से शरीर आवृत्त या मलिन हो जाने, यज्ञस्तम्भ या मानव अस्थि के छू जाने पर भी स्वच्छता के लिए स्नान का विधान किया है।¹¹¹

काम्य - किसी विशिष्ट कामना से पुण्यादि नक्षत्रों में किया जाने वाला स्नान 'काम्य स्नान' था। इसका विधिपूर्वक विधान ज्योतिषज्ञों के द्वारा किया जाता था। बिना कामना वाले व्यक्ति के लिए इसका निषेध था।

क्रियाङ्ग - पवित्र मंत्रों को जपने तथा देवताओं एवं पितरों की पूजा के निमित्त किये हुए स्नान को 'क्रियाङ्ग-स्नान' कहा जाता था।

मलापकर्षण - शारीरिक स्वच्छता अर्थात् मलिनता को दूर करने के लिए उद्वर्तन (उबटन), तैलमर्दन आदि के साथ किया जाने वाला स्नान 'मलापकर्षण' था। जो मात्र मैल (मलिनता) दूर करने के उद्देश्य से ही किया जाता था। क्रियास्नान : पुण्यार्जन हेतु सरोवरों, देवताओं के द्वारा खोदे हुए कुण्डों, तीर्थों एवं नदियों में किया जाने वाला स्नान 'क्रियास्नान' कहलाता था। इनमें स्नान करना उत्तम माना जाता था, क्योंकि ये सभी तीर्थ स्थान अतिपवित्र माने गये थे, विशेषकर गङ्गा नदी।

शंखस्मृति में इनके महत्त्व को उल्लिखित करते हुए कहा गया है कि "इनमें स्नान करने पर व्यक्ति पुण्य फल का भागी बनता है, उसके समस्त पापों का विनाश हो जाता है, वह पवित्र आत्मा बन जाता है और ऐसा पवित्र आत्मा वाला व्यक्ति मनोनुकूल फल की प्राप्ति करता है। लेकिन तीर्थ के फल को यह मनुष्य प्राप्त कर सकता है जिसने अपने हाथ-पाँव व मनस इन्द्रिय को वश में कर लिया हो तथा जिसके पास विद्या, तप और कीर्ति हो।

यहाँ पर हाथ को वश में करने से अभिप्राय निन्दित दान लेने की निवृत्ति से, पाँव को वश में करने से निषिद्ध स्थान पर जाने की निवृत्ति से, मन संयम से काम, क्रोध आदि पर संयम रखने से। विद्या से सशास्त्र व वेदादि के अध्ययन से, तप से चान्द्रायणादि व्रत से तथा कीर्ति से धार्मिक क्रियाओं से प्राप्त प्रसिद्धि से है।¹¹² तीर्थों के अभाव में व्यक्ति के द्वारा गर्म जल और अन्य के द्वारा लाए गये जल से स्नान

किया जा सकता था, किन्तु गर्म जल व अन्य के द्वारा लाए गए जल से स्नान करने पर शरीर की शुद्धि तो हो जाती है पर पुण्य फल की प्राप्ति नहीं होती जबकि तीर्थों में स्नान करने से पुण्य फल की प्राप्ति होती है, ऐसा विश्वास था। इसके अतिरिक्त यदि कोई व्यक्ति किसी मुख्य प्रयोजन से तीर्थ-यात्रा पर जा रहा है और ऐसे में यदि वह अपने गौण प्रयोजन को भी सिद्ध करने की कामना से किसी तीर्थ में जाकर स्नान करता है तो उसे स्नान से उत्पन्न होने वाले फल की प्राप्ति तो हो जाएगी, किन्तु जिस मुख्य प्रयोजन से उसने तीर्थ-यात्रा की है वह फल उसे प्राप्त नहीं हो पाएगा। इसलिये व्यक्ति को सदैव अपने मुख्य प्रयोजन को ही प्रधानता देनी चाहिये।

महत्त्व की दृष्टि से क्रिया-स्नान को सविधि सम्पन्न करना आवश्यक था। गृहस्थ प्रारम्भ में मिट्टी व जल से यथाविधि शौच कर, फिर जल में डुबकी लगाकर तथा बाहर निकलकर, यथाविधि आचमन करके तीर्थ जल का आह्वान करता था। प्रथम जल के स्वामी वरुण देव से प्रार्थना करते हुए कहता था-हे जल के स्वामी मैं अपने समस्त पापों के शमनार्थ आपकी शरण में आया हूँ, तीर्थ का आह्वान कर रहा हूँ। हे देव। इस जल में उपस्थित होकर मेरे ऊपर अनुग्रह करे। जल स्थित समस्त देवता-रुद्र, अग्नि, सर्प, वरुण व जल मेरे पापों का शमन करें तथा सब प्रकार से मेरी रक्षा करें। इस प्रकार कहकर जल में निर्दिष्ट मन्त्रों का उच्चारण करते हुए सम्मान करता था और शं नो देवीः शं न आपः, इदमापः प्रवहते इन मन्त्रों¹¹³ का उच्चारण कर, फिर संयतचित्त होकर अघमर्षण सूक्त के पूर्व में उसके छन्द, ऋषि और देवता का उच्चारण कर, जल में डुबकी लगाकर उसका पाठ करता था, यथा-अघमर्षण सूक्त का छन्द- अनुष्टुप, ऋषि-अघमर्षण एवं देवता-भाववृत्त है। तथा महाव्याहृतियों (भूः। भुवः। स्वः। महः। जनः। तपः। सत्यम्) के द्वारा सिर पर जल डालता था। इस विधि से स्नान करने के उपरान्त व्यक्ति स्वच्छ वस्त्रों का धारण कर, तीर्थ के तट पर बैठकर आचमन करता था, किन्तु जिस वस्त्र को पहनकर उसने स्नान किया था, उसे तब तक नहीं निचोड़ता था जब तक वह पितरों को जल अर्पित नहीं कर देता था। इस प्रकार स्नान करने वाला गृहस्थ तीर्थ के फल की प्राप्ति करता है, ऐसी धारणा थी।¹¹⁴

अतः उपर्युक्त छः प्रकार के स्नानों को नियमवत् करने वाला गृहस्थ एक ओर तो दृष्टफल (शरीर की स्वच्छता एवं निरोगता आदि) तथा दूसरी ओर अदृष्टफल (पापनाश, पुण्य की प्राप्ति) को प्राप्त करता है।

अघमर्षण : गृहस्थ के लिए अघमर्षण सूक्त का जप आवश्यक माना गया था। इसलिये महत्त्व की दृष्टि से यहाँ पर अघमर्षण का वर्णन करना अपेक्षित है। अघमर्षण शब्द में 'अघ' का अर्थ 'पाप' तथा 'मर्षण' का अर्थ 'विशोधक' है अर्थात् पाप के विशोधक या पाप को दूर करने वाले मंत्र अघमर्षण है। इसका विशद विवरण वैदिक साहित्य में प्राप्त होता है। ऋग्वेद के 10वें मण्डल के 190वें सूक्त के 'ऋतं च सत्य इत्यादि तीन मंत्र अघमर्षण के नाम से जाने जाते हैं। इस सूक्त का छन्द- अनुष्टुप्, ऋषि-अघमर्षण एवं देवता-भाववृत्त है। ऐसा ज्ञात होता है कि सूक्त के ऋषि से सम्बन्धित होने के कारण इस सूक्त तथा इसके मंत्रों को अघमर्षण कहा जाने लगा होगा। ऋग्वैदिक काल में प्रायः ब्राह्मणों के द्वारा सन्ध्यावन्दन के समय इसका पाठ किया जाता था। शंखस्मृति काल में तो इसकी गणना समय-समय पर उच्चरित किये जाने वाले वेदों के पवित्र मंत्रों में की गई, क्योंकि इसके जप से तथा होम से मनुष्य में पवित्रता का आधान होता है।¹¹⁵

महर्षि शंख ने इसकी महत्ता को प्रदर्शित करते हुए कहा है कि जल के अन्दर किये जाने वाले जपों में अघमर्षण से बढ़कर और कोई जप नहीं है। जिस प्रकार सब यज्ञों का राजा अश्वमेध यज्ञ सभी पापों या दोषों को दूर करने वाला है, उसी प्रकार अघमर्षण सूक्त सब पापों को विनष्ट करने वाला है। अतएव पापों के निवारणार्थ गृहस्थ के लिए इसका जप आवश्यक माना गया था।

सन्ध्योपासना - सन्ध्या' शब्द से अभिप्राय रात एवं दिन के सन्धिकाल से है। यह प्रातः एवं सांय काल की जाने वाली प्रार्थना एवं स्तुति का भी द्योतक है। तत्कालीन समय में इसका अनुष्ठान व्यक्ति प्राचीनकाल से चली आ रही परम्परा का पालन करते हुए निश्चित रूप से करता था। प्रातः एवं सांय दोनों कालों में सन्ध्या का विधान था। व्यक्ति को प्रातःकालीन सन्ध्या में खड़े होकर तथा सांयकालीन सन्ध्या में बैठकर गायत्री का जप करना होता था। शंखस्मृति में प्रातःकालीन सन्ध्या के लिए 'पूर्वी तथा सांयकालीन सन्ध्या के लिए 'पश्चिमा' पद का प्रयोग किया गया है। जो 'पूर्व दिशा' व 'पश्चिम दिशा' की ओर संकेत करते हैं। अतएव प्रातःकाल की सन्ध्या पूर्व दिशा की ओर तथा सांयकाल की सन्ध्या पश्चिम दिशा की ओर मुख करके की

जाती थी।¹¹⁶ अन्य स्मृतिकारों का भी यही मानना है।¹¹⁷ सन्ध्या के अन्तर्गत गायत्री जप को विशिष्ट महत्त्व दिया गया था, क्योंकि गायत्री का जप भय से मुक्त करने वाला, समस्त पापों का नाशक, पवित्रता व शुचिता को देने वाला, अभीष्ट को प्राप्त कराने वाला तथा ब्रह्मप्राप्ति का द्वार है।¹¹⁸ गायत्री का जप प्रणव (ओम्), व्याहृतियों (ॐ भूः। ॐ भुवः। ॐ स्वः। ॐ महः। ॐ जनः। ॐ तपः। ॐ सत्यम्।) तथा आदि व अन्त में शिर (ओमापो ज्योती रसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरोम् के साथ करने का विधान था। इस जप के प्रारम्भ में देवता, ऋषि, छन्द का स्मरण करना अनिवार्य था, यथा-इस सावित्री का देवता- सविता है, ऋषि-विश्वामित्र है और छन्द-गायत्री है। सन्ध्योपासना में गायत्री जप के अतिरिक्त अन्य पवित्र करने वाले अघमर्षणादि मंत्रों को भी प्रमखता दी गई थी। व्यक्ति अपनी सामर्थ्यानुसार दीर्घ समय तक सन्ध्या कर सकता था, क्योंकि ऋषियों ने दीर्घ समय तक सन्ध्या करके ही दीर्घायु को प्राप्त किया था। मनु का भी यही कथन है। उन्होंने तो दीर्घ सन्ध्या के द्वारा दीर्घायु के साथ-साथ बुद्धि, यश, कीर्ति एवं अध्यात्म शक्ति को प्राप्त करने की भी बात कही है।¹¹⁹

शंखस्मृति के अनुसार सन्ध्योपासना को सविधि इस प्रकार बताया जा सकता है- व्यक्ति सर्वप्रथम जल में स्नान कर आचमन करें, फिर जल में 'आपो हिष्ठा' नामक तीन ऋचाओं से, हिरण्यवर्णा" इत्यादि तीन ऋचाओं से सम्मार्जन करे और 'शं नो देवीः 'श न आपः, इदमापः प्रवहते", इन मंत्रों का उच्चारण करे।¹²⁰

इन मंत्रों के उच्चारण के पश्चात् 'अघमर्षण सूक्त' का पूर्व में उसके छन्द, ऋषि एवं देवता का उच्चारण कर पाठ करे। तदुपरान्त 'अन्तश्चरति भूतेषु गुहायां विश्वतोमुखः। त्वं यज्ञस्त्वं वषट्कार आपो ज्योती रसोऽमृतम्॥' इस मन्त्र से आचमन करे। फिर पुनः आचमन करके सूर्याभिमुख होकर 'उदु त्यं जातवेदसम्'¹²¹ इत्यादि मंत्र के साथ सूर्य को जलार्पण करे। इसके बाद सावित्री का जप करे। और अन्त में पवित्र करने वाले मंत्रों का अथवा एक मंत्र का अपनी शक्ति के अनुसार जप करे। इन मन्त्रों सहित नियमवत् सन्ध्या करने वाला व्यक्ति पवित्रता को तो प्राप्त करता ही है साथ ही अमरता को भी प्राप्त करता है।¹²²

अतः सन्ध्योपासना के अन्तर्गत कुछ महत्त्वपूर्ण क्रियाओ-स्नान, सम्मार्जना¹²³, मन्त्रोच्चारण, अघमर्षणसूक्त का पाठ, आचमन, अर्घ्य (जलार्पण), गायत्री जप तथा पवित्र करने वाले मंत्रों के जप का अनुष्ठान आवश्यक माना गया

था। जहाँ पर सम्मार्जन स्नान की क्रिया का ही एक भाग था, ऐसा उल्लेख मिलता है।

पञ्चमहायज्ञ - यह गृहस्थ के जीवन का सर्वश्रेष्ठ कर्म था। इनका सम्पादन उसे स्वार्थपरता से परे होकर पूर्ण परहित की भावना से करना पड़ता था। कारण यह है कि गृहस्थ केवल अपनी समृद्धि के लिए उत्तरदायी नहीं होता अपितु समस्त जगत् की सुख-समृद्धि के प्रति उत्तरदायी होता है। इस दायित्व का निर्वाह गृहस्थ पञ्चमहायज्ञों के द्वारा ही कर सकता है। इसके अतिरिक्त गृहस्थ के यहाँ चूल्हा, चक्की, झाड़ू, ओखली और घड़ा-ये पाँच पाप (हिंसा) के स्थान माने गए हैं। इनका प्रयोग करने में गृहस्थ के द्वारा अज्ञानवश जीवों की हत्या हो जाया करती है जिससे वह पाप का भागी बनता है। इस पाप के निवारण हेतु पञ्चमहायज्ञों का विधान किया गया था।¹²⁴ ये पञ्चमहायज्ञ थे- देवयज्ञ, भूतयज्ञ, पितृयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ एवं नृयज्ञ। इनका वर्णन वैदिककाल से ही मिलता है।¹²⁵ मनुष्य को प्रतिदिन इन यज्ञों से देवता, अतिथि, जीव, पितर और आत्मा को सन्तुष्ट करना चाहिए। जो मनुष्य इन सभी को सन्तुष्ट नहीं करता, वह जीवित रहते हुए भी मृत के समान है।

देवयज्ञ: अग्निहोत्र करना 'देवयज्ञ' है। कल्याणमय जीवन के लिए इसका विधान था। इस यज्ञ के द्वारा गृहस्थ देवताओं के सान्निध्य को प्राप्त करता है तथा चर-अचर जगत् का पोषण करता हुआ सभी का कल्याण करता है। गृहस्थ को प्रातः एवं सांय विधिपूर्वक अग्निहोत्र करना होता था। अग्निहोत्र किन देवताओं के प्रति किया जाता था इसका वर्णन शंखस्मृति में नहीं मिलता, किन्तु गौतमधर्मसूत्र से ज्ञात होता है कि गृहस्थ प्रातः एवं सांय वैदिक ऋचाओं से अग्नि, धन्वन्तरि, विश्वेदेव, प्रजापति तथा स्विष्टकृत देवताओं की स्तुति करता हुआ स्वाहापूर्वक अग्नि में घृत एवं सामग्री की आहुतियाँ देता था।¹²⁶ उसके द्वारा विधिपूर्वक अग्नि में प्रदान की गई आहुति सूर्य को प्राप्त होती है, सूर्य से वर्षा, वर्षा से अन्न और अन्न से प्रजायें उत्पन्न होती हैं। अतः प्रजाओं की उत्पत्ति हेतु प्रतिदिन विधिवत् हवन करना चाहिये। अग्निहोत्र के अतिरिक्त उसके लिए दर्शपौर्णमास, पशुबन्ध, चातुर्मास्य यज्ञों तथा अन्य यज्ञों (आग्रहायण, अग्निष्टोमादि) को करने का भी विधान था, किन्तु इन धार्मिक क्रियाओं के लिए उसके पास अत्यल्प धन होने पर वह वैश्वानरी इष्टि का अनुष्ठान कर सकता था।

भूतयज्ञ - भूतों (प्राणियों) को अन्न का कुछ भाग अर्पित करना 'भूतयज्ञ' है। प्राणियों के कल्याण के लिए इसका विधान था। भूतयज्ञ में दान और त्याग की भावना निहित थी जिससे मनुष्य सभी प्राणियों के प्रति उदारता का भाव प्रकट करता था। यह बलि किस प्रकार दी जाए इसका उल्लेख शंखस्मृति में नहीं किया गया है, जबकि अन्य स्मृतियों में इसका वर्णन मिलता है। दक्ष का मत है कि गृहस्थ को अपने सामर्थ्य के अनुसार देवताओं, पितरों, मनुष्यों और जीवों को भोजन देना चाहिये। आचार्य मनु ने इसे 'बलिवैश्वदेव' कहा है। उनके अनुसार वैश्वदेव के उपरान्त अर्थात् देवताओं के प्रति होम करने के उपरान्त सभी दिशाओं में पुरुषों सहित इन्द्र, यम, वरुण, सोम के लिए, द्वार पर मरुत् के लिए, जल में अप् देवता के लिए, मूसल पर वनस्पतियों के लिए, घर के शिखर प्रदेश पर उत्तरपूर्व में श्री के लिए, घर की नींव पर दक्षिण पश्चिम में भद्रकाली के लिए, घर के मध्य में ब्रह्मा के लिए, घर के ऊपर (आकाश) की ओर विश्वेदेवों के लिए, दिन में चलने वाले व रात्रि में चलने वाले प्राणियों के लिए, गृह की ऊपर की छत पर सभी जीवों के कल्याण के लिए बलि देनी चाहिए। बलि के पश्चात् बचे हुए अन्न को दक्षिण दिशा में पितरों के लिए देना चाहिए। इसके बाद कुत्तों, जातिच्युतों, चाण्डालों, कोढ़ जैसे रोग से पीड़ितों, पक्षियों, कीड़ों-मकोड़ों को बलि दे। इस प्रकार जो मनुष्य जीवों की प्रतिदिन पूजा करता है, वह मोक्ष को प्राप्त करता है जबकि अकेले खाने वाला पाप का भागी होता है।

पितृयज्ञ : पितरों को पिण्ड देना अर्थात् अन्न, जलादि से तर्पण करना 'पितृयज्ञ' है।¹²⁷ इस यज्ञ का मुख्य उद्देश्य अपने पूर्वजों को सम्मानपूर्वक सन्तुष्ट करना था। भारतीय जनमानस में ऐसे विचार थे कि उनकी कृपा-दृष्टि से मनुष्य का जीवन सुखमय बन सकता है। इसलिये मनुष्य को उनकी तृप्ति के लिए अनेक कर्मों का सम्पादन करना चाहिए। यह यज्ञ दो प्रकार से सम्पन्न किया जाता था-तर्पण और श्राद्ध।

तर्पण : देवताओं एवं पितरों को जल, अन्नादि से तृप्त करना 'तर्पण' है।¹²⁸ यह आरम्भिक युग से ही देवताओं एवं पितरों के प्रति आदर-सम्मान की भावना से किया जाता रहा है। ऐसी मान्यता थी कि देवता लोग पितरगणों के साथ स्नान के लिए आते हुए मनुष्य का जल की इच्छा से वायु का रूप धारण करके अनुसरण करते हैं। इस विषय में कात्यायन ने बड़ा सुन्दर वर्णन प्रस्तुत किया है- 'जिस प्रकार शरत्काल की धूप से पीड़ित मनुष्य छाया की, प्यासा व भूखा व्यक्ति जल व अन्न

की, छोटा बालक अपनी माता की, माता अपने बालक की, स्त्री पुरुष की तथा पुरुष स्त्री को पाने की इच्छा करता है उसी प्रकार संसार के समस्त प्राणी चाहे वे स्थावर हो या जड़गम, मनुष्य से जल की इच्छा किया करते हैं। इसलिये मनुष्य को सदैव इनका तर्पण करना चाहिये। जो मनुष्य इनका तर्पण नहीं करता वह भीषण (घोर) पाप से युक्त होता है। यदि वह तर्पण करता है तो पुण्य से युक्त होता हुआ समस्त विश्व का भरण-पोषण करता है।

शंखस्मृति के समय में स्नान करके जप के उपरान्त पूर्व दिशा की ओर मुख करके दैवतीर्थ से देवताओं को जल देने तथा दक्षिण की ओर मुख करके पितृतीर्थ से पितरों को तिलयुक्त जल देने का विधान था। जल के अतिरिक्त अन्न या दध. मूल और फलों से भी प्रतिदिन तृप्त करने का वर्णन मिलता है। यह तर्पण सविधि करना आवश्यक था। सर्वप्रथम पूर्व दिशा की ओर मुख करके दैवतीर्थ से देवताओं का तर्पण किया जाता था। तत्पश्चात् 'ॐ भगवन्तं शेषं तर्पयामि' अर्थात् अब मैं भगवान् शेष का तर्पण करता हूँ, ऐसा कहकर क्रमपूर्वक अन्य देवों-काल, अग्नि, रुद्र, रुक्मभौम, श्वेतभौम, सात पाताल¹²⁹, जम्बुद्वीप, शाकद्वीप, गोमेद, पुष्कर (अजमेर के निकट एक प्रसिद्ध तीर्थ स्थान या वायु, आकाश व अन्तरिक्ष), शार्वर (रात्रि), स्वधामान (सादर मृत पितरों को दी गई हवि की आहुति), हिरण्यरोमा, कल्प (सृष्टि के अन्त तक) तक रहने वाले लोकों, सात समुद्रों-लवणसागर, क्षीरसागर, घृतसागर, इक्षुसागर, स्वादुसागर, दयासागर, विद्यासागर को क्रम से पुरुषसूक्त के द्वारा प्रत्येक ऋचा के साथ जलाञ्जलि दी जाती थी तथा भक्तिपूर्वक पुष्प अर्पित किये जाते थे। उसके बाद अपसव्य¹³⁰ होकर अर्थात् उपवीत को दाहिने कंधे के ऊपर से बायें हाथ के नीचे धारण कर, दक्षिण दिशा की ओर मुख करके, हाथों को घुटनों के अन्दर करके, सोने, चाँदी, गूलर, गेंडे की खाल से बने पात्रों व अन्य पात्रों से पितृतीर्थ को स्पर्श करते हुए मन्त्रोच्चारणपूर्वक पितरों को श्रद्धा के साथ जल दिया जाता था।

यहाँ पर तर्पण के लिए चाँदी, सोने व ताँबे के पात्रों, तिलों, कुशाओं तथा मन्त्रों के प्रयोग की अनिवार्यता को अभिव्यक्त किया गया है, क्योंकि इनके अभाव में जल पितरों को प्राप्त नहीं होता। जल सर्वप्रथम पितृपक्ष में सात पीढ़ियों तक जितने नाम स्मरण हो, उन्हें क्रमपूर्वक दिये जाने का विधान था, यथा-पिता, पितामह, प्रपितामह, माता, दादी, परदादी, नाना, नानी एवं परनानी। तत्पश्चात् गुरुजनों का और मातृपक्ष

वालों का, उसके उपरान्त सम्बन्धियों एवं बान्धवजनों का, फिर मित्रजनों का तर्पण करना होता था।

यह तर्पण तट पर आकर पवित्र स्थान पर करने का विधान था जबकि जल में, जलपात्र में, कुद्ध मन से एवं एक हाथ से पितरों को तर्पण करना वर्जित था।¹³¹ इससे ज्ञात होता है कि पितरों को जलाञ्जलि पवित्र भूमि पर दी जाती थी। इसके साथ ही पितरों को जल दिये बिना, जिन वस्त्रों को धारणकर उसने स्नान किया है उसे भी निचोड़ना निषिद्ध था¹³², क्योंकि ऐसा करने पर पितर निराश होकर चले जाते हैं, ऐसी मान्यता थी। इस प्रकार दिये गये जल से देवगण एवं पितरगण प्रसन्न होते हैं और व्यक्ति को अक्षय फल की प्राप्ति होती है।

श्राद्ध - पितरों को सन्तुष्ट करने के लिए प्रतिदिन अन्न, जल अथवा दूध, मूल और फलों से श्राद्ध करने का भी विधान था। श्राद्ध में तर्पण के समान ही पितृतीर्थ से पितरों को जलादि अर्पित करना होता था।¹³³ श्राद्ध की सम्पन्नता के लिए ब्राह्मणों को आमन्त्रित किया जाता था। गृहस्थ अपनी सामर्थ्यानुसार एक या अधिक ब्राह्मणों को आमन्त्रित कर सकता था। श्राद्ध में आमन्त्रित ब्राह्मण को श्रद्धापूर्वक भोजन खिलाकर, आचमन आदि कराकर, दक्षिणा देकर, अभिवादन और अनुगमन करके विदा करता था। इस प्रकार पितरगण मनुष्यों के द्वारा दिये हुए श्राद्धों से प्रसन्न होकर सदा सन्तान, पौष्टिकता, कीर्ति, स्वर्ग, नीरोगता और धन प्रदान करते हैं, ऐसी धारणा थी। मन्वादि स्मृतियों में इसी प्रकार का वर्णन उपलब्ध होता है।

ब्रह्मयज्ञ - स्वाध्याय करना 'ब्रह्मयज्ञ' है।¹³⁴ इस यज्ञ का ध्येय गृहस्थ को ज्ञानवर्धन के लिए वेद व अन्य शाखों के अध्ययन में लगाना तथा वेदाध्ययन की परम्परा को सुरक्षित रखना था। वस्तुतः गृहस्थ के लिए प्रतिदिन वेदादि शास्त्रों का अध्ययन आवश्यक था। अन्य स्मृतिग्रन्थों में भी इसका विशद् वर्णन मिलता है। याज्ञवल्क्यस्मृति में व्यक्ति को वेद, अथर्ववेद मन्त्रों, पुराणों, इतिहासों एवं दार्शनिक ग्रन्थों का अध्ययन अपनी योग्यता के अनुसार करने को कहा गया है। जिससे वह उस ज्ञान में पूर्ण सफलता प्राप्त करने में समर्थ हो जाए।

दक्षस्मृति में वेदाभ्यास पाँच प्रकार से करने का वर्णन मिलता है- सबसे पहले वेद का ज्ञान प्राप्त करना, तत्पश्चात् उस पर मनन करना, उसकी आवृत्ति करना, उसे जपना और अन्त में उसे शिष्यों को देना। कात्यायनस्मृति में इसके महत्त्व को निर्दिष्ट करते हुए कहा है कि- 'ब्रह्मयज्ञ से बढ़कर कोई यज्ञ नहीं है और विद्यादान

से बढ़कर कोई दान नहीं है, सभी यज्ञों का आधार यह ब्रह्मयज्ञ ही है। जो ब्रह्मयज्ञ में स्वाध्याय के साथ-साथ अध्यापन की व्यवस्था को भी अभिव्यक्त करता है। अतः स्वाध्याय ही मनुष्य को अमर बनाता है।

नयज्ञ - अतिथि का सत्कार या सम्मान करना 'नयज्ञ' है।¹³⁵ इस यज्ञ के मूल में मानवमात्र के प्रति दया और सेवा की भावना निहित थी। प्राचीनकाल से ही अतिथि को देवस्वरूप माना गया है- 'अतिथिदेवो भव' और अतिथि पूजा को सभी धर्मों में श्रेष्ठ बताया गया है।¹³⁶ शंखस्मृति के समय में भी अतिथि सेवा प्रत्येक गृहस्थ का प्रधान धर्म था। अतिथि के महत्त्व को प्रदर्शित करते हुए कहा गया है, कि- 'जिस प्रकार पति स्त्रियों का स्वामी है, और ब्राह्मण वर्गों का स्वामी है, उसी प्रकार अतिथि गृहस्थ का स्वामी है। गृहस्थ न यज्ञों से, न दक्षिणाओं से और न ही अग्नि की सेवा से स्वर्ग को प्राप्त करता है'¹³⁷ वह तो अतिथि पूजा के द्वारा स्वर्ग को प्राप्त करता है।" अतएव प्रत्येक गृहस्थ अतिथि के उपस्थित होने पर भोजन, शयन आदि के द्वारा उसकी विधिवत् पूजा करता था।¹³⁸ अन्य स्मृतिकारों ने भी इसी प्रकार अतिथि सेवा का विधान किया है।

मनु एवं याज्ञवल्क्य का तो यह भी कथन है कि यदि गृहस्थ के पास सत्कार के लिए कुछ भी न हो तो उसे जल, निवास एवं मधुर वाणी से ही अतिथि का सत्कार करना चाहिए, इन सबका सज्जनों के घर में कभी अभाव नहीं होता, किन्तु घर आए अतिथि का आदर-सत्कार न करने पर, उसके निराश लौट जाने पर, ऐसा माना जाता है कि अतिथि गृहस्थ के समस्त पुण्यों को ले जाता है।

इसलिये गृहस्थ को सब प्रकार के प्रयत्नों से घर आए हुए अतिथि की भोजन, जल, शय्या आदि के द्वारा विधिवत् पूजा करनी चाहिए।

पञ्चमहायज्ञों के सम्पादन में ऋणों से मुक्ति की भावना भी निहित थी, जिसका उल्लेख शंखस्मृति में नहीं किया गया है, किन्तु पञ्चमहायज्ञों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि गृहस्थ इन यज्ञों के द्वारा ही तीन ऋणों से ऋण हो सकता था। भारतीय संस्कृति में उत्पन्न होते ही व्यक्ति पर मुख्यतया तीन ऋणों का भार माना जाता है-देवऋण, ऋषिऋण तथा पितृऋण। व्यक्ति ईश्वरप्रदत्त सृष्टि के विभिन्न तत्त्वों-जल, वायु, प्रकाश, भूमि, आकाश आदि से सुविधा प्राप्त करता है जिससे वह देवताओं का ऋणी हो जाता है, यह 'देवऋण' है। ब्रह्मचर्याश्रम में वह गुरु की कृपा से ज्ञान प्राप्त कर विकास करता है और वह गुरु का ऋणी बन जाता है, इसे 'ऋषिऋण'

कहते हैं। इसके अतिरिक्त माता-पिता उसे जन्म देते हैं और उसका पालन-पोषण करते हैं, अतः यही पितृऋण है।

इन तीन ऋणों से उच्छृण होना प्रत्येक गृहस्थ का अनिवार्य कर्तव्य था। वह यज्ञादि कार्यों से देवऋण, स्वाध्याय व अध्यापन द्वारा ऋषिऋण तथा सन्तानोत्पत्ति व श्राद्ध से पितृऋण से मुक्त हो पाता था।¹³⁹ मनुस्मृति में इन ऋणों की व्याख्या करते हुए वर्णित है कि विधिपूर्वक वेदों को पढ़कर, धर्मानुसार सन्तानोत्पत्ति कर और सामर्थ्यानुसार यज्ञों (पञ्चमहायज्ञ व होम आदि) का अनुष्ठान कर द्विज मोक्ष अर्थात् मोक्ष के साधक संन्यासाश्रम में मन को लगावे। इनसे ऋण हुए बिना मोक्षेच्छुक या संन्यास का पालन करने वाला द्विज नरक को प्राप्त करता है।¹⁴⁰

वस्तुतः देवयज्ञ से देवऋण, ब्रह्मयज्ञ से ऋषिऋण एवं पितृयज्ञ से पितृऋण से उच्छृण हो सकता था। इन ऋणों से मुक्ति के मूल में देवों, पितरों-पूर्वजों, ऋषियों आदि के प्रति श्रद्धावनत और विनीत रहने का भाव निहित था। साथ ही इनका धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक तथा पारिवारिक महत्त्व भी था।

इस प्रकार नैतिकता और धार्मिकता पर आधारित इन पञ्चमहायज्ञों के विधिवत् पालन से व्यक्ति एक ओर पाप तथा ऋणों से मुक्ति पाता था तो दूसरी ओर समाज व राष्ट्र के कल्याण कार्य में संयुक्त होता हुआ अपने आध्यात्मिक जीवन का मार्ग प्रशस्त करता था।

संस्कार - जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त के सभी संस्कारों-गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, निष्क्रमण, अन्नप्राशन, चूडाकर्म, कर्णछेदन, वेदारम्भ, उपनयन आदि को सम्पन्न करना भी गृहस्थ का प्रमुख दायित्व था। जो व्यक्ति के जीवन को परिष्कृत, धर्मनिष्ठ, सुसंस्कृत करने तथा उसके व्यक्तित्व के निर्माण में सहायक है। इनका विस्तृत विवेचन संस्कार अध्याय में किया जा चुका है।

अर्थ - गृहस्थ का कर्तव्य था कि वह अपने वर्णधर्म का पालन करते हुए धनार्जन करें।¹⁴¹ क्योंकि गृहस्थ के समस्त प्रयोजनों- पञ्चमहायज्ञ, संस्कार दान, अतिथि सत्कार, परिवार तथा अन्य आश्रमवासियों के भरण-पोषण की सिद्धि अर्थपर रहता है। अतएव यही धर्म और काम का मूल है।¹⁴² श्रुतिस्मृति में धर्मानुकूल अनिन्दित कर्मों से धन सञ्चय करने का आदेश दिया गया है। मन्वादि स्मृतियों में भी इसी प्रकार का वर्णन प्राप्त होता है।

इस प्रकार गृहस्थाश्रम तपस्या का वह स्थल था, जहाँ पर व्यक्ति निस्वार्थ और सात्विक भाव से धर्म का पालन करते हुए विभिन्न कर्मों-नैतिकता एवं शुद्धता सम्बन्धी, यज्ञ, देवताओं व पितरों का पूजन, प्राणियों का भरण-पोषण, अध्ययन-अध्यापन, माता-पिता, गुरुजनों की सेवा, संस्कार, अर्थोपार्जन आदि का कर्तव्यनिष्ठता के साथ निर्वाह करता था। जो तत्कालीन समाज के धार्मिक, सामाजिक, पारिवारिक एवं सांस्कृतिक परम्पराओं का चित्रांकन प्रस्तुत करते हैं।

वानप्रस्थाश्रम - आयु का तृतीय भाग वानप्रस्थाश्रम था। इस आश्रम में वन की ओर प्रस्थान करने के कारण इसे 'वानप्रस्थ' की संज्ञा दी गई थी। प्राचीन समय में इसके लिए 'वैखानस' शब्द का प्रयोग होता था।¹⁴³ इस आश्रम का मुख्य ध्येय व्यक्ति का बौद्धिक और आध्यात्मिक उत्कर्ष था। व्यक्ति विषय भोगों पर नियंत्रण कर, त्याग, तपस्या, साधनामय जीवन का निर्वाह करते हुए सत्य एवं ब्रह्मज्ञान की ओर अग्रसर होता था। वस्तुतः यह आश्रम एक प्रकार से संन्यासाश्रम में प्रवेश का पूर्वाभ्यास था। जब गृहस्थ कुल, परिवार, समाज के प्रति अपने सम्पूर्ण दायित्वों को पूर्ण कर लेता था तब वह इनसे विरक्त होकर वन में निवास करता था। वन में रहकर वह अपने जीवन के दीर्घकालीन अनुभवों और त्यागमय आदर्शों के आधार पर समाज के प्राणियों-ब्रह्मचारी आदि को अधिकाधिक लाभान्वित करते हुए, उन्हें मोक्ष मार्ग में प्रवृत्त करने हेतु नियमों व सदाचरणों का प्रशिक्षण देता था।

शंखस्मृति के अनुसार जब गृहस्थ की त्वचा शिथिल, उसके केश श्वेत तथा पुत्र का भी पुत्र हो जाता था तब वह गृह का त्यागकर वानप्रस्थी हो जाता था। वह अपनी भार्या के साथ अथवा उसको पुत्रों के संरक्षण में छोड़कर एकाकी आश्रम में प्रवेश कर सकता था।¹⁴⁴ मनु का भी यही कथन है। टीकाकार कुल्लूकभट्ट के मत से व्यक्ति पचास वर्ष की अवस्था हो जाने पर भौतिक सुख एवं वासनाओं का त्यागकर वन में आश्रय ले। यहाँ पर इस अवस्था का निर्धारण इसलिए किया गया, क्योंकि इस समय तक गृहस्थ सामान्यतः अपने समस्त कर्तव्यों-यज्ञ, दान, स्वाध्याय एवं ऋणादि का निर्वाह समुचित रूप से कर चुका होता है और उसका पुत्र गृहभार धारण करने तथा धनार्जन आदि कार्यों में समर्थ हो जाता है।

वानप्रस्थी के कर्तव्य - वानप्रस्थी ग्राम से बाहर वन में अत्यन्त साधारण जीवन-शैली का अनुसरण करते हुए तपस्वी जीवन व्यतीत करता था।¹⁴⁵ वह शारीरिक व मानसिक शुद्धि के लिए गृहस्थ के सदृश शौचाचार के नियमों का पालन करता था।

यद्यपि उसके लिए गृहस्थ की अपेक्षा तीन गुणा शौच का विधान था। साथ ही उसके लिए क्षमा, सत्य, मन एवं इन्द्रियों पर संयम, मन, वचन व कर्म की पवित्रता, अहिंसा, दया, उदारता आदि नैतिक गुणों के पालन पर विशेष बल दिया गया था। नित्य प्रति अग्निहोत्र करना उसका प्रधान कर्तव्य था। उसे वन से जो भी शाक, मूल, फल-फूल, कन्दादि भोज्य पदार्थ प्राप्त होते थे उनसे ही पितरों, देवताओं और अतिथियों का सत्कार तथा स्वयं का निर्वाह करना होता था। यदि उसे वन में उत्पन्न होने वाले भोज्य पदार्थ उपलब्ध न हो सके तो वह ग्राम से भिक्षा के रूप में आठ ग्रास लाकर संयम के साथ ग्रहण कर सकता था। यहाँ पर स्पष्ट होता है कि वानप्रस्थी को गृहस्थ की भांति पञ्चमहायज्ञों का सम्पादन करना होता था और यज्ञ में वन से प्राप्त हविष्यान्न का ही उपयोग करना पड़ता था। वह बुद्धि की निर्मलता, ज्ञानवर्धन एवं मोक्ष प्राप्ति हेतु प्रतिदिन नियमित रूप से धार्मिक ग्रन्थो-वेद-वेदाङ्गों का अध्ययन किया करता था। सिर पर जटाओं को धारण करता था। अपने शरीर को नाना प्रकार की तपश्चर्या से घोर कष्ट देता था, जिससे वह कठिन से कठिन परिस्थितियों में भी साधना करने का अभ्यासी हो जाये, यथा शरदऋतु में गीले वस्त्र धारण करके, ग्रीष्मऋतु में पञ्चाग्नि तप अर्थात् सूर्य की कड़ी धूप में, चारों दिशाओं में अग्नि को प्रज्वलित कर, उनके मध्य में स्थित हो तप करके तथा वर्षाऋतु में खुले आकाश के नीचे भूमि पर शयन करके इत्यादि। उसके लिए रात्रि में ही भोजन करने का विधान था या फिर वह चौथे काल अथवा छठे काल में भोजन कर सकता था।

अतः उसे दिन में यथासम्भव एक बार भोजन करना होता था। यद्यपि वानप्रस्थी के साथ भार्या का वन में गमन करना व न करना वानप्रस्थी व उसकी भार्या की इच्छा पर निर्भर था तथापि उसे पूर्णतः ब्रह्मचर्यव्रत का पालन करना होता था, भले ही भार्या साथ हो।¹⁴⁶ उसके लिए उपवास को अत्यधिक महत्त्व दिया गया था। शंखस्मृति में उल्लिखित है कि "वानप्रस्थी न अग्नि की पूजा से, न सहनशीलता से और न ही विविध प्रकार के स्नान से स्वर्ग को जाता है वह तो उपवास से स्वर्ग को प्राप्त करता है।

अतएव उपवास को स्वर्ग प्राप्ति का हेतु माना गया था। इसलिये इसका कठोरता से पालन आवश्यक था। मनुस्मृति एवं याज्ञवल्क्यस्मृति में भी शंखस्मृति के समान वानप्रस्थी के कर्तव्यों का वर्णन मिलता है। साथ ही इन स्मृतियों में

वानप्रस्थी को मृगचर्म, वृक्षों के छाल, नाखूनों को धारण करने, सांयकाल एवं प्रातःकाल स्नान करने तथा दाढ़ी-मूंछ रखने का भी विधान किया गया है।

इस प्रकार वानप्रस्थी सादगीयुक्त जीवन जीते हुए सांसारिक भोग-विलास या भौतिकता के प्रति अनासक्त हो, मानसिक अभ्युत्थान, पवित्रता, सात्विकवृत्ति, सहनशील एवं ज्ञान सम्पन्न होकर शनैः शनैः अपने आपको पूर्णतः समाज से दूर करता हुआ ब्रह्मप्राप्ति के योग्य बन सन्यासी हो जाता था।¹⁴⁷

सन्यासाश्रमः जीवन का अन्तिम भाग संन्यासाश्रम था। 'सन्यास' शब्द का अर्थ है-पूर्ण त्याग। 104 श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार काम्य कर्मों का परित्याग ही संन्यास है और कर्मफल के प्रति अनासक्त एवं करणीय कर्तव्यों के प्रति निष्ठा रखने वाला पुरुष ही सन्यासी है। 195 सत्यार्थप्रकाश में संन्यासी की निरुक्ति करते हुए सुकर्म के कर्ता और दुष्कर्मों के विनाश करने वाले को संन्यासी कहा गया है।¹⁴⁸ अतएव कामनाओं का त्यागकर सुकर्मों में प्रवृत्त रहना ही सच्चे अर्थों में संन्यास है। संन्यास का मूल उद्देश्य मोक्ष पुरुषार्थ की सिद्धि था। संन्यासी के लिए यति, ब्रह्माश्रमी, मुनि एवं भिक्षु शब्द का प्रयोग किया जाता था।⁽¹⁴⁹⁾ इस आश्रम में संन्यासी पूर्णरूप से जितेन्द्रिय और रागद्वेष से मुक्त होकर परमतत्त्व की प्राप्ति के लिए उपासनारत रहता था।

शंखस्मृति के अनुसार वानप्रस्थाश्रम के उपरान्त एक द्विज को ही संन्यास ग्रहण करने का अधिकार था,¹⁵⁰ शूद्रों को नहीं। शूद्रों के लिए तो केवल गृहस्थाश्रम ही विहित था। इस आश्रम में वानप्रस्थी को विधिवत् प्रवेश करना होता था। वह प्राजापत्य यज्ञ का अनुष्ठान कर अपनी समस्त सम्पत्ति को दक्षिणा के रूप में देकर तथा अग्नियों को अपने में समारोपित करके संन्यास का आश्रय लेता था। अन्य स्मृतिग्रन्थों में भी इसी प्रकार संन्यास ग्रहण करने की विधि बतलाई गई है। यहाँ पर सर्वस्व दान के पश्चात् यज्ञीय अग्नि को आत्मस्थ करने का निर्देश दिया गया है। इसका कारण यह है कि एक वानप्रस्थी अपने साथ अग्नि रख सकता था पर संन्यासी नहीं, क्योंकि संन्यासी में ही सभी अग्नियों की स्थिति मानी गई है। अथर्ववेद के एक मन्त्र में वर्णित है कि 'अभ्यासगत संन्यासियों का सामीप्य आहनीय अग्नि है, संन्यासी का निवास गार्हपत्य अग्नि है और जठराग्नि ही दक्षिणाग्नि है।'¹⁵¹ अतः ज्ञान की अग्नि से युक्त होने के कारण उसके लिए भौतिक अग्नि का कोई प्रयोजन नहीं था।

संन्यासी के कर्तव्य: तत्कालीन समय में संन्यासी का जीवन परम आदर्श का जीवन था। वह सांसारिक और भौतिक मोह-माया से विलगपूर्ण एकाकी जीवन व्यतीत करता था। आत्मज्ञान एवं परमतत्त्व की प्राप्ति के निमित्त अपने शरीर और मन को दृढ़तापूर्वक तपाता था। क्षमा, सत्य, दम, पवित्रता आदि नियमों का पालन करना उसका परम धर्म था। उसे मात्र अपने गुप्तांगों के आच्छादन के लिए वस्त्रों को धारण करना होता था। वह एक स्थान से दूसरे स्थान पर विचरण करता रहता था, किन्तु सांयकाल होने पर उसे वहीं किसी एकान्त स्थान पर निवास करने का विधान था।¹⁵² वह केवल वर्षाऋतु में एक स्थान पर दो मास तक ठहर सकता था।¹⁵³ उसे भिक्षा से प्राप्त भोजन से निर्वाह करना होता था। भिक्षा सन्ध्या के समय ग्रहण करने का विधान था। जब रसोईघर धूम, अग्नि व मूसलादि बर्तनों की ध्वनि से रहित हो चुका होता था। सब जन भोजन खाकर निवृत्त हो जाते थे, लोगों का इधर-उधर आवागमन बन्द हो चुका होता था। तब वह प्रतिदिन भिक्षा के लिए ग्राम में जाता था। उसे सात गृहों से भिक्षा ग्रहण करनी होती थी। जिस गृह से पहले भिक्षा ली जा चुकी थी अर्थात् जहाँ पहले ही ब्राह्मण, पशु-पक्षी या अन्य लोगों के द्वारा अन्न ग्रहण किया जा चुका था, ऐसे गृहों से भिक्षा ग्रहण करना निषिद्ध था। भिक्षा के कम या अधिक मिलने या न मिलने पर वह प्रसन्नता या निराशा को अभिव्यक्त नहीं करता था, जितना मिल जाता था उसी में सन्तुष्ट रहता था। उसके लिए अधिक स्वादिष्ट भोजन करना तथा किसी अन्य के घर में रुककर भोजन करना निषिद्ध था। भिक्षा के लिए धातु निर्मित पात्रों का प्रयोग वर्जित था। उनके स्थान पर मिट्टी और तूँबी के पात्र योग्य माने गये थे, जिनकी शुद्धि माँजकर व जल से धोकर करनी होती थी।¹⁵⁴ भली प्रकार भूमि पर देखकर चलना, वस्त्र से छानकर जल पीना, सदैव सद्वचनों का प्रयोग, मन से पूर्ण पवित्र होकर आचरण करना संन्यासी के विशिष्ट गुण थे, जिससे किसी जीव या प्राणी को किसी प्रकार का काम न हो। वह चन्दनादि वस्तुओं तथा प्रिय-अप्रिय, सुख-दुःख, लाभ-हानि आदि के प्रति समानभाव रखता था। सब प्राणियों के प्रति कल्याण व मित्रता का भाव रखते हुए तथा मिट्टी एवं सोने दोनों में समदृष्टि रखते हुए स्थिरबुद्धि वाला व मननशील होकर नित्य ईश्वर के ध्यान में रत रहता था।¹⁵⁵ उसके लिए अपने जीवन में वैराग्य या अकामता को प्राप्त करना अपरिहार्य था। जिसके लिए वह अपनी इन्द्रियों का निग्रह कर स्थूल शरीर और संसार की असारता के विषय में चिन्तन किया करता था, यथा-यह शरीर विभिन्न अपवित्र पदार्थों से युक्त है,

रोगपूर्ण होने के कारण दुःखों का होना स्वाभाविक है, गर्भाधान से लेकर मृत्युपर्यन्त अनेक कठिनाईयों का सामना करना पड़ता है अतः यह शरीर नश्वर है।

इसी प्रकार संसार क्षण-भंगुर है, पर मनुष्य को अपने कर्मों के अनुसार इसे भोगना पड़ता है। इस सत्यता का वह सदैव विचार करता था जिससे वह सभी प्रकार के दुःखों के प्रति निर्वेदता को प्राप्त कर लेता था। मन्वादि स्मृतियों में भी इसी प्रकार के विचार प्राप्त होते हैं।¹⁵⁶ इसके अतिरिक्त सन्यासी के लिए योग-साधना में लीन रहना अनिवार्य था, क्योंकि योग के द्वारा ही वह रागादि दोष, पाप, विषय-संसर्ग, अज्ञान, लोभादि दुर्गुणों को नष्ट करता हुआ ब्रह्म का साक्षात्कार करता था। सन्यासी के लिए योग का अत्यधिक महत्त्व होने के कारण ही शंखस्मृति में इसका विशद विवेचन किया गया है जो निम्न प्रकार से है

योग - योग शब्द 'युज्' धातु से 'घञ्' प्रत्यय लगने पर निष्पन्न हुआ है जिसका अर्थ है-जोड़ना, मिलाना, मन का संकेन्द्रीकरण या परमात्म चिन्तन। योगसूत्रकार ने इसे परिभाषित करते हुए लिखा है-योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः। अर्थात् चित्तवृत्तियों के निरोध को योग कहते हैं। यहाँ चित्त से अभिप्राय 'मन' एवं वृत्तियों से अभिप्राय 'आन्तरिक क्रियाओं' या 'स्वभाव पर नियंत्रण' से है। जब तक चित्तवृत्तियाँ बाह्य विषयों में रमण करती रहेंगी, तब तक चित्त स्थिर एवं शान्त नहीं हो पाएगा और अशान्त मन परमात्म चिन्तन नहीं कर सकता। योग के द्वारा ही साधक चित्तवृत्तियों का निरोध व चित्त का संकेन्द्रीकरण मात्र परमात्मा में कर जीवात्मा व परमात्मा के ऐक्य को स्थापित कर सकता है। अतएव विभिन्न सांसारिक विषयों में रत इन्द्रियों को हटाकर मन को परमात्म-चिन्तन में लगाना ही 'योग' है।

शंखस्मृति में योग की महत्ता को प्रतिपादित करते हुए कहा गया है कि 'सन्यासी को परमसिद्धि की प्राप्ति न भिक्षाचरण से, न मौन रहने से और न ही एकान्तवास से होती है, वह तो केवल योगानुष्ठान से प्राप्त होती है। शंखस्मृति में योग के चार अंगों-प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा और ध्यान का वर्णन उपलब्ध होता है। जो ब्रह्म साक्षात्कार में सहायक हैं।

प्राणायाम - प्राणायाम शब्द 'प्राण' और 'आयाम' दो शब्दों के योग से बना है जिसमें प्राण का अर्थ 'वायु' तथा आयाम का अर्थ 'रोकना' है अर्थात् प्राणवायु को रोक लेना 'प्राणायाम' है। प्राण एक प्रकार की जीवन शक्ति है जिससे स्थूल पृथ्वी व अन्तरिक्ष में प्रत्येक वस्तु संचालित है।¹⁵⁷ समस्त जगत् इसी के वशीभूत है। यही मानव जीवन

का आधार है। यह प्राण ही आत्मा कहा गया है जो आत्मा से इस प्रकार सम्बद्ध है कि यदि शरीर से प्राण निकल जाए तो शरीर निष्क्रिय हो जाता है, जिसे आमभाषा में मृत्यु कहा जाता है। प्राणायाम के द्वारा ही प्राण- शक्ति को अपने अधीन तथा अनुकूल किया जा सकता है। जिस प्रकार धातुओं को आग में तपाने से उनके सभी दोष नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार प्राणों के निग्रह (प्राणायाम एवं योगसाधना) से इन्द्रियों से उत्पन्न कायिक, वाचिक और मानसिक समस्त पापों को जीव नष्ट कर देता है।¹⁵⁸ संन्यासी के लिए प्राणवायु को रोककर ओंकारपर्वक, व्याहृति और शिरोमन्त्र के साथ गायत्री का तीन बार पाठ करके 'प्राणायाम' करने का विधान था। जिसके द्वारा वह अपने सभी दोषों को नष्ट कर लेता था। **योगदर्शन में दोष पाँच प्रकार के कहे गये हैं-**

- अविद्या (अज्ञान, जिससे अन्य चारों की उत्पत्ति होती है),
- अस्मिता (व्यक्तित्व का भाव),
- राग (विषयों के प्रति आसक्ति),
- द्वेष (जो क्रोधपूर्वक पीड़ा एवं उसके कारणों में पाया जाता है) एवं
- अभिनिवेश (जीने की इच्छा)।¹⁵⁹

ये सभी दोष परमात्म-चिन्तन के बाधक तत्व हैं जिनका क्षय प्राणायाम से माना गया था। इसलिये महर्षि मनु ने प्राणायाम को परमतप की संज्ञा दी है, क्योंकि तप के बिना कर्मकलेशवासनाजन्य अशुद्धि छिन्न-भिन्न नहीं हो पाती।¹⁶⁰ यह प्राणायाम ही संन्यासी के अज्ञान के आवरण को नष्ट कर वैराग्य को उत्पन्न करता है, जब संन्यासी प्राण को रोक लेता है तब उसका मन विचलित नहीं होता, वह वश में हो जाता है और यह मन धारणा अर्थात् परमात्म-चिन्तन के योग्य हो जाता है।

प्राणवायु को किस प्रकार रोका जाए? इसका उल्लेख शंखस्मृति में नहीं मिलता है। योगियाजवल्क्य ने इसका सम्यक् निर्देश अपनी स्मृति में किया है। उनके अनुसार यह तीन प्रकार का होता है-पूरक, कुम्भक और रेचक। अंगूठे से नाक के दाये छिद्र को दबाकर बायें छिद्र से श्वास को धीरे-धीरे खींचकर अन्दर रोक लेना 'पूरक' है। श्वास को देर तक रोककर, अनामिका और कनिष्ठिका से नाक के बायें छिद्र को दबाकर, मंत्र जपना 'कुम्भक' है। दायें नाक के छिद्र से अंगूठे को हटाकर धीरे-धीरे वास छोड़ना 'रेचक' है। इन प्राणायामों को सम्पन्न करते समय पूरक के द्वारा नाभिदेश में भगवान् विष्णु का, कुम्भक के द्वारा हृदय में ब्रह्मा का तथा रेचक से ललाट में

'शंकर' का ध्यान करें। इस प्रकार देवताओं का ध्यान करते हुए प्राणायाम करने से साधक शुद्ध व पापों से मुक्त हो जाता है।¹⁶¹ अतएव योगसाधना व आध्यात्मिक प्रगति में प्राणायाम एक अति महत्त्वपूर्ण तत्त्व था।

प्रत्याहार - 'संहारश्चेन्द्रियाणाञ्च प्रत्याहारः प्रकीर्तितः। अर्थात् इन्द्रियों को उनके विषयों से निवृत्तकर अन्तर्मुखी बनाना 'प्रत्याहार' है। वस्तुतः इन्द्रियों का विषयों में भटकना ही जीव के मानसिक क्लेश का हेतु है। जो अनवरत विषयों की ओर आकर्षित होती रहती हैं, यथा-चक्षु रूप में, घ्राण गन्ध में, श्रवण शब्द में, रसना स्वाद में एवं त्वचा स्पर्श में।¹⁶² इनकी बहुत अधिक बाह्योन्मुखता जीव को विविध दोषों का भागी बनाती है। जीव जब भौतिक विषयों को ही सुख का साधन जानकर उनमें अत्यधिक रमण करने लगता है तब वह शनैः शनैः आध्यात्म से जो उसके लिए अनन्तसुखकारी है, विमुख हो जाता है और अज्ञान व विषयवासनाओं में लिप्त जीव को, सबके अन्दर निवास करने वाले परमेश्वर का साक्षात्कार नहीं होता।¹⁶³ प्रत्याहार के द्वारा ही वह अपनी बहिर्मुखी इन्द्रियों को अन्तर्मुखी करके, इन्द्रियों के समूह सहित मन को परमात्मरूपी लक्ष्य में स्थिर कर सकता है, क्योंकि इन्द्रियों के संयम से जीव का चित्त निर्मल व एकाग्र हो जाता है। राग-द्वेष-काम-क्रोध-ईर्ष्या इत्यादि दोषों का आवरण हट जाता है। इन्द्रियों की चंचलता, स्वच्छन्दता नष्ट हो जाती है। जिससे वे प्रकाशस्वरूप हो जाती हैं। हृदय में आत्मस्वरूप पूर्णतया आलोकित होने लगता है। अतएव हृदय में किसी प्रकार की अशुद्धि नहीं रहती और परमात्मा के साथ एकरूपता स्थापित करने की योग्यता आ जाती है। इस प्रकार बिना विषयासक्ति के त्याग के जीव मोक्ष तक नहीं पहुँच सकता।।

धारणा - 'मनसः संयमस्तज्जैर्धारणेतिनिगद्यते। अर्थात् मन का संयम (एकाग्रता) 'धारणा' है। योगदर्शनकार के अनुसार 'चित्त का देश-विशेष में बांध देना धारणा है।¹⁶⁴ तात्पर्य है कि मन को संयमित (एकाग्र) करके, उसे मात्र एक स्थान (परमात्मा) में केन्द्रित करना ही धारणा है। यह सत्य है कि संयमित मन अपारशक्ति युक्त होता है, किन्तु जब वह इन्द्रियों के विषयों के आकर्षण में बंध जाता है तब उसकी शक्ति क्षीण हो जाती है, क्योंकि मन का सम्बन्ध सभी इन्द्रियों के साथ है। यदि पाँच ज्ञानेन्द्रियों (चक्षु, कर्ण, त्वचा, रसना एवं नासिका), पाँच कर्मेन्द्रियों (वाक्, पाणि, पाद, पायु एवं उपस्थ) तथा मन में से मन का निरोध कर लिया जाए तो अन्य इन्द्रियाँ भी अपने-अपने विषयों से पराङ्मुख हो जाएंगी।¹⁶⁵ ये इन्द्रियाँ ही अपने विषयों की ओर

उन्मुख होने के लिए मन को बाध्य करती है। यदि मन उन पर अपना आधिपत्य स्थापित कर ले तो वह उन्हें अपनी इच्छानुसार विषय में प्रवृत्त कर सकता है। इसलिये शंखस्मृति में कहा गया है- 'जो बुद्धिरूपी सारथी वाला और मनरूपी लगाम के बन्धन वाला है वह इस जीवन यात्रा के उस पार विष्णु के उस परमपद को प्राप्त कर लेता है। इसलिये धारणा के द्वारा संन्यासी को समस्त पापों को नष्ट करने का निर्देश दिया गया है। जिससे ज्ञात होता है कि धारणा (मन की एकाग्रता) समस्त मानसिक, वाचिक एवं कायिक पापों को नष्ट कर देती है। पापों के नष्ट होने पर बुद्धि निर्मल हो जाती है और चित्त एकाग्र हो जाता है। यह एकाग्रता परमसुख प्राप्ति का साधन है, इसके अभाव में उस परमसुख की प्राप्ति नहीं हो सकती।

ध्यान - शंखस्मृति में ध्यान की प्रक्रिया सभी योग-क्रियाओं में श्रेष्ठ कही गयी है।¹⁶⁶ इसमें "हृदयस्थस्य योगेन देवदेवस्य दर्शनम्" को 'ध्यान' कहा गया है अर्थात् योग के द्वारा हृदय में स्थित परमेश्वर का चिन्तन ही ध्यान है। यहाँ धारणा व ध्यान में भेद है। धारणा में जहाँ चित्त को देश-विशेष में केन्द्रित किया जाता है, वहीं ध्यान में उसी स्थल पर (जहाँ साधक ने धारणा को सिद्ध किया है) ध्येय रूप परमात्मा का चिन्तन किया जाता है।¹⁶⁷ महर्षि शंख ने अपनी स्मृति में संन्यासी को इसी ध्यान के द्वारा अनीश्वरीय गुणों को नष्ट करने को कहा है।¹⁶⁸ इससे स्पष्ट होता है कि ध्यान से जीवभाव में रहने वाले सभी दोष नष्ट होकर ईश्वरत्व के लक्षण प्रकट होने लगते हैं जो योगचर्या का मुख्य ध्येय है।

अतः यही योग का सार-सर्वस्व है। इसलिये शंखस्मृति में ध्यान-योग के द्वारा परमात्मा का चिन्तन करने को कहा गया है।¹⁶⁹ ध्यान के द्वारा ही संन्यासी को परमपुरुष के सगुण रूप का ज्ञान होता है कि-सभी देव (सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि) हृदय में स्थित हैं,¹⁷⁰ परमपुरुष ही चरम सीमा है, वही परम गति है, वही सब प्राणियों में विद्यमान है, मोक्ष के लिए इसके अतिरिक्त और कोई अन्य मार्ग नहीं है।¹⁷¹ यह सब जानकर वह शोकरहित होकर आत्मा की तेजोमय महिमा को देख पाता है।¹⁷² तदनन्तर यह ध्यान की अवस्था समाधि का रूप ले लेती है। जिसमें उसे ब्रह्मानुभूति होने लगती है तथा अहंभाव विस्मृत हो जाता है और उस परमपुरुष को जानने वाला होकर सर्वविध भय से मुक्त हो जाता है तथा मोक्ष को प्राप्त करता है। अतएव नित्य ध्यान-योग में रत संन्यासी ही परमगति को प्राप्त करता है, ऐसी धारणा थी।¹⁷³

इस प्रकार संन्यास आश्रम में संन्यासी पारिवारिक सम्बन्धों, भौतिक बन्धनों और सांसारिक दुष्प्रवृत्तियों का त्यागकर, अपने शरीर को योग से पवित्र व ज्ञानयुक्त कर एकाग्र मन से भक्तिनिष्ठ होकर ब्रह्म का ध्यान करता था। वह समाज से पृथक् होकर भी अपने गुणों, सद्गुणों, मानवतावादी चिन्तन एवं कार्यों से समाज का पथ-प्रदर्शन कर आदर्श की ओर अग्रसर होता था और अन्ततः ब्रह्ममय हो जाता था अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर लेता था।

इस प्रकार चारों आश्रमों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि यह व्यवस्था, अत्यन्त सुदृढ़, सुनियोजित और मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों पर आधारित थी। यह समाज के सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन-दर्शन का प्रतिनिधित्व कर मानव कल्याण के आदर्श का चित्रांकन प्रस्तुत करते हुए, उसे व्यक्तिगत स्वार्थ से ऊपर उठाकर समष्टि के कल्याण के लिए कृत संकल्प बनाती थी। समाज में पारस्परिक सहयोग की भावना का उदय कर सामञ्जस्य बनाए रखती थी। इसी के द्वारा व्यक्ति अपने भौतिक जीवन के साथ-साथ आध्यात्मिक जीवन को भी सफल बना पाता था। अतएव इस व्यवस्था का नियमपूर्वक पालन करने वाला व्यक्ति परमगति अर्थात् मोक्ष को प्राप्त करता था।¹⁷⁴

3. संस्कार एवं आश्रम व्यवस्था से परिवार एवं समाज पर प्रभाव

परिवर्तन सृष्टि का नियम है। जो काल, परिस्थिति, देश के अनुरूप होता रहता है। परिवर्तन की इस धारा से आश्रमव्यवस्था भी प्रभावित हुए बिना न रह सकी। जैसे-जैसे समाज की परम्पराओं, मान्यताओं, रीति-रिवाजों में परिवर्तन हुआ वैसे-वैसे व्यक्ति की बौद्धिक क्षमता में भी परिवर्तन होता गया। फलतः आश्रमव्यवस्था का स्वरूप परिवर्तित होता रहा। वर्तमान भारतीय समाज में तो आश्रमव्यवस्था का मूलभूत स्वरूप परिवर्तित हो चुका है। आयु के अनुसार आश्रमों में प्रवेश देखने को नहीं मिलता। समर्थ कुटुम्ब वाले भी वानप्रस्थ अथवा संन्यास नहीं लेते और न ही अन्य आश्रमों के भरण-पोषण की दृष्टि से आय-व्यय करते हैं जबकि यह व्यवस्था व्यक्तित्व निर्माण के साथ-साथ समाजकल्याण के लिए भी थी। परिवर्तित आश्रमव्यवस्था निम्न प्रकार से है

मनुस्मृति काल में बालक की शिक्षा का प्रारम्भ ब्रह्मचर्याश्रम में उपनयन संस्कार से होता था। इस आश्रम में न केवल शिक्षा अपितु बालक के सम्पूर्ण व्यक्तित्व के विकास पर भी बल दिया जाता था। शिष्य गुरुगृह में रहकर विद्यार्जन

करता था। साथ ही गुरु के अनुशासन में इन्द्रिय-संयम (ब्रह्मचर्य), बौद्धिक (वेद-ग्रहण), आत्मिक (व्रतादेशन) उन्नति के लिए अनुशासन, कर्तव्यपालन, नैतिकता, आचरण की शुद्धता, पवित्रता आदि गुणों को ग्रहण करता था और चरित्र-निर्माण करते हुए आदर्श स्थिति को प्राप्त करता था। आज शिक्षा, शिक्षा के माध्यमादि सभी परिवर्तित हो चुके हैं। आधुनिक शिक्षण संस्थानों-विद्यालयों, महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों तथा संस्थानों आदि में इस प्रकार के उपनयन का सर्वथा अभाव है, किन्तु जहाँ परम्परागत ढंग से गुरुकुल प्रणाली के माध्यम से शिक्षा दी जाती है वहाँ बालक की शिक्षा का प्रारम्भ अभी भी उपनयन संस्कार से होता है। कुछ आधुनिक गुरुकुलों के नाम संस्कार अध्याय में वर्णित किये जा चुके हैं।

एक द्विज को जहाँ निर्धारित आयु में वेदाध्ययन का अधिकार था और वर्णानुसार विभिन्न प्रकार के मेखला, वस्त्र, दण्ड एवं यज्ञोपवीत धारण करने होते थे वहीं आज सभी जाति, धर्मों, सम्प्रदायों के बच्चों को शिक्षा ग्रहण करने का अधिकार है। बालक की शिक्षा प्राप्ति की अब कोई निश्चित आयु निर्धारित नहीं की गई है। माता-पिता अपनी इच्छानुसार बालक की बौद्धिक क्षमता के अनुरूप चार या पाँच वर्ष की आयु में विद्यालय भेज सकते हैं। सभी के परिधान भी अपनी-अपनी संस्था के अनुसार हैं, कोई सामान्य नहीं। आज मात्र गुरुकुलों में उपनयन के अवसर पर प्रत्येक छात्र को समान रूप से साधारण स्वच्छ वस्त्र, दण्ड, मेखला एवं यज्ञोपवीत धारण करवाये जाते हैं और भिक्षाचरण की क्रिया भी सम्पन्न की जाती है। यहाँ दण्ड धारण एवं भिक्षाचरण उसके दैनिक जीवन के अभिन्न अंग न होकर मात्र नियम के पालन हेतु करवाये जाते हैं, क्योंकि परिस्थितिवश अब इनकी अनिवार्यता समाप्त हो चुकी है। लेकिन गुरुकुलों में अग्निकर्म एवं सन्ध्योपासना आदि क्रियाओं को अभी भी प्रतिदिन किये जाने का विधान है। आज अधिकांशतः गुरुकुलों में भोजनादि समस्त वस्तुओं की व्यवस्था उपलब्ध है। प्रशासन एवं विभिन्न शिक्षण संस्थानों की ओर से निर्धन तथा मेधावी छात्र-छात्राओं को शिक्षा पूर्ण करने हेतु छात्रवृत्तियों दी जाती है।

उस समय शिक्षा के क्षेत्र में गुरु और अध्यापक-ये दो श्रेणियाँ थी जबकि वर्तमान में अध्यापक, उपआचार्य, आचार्य, सहायक प्राध्यापक, सह-प्राध्यापक, प्रवाचक, प्राध्यापक आदि हैं। उस समय वेद-वेदाङ्गों के अध्ययन पर विशेष बल दिया जाता था पर अब इनके अतिरिक्त ज्ञान के अनेक शास्त्र विद्यमान हैं। बालक विद्यालयी स्तर पर हिन्दी, संस्कृत, विज्ञान, सामाजिक विज्ञान, राजनीतिक विज्ञान,

गृह-विज्ञान, गणित, अंग्रेजी आदि विभिन्न विषयों का ज्ञान प्राप्त कर अपनी अभिरुचि के अनुसार विषयों का चयन करके उच्च स्तर तक शिक्षा जारी रख सकता है। ब्रह्मचारी बालक के लिए जहाँ अमावस्या, पूर्णिमा, सूर्य व चन्द्र ग्रहण, मेघों की गर्जना, बाजों के कोलाहल आदि के समय वेदाध्ययन का निषेध था वहीं आज इस प्रकार की तिथियों या परिस्थितियों को कोई महत्त्व नहीं दिया जाता है। इसके अतिरिक्त ब्रह्मचारी अर्थोपार्जन की वृत्ति नहीं अपना सकता था पर आज का विद्यार्थी अध्ययन और अध्यापन दोनों कार्य एक साथ कर सकता है और कर भी रहा है।

एक ब्रह्मचारी को भोग-विलास, वासनाओं का त्यागकर 'ब्रह्मचर्य' का पालन करते हुए धर्म की साधना करनी होती थी लेकिन आज के युग में 'ब्रह्मचर्य' शब्द के अर्थ में कुछ संकोच हुआ है। यह केवल अपनी कामविषयक वृत्तियों पर विजय प्राप्त करने के अर्थ में प्रयुक्त होता है। अनेकशः यह इससे भी अधिक संकुचित अर्थ में ग्रहण किया जाता है। तदानुसार यह अविवाहित व्यक्ति के अर्थ में आता है। जबकि ब्रह्म अर्थात् 'ज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में विचरण करने वाले' अर्थ के अतिरिक्त ब्रह्म अर्थात् प्रत्येक ईश्वरीय गुण से युक्त व्यक्ति को ब्रह्मचारी कहा जाता था और कामवृत्ति के अतिरिक्त क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष, असत्याचरण इत्यादि दुष्प्रवृत्तियों से परे रहना ही ब्रह्मचर्य था। इसके साथ ही ब्रह्मचारी के लिए मधु व मांस का भक्षण, गायन, नृत्य, हिंसा, निन्दा, स्त्रियों के साथ क्रीड़ा करना आदि शास्त्र निषिद्ध कर्मों से दूर रहना तथा अपने शील की रक्षा करना, कार्य को निपुणता के साथ करना, गुरु के प्रति श्रद्धाभाव रखना, आदि आवश्यक था। अतः उसका जीवन विलासिता की आवश्यकताओं से बहुत परे होने के कारण आडम्बरहीन था, किन्तु आज के अधिकांशतः विद्यार्थी पाश्चात्य प्रभाव व अन्धानुकरण की प्रवृत्ति के कारण अनेक नशीले या मादक द्रव्यों धूम्रपान, मद्यपान, अफीम, मतिभ्रमकारी औषधियाँ (हैलुसिनाशन), भांग, चरस, कोकीन इत्यादि का सेवन करने लगे हैं। पाश्चात्य जीवन दर्शन से प्रभावित विद्यार्थी शारीरिक एवं मानसिक आनन्द के लिए क्लब, होटल आदि में भी जाते हुए देखे जाते हैं और पथभ्रष्ट हो जाते हैं। जिससे समाज में अपराधों तथा रोगों की वृद्धि होती जा रही है। इसी कारण उनमें आज वह ओजस्विता व तेजस्विता नहीं है जोकि गुरुकुलों में रहने वाले ब्रह्मचारियों के जीवन में रहती थी।

निक्षिप्त रूप से एक विद्यार्थी को भोग-विलासिता के पदार्थों से तथा पापाचरण से सदैव दूर रहना चाहिये।

गुरु को देवता के समान माने जाने वाले आदर्श को भी आज शिक्षण संस्थानों में विस्मृत कर दिया गया है। वस्तुतः आज के विद्यार्थी में नैतिक गुणों का अभाव होता जा रहा है, क्योंकि आज का विद्यार्थी प्रारम्भ से ही उत्तेजक वातावरण में रहता है और बहुत ही शीघ्र सांसारिक भोगों का उपभोग करना आरम्भ कर देता है। गृहस्थाश्रम के आते-आते उसकी शक्तियाँ क्षीण हो चुकी होती हैं, परिणामस्वरूप वह पूर्णकाम नहीं हो पाता, जबकि पच्चीस वर्ष की अवस्था तक ब्रह्मचर्य व्रत के पालन में गुरुकुल शिक्षा पद्धति का बड़ा ही महत्त्व था, जिसके अन्तर्गत अनुकूल वातावरण की सहज प्राप्ति अति सहायक सिद्ध होती थी। वर्तमान युग में प्रदर्शित चल-चित्रों में कामुकता का नग्न प्रदर्शन तथा काम-वासनाओं के विषय पर केन्द्रित उपन्यासों की कथावस्तु, क्या संयमित जीवन के प्रेरणा स्रोत हो सकते हैं? कभी नहीं। यही कारण है कि आज शिक्षा के उच्च शिखर पर पहुँच जाने पर भी छात्रों में गुरु सेवा, तपश्चर्या, विनम्रता, धैर्यता आदि का अभाव मिलता है।

आज के विद्यार्थी के लिए भी गुरुकुल के समान सात्विक वातावरण का होना अनिवार्य है, जिसका कि हमारी इन्द्रियों पर अनुकूल प्रभाव पड़े। तामसिक वातावरण में इन्द्रियाँ उत्तेजित हो उठती हैं। हमारे आस-पास का वातावरण मित्रवर्ग, उठने-बैठने के स्थान, ग्रन्थादि इस प्रकार के हों, जो हमारे जीवन का उत्कर्ष कर सके। आज नगरों व ग्रामों में बने घरों का स्थान इतना संकुचित होता है कि न बालक उनमें सुविधापूर्वक रह सकता है और न उनमें रहकर सम्यक् रूप से अध्ययन कर सकता है। उच्चवर्ग तथा कुछ मध्यमवर्ग के छात्र-छात्राओं को छोड़कर अधिकांशतः निम्नवर्ग के छात्र-छात्राओं को अधिक कठिनाई का सामना करना पड़ता है।

तत्कालीन समाज में जहाँ ब्रह्मचर्याश्रम का समापन समावर्तन संस्कार से होता था वहीं आधुनिक शिक्षण-संस्थानों में भी इस संस्कार की छाप दिखाई देती है। विद्यार्थियों के द्वारा स्नातक की परीक्षा उत्तीर्ण करने के उपरान्त जो महाविद्यालयों या विश्वविद्यालयों से उपाधि-पत्र दिया जाता है वही आधुनिक संस्थानों का बालक के लिए समावर्तन है। परन्तु आज गुरुकुलों तथा अन्य संस्थानों से समावर्तन के पश्चात् भी छात्र उच्च शिक्षा को प्राप्त कर तथा आजीविका ग्रहण कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है। वस्तुतः बालक की शिक्षा अब स्नातक तक सीमित नहीं रह गई है। इसके

अनन्तर भी वह अनेक उपाधियों को प्राप्त कर जीवन को सुखमय बनाने का यथासम्भव प्रयास करता है।

दूसरा आश्रम 'गृहस्थ' था। इस आश्रम में संयम परस्परार्पण, त्याग, निष्ठा और सेवा के आदर्श को प्रधानता दी गई थी। प्रत्येक व्यक्ति यह अनुभव करता था कि वह समाज का ऋणी है और वह समाज कल्याण की ओर अग्रसर होता था। वर्तमान युग में भी गृहस्थाश्रमी लोग सब जगह देखने को मिलते हैं, किन्तु यह अपने जिस आदर्श रूप में था वह अब नहीं रहा है। गृहस्थ के लिए जहाँ सर्वप्रथम अपने समान वर्ण वाली कन्या से विवाह कर, गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने और उसे मर्यादापूर्वक भोगने का विधान था वहीं आज सवर्ण अथवा सजातीय विवाह की अनिवार्यता क्षीण होती जा रही है तथा व्यक्ति अमर्यादित भोग की ओर आकर्षित होता जा रहा है। कुछ लोग तो विवाह को समझौता मात्र समझते हैं। इसी कारण गृहों में कलह-क्लेश व विवाह-विच्छेद की समस्या देखने को मिलती है। जबकि दम्पती के परस्पर सहयोग से ही गृहस्थाश्रम सफल होता है।

मनुस्मृति में अपनी धर्मपत्नी के सहयोग से ही धर्म, अर्थ, काम एवं अन्य कर्तव्यों का समचितरूप से निर्वाह करने का निर्देश दिया गया है। इस सांस्कृतिक परम्परा के अनुसार भारतवर्ष में आज भी गृह-प्रवेश तथा अन्य धार्मिक या मांगलिक कार्यों में पति-पत्नी का साथ होना अनिवार्य माना गया है। आज कछ सात्विक जन ऐसे हैं जो अविवाहित रहकर धर्म एवं अर्थ की साधना में लगे रहते हैं और कुछ ऐसे भी हैं जो इस प्रकार की जीवन-शैली व्यतीत करने का प्रयत्न करते हुए रूप से कामभोग में लिप्त रहते हैं। ऐसे लोग समाज को भ्रम में रखकर मात्र अपने स्वार्थ का पूर्ति करते हैं। आज जिस प्रकार लोग अर्थोपार्जन एवं कामोपभोग के लिए प्रवृत्त दिखाई देते हैं। उनको संयमित करने के लिए शंखस्मृति के उपदेश की प्रासङ्गिकता निर्विवाद है। अतएव व्यक्ति को धर्मानुकूल त्रिवर्ग का सेवन करना चाहिए।

उस समय समस्त आश्रमवासियों के लिए आचार के पालन को एक अनिवार्य तत्त्व माना गया था। गृहस्थादि के लिए जो भी आचार निर्धारित किये गये थे वे सभी नैतिकता से सम्बद्ध थे। जो व्यक्ति के चरित्र का निर्माण कर उसे समाज में एक प्रतिष्ठित व्यक्ति बनाते हैं। आचार का पालन न करने पर व्यक्ति पाप का भागी बनता है। वस्तुतः सदाचरण ही सुखी जीवन का आधार है। इसलिये गृहस्थी के जीवन में सर्वप्रथम सत्य, क्षमा, दम, पवित्रता, सेवाभाव, अहिंसा, दया आदि को अनिवार्य

माना गया था, जिनका पालन आज भी प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक है। उसका जीवन शान्त व धर्मयुक्त हो, वह शुद्ध आत्मा बाला हो, उसके व्यवहार में सत्यता हो, किन्तु वह अप्रिय सत्य न कहे। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे कर्म थे, जिनका सम्पादन प्रत्येक गृहस्थ प्रतिदिन नियमित रूप से करता था जिससे व्यक्ति व समाज का जीवन व्यवस्थित एवं गतिशील था, किन्तु आधुनिक समय में उन कर्मों का अभाव दिखाई देता है।

कुछ नियम व उपनियम तो ऐसे हैं जो लुप्त हो गए हैं, यथा-शौच के पश्चात् स्वच्छता के लिए मिट्टी का प्रयोग, सामान्य व धार्मिक क्रियाओं में दिशानुसार आचमन करना, छः प्रकार के स्नानों को विधिवत् करना, सन्ध्यादि में अघमर्षण सूक्त का जप, पूर्व व पश्चिम दिशा में मुख करके गायत्री जपपूर्वक क्रमशः प्रातः व साय दोनों कालों में उपासना करना तथा अर्घ्य व पवित्र करने वाले मंत्रों का जप करना आदि। अपवादस्वरूप आज कुछ धर्मनिष्ठ परिवार ऐसे दिखाई देते हैं। जहाँ कतिपय क्रियाओं का पालन होता है, यथा-आचमन की क्रिया। पर्वतीय प्रदेशों में भोजन तब तक नहीं परोसा जाता जब तक आचमन न कर लिया जाए।' ऐसा नहीं है कि ये क्रियायें पूर्णतः समाप्त हो गई हैं अपितु समय के अभाव के कारण इन क्रियाओं के सम्पन्न करने में सहायक नियम कालबाह्य हो गये हैं। आज स्मृत्युक्त कुछ कर्मों का व्यक्ति द्वारा अंशतः पालन किया जा रहा है, किन्तु इन दैनिक क्रियाओं को पूर्ण करने में सहायक सामग्री भिन्न है, यथा-शुद्धि के लिए मिट्टी के स्थान पर अनेक प्रकार के साबुन, शैम्पू, पाउडर, कन्डिशनर, माउथ वॉश या हैंड वॉश का प्रयोग, आचमन के स्थान पर सामान्यतः कुल्ला की प्रक्रिया, गायत्री-जप के स्थान पर अनेक देवी-देवताओं की प्रतिमाओं की पूजा-अर्चना आदि।

गृहस्थ के लिए जिन पञ्चमहायज्ञों का अनिवार्य कर्तव्य के रूप में विवेचन किया गया है। वर्तमान समय में उनका प्रतिदिन पालन न होकर यदा-कदा आंशिक रूप से होता है। देवयज्ञ में जहाँ देवताओं के प्रति हवन का विधान था वद्वी जान मूर्ति-पूजा, नवद्या भक्ति के रूप में इसका अस्तित्व विद्यमान है। अग्नि पर आज के जीवन में इन सभी यज्ञों का विस्तारपूर्वक सम्पादन करना सम्भव नहीं है। भूतयज्ञ तथा पितृयज्ञ का भी अंशतः पालन दिखाई देता है। आज व्यक्ति की जीवनचर्या इतनी अधिक व्यस्त हो गई है कि वह स्वयं के भोजन के लिए कठिनाई से समय निकाल पाता है तो प्रतिदिन-प्राणियों, देवताओं और पितरो आदि को देने की तो बात

ही दूर है। यदि वह कुछ समय निकाल कर इन धार्मिक क्रियाओं को सम्पन्न करना भी चाहे तो आर्थिक समस्या के कारण नहीं कर पाता। हाँ, कुछ समृद्धजन कभी-कभी त्याग एवं दान की भावना से जीव-जन्तुओं या अन्य प्राणियों को भोजन देते हुए दिखाई देते हैं।

पितृयज्ञ में जो तर्पण और श्राद्ध की क्रिया की जाती थी वह अब संक्षिप्त रूप में कुछ परम्परागत ब्राह्मण परिवारों तथा शास्त्रज्ञों में ही दिखाई देती है। तदनुसार श्राद्ध के अवसर पर ब्राह्मण भोज तथा तर्पण आदि की क्रिया सम्पन्न की जाती है। पी.वी. काणे के मत से सामान्यतः आजकल श्रावण मास में एक दिन ब्रह्मयज्ञ के एक अंश के रूप में अधिकांश ब्राह्मण तर्पण करते हैं। लेकिन प्रतिदिन पितरों एवं देवताओं को दिशानुसार जल, अन्न से तर्पित करने का अभी भी अभाव है।¹⁷⁵ ब्रह्मयज्ञ के सन्दर्भ में उनका कथन है कि वैदिकों एवं शास्त्रियों को छोड़कर ब्रह्मयज्ञ प्रतिदिन कोई नहीं करता। आजकल वर्ष में केवल एक बार श्रावण मास में निर्धारित एक सूत्र 'ओं भूर्भुवः स्वः' के अनुसार ब्रह्मयज्ञ किया जाता है। जबकि ज्ञानवर्धन व ज्ञान की निर्मलता हेतु प्रतिदिन सशास्त्रों का अध्ययन अनिवार्य है। इसी प्रकार अतिथि सेवारूप नृयज्ञ को अति महत्त्व दिया गया था। जो आज के युग में प्रत्येक गृहस्थी के लिए आदर्श को प्रस्तुत करता है। यदि आज व्यक्ति अतिथि-सेवा-परायण हो जाए तो विश्वबन्धुत्व व समता की भावना प्रबल होगी, जिसका आज अत्यन्त अभाव दृष्टिगत होता है। इसके अतिरिक्त इन पञ्चमहायज्ञों में जो ऋणमुक्ति की भावना निहित थी वह आज भी गृहस्थ को तीन ऋणों (देवऋण, ऋषिऋण एवं पितृऋण) से उऋण होने का स्मरण कराती है। अतएव व्यक्ति को आज उपर्युक्त कर्मों-अग्निहोत्र, देवताओं एवं प्राणियों की सेवा, दानशीलता, उदारता, ध्यान, सद्झाखों का पठन-पाठन, अतिथि- सत्कार आदि से जीवन को सफल बनाने का यथासम्भव प्रयास करना चाहिए।

मनुस्मृती में परिश्रमपूर्वक न्यायरूप धर्म के अनुसार गृहस्थ को धनोपार्जन करने का निर्देश दिया गया है। आज के भौतिकवादी युग में जहाँ सत्य की प्रतिष्ठा कम होती जा रही है वहीं व्यक्ति अधर्मपूर्वक धनोपार्जन में तनिक भी संकोच नहीं करता है। तत्कालीन समय में व्यक्ति गृहस्थी होने पर अर्थात् 25-30 वर्षों की आयु से धनार्जन आरम्भ करते हुए 50-60 वर्षों की आयु के उपरान्त धनार्जन कार्य से अवकाश लेता था। इस प्रकार अनियन्त्रित भोग पर अंकुश लगता था। परिणामस्वरूप

बेरोजगारी की समस्या का समाधान होता था और मस्तिष्क पर अर्थ सञ्चय करने की चिन्ता का भार अधिक समय तक नहीं रहता था। इससे समाज में आर्थिक सन्तुलन बना रहता था, किन्तु वर्तमान युग में व्यक्ति 18-20 वर्ष की आयु से और अधिकांशतः तो इससे पूर्व बाल आयु से ही धनोपार्जन के कार्य में लग जाते हैं तथा जब तक वे शारीरिक दृष्टि से अशक्त नहीं हो जाते तब तक अर्थ सञ्चय से अवकाश ग्रहण नहीं करते। इसलिये उस समय संयम और त्याग की वृत्ति को महत्त्व दिया गया था। अतएव आज भी जीवन की उन्नति व सार्थकता के लिए संयम व त्याग की आवश्यकता है। संयम के द्वारा तो व्यक्ति की अनुभव शक्ति बढ़ती है। हर प्रकार का सामर्थ्य बढ़ता है। सार-असार का भेद करने की सूक्ष्म बुद्धि बढ़ती है या यह कहे कि इसमें ही जीवन साफल्य की पराकाष्ठा है तो अतिशयोक्ति न होगी।

वर्तमान समय में हमारे समक्ष अनेक ऐसे विद्वजनों के चरित्र अनुकरणीय हैं, जिनसे व्यक्ति शिक्षा ग्रहण कर जीवन को सार्थक बना सकता है, यथा-कबीर, महावीर, गौतम बुद्ध, स्वामी दयानन्द, नानक आदि। जो गृहस्थी होते हुए भी सांसारिक आसक्ति से विरक्त थे। यदि आज भी गृहस्थी निश्चयात्मक बुद्धि से सज्जनों की सङ्गति कर, श्रद्धा-विश्वास के साथ मानव-सेवा को अपना लक्ष्य बनाकर, छल-कपट की भावना का त्यागकर, ईश्वर का स्मरणकर, परिवार, समाज तथा राष्ट्र के प्रति अपने दायित्व का निष्ठापूर्वक पालन करे तो वह आज भी वास्तविक सुख की प्राप्ति कर सकता है।

गृहस्थाश्रम के पश्चात् वानप्रस्थ में प्रवेश का विधान था। वानप्रस्थी गृहस्थाश्रम के भोग-ऐश्वर्यों का त्यागकर व पारिवारिक सत्ता का हस्तांतरण करके, वन में निवास करता हुआ ईश्वर-आराधना में निमग्न रहता था। वर्तमान युग में वन में निवास करना सम्भव नहीं है, किन्तु वानप्रस्थी के लिए जो सदाचार का पालन, संसार के भ्रमजाल से दूर रहना, सद्गुणों का अध्ययन तथा आध्यात्म की ओर अग्रसर रहने की बात कही गई है वह आज भी निर्विवाद रूप से जीवन के तृतीय चरण में अनुकरणीय है। हाँ, इसके लिए वन में निवास करना आवश्यक नहीं है। वृद्धजन शास्त्रकथित एक निश्चित आयु (50-60 वर्ष) के उपरान्त कुटुम्ब सेवा के संकुचित क्षेत्र से बाहर निकलकर वान-प्रस्थवत् कार्यो को कर सकते हैं। यदि वे बाहर किसी शान्त व पवित्र वातावरण में न जा सकें तो परिवार में रहते हुए भी सांसारिक पदार्थों में ममत्वभाव का त्याग, गृहस्थ जीवन की ओर प्रवृत्त करने वाले कार्यो व

आहार-विहार आदि पर पूर्णरूप से नियन्त्रण, व्रत-उपवास, हवन, पूजा-पाठ, धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन, ईश्वर-उपासना, ध्यानादि में मन लगा सकते हैं। आज बहुत से वृद्धजन मानसिक शांति के लिए ईश्वर-भजन, सत्संग, मन्दिर, मस्जिद, गुरुद्वारों, तीर्थ स्थानों, धार्मिक सभाओं तथा शान्त वातावरण इत्यादि में जाते दिखाई देते हैं, इसे वानप्रस्थ का आंशिक रूप माना जा सकता है, किन्तु कुछ वृद्धजन जो सांसारिक वातावरण का त्याग नहीं कर पाते और दीर्घसमय तक भोग में प्रवृत्त रहते हैं फलतः वे अनेक व्याधियों से ग्रस्त हो जाते हैं। अतएव शारीरिक स्वस्थता एवं दीर्घायुष्य के लिए गृह, धन-सम्पत्ति व रोजगार विषयक भोगवृत्ति का त्याग अनिवार्य है। इसके अतिरिक्त सामाजिक व राष्ट्रीय दृष्टि से भी यह आवश्यक है कि वृद्धजन कुछ निश्चित समय के उपरान्त आजीविका के साधनों व उच्च पदों से निवृत्त हों। यदि वे उचित समय पर सरकारी या गैर-सरकारी पदों से विरत नहीं होते हैं तो नई पीढ़ी कार्यारम्भ करने में कठिनाई का अनुभव करती है और उन्हें आर्थिक समस्या का सामना करना पड़ता है। इसलिये नवयुवकों को कार्य का समुचित अवसर प्रदान करने के लिए इनका निश्चित आयु में सेवा-निवृत्त होना आवश्यक है।

सरकार की ओर से ऐसे वृद्ध कार्यकर्ताओं के लिए "वृद्धावस्था पेंशन" की व्यवस्था की गई है फिर भी अधिकांशतः लोग अन्तिम समय तक धनार्जन करने में लगे रहते हैं। सम्भवतः ये लोग अपनी वृद्धावस्था की सुरक्षा की दृष्टि से ऐसा करते हैं। आज समाज में देखने को मिलता है कि नई पीढ़ी तब तक उनकी सेवा करती है जब तक उनके पास धन-सम्पत्ति है अन्यथा उन्हें भाररूप समझती है।

उस समय समाज-सेवा वानप्रस्थी का एक महत्त्वपूर्ण कार्य था। वह वन में रहकर अपने ज्ञान का विस्तार करने के साथ-साथ अपने ज्ञान को वितरित भी करता था अर्थात् वह शिक्षा का प्रचार-प्रसार किया करता था उनका यह कार्य राष्ट्र के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होता था। इससे एक ओर राष्ट्र में निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था होती थी तो दूसरी ओर परिवार व नगरों में भीड़-भाड़ (Crowded) कम रहती थी और परिवार के ऊपर निवास व आर्थिक समस्याओं की सम्भावना कम रहती थी। आज के युग में जहाँ वानप्रस्थ समाप्त हो चुका है यहीं शिक्षा-पद्धति परिवर्तित होने से बहुमूल्यवान् हो गई है, जिसके कारण सामान्य वर्ग के परिवारों पर आर्थिक भार बना रहता है। ऐसे में पेंशनधारक या सेवा-निवृत्त परिपक्व बुद्धि वाले वृद्धजन निःशुल्क शिक्षा या सेवा संस्थाओं को चलाकर नई पीढ़ी तथा अन्य जनों को सदोपदेश

देकर उनका मार्ग प्रशस्त तथा समाज कल्याण के कार्यों में अपना सहयोग दे सकते हैं।

यदि वृद्धजनों की स्थिति के विषय में विचार करें तो तत्कालीन समय की अपेक्षा उनकी स्थिति में कमी आई है। उस समय वृद्धजनों का जीवन परिवार या वानप्रस्थाश्रम में रहकर अधिक सहजता से व्यतीत होता था। वर्तमान समय में वानप्रस्थाश्रम का प्रचलन न रहने से वे परिवार के मध्य रहकर जो जीवन व्यतीत कर रहे हैं वह उतना सुखद नहीं रहा है जितना होना चाहिये। आज व्यस्तता के कारण किसी के पास किसी के लिए समय नहीं है, कोई किसी के लिए कुछ त्याग नहीं करना चाहता। ऐसे परिवारों में वृद्धजनों के लिए स्थान दिनोंदिन सीमित होता जा रहा है। बदलती पारिवारिक, सामाजिक परिस्थितियों के साथ नई पीढ़ी में नैतिक मूल्यहीनता और स्वतंत्रता के स्थान पर स्वच्छंदता की चाह-ये इसके प्रमुख कारण हैं।

आज नगरों, शहरों, गाँवों में प्रायः देखने को मिलता है कि बहुत से बच्चे अपने वृद्ध माता-पिता के साथ रहना नहीं चाहते। ऐसे में कुछ वृद्धजन जीवन के सूनेपन, अकेलेपन से क्षुब्ध, व्याधि, आर्थिक असुरक्षा व अशक्तता, उस पर अपमान और अवसाद से घिरे, भार बनने के अहसास से दुःखी होकर या तो स्वयं घर से चले जाते हैं या उन्हें इसके लिए विवश कर दिया जाता है कि जैसे भी हो, अपने लिए कोई वैकल्पिक व्यवस्था कर ले। इन परिस्थितियों में वृद्धजन घर से बाहर किसी वृद्धाश्रम, आर्य समाज जैसी संस्थाओं या तीर्थ स्थानों में जीवन व्यतीत करते हैं। जो उनके लिए अपमानजनक स्थिति या घोर पीड़ादायक अभिशाप जैसा है।

वर्तमान में वृद्धाश्रम जैसी संस्थागत व्यवस्था भारतीय संस्कार के अनुकूल नहीं है फिर भी सामाजिक परिस्थितियाँ हमें इस ओर ले जा रही हैं। इन वैकल्पिक व्यवस्थाओं को मात्र विवशता की स्थिति में अपनाया जाना चाहिए। वृद्धावस्था का सुखद-दुःखद होना बहुत कुछ वृद्धजनों के चिन्तन, सक्रियता और नई पीढ़ी के सहयोग पर निर्भर करता है। वृद्धजनों को सही दिशा में चिन्तन के लिए प्रेरित और उन्हें अवसादजनित बीमारियों से बचाने के लिए सार्थक दिशा देने की आवश्यकता है। साथ ही नई पीढ़ी को यह अहसास कराने की भी कि वृद्धजन भाररूप नहीं आशीर्वाद होते हैं। उनके आशीर्वाद से ही हमारा भविष्य उज्ज्वल बनता है।

चतुर्थ आश्रम 'संन्यास' था। प्रत्येक द्विज के लिए वानप्रस्थ के उपरान्त इस आश्रम में प्रवेश करना आवश्यक था। वह संसार से पूर्णतः विरक्त होकर ईश्वर-प्राप्ति

व मोक्ष-सिद्धि हेतु साधना करता था। वर्तमान समय में संन्यास का पालन करना प्रत्येक व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं है, क्योंकि संन्यास का जो अर्थ था-'सम्यक् न्यास' अर्थात् काम्य कर्मों का त्याग 'संन्यास' और कर्मफल के प्रति आसक्ति न रखने वाला 'संन्यासी' था। वह अर्थ अब रूढ़िगत हो गया है। आज मोक्ष अर्थात् छुटकारा, संन्यासी अर्थात् जीवनकलहरूपी सांसारिक बंधनों से मुक्ति पाने वाला और उसका मोक्ष, फिर से इनमें बन्धित न हो, ऐसा लोग समझते हैं। इसके साथ ही लोगों के मन में त्याग और संयम जैसे शब्दों के प्रति भी घुणा उत्पन्न हुई है। इसलिये आज तत्कालीन समाज की अपेक्षा संन्यासी कम पाये जाते हैं। जो हैं उनमें संन्यासी, साधु, भिक्षु, सन्त, महन्त, महात्मा, बाबा, वैरागी, गद्दीपति और आध्यात्मिक गुरु सब आ जाते हैं। पी.वी. काणे के मत से आज जो सन्त-महात्मा या संन्यासी बनते हैं उन्हें आधुनिक हिन्दू कानून के अनुसार परिवार, सम्पत्ति व वसीयत से विच्छेद करना होता है और गेरुए वस्त्र को चिह्न मात्र के रूप में धारण कर, अपेक्षित कृत्य भी सम्पादित करने होते हैं। संन्यासी की मृत्यु के पश्चात उसके वस्त्र, खाड़ाम्, ग्रन्थादि उसके परिवार वालों को नहीं प्रत्युत उसके शिष्यों को दे दिये जाते हैं।¹⁷⁶

तत्कालीन समय में संन्यासी समाज से विलग एकाकी जीवन व्यतीत करते हुए, एक स्थान से दूसरे स्थान पर विचरण करता था। वर्तमान में अधिकतर साधु, संन्यासी समूह में, कुछ सम्प्रदाय के अनुसार तो कुछ गिरि कन्दराओं में समाधि लगाकर रह रहे हैं। आज जो भी संन्यासियों के अखाड़े (साधुओं की साम्प्रदायिक मण्डली) और उपसम्प्रदाय उपलब्ध होते हैं वे वैचारिक भिन्नता व व्यवहारिकता का परिणाम है।

इस प्रकार प्राचीन समय से चले आये विभिन्न आश्रम व अखाड़ों में समय-समय पर कुछ परिवर्तन होते रहे और अनेक उपसम्प्रदायों का जन्म हुआ। उस समय मन, वचन, कर्म की पवित्रता, सुख-दुःख लाभ-हानि आदि सभी में समत्वभाव रखना, भिक्षा से प्राप्त भोजन से निर्वाह करना तथा योग में निमग्न रहना संन्यासी का धर्म था। वर्तमान समय में इस प्रकार के संन्यासी विरले ही दिखाई देते हैं।

आज कुछ सन्त, महात्मा को छोड़कर अन्य संन्यासी जन पाखण्डी हो गये हैं। वे देखने में तो विरक्त हैं, किन्तु स्त्री, धन आदि सभी का परिग्रह करते हैं अर्थात् अप्रत्यक्ष रूप से इन्द्रिय-सुख, भोगों का अनुगमन करते हैं। लेकिन जो स्वयं श्रेष्ठ आचरण नहीं कर पाते वे समाज को सही मार्गदर्शन कैसे दे पाएंगे। जबकि

संन्यासाश्रम आत्मा के स्वरूप को समझने और उससे संलग्न हुए मल-विक्षेपों के अज्ञान आवरणों के अनर्थ को जानने के लिए आत्म-चिन्तन की आवश्यकता को अभिव्यक्त करता था, जिससे सांसारिक प्रगति, समृद्धि एवं सुसम्बन्धों की अभिवृद्धि हो सके, किन्तु भौतिक युग में तो आध्यात्मिक प्रगति हो या न हो, लौकिक जीवन अवश्य सुखमय होना चाहिये, मानो ऐसा उद्देश्य जीवन का बन गया है। वस्तुतः जिस उन्नत मार्ग पर अग्रसर होने के लिए संन्यास मार्ग का अनुसरण किया गया था उसे आज के अधिकांश संन्यासी प्रायः विस्मृत कर चुके हैं। जिसका परिणाम यह होता है कि देहभाव में निमग्न हो जाने के कारण उनकी क्रियायें, चेष्टायें एवं आकांक्षायें भी निम्न श्रेणी की हो जाती हैं। इसलिये आज जो भी साधु, सन्त, संन्यासी हैं उन्हें संन्यस्त मार्ग की गरिमा को बनाये रखने के लिए संसार में प्रतिष्ठा अथवा लाभ, धन से भोग या पुत्रादि के मोह से पृथक् होकर मोक्ष के साधनों में तत्पर रहना, प्राणिमात्र में पक्षपात रहित होकर समबुद्धि रखते हुए व स्थिर बुद्धि वाले एवं मननशील होकर परमेश्वर का चिन्तन करना, दुष्प्रवृत्तियों का त्याग करते हुए, आनन्द एवं दुःख में समभाव रखते हुए योग अर्थात् प्राणायाम से दोषों को, धारणा से अन्तःकरण के मैल को, ध्यान से अज्ञान, पक्षपात आदि दोषों को छुड़ाते हुए प्राणिमात्र और समाज के कल्याण में लगा रहना चाहिये। वस्तुतः उनका उदासीन भाव भौतिक पदार्थों के प्रति होना चाहिए न कि समाज के श्रेष्ठ कर्मों के प्रति। राष्ट्रहित को दृष्टि में रखते हुए ही जीवन-निर्वाह करना आज की परिस्थितियों में अत्यन्त आवश्यक है। जो संन्यासी मानवमात्र के कल्याण में तथा मानवीय एकता के कार्य में संलग्न रहता हो, वही संन्यासी श्रेष्ठतम है। उसको धर्म-अधर्म के भेद पर प्रकाश डालते हुए समाज को सही दिशा दिखानी चाहिये।

यदि संन्यासी से इतर सामान्य व्यक्तियों की बात करें, जो संन्यास नहीं लेते तो उनके लिए भी अपनी अन्तिम वय में सभी पदार्थों के प्रति मोह का त्याग, सभी प्राणियों पर दया तथा क्रोध, असत्य आदि से दूर रहकर ब्रह्म-चिन्तन व समाज की सेवा करते रहना आवश्यक है। साथ ही उन्हें वैराग्यभाव को इतना बढ़ाना चाहिये कि जीवन के अन्तिम समय में किसी प्रकार की आकांक्षा शेष न रहें और बिना किसी भय तथा दुःख के देह छोड़ी जा सके।

आश्रमव्यवस्था के समग्र विवेचन के पश्चात् कहा जा सकता है कि तत्कालीन समाज में जहाँ इसे एक आदर्श एवं संतुलित जीवन पद्धति के रूप में अपनाया गया था वहीं आज व्यवहारिक रूप में इसका प्रचलन नाममात्र का रह गया है।

हाँ, वर्तमान समाज में अब प्रारम्भिक कक्षा से स्नातकोत्तर या उसके आगे तक का शिक्षण, अठारह से पच्चीस वर्ष की आयु में विवाह का निर्धारण, कार्यक्षेत्र से सेवानिवृत्ति, कुछ लोगों का विवाह से पूर्व या विवाह के उपरान्त साधु, सन्त या संन्यासी बनना आदि को आश्रमव्यवस्था का ही आंशिक रूप माना जा सकता है। यद्यपि काल परिवर्तन के साथ उनमें से कुछ विषयों का यथोचित निर्वाह कर पाना सम्भव नहीं है तथापि अधिकांश विषय किसी-न-किसी रूप में अपनी प्रासङ्गिकता रखते हैं।

संस्कारों का मनोवैज्ञानिक प्रभाव -

पाश्चात्य मनोविज्ञान ने हमें पशु प्रवृत्तियों का गुलाम बनाकर स्वच्छन्द जीवन जीने, अनैतिक आचरण करने की खुली छूट दे दी किन्तु भारत के प्राच्य स्मृतिकारों, मनीषियों ने मानव मात्र के लिए कर्म-प्रारब्ध संस्कार, मन-बुद्धि-चित्त अहंकार रूपी अन्तःकरण चतुष्टय की व्याख्या कर विश्व मानवता की सबसे बड़ी सेवा की। संस्कार की अवधारणा आत्मा की नश्वरता व जीवन के सतत् अखण्ड रूप पर विश्वास करती है। भारतीय मनोविज्ञान अन्तःकरण चतुष्टय की अवधारणा को मानता है व उसके चार भाग बताता है - मनु, बुद्धि, चिन्त, अहंकार। मन व बुद्धि चेतन के अंग हैं तथा चित्त व अहंकार अचेतन भाग में विराजमान हैं। संस्कारों का मुख्य उद्देश्य ही आध्यात्मिक जीवन और धार्मिक भावना की वृद्धि करना है। विविध इन्द्रिय भोगों की तरफ मनुष्य शीघ्र आकर्षित होता है, पर धार्मिक नियमों-कर्तव्य के पालन में ध्यान नहीं जाता है। मानव स्वभाव की इसी कमजोरी को देखकर मनीषियों ने संस्कारों का निर्माण व प्रचलन किया था। उन्होंने ने यह जान लिया था कि यदि मनुष्यों को धार्मिक कर्तव्यों-नियमों का स्मरण नहीं कराया जायेगा तो वे विविध मनोविकृत्तियों, चरित्रहीनता और अनैतिकता की तरफ ही झुकेंगे। इसलिए सामाजिक जीवन में ऐसे धार्मिक विधि-विधानों को प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से विद्यमान किया गया है। भारतीय संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता है- जन्म से मृत्यु तक मानव जीवन को सार्थक बनाने हेतु संस्कारों द्वारा सतत् शोधन तथा आत्म सत्ता के अभिवर्धन की अभिनव व्यवस्था।

मानव कल्याण की महान् परम्पराओं में जितने भी आयोजन एवं अनुष्ठान हैं, उनमें सबसे बड़ी परम्परा संस्कारों की है। यह वे आध्यात्मिक उपचार हैं, जिनके माध्यम से मनुष्य को सुसंस्कृत बनाना सम्भव हुआ। संस्कारों का प्रयोजन आध्यात्मिक के साथ-साथ नैतिक विकास भी है। संतविनोबा ने अपनी कृति “गीता प्रवचन” में कहा है- “यदि जीवन में संस्कारों का पवित्र प्रवाह सतत् बहता रहे तो ही अन्त में मनुष्य महामरण का आनन्द उठा पाता है।”

षोडश संस्कारों को माता के गर्भ में आने के दिन से लेकर मृत्यु तक की अवधि में समय-समय पर सोलह बार संस्कारित करके उसे एक प्रकार का आध्यात्मिक रसायन बनाया जाता है। वेद मन्त्रों के सस्वर उच्चारण से उत्पन्न होने वाली ध्वनि तरंगे यज्ञीय ऊष्मा के साथ सम्बद्ध होकर अलौकिक वातावरण तैयार करती हैं। जिनके लिए ऐसी पुण्य प्रक्रिया का प्रयोग होता है उनके गुण-कर्म-स्वभाव में दिव्य विशेषताएँ प्रस्फुलित होती हैं। संस्कार के मंत्रों में अनेक ऐसी दिशाएँ भरी पड़ी हैं, जो प्रत्येक दृष्टि से उपयोगी हैं। उदाहरणार्थ सीमान्त संस्कार के समय उच्चारण किये जाने वाले मन्त्रों में गर्भवती के रहन-सहन, आहार-विहार सम्बन्धी प्रशिक्षण मौजूद हैं। इसी प्रकार विवाह में दाम्पत्य जीवन की, अन्नप्राशन में भोजन-छाजन की, वानप्रस्थ में सेवा-परायण जीवन जीने की आवश्यक शिक्षाएँ हैं। परिवार को संस्कारवान बनाने की, कौटुम्बिक जीवन को सुविकसित बनाने की यह एक मनोचैज्ञानिक एवं धर्मानुमोदित प्रक्रिया है। ऋषियों ने अपनी आध्यात्मिक एवं मनोवैज्ञानिक शोधों के आधार पर संस्कार प्रक्रिया का निर्माण किया है। वह जितनी प्रभावशाली प्राचीन समय में थी, उतनी ही आज भी है, यदि उन्हें ठीक ढंग से उचित व्यवस्था के साथ, उपयुक्त वातावरण में सम्पन्न किया जा सके।

4. संस्कार एवं आश्रम व्यवस्था की वर्तमान परिप्रेक्ष्य में समीक्षा

स्मृति साहित्य व अन्य धर्मशास्त्रकारों ने मानव जीवन के लिए जिन संस्कारों का विधान किया है वे मनुष्य के चरित्र निर्माण एवं व्यक्तित्व के विकास में सहायक होने के साथ ही उसमें उच्च नैतिक गुणों के स्थापक हैं। तत्कालीन समाज में इनका अनुष्ठान निर्धारित समय पर पूर्ण आस्था एवं विश्वास के साथ विधिवत् किया जाता था, लेकिन कालक्रम के प्रभाव से नई सामाजिक, धार्मिक संस्थाओं और विचारधाराओं का उदय हुआ, जिससे तत्कालीन मान्यताओं व संस्थाओं का स्वरूप बदलता गया।

इसके साथ ही भाषागत कठिनता, वेद मन्त्रों की अग्राह्यता, धार्मिक विधि-विधानों की अस्पष्टता तथा उनमें मात्र पुरोहित जनों की बोधगम्यता, जनसाधारण की उनके प्रति उदासीनता एवं अरुचि, विभिन्न जातियों व धर्मों के विकास और पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव आदि के कारण शनैः शनैः संस्कारों का हास होता रहा।¹⁷⁷

आज समाज में संस्कारों का महत्त्व नाममात्र का रह गया है तथापि कुछ संस्कार आज भी समाज में अपना स्थान बनाए हुए हैं, यद्यपि उनके स्वरूप, अनुष्ठान पद्धति तथा संख्यादि में अन्तर आ गया है।

स्मृतिसाहित्य में जिन संस्कारों की गणना की गयी है उनमें सबसे पहला संस्कार 'निषेककर्म' अर्थात् गर्भाधान है जिसे उस समय की संस्कृति नवीन आत्मा के आह्वान का एक पवित्र यज्ञ मानती थी, जो उचित तिथि व दिन के नियमानुसार किया जाता था। आज इस संस्कार में उतनी धार्मिकता या पवित्रता तो नहीं रही है, किन्तु अब सन्तानोत्पत्ति आकस्मिक या अविवेचना की परिणति न होकर सोच-विचारकर उचित समय पर की जाती है। यह समय की विडम्बना है कि कहीं-कहीं अब यह संस्कार त्यागा भी जा चुका है।¹⁷⁸

वर्तमान समय में पुंसवन एवं सीमन्तोन्नयन संस्कार समाप्त हो गये हैं।' लेकिन कुछ लोगों की 'पुंस' उत्पत्ति विषयक मानसिकता अभी भी नहीं बदली है। वे आज भी पुत्र उत्पत्ति को अधिक महत्त्व देते हैं। इसके लिये लोग गुप्त रूप से अल्ट्रासाउण्ड तथा सोनोग्राफी के माध्यम से भ्रूण के लिंग को जानने का प्रयास करते हैं कि वह नर है या मादा। अब सरकार ने "गर्भ का चिकित्सीय समापन अधिनियम 1971 (1971 का 34)" के तहत लिङ्ग जाँच व भ्रूण हत्या पर रोक लगा दी है¹⁷⁹ और ऐसा करने वालों के लिए सजा व जुर्माने का प्रावधान किया है। भारतीय दण्ड विधि संशोधन विधेयक, 2006 के द्वारा गर्भ-पूर्व लिंग निर्धारण परीक्षण (Pre-natal sex determination test) को घोर अपराध माना गया है, ऐसे व्यक्ति के लिए उम्र कैद तथा एक लाख रुपये तक के जुर्माने से दण्डित किये जाने का प्रावधान किया गया है। निश्चय ही ऐसे प्रावधान से लिङ्ग जाँच व भ्रूण हत्या में कमी आयी है।

अब सीमन्तोन्नयन संस्कार तो नहीं किया जाता, किन्तु इसकी मनोवैज्ञानिक महत्ता से इन्कार नहीं किया जा सकता। आज भी चिकित्सक तथा अन्य अनुभवी वृद्धजन गर्भिणी स्त्री को प्रसन्न रहने की सलाह देते हैं और परिवारजन उसे प्रसन्न रखने का हर सम्भव प्रयास करते हैं। आज सभी देशों में गर्भस्थ शिशु व उसकी माता

के संरक्षण व निरोगता के लिए अनेक क्रियायें 'Pre-natal care' के नाम से प्रारम्भ हो जाती हैं। जिस प्रकार स्वास्थ्य की दृष्टि से इस संस्कार को महत्त्व दिया जाता था उसी प्रकार जन्म से पूर्व इन्जेक्शन, दवाईयाँ अथवा औषधि को आवश्यक माना गया है।

वस्तुतः दोनों का उद्देश्य समान ही है-शिशु व माता की सुरक्षा। चाहे वह संस्कार के माध्यम से की जाए या औषधि आदि के रूप में। फिर भी यह संस्कार जो मानसिक शांति प्रदान करता था, वह आज की दवाईयाँ नहीं।

कुछ संस्कारों में धार्मिक विधियों का अभाव है, यथा-जातकर्म, निष्क्रमण, अन्नप्राशन आदि। जातकर्म संस्कार में जिन शहद चटाने इत्यादि क्रियाओं का मन्त्रोच्चारणपूर्वक उल्लेख मिलता है, वे सब नवजात शिशु के साथ सुविधाजनक नहीं रही होगी, तभी तो इस प्रकार की बातें केवल ग्रन्थों में मिलती हैं, व्यवहारिक जीवन में नहीं। आधुनिक समय में अधिकांशतया घर के स्थान पर अस्पतालों में प्रसूति होने के कारण भी यह संस्कार लुप्त हो गया है। काणे के अनुसार बंगाल में तो जातकर्म तथा अन्न-प्राशन एक ही दिन सम्पादित किये जाते हैं।¹⁸⁰

निष्क्रमण संस्कार का प्रारम्भिक स्वरूप तो नहीं रहा है, किन्तु कुछ लोग बालक को घर से बाहर ले जाते समय उत्सव मनाते हैं, तो कुछ नदी-पूजन या देव-पूजन करते हैं। अब नामकरण के साथ भी इस संस्कार को सम्पन्न कर दिया जाता है, ऐसा उल्लेख मिलता है। अन्नप्राशन का सीमित रूप दिखाई देता है जो बिना किसी मन्त्रोच्चारण तथा पुरोहित को बुलाये सम्पन्न कर दिया जाता है। आज चिकित्सक भी महर्षि शंख की भांति अन्नप्राशन विषयक छठे माह को ही उचित बताते हैं।

कुछ संस्कारों का परम्परापूर्ति हेतु मात्र अनुष्ठान कर दिया जाता है, यथा नामकरण एवं मुण्डन संस्कार। आधुनिक समय में बालक का नामकरण जन्म के बारहवें दिन बिना किसी वैदिक मन्त्रोच्चारण के कर दिया जाता है।

कहीं-कहीं अब भी यह संस्कार पूर्ण वैदिक रीति से किया जाता है।¹⁸¹ किन्तु पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव में सार्थक नामों की परम्परा लुप्त होती जा रही है। लोग अपनी इच्छानुसार नाम रखते हैं, चाहे उसका कोई अर्थ हो या न हो। इसी प्रकार बालक के जन्म के केश भी एक बार कटवा दिये जाते हैं, क्योंकि गर्भ वाले केश अपवित्र माने जाते हैं। केश कर्तन का सम्पूर्ण कार्य नाई ही सम्पन्न करता है। 'चूडाकर्म' यह शब्द प्रायः इस संस्कार के लिए रूढ़ हो गया है और अब इसे 'मुण्डन'

कहा जाता है। इस संस्कार में शिखा रखने की परम्परा भी अब न के बराबर है, क्योंकि अधिकांशतः हिन्दू लोग शिखा रखने में लज्जा का अनुभव करते हैं, किन्तु परम्परावादी संस्कारवान् परिवारों में आज भी लोग शिखा रखते हैं। देवल ऋषि ने शिखा एवं यज्ञोपवीत के महत्त्व को प्रदर्शित करते हुए कहा है कि बिना शिखा एवं यज्ञोपवीत के कोई भी धार्मिक-कृत्य नहीं करना चाहिए। इन दोनों के बिना किया हुआ धार्मिक कृत्य न किया हुआ समझना चाहिए। अतएव धार्मिक-कृत्य सम्पन्न कराने वाले ब्राह्मणों के लिए यह आज भी प्रासङ्गिक है। उपनयन के दिन भी इस संस्कार को करने का विधान मिलता है।'

आज सामान्य रूप से उपनयन एवं समावर्तन संस्कार का प्रचलन दिखाई नहीं देता, क्योंकि शिक्षा, शिक्षा के माध्यमादि सभी परिवर्तित हो चुके हैं, किन्तु आज जहाँ परम्परागत ढंग से गुरुकुल प्रणाली के माध्यम से शिक्षा दी जाती है वहाँ उपनयन एवं समावर्तन शास्त्रोक्त विधि से किये जाते हैं। कुछ आधुनिक गुरुकुलों के नाम इस प्रकार हैं-श्रीमद्वयानन्द वेद विद्यालय गौतमनगर, नई दिल्ली-49, गुरुकुल यमुनातट मझावली, जिला-फरीदाबाद (हरियाणा), श्रीमद्वयानन्द आर्ष ज्योतिर्मठ, गुरुकुल दूनवाटिका-2, पौधा, जिला-देहरादून (उत्तराखण्ड), गुरुकुल नरसिंहनाथ पाईकमाल, जिला-बरगड़ (उड़ीसा), आर्ष कन्या गुरुकुल, देवनगर (घूचापाली), जिला-बरगड़ (उड़ीसा), गुरुकुल योगाश्रम, पतरकोनी, पेण्ड्रा रोड़, जिला-बिलासपुर (छत्तीसगढ़), श्रीकृष्ण आर्ष गुरुकुल, देवालय गोमत, वाया खैर, जिला-अलीगढ़ (उत्तर प्रदेश), श्रीमद्वयानन्द उपदेशक महाविद्यालय शादीपुर, यमुना नगर हरियाणा इत्यादि।

वर्तमान समय में उपनयन संस्कार के हमें दो रूप दिखायी देते हैं-प्रथम शिक्षा सम्बन्धी उपनयन संस्कार। द्वितीय विवाह सम्बन्धी उपनयन संस्कार। प्रथमतः आज भी गुरुकुलों में उपनयन संस्कार की सम्पूर्ण क्रिया यत्किञ्चित् परिवर्तित विधि-विधान के साथ सम्पन्न की जाती है, किन्तु वर्णानुसार जहाँ बालक को विभिन्न प्रकार के मेखला, वस्त्र, दण्ड एवं यज्ञोपवीत धारण करने होते थे वहीं आज इस अवसर पर प्रत्येक छात्र को समान रूप से साधारण स्वच्छ वस्त्र, दण्ड, मेखला एवं यज्ञोपवीत धारण करवाये जाते हैं और भिक्षाचरण की क्रिया भी सम्पन्न करवायी जाती है। यहाँ दण्ड धारण एवं भिक्षाचरण उसके दैनिक क्रिया के अभिन्न अंग न होकर मात्र नियम के पालन हेतु करवाये जाते हैं, क्योंकि परिस्थितिवश अब इनकी अनिवार्यता समाप्त

हो चुकी है। आज अधिकांशतः गुरुकुलों में भोजनादि समस्त वस्तुओं की व्यवस्था उपलब्ध है।

प्रशासन एवं विभिन्न शिक्षण संस्थाओं की ओर से निर्धन तथा मेधावी छात्र-छात्राओं को शिक्षा पूर्ण करने हेतु छात्रवृत्तियाँ दी जाती हैं। आज भी ब्राह्मण जातियों में इस संस्कार का निर्वाह पूर्ण श्रद्धा के साथ किया जा रहा है।¹⁸² लेकिन आधुनिक शिक्षण संस्थानों-विद्यालयों, महाविद्यालयों विश्वविद्यालयों तथा इन्स्टीच्यूट आदि में इस प्रकार के उपनयन का सर्वथा अभाव है, जिसके कारण आज बालक विद्यास्नातक तो हो जाता है लेकिन विद्याव्रतस्नातक नहीं। यही कारण है कि आज शिक्षा के उच्च शिखर पर पहुँच जाने पर भी छात्रों में गुरु सेवा, तपश्चर्या, विनम्रता, धैर्यता आदि का अभाव मिलता है।

द्वितीयतः उपनयन शब्द का प्रयोग शिक्षा के अर्थ में न होकर एक विशिष्ट संस्कार के अर्थ में किया जाता है जो द्विजाति कहे जाने वाले व्यक्ति के विवाह से पूर्व किसी भी समय किया जा सकता है। इस अर्थ में इसे 'जनेऊ' कहा जाता है, जिसका अभिप्राय उस संस्कार से है जिसमें बालक को यज्ञोपवीत पहनाया जाता है। अतएव वर्तमान में उपनयन का प्राचीन स्वरूप गुरुकुलों को छोड़कर प्रायः समाप्त हो चुका है। अब उपनयन का अर्थ केवल 'जनेऊ' धारण करना रह गया है।

यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि जहाँ स्मृतियों में स्त्रियों के उपनयन संस्कार का निषेध किया गया है वहीं आज अनेक गुरुकुल स्त्री-शिक्षा के लिए प्रतिष्ठित हैं। जहाँ उपनयन संस्कार से लेकर सम्पूर्ण अध्ययन-अध्यापन का कार्य स्त्रियाँ कर रही हैं।

उपनयन संस्कार की सम्पूर्ण क्रिया मन्त्रोच्चारणपूर्वक वैदिक रीति से ही सम्पन्न की जाती है। कुछ वर्तमान कन्या गुरुकुलों के नाम इस प्रकार हैं-श्रीमद्दयानन्द कन्या गुरुकुल महाविद्यालय, चोटीपुरा (मुरादाबाद), कन्या गुरुकुल सासनी (हाथरस), गुरुकुल आर्ष कन्या विद्यापीठ नजीबाबाद, जिला बिजनौर, कन्या महाविद्यालय जालन्धर, कन्या गुरुकुल महाविद्यालय देहरादून, आर्य कन्या महाविद्यालय बड़ौदा, आर्य कन्या गुरुकुल लोवाकलां (रोहतक), आर्ष कन्या गुरुकुल नरेला (दिल्ली), आर्य कन्या गुरुकुल, न्यू राजेन्द्र नगर, नई दिल्ली, कन्या गुरुकुल बचगाँवा गामड़ी (कुरुक्षेत्र)।

वर्तमान समय में वेदारम्भ संस्कार को एक पृथक् संस्कार न मानकर उपनयन संस्कार का ही अंग माना गया है, क्योंकि अब उपनयन के अवसर पर ही मुख्य वेदी

या अलग से वेदी बनाकर उस पर वेदारम्भ सम्बन्धी आहुतियाँ देने की परम्परा विकसित हो गई है।

इसके अतिरिक्त आजकल जो पद्धति अपनायी जा रही है उसमें इस संस्कार से पूर्व नौ ग्रहों की पूजा को आवश्यक माना गया है। इसके साथ ही इस संस्कार में ब्रह्मा का वरण करके उसके तिलक कर, मौली बाँधने का विधान किया गया है। गुरु वेद पढ़ाने से पूर्व वस्त्र पर चावलों से अष्टदल बनाकर उस पर सरस्वती तथा वेदों की पूजा भी करवाता है। राजस्थान की प्रथा के अनुसार संस्कार के अन्त में गुरु खड़ा होकर ब्रह्मचारी के दाहिने हाथ से स्पर्श कराते हुए पुष्प-फल युक्त घृत भरे हुए सुवे (प्रोक्षणी) से पूर्णाहुति देता है फिर बैठकर खुवा से भस्म उठाकर दाहिने हाथ की अनामिका से लेकर गुरु अपने माथे, गले और दाहिने कन्धे एवं छाती पर लगाता है। तत्पश्चात् इसी क्रम में वह शिष्य के शरीर पर भस्म धारण करवाता है।

समावर्तन संस्कार का निर्वहन अधिकांश गुरुकुलों तथा संस्कृत संस्थानों में किया जा रहा है। आधुनिक शिक्षण संस्थानों में भी इस संस्कार की छाप दिखाई देती है। विद्यार्थियों के द्वारा स्नातक की परीक्षा उत्तीर्ण करने के उपरान्त जो विश्वविद्यालयों या महाविद्यालयों से उपाधि-पत्र दिया जाता है वही आधुनिक संस्थानों का बालक के लिए समावर्तन है। इससे पूर्व आधुनिक विश्वविद्यालयों में 'दीक्षान्त समारोह' का आयोजन किया जाता था। स्नातकों को उपाधि प्राप्ति हेतु विशिष्ट वेशभूषा दी जाती थी। दीक्षान्त समारोह के दिन विश्वविद्यालय के कुलपति स्नातक परीक्षा उत्तीर्ण करने वाले छात्रों को उपाधि-पत्र देते थे और तैत्तिरीयोपनिषद् का अनुशासन प्रस्तुत करके विद्यार्थियों को सदाचरण के लिए प्रेरित करते थे, किन्तु अब यह स्वरूप भी बदल कर मात्र उपाधि-पत्र तक ही सीमित रह गया है। स्नातक के लिए किसी दीक्षान्त समारोह को आयोजित नहीं किया जाता। आज गुरुकुलों तथा अन्य संस्थाओं से समावर्तन के पश्चात् भी छात्र उच्च शिक्षा को प्राप्त कर तथा आजीविका ग्रहण कर विवाह करता है। वस्तुतः बालक की शिक्षा अब स्नातक तक सीमित नहीं रह गई है। इसके अनन्तर भी वह अनेक उपाधियों को प्राप्त कर जीवन को सुखमय बनाने का यथासम्भव प्रयास करता है।

विवाह आज भी धार्मिक संस्कार के रूप में प्रचलित है। इस संस्कार का विधिरूप तो लगभग यथावत् है, किन्तु अन्य अनेक विस्तार तथा सूक्ष्मताएँ लुप्त हो गई हैं। तत्कालीन समय में जहाँ सवर्ण, गोत्र, प्रवर, कुल, सपिण्ड तथा कन्या एवं वर

के गुणादि का विचार कर विवाह संबंध तय किया जाता था वहीं आज कन्या एवं वर के गुण-अवगुण तथा कुलादि को तो महत्त्व दिया जाता है लेकिन अन्य को नहीं। आज सवर्ण अथवा सजातीय विवाह की अनिवार्यता क्षीण होने से गोत्र एवं प्रवर संबंधी मान्यतायें व्यर्थ होती जा रही हैं। बहुत से ऐसे लोग भी हैं, जिन्हें यह ज्ञात ही नहीं है कि प्रवर एवं गोत्र होता क्या है? यदि सपिण्डता की बात करे तो लोगों को माता की पाँच पीढ़ी और पिता की सात पीढ़ी का नाम स्मरण ही नहीं होगा। जबकि सभी धर्मशास्त्रों में सगोत्र एवं सप्रवर विवाह का निषेध किया गया है।

आरम्भ में हिन्दू कानून के द्वारा भी इस प्रकार के विवाह अवैध माने गये थे, किन्तु बाद में परिस्थितियों के अनुरूप सगोत्र, सप्रवर तथा सपिण्डता सम्बन्धित नियमों का प्रावधान कर दिया गया। आज "हिन्दू विवाह अयोग्यतायें निवारण अधिनियम 1946" तथा "हिन्दू विवाह अधिनियम 1955 की धारा 292 के अनुसार सप्रवर तथा सगोत्र विवाह वैध है।

इसी प्रकार सपिण्डता कहाँ तक मानी जाए? इसके लिए रीति-रिवाज एवं कानून को आधार माना गया है। "हिन्दू विवाह अधिनियम 1955 की धारा 3 'एफ' तथा 'जी' के अनुसार माता की ओर से तीन पीढ़ियों तक तथा पिता की ओर से पाँच पीढ़ियों तक सपिण्ड माने जाएंगे। लेकिन अधिकांशतः हिन्दू परिवारों में आज भी सवर्ण कन्या से विवाह को ही मान्यता दी जाती है और अपने गोत्र में एवं सपिण्ड से विवाह न करने की परम्परा विद्यमान है। सपिण्ड के साथ, यथा-फुफेरी, मौसेरी, ममेरी बहन से विवाह नहीं किया जाता। किन्तु दक्षिण भारत के कुछ प्रदेशों, यथा-कर्नाटक एवं मैसूर के लोग, जिनमें ब्राह्मण भी सम्मिलित हैं, जो अपनी बहन की लड़की से विवाह कर सकते हैं। तमिल एवं तेलुगु जिलों के ब्राह्मणों एवं शूद्रों में अपनी पत्नी की बहन की लड़की से विवाह वैध माना गया है। "यहाँ तक कि दक्षिण भारत में मामा की लड़की से भी विवाह प्रचलित है। आधुनिक युग में इस प्रथा को उचित नहीं माना जाता। "हिन्दू विवाह अधिनियम की धारा 5, उपधारा पअ" के अनुसार ये विवाह नहीं हो सकते, यदि इस प्रकार की कोई प्रथा उनके समाज में नहीं है।¹⁸³

शंखस्मृति विहित आठ प्रकार के विवाहों में से अधिकांश विवाह-दैव, आर्ष, आसुर, राक्षस और पैशाच लुप्त हो चुके हैं, जिनका विधान तत्कालीन परिस्थितियों के अनुरूप वर्णानुसार किया गया था। आज न तो वर्णव्यवस्था रही है और न ही उक्त

विवाह। वर्तमान में विवाह का जो आदर्श स्वरूप (कन्यादान तथा आशीर्वादात्मक) दिखाई देता है। हाँ, उसे हम ब्राह्म या धर्म विवाह तथा प्राजापत्य की कोटि में रख सकते हैं, जो किसी जाति विशेष के लिए न होकर सम्पूर्ण हिन्दू समाज के लिए है। सामान्यतः आज इसी को जन सामान्य में श्रेष्ठ माना जाता है।

समाज में आसुर विवाह की प्रथा यद्यपि वैदिककाल से ही प्रचलित रही है, किन्तु इसे प्रशंसनीय नहीं माना जाता था। सभी धर्मशास्त्रकारों ने आरम्भ से ही इसकी भर्त्सना की है। फिर भी आधुनिक युग में यह प्रथा कतिपय निम्न जातियों में देखने को मिलती है। राजस्थान के कन्जर, झाँसी, मीना इत्यादि जातियों में इस प्रथा का प्रचलन है। कहीं-कहीं उच्च जातियों में भी बेमेल विवाहों का आधार अप्रत्यक्ष रूप से कन्यामूल्य है।¹⁸⁴

आज लड़के-लड़कियों में शिक्षा के प्रसार तथा सह-शिक्षा के कारण 'प्रेम विवाह' भी प्रचलन में आ रहा है, जिसे आजकल प्राचीनकालीन गान्धर्व विवाह का ही रूप माना जाता है, किन्तु इन दोनों का गहनतापूर्वक अध्ययन करें तो आज दोनों को समान मानना युक्तिसंगत न होगा। गान्धर्व विवाह में मात्र कामनावश संयुक्त होने को ही गान्धर्व नाम दिया गया था। जबकि प्रेम-विवाह के कई रूप दृष्टिगोचर होते हैं, यथा- परिवार वालों की बिना अनुमति से विवाह करना, परिवार वालों की सहमति से विवाह करना, कानूनी विवाह (Court Marriage), मंदिरों में जाकर कुछ सम्बन्धियों की उपस्थिति में विवाह करना। इनमें विधि-विधान को भी महत्त्व दिया जाता है, लेकिन विवाह से पूर्व संयुक्त होने को आज विवाह की श्रेणी में नहीं रखा जाता। यद्यपि इस प्रकार के कतिपय मुकद्दमें न्यायालय में आ जाते हैं पर इसे विवाह मानना आज के युग में सर्वथा अनुचित होगा। उदाहरण के लिए महाकवि कालिदास के सर्वोत्कृष्ट नाटक "अभिज्ञानशाकुन्तलम्" को देखें तो वहाँ दुष्यन्त व शकुन्तला के कामवश संयुक्त होने को 'गान्धर्व' नाम दिया गया, जिसे प्रणय का प्रतीक मानकर विवाह के रूप में मान्य ठहराया। यहाँ यह दृष्टव्य है कि उनका विवाह बिना किसी की उपस्थिति में तथा बिना वैदिक रीति से हुआ था।

आज यदि ऐसा किया जाता है तो उसे विवाह नहीं माना जाता और कामातुरता प्रधान होने के कारण समाज में इसे हेय दृष्टि से देखा जाता है। लेकिन कुछ परिवारों में प्रेम के पश्चात् यदि दोनों के परिवार जनों से स्वीकृति मिल जाती है तो उसमें कुछ स्थायित्व आ जाता है और उसे समाज में स्वीकार कर लिया जाता है। युवा पीढ़ी

आज इस विवाह को श्रेष्ठ मानती है। प्रशासन भी ऐसे विवाहों को प्रोत्साहित कर रहा है, किन्तु बिना परिवार जनों की सहमति के विवाह करना आज भी समाज में निन्दनीय माना जाता है। भले ही सरकार ऐसे विवाहों को प्रोत्साहित क्यों न करे? क्योंकि इस प्रकार के विवाहों में आज ग्राम से बाहर निकालना, जातिच्युत करना, दम्पती से किसी प्रकार का सम्बन्ध न रखना, सहयोग न करना, यहाँ तक कि हत्या इत्यादि के मामले भी देखे जाते हैं। सामाजिक दृष्टि से परिवारों में कलह, विवाह-विच्छेद आदि का कारण भी अधिकांशतः प्रेम-विवाह है, क्योंकि ऐसे विवाहों में लड़का-लड़की दोनों अपने को समान समझते हैं, अतः वैचारिक मतभेद होना स्वाभाविक है।

आज प्रेम का सच्चा स्वरूप नहीं रह गया है। इसलिये अधिकतर प्रेम-विवाह सफल नहीं होते। यद्यपि तत्कालीन समाज में गान्धर्व-विवाह मान्य था। बाद में 1881 ई. में इलाहाबाद कोर्ट ने गान्धर्व-विवाह को अमान्य घोषित कर दिया था, किन्तु हिन्दू कानून के अनेक आधुनिक वक्ताओं ने इसे मान्य ठहराया। बनर्जी ने अपनी पुस्तक "हिन्दू लॉ" तथा मेन ने अपनी पुस्तक "मेन ट्रिट्रीज़ एन हिन्दू लॉ एण्ड यूजेज" में इस विवाह को मान्यता दी। आज तो यह प्रेम-विवाह के रूप में मान्य है 1872 ई. में 'प्रेम-विवाह' को हिन्दू रीति-रिवाजों के विरुद्ध कानूनी रूप से सम्पन्न करने की सुविधा "विशेष विवाह अधिनियम" के द्वारा प्रदान की गई है।¹⁸⁵ प्रेम-विवाह के अतिरिक्त पूँजीपतियों में स्वयंवर प्रथा भी दिखाई देती है, यथा-राहुल महाजन और डिम्पी का स्वयंवर।

तत्कालीन समय में स्त्री व उसकी सन्तान को समाज में सम्मानपूर्वक जीने का अधिकार मिल सके, इसलिये राक्षस और पैशाच कृत्य को विवाह के रूप में मान्यता मिली होगी, किन्तु आज राक्षस तो प्रायः लुप्त हो गया है। यदि आज विवाह धोखे से या जोर-जबरदस्ती से कर दिया गया हो तो उसे आधुनिक कानून के अनुसार अन्यथा सिद्ध किया जा सकता है, भले ही विवाह में सभी धार्मिक कृत्य क्यों न सम्पादित कर दिये गये हों।¹⁸⁶

पैशाच-कृत्य, विवाह के रूप में नहीं अपितु दुष्कर्म या बलात्कार के रूप में बढ़ता जा रहा है। कन्याएँ प्रतिदिन इस शोषण का शिकार हो रही हैं। छोटी उम्र से लेकर बड़ी उम्र तक इस दुष्कर्म को अन्जाम दिया जा रहा है। यहाँ तक कि ऐसा दुष्कर्म करने के उपरान्त लड़कियों को मार दिया जाता है जिसे प्राचीनकालीन पैशाच की संज्ञा नहीं दी जा सकती। विवाह का अर्थ होता है- 'विशिष्ट ढंग से कन्या को ले

जाना। यह विवाह भी तभी सार्थक है जब धार्मिक विधि-विधान के साथ सम्पन्न किया जाए अन्यथा बलपूर्वक या दुष्कर्म कर कन्या को प्राप्त करने को विवाह का नाम नहीं दिया जा सकता, ऐसा करना मात्र दुष्कर्म है, मानवता का हनन है। तत्कालीन समय में भी इसे अत्यन्त घृणास्पद, जघन्य कर्म माना जाता था और आज भी। हाल ही में हुए दो वर्ष की बच्ची 'फलक' तथा 'दामिनि' केस ने भारतवर्ष को शर्मसार कर दिया है। ऐसे हजारों मामलों कन्या शोषण से सम्बन्धित हैं।

यद्यपि ऐसे दुष्कर्म के लिए "भारतीय दण्ड संहिता (फौजदारी कानून) की धारा 376" के अनुसार बलात्कारी के लिए 7 वर्ष से 10 वर्ष या उम्र कैद का विधान किया गया है। फिर भी इस दुष्कृत्य में वृद्धि होती जा रही है। ऐसे दुष्कर्म को रोकने के लिए और अधिक कठोर से कठोर कानून बनाये जाने चाहिये। ऐसे मामलों में शीघ्रातिशीघ्र निर्णय लिया जाना चाहिये, तभी देश का उज्ज्वल भविष्य सम्भव है, अन्यथा देश अंधकाररूपी पतन के गर्त में चला जाएगा।

तत्कालीन समाज में पुरुष का विवाह वयस्क होने पर तथा स्त्री का विवाह बाल आयु में होता था। आधुनिक समय में बाल-विवाह की यह कुरीति समाप्त हो गई है। प्रारम्भ में भारत सरकार ने "बाल-विवाह नियंत्रक अधिनियम 1929 या शारदा विवाह अधिनियम" के द्वारा लड़के की विवाह आयु 18 वर्ष और लड़की की आयु 15 वर्ष निर्धारित कर बाल-विवाह को रोकने का प्रयास किया। इसी प्रकार "हिन्दू विवाह अधिनियम 1955" पारित किया गया, जिसमें वर की आयु 18 वर्ष तथा वधू की आयु 15 वर्ष निश्चित की गई। जिसका उल्लंघन करने पर धारा 18, उपधारा (अ) के अनुसार 15 दिन के साधारण कारावास या एक हजार रुपये जुर्माने का विधान किया गया।¹⁸⁷ लेकिन बाद में इस अधिनियम को संशोधित कर लड़की के विवाह की न्यूनतम आयु 18 वर्ष और लड़के की 21 वर्ष निर्धारित की गई।¹⁸⁸

वर्तमान में विवाह की यह आयु वैध मानी गई है जो शारीरिक व मानसिक दृष्टि से उचित है। ग्रामीण क्षेत्रों में कहीं-कहीं लड़कियों का अल्पायु में विवाह देखने को मिलता है, जिसका कारण वहाँ की प्रथाएँ, रीति-रिवाज, अशिक्षा, रुढ़िवादिता इत्यादि हैं। शहरी क्षेत्रों में अब लड़कियों के पढ़ने-लिखने के पश्चात् ही विवाह किया जाता है। अतएव लड़कियों में शिक्षा का प्रसार बढ़ जाने से भी उनकी विवाह की आयु स्वतः बढ़ रही है।

शंखस्मृति में कहीं भी ऐसा संकेत नहीं मिलता है जिससे यह लक्षित होता हो कि कन्याओं का विवाह करने में कन्या पक्ष वालों को बहुत अधिक आर्थिक कठिनाई का सामना करना पड़ता था। यदि धन दिया भी जाता रहा होगा तो बहुत कम या धर्म के पालन हेतु या इस प्रकार की प्रथा धनी या उच्च वर्ग में होगी साधारण जन में नहीं, क्योंकि शंख ने कहीं भी कन्या को अलंकृत कर दान करने की बात नहीं कही है। वस्तुतः विवाह बिना किसी दहेज के अत्यन्त साधारण ढंग से होता था, किन्तु आज विवाह में 'दहेज' एक विकट समस्या बन गई है। जिसके कारण आज पारिवारिक संघर्ष, निम्न जीवनस्तर, नवजात कन्याओं की हत्या, आत्महत्या, लड़कियों का अविवाहिता रह जाना, बेमेल विवाह, विवाह-विच्छेद, बाल-विवाह, अनैतिकता व अपराध का बढ़ना, मानसिक व्याधियाँ, स्त्री शिक्षा में बाधा इत्यादि समस्यायें दिन-प्रतिदिन बढ़ती जा रही हैं।

इसलिये दहेज के विरुद्ध कानून बना दिये गये हैं। दहेज की रकम भी तय की गई है। उदाहरण के लिए "राजस्थान दहेज प्रतिबन्ध विधेयक 1958" के अनुसार यह 501 रुपये से अधिक नहीं हो सकती और भारतीय लोकसभा में प्रस्तावित "दहेज निषेध विधेयक" के अनुसार दो हजार से अधिक नहीं होनी चाहिए। लेकिन आज दहेज मांगने वाले रुपये हजारों में नहीं वरन् लाखों में दहेज की मांग करते हैं। इसलिये अब "दहेज निषेध अधिनियम 1961 (1961 का 28वां)" की धारा 3 और 4 के अनुसार दहेज देना या लेना और दहेज मांगना कानूनी अपराध घोषित कर दिया गया है तथा ऐसे लोगों को दण्डरूप में 6 मास का कारावास या 5,000 रुपये जुर्माना अथवा दोनों हो सकते हैं।¹⁸⁹

समाज में बहुपत्नी विवाह की प्रथा थी, लेकिन एक पत्नी विवाह को ही आदर्श रूप में माना जाता था। आज बहुपत्नी विवाह न तो सैद्धान्तिक रूप से मान्य है, न ही व्यवहारिक रूप में। अब एक से अधिक स्त्रियों से विवाह करना गैरकानूनी है। भारत सरकार के "हिन्दू विवाह अधिनियम 1955 (1955 का 25वां)" के अनुसार कोई भी व्यक्ति एक पत्नी या पति के रहते हुए दूसरा विवाह नहीं कर सकता। यदि पति-पत्नी का कानूनन विवाह-विच्छेद (तलाक) नहीं हुआ है तो भी दूसरा विवाह करना अवैध है। हाँ, यदि विवाह के समय पति या पत्नी जीवित न हो या कानूनन विवाह-विच्छेद हुआ हो तो दोनों विवाह कर सकते हैं। इस प्रकार वर्तमान में विवाह सम्बन्धी स्वच्छन्द प्रवृत्तियों के स्थान पर मानवोचित व्यवहार को मर्यादित कर दिया गया है।

बहुपत्नीत्व के साथ-साथ समाज में अनुलोम विवाह का प्रचलन था अर्थात् उच्च वर्ण का पुरुष अपने से निम्न वर्ण वाली स्त्री से विवाह कर सकता था¹⁹⁰, किन्तु सवर्णा अर्थात् अपनी ही जाति वाली स्त्री से विवाह को उत्कृष्ट माना जाता था। आधुनिक समय में इसे अन्तर्विवाह (Inter Caste) कहा जाता है। आज अधिकांशतः हिन्दू परिवारों में इस नियम का दृढ़ता से निर्वाह किया जा रहा है। विशेषकर ग्रामों में इस नियम के विरुद्ध जाकर विवाह करना सरल नहीं है। ऐसा करने पर लोग उसे जाति से बहिष्कृत कर देते हैं, किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखते तथा कोई सहयोग नहीं करते, किन्तु अब शिक्षा के प्रचार-प्रसार, सह शिक्षा, विचारों व सामाजिक सुधारकों का प्रभाव, वयस्क विवाह, आवागमन एवं सन्देशवाहन के साधनों में वृद्धि, सह-कार्य, औद्योगीकरण एवं नगरीकरण, विज्ञान का प्रभाव, कानूनी बाधाओं की समाप्ति आदि के कारण अन्तर्जातीय विवाह का प्रचलन बढ़ रहा है, जिनमें सर्वाधिक प्रेम-विवाह है।

डॉ. सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार ने अन्तर्विवाह तथा अन्तर्जातीय विवाह के भेद को स्पष्ट करते हुए कहा है कि "अपनी जाति में ही विवाह करना अन्तर्विवाह (Inter Caste) है, यथा-सारस्वत ब्राह्मण का सारस्वतों में, गौड़ का गौड़ों में और कान्यकुब्ज का कान्यकुब्जों में विवाह करना।"

यदि अपनी जाति से बाहर विवाह किया जाए तो वह अन्तर्जातीय विवाह है, यथा-ब्राह्मण यदि सारस्वत है और वह गौड़ या कान्यकुब्ज ब्राह्मण परिवार में विवाह करता है तो वह अन्तर्जातीय विवाह (Inter Sub-Caste Marriage) है।¹⁹¹ वस्तुतः अन्तर्जातीय विवाह जाति-विवाह ही है फिर भी अन्तर्जातीय विवाह नहीं किये जाते हैं। प्रारम्भ में कानून ने भी इसे अवैध माना था, किन्तु बाद में इसे वैध माना गया। वर्तमान में "हिन्दू विवाह मान्यता अधिनियम 1949" के अनुसार विवाह के लिए एक ही जाति या धर्म का होना आवश्यक नहीं है। किसी भी धर्म, जाति या उपजाति के लोग आपस में विवाह कर सकते हैं।¹⁹² इसी प्रकार "विशेष विवाह अधिनियम 1954 (1954 का 43वां)" के अधीन विभिन्न धर्मावलम्बियों को बिना अपना धर्म बदले आपस में विवाह करना मान्य है।¹⁹³

इस प्रकार संस्कारों के विवेचन से स्पष्ट होता है कि यद्यपि वर्तमान समय में सुरक्षात्मक दृष्टि से विभिन्न नियम-कानून बनाए गये हैं फिर भी बदलते परिवेश, पाश्चात्य दृष्टिकोण व संकुचित मानसिकता आदि के कारण संस्कारों का वास्तविक

स्वरूप एवं उद्देश्य विकृत हो गया है। जिसके कारण आज समाज में पारस्परिक विद्वेष, नैतिक एवं चारित्रिक पतन जैसी विषम प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर हो रही हैं। यदि इन संस्कारों का समुचित रीति से नियमपूर्वक पालन किया जाए तो प्रतिभा सम्पन्न व्यक्तित्व का निर्माण तथा आध्यात्मिक प्रवृत्ति सम्भव हो सकती है।

सन्दर्भ सूची

1. संस्कृत-हिन्दी कोश, वामन शिवराम आप्टे, पृ. 1051
2. पाण्डेय, डॉ. राजबली, हिन्दू-संस्कार, पृ.17
3. सिद्धान्तालंकार, डॉ. सत्यव्रत, संस्कार-चन्द्रिका, पृ. 22
4. (क) वैदिके, कर्मभिः पुण्यैर्निषेकादिर्द्विजन्मनाम्।
कार्यः शरीरसंस्कारः पावनः प्रेत्य चेह च ॥
गाभैर्हिर्मिर्जातकर्मचौडमौञ्जीनिबन्धनैः।
बैजिक गार्भिक चैनो द्विजानामपमृज्यते॥ मनु., 2/26-27
(ख) एवमेनः शमं याति बीजगर्भसमुखवम्। या. स्मू., 1/13
(ग) संस्कारो हि नाम गुणाधानेन वा स्याद् दोषापनयनेन वा। शङ्कर,
वेदान्तसूत्रम्, 1/1/4
5. (क) येन शरीर मन आत्मा चोत्तमा भवन्ति सः संस्कारः इत्युच्यते। ते च
निषेकादिश्मशानान्ताः षोडशप्रकाराः। डॉ. प्रीति प्रभा गोयल, भारतीय
संस्कृति, पृ.64
(ख) आत्मशरीरान्यतरनिष्ठो विहित क्रियाजन्योऽतिशय विशेषः संस्कारः।
6. (क) मनु., 2/26-27, (ख) या. स्मू., 1/13 (ग) संस्कारतत्त्व, पृ.857 पर उद्धृत
हारीत का मत (घ) बीजगर्भसमु वैनोनिर्वर्हणो जातकर्मादिजन्यः।
वीर.सं.प्र., भाग-1, पृ. 132
7. पाण्डेय, डॉ. राजबली, हिन्दू संस्कार, पृ. 28-29
8. (क) वहीं, पृ.64 (ख) पाण्डेय, डॉ. राजबली, हिन्दू संस्कार, पृ. 19-25
9. नहि कर्मभिरेव केवलै ब्रह्मात्वाप्नातिः प्रज्ञानकर्मसमुच्यात् किल मोक्षः। एतैस्तु
संस्कृतः आत्मनोपासनास्वाधि क्रियते। मनु., 2/28 पर मेधातिथि
10. स्वाध्यायेन ब्रतैर्ज्ञेनैर्वैविद्यनेज्यया सुतैः।
महायज्ञशैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीय क्रियते तनुः॥ मनु., 2/28
11. चित्र कर्म यथानेकैरङ्गैरुन्मील्यते शनैः।
ब्राह्मण्यमपि तद्वत् स्यात् संस्कारैर्विधिपूर्वकम् ॥ परा. स्मृ.. 8/27
12. अथाष्टवात्मगुणा दया सर्वभूतेषु शान्तिरनसूया शौचमनायासो
मङ्गलमकार्पण्यमस्पृहेति। गी. स्मृ. 8/4

13. संस्कारः संस्कृतः पूर्ववृत्तरैरनुसंस्कृतः। नित्यमष्टगुणैर्युक्तो ब्राह्मणो ब्राह्मलौकिकः। • ब्राह्म पदमवाप्नोति यस्मान्न च्यवते पुनः॥ वीर.सं.प्र.. भाग-1, पृ. 142 पर उद्धृत
ब्राह्म पदमवाप्नोति यस्मान्न च्यवते पुनः॥ वीर. सं.प्र., भाग-1, पृ.142 पर उद्धृत
14. शर्मा, हरद्वारी लाल, संस्कृति-विज्ञान की रूप-रेखा, पृ. 198
15. डॉ. किरण टण्डन, भारतीय संस्कृति, पृ.25
16. निषेकादिश्मशानान्तौ मन्त्रैर्यस्योदितो विधिः।
तस्य शास्त्रेऽधिकारोऽस्मिन्नेयो नान्यस्य कस्यचित् ॥ मनु, 1/16
17. या. स्मृ., 1/10-12, 14, 36, 51, 52
18. गौ. स्मृ.. 8/3
19. तस्याऽऽदौ पञ्च संस्कारान् कुर्यात् सम्यग्विधानतः। वृ.हा.स्मृ. 2/10
20. व्या. स्मृ., 1/13-14
21. अमन्त्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामावृदशेषतः। संस्कारार्थं शरीरस्य यथाकालं यथाक्रमम्। वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः। पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया॥ मनु., 2/66-67
22. (क) निषिक्तो यत्प्रयोगेण गर्भः सधार्यते स्त्रिया॥
तद् गर्भालम्भन नाम प्रोक्त मनीषिभिः॥ वीर, परि.प्र..भाग-1, पृ. 141
(या) च... शरीरस्थान, 8/76
23. (क) क्र., 10/184/1-3 (ख) बृह.उप., 6/4/11 (ग) पा.गृ., 3/8/10
(घ) बृह.परा, स्मृ., 6/141-145
(1) यदि हि स्त्री न रोचते पुमांस न प्रमोदयेत्। अप्रमोदात्पुनः पुंसः प्रजन न प्रवर्तते ॥ मनु., 3/61
24. गर्भस्य स्फुटताज्ञाने निषेकः परिकीर्तितः। श. स्मृ., 2/1
25. पाण्डेय, डॉ. राजबली, हिन्दू संस्कार, पृ.64-65
26. पुमान्प्रसूयते येन तत्पुंसवनमीरितम्। वीर. परि.प्र., भाग-1, पृ. 167
27. पुमांसं पुत्रं जयन्तं पुमाननु जायताम्। अथर्व., 3/23/3
28. आधानतो द्वितीये तु मासे पुंसवन भवेत्। वृ.परा. स्मृ., 6/148
29. (क) कुर्यात्पुंसवन मासि तृतीयेऽनवलोभनम्॥ लघ्व. स्मृ.. 4/1 (ख) व्या.

स्मृ., 1/16

30. (क) पा.गू., 1/14/2-3 (ख) आव.गू., 1/13/5-6 (ग) सुश्रुत, शरीरस्थान, अ.2
31. सीमन्तः उन्नीयते यस्मिन्कर्मणि तत् सीमन्तोन्नयनमिति कर्मनामधेयम्।
वीर . परि.प्र., भाग-1, पृ. 172
32. षष्ठेऽष्टमे वा सीमन्तो जाते वै जातकर्म च। शं.स्म., 2/2
33. पतिपुत्रवती नारी गर्भिण्याणीमुपदेशेत्।
मा कुरु क्लेशद कर्म गर्भसंरक्षणं कुरु॥ लघ्व. स्मृ., 4/14
34. पा.गू., 1/16/6, 1/16/14
35. पित्रा पुत्रस्य जातस्य पश्येच्चेज्जीवतो मुखम्।
ऋणमस्मिन् संनयति अमृतत्वं च गच्छति॥ अ.सं., 53
36. यत्रायं पुरुषो म्रियते किमेनं न जहातीति नामेत्यनन्तं वै। बृह.उप.. 3/2/12
37. डॉ. प्रीति प्रभा गोयल, भारतीय संस्कृति. पृ.72
38. (क) नामधेयञ्च कर्तव्यं वर्णानाञ्च समाक्षरम्। शं. स्मृ., 2/3 (ख) मनु.,
2/33 (ग) लघ्व., स्मृ., 6/4
39. (क) चतुर्थे मासि कर्तव्यमादित्यस्य प्रदर्शनम्। शं. स्मृ.. 2/5
(ख) मनु., 2/34
(ग) या. स्मृ. 1/12
(घ) बृह.परा. स्मृ.. 6/150 (ङ) लघ्व.स्मृ., 7/1
40. लघ्व. स्मृ., 1/1-3
41. (क) षष्ठे अन्नप्राशनं मासि। शं. स्मृ., 2/5
(ख) या. स्मृ., 1/12
(ग) व्या. स्मृ... 1/18
(घ) वि.स्मृ.. 27/11
42. झा, डॉ. बोध कुमार, षोडश संस्कार, पृ.22
43. सौवर्णं राजते पात्रे कास्ये वाऽथ नवे शुभे॥
क्षीराज्यमधुदध्यन्नं विधाय प्राशयेच्छिशून्।
मन्त्रेणान्नपतेऽन्नस्य हिरण्येन सुवेण च॥ लघ्व. स्मृ., 8/2-3
44. चूडा शिखा तदर्थं कर्म चूडाकर्म। मनु., 2/35, मेधातिथि की टीका में उद्धृत 5
45. (क) तेन ते आयुषेवपामि सुश्रुतकाय स्वस्तये। आश्व. गू.. 1/17/12

- (ख) च.सं.. सूत्रस्थान, 5/93
46. डॉ. किरण टण्डन, भारतीय संस्कृति, पृ.71-74
47. (क) यथाकुलधर्म केशवेशान्कारयेत्। आश्व. गृ., 1/17
 (ख) अर्थनमेकशिखस्विशिखः पञ्चशिखो वा यथैवैषा कुलधर्मः स्यात्। यथर्षि
 शिखां निदधातीत्येके। बौ.गु., 2/4
48. शिरसः शिखरे शिरा-सन्धीनां सम्मिलन भवति। अस्य स्थानस्याधिपति
 रोमावर्तः। तत्र केनापि प्रहारेण शीघ्रमेव मृत्युर्भवति। सुश्रुत,शरीरस्थान, 6/83
49. (क) उपनयाख्य यत्कर्म विद्यार्थं तदुदीरितम्। वीर. परि.प्र., भाग-1, प.334
 (ख) उपनयन विद्यार्थस्य श्रुतितः संस्कारः। आप.ध., 1/1/9
50. वृत्त्या शूद्रसमारतावद्विजेयारले विचक्षणैः।
 यावद्वेदेन जायन्ते द्विजा ज्ञेयास्ततः परम्। वहीं, 1/8
51. (क) गर्भाष्टमेऽब्दे कर्तव्यं ब्राह्मणस्योपनायनम्।
 गर्भादेकादशे राज्ञो गर्भात्तु द्वादशे विशः॥
 षोडशाब्दस्तु विप्रस्य द्वाविंशः क्षत्रियस्य तु।
 विंशतिः सचतुष्का च वैश्यस्य परिकीर्तिता ॥ शं. स्मृ., 2/6-7
 (ख) मनु., 2/36
 (ग) या. स्मृ. 1/14
 (घ) व्या. स्मृ., 1/19
 (ङ) वि.स्मृ., 27/15-17
 (च) व.स्मृ.. 11/44
52. पर्णपिप्पलबिल्वानां क्रमाद्दण्डाः प्रकीर्तिताः।
 केशदेशललाटास्यतुल्याः प्रोक्ताः क्रमेण तु । शं. स्मृ., 2/10-11
53. जायमानो वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणैर्वा जायते ब्रह्मचर्येण।
 ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्य एष वा अनृणो॥ तै.सं., 6/3/10/5
54. आदिमध्यावसानेषु भवच्छब्दोपलक्षितम्।
 भैक्षस्य वरणं प्रोक्तं वर्णानामनुपूर्वशः। शं. स्मृ.. 2/12
55. उपनीय गुरुः शिष्यं शिक्षयैच्छौचमादितः।
 आचारमभिनिकार्यं च सन्ध्योपासनमेव च ॥ वहीं, 3/1
56. स गुरुर्यः क्रियां कृत्वा वेदमस्मै प्रयच्छति।

- भृतकाध्यापको यस्तु उपाध्यायः स उच्यते॥ शं. स्मृ., 3/2
57. (क) प्रयतः कल्यमुत्थाय स्नातो हुलहुताशनः।
 कुर्वीत प्रयतो भक्त्या गुरुणामभिवादनम्॥
 अनुज्ञातश्च गुरुणा ततोऽध्ययनमाचरेत्।
 कृत्वा ब्रह्माञ्जलि पश्यन् गुरोर्वदनमानतः। श. स्मृ., 3/4-5
 (ख) मनु., 2/70
58. ब्रह्मणः प्रणयं कुर्यादादावन्ते च सर्वदा।
 खवत्यनोकृतं पूर्वं, पुरस्ताच्च विशीर्यतिः। मनु., 2/74
59. तत्र समावर्तन नाम वेदाध्ययनानन्तरं गुरुकुलात्स्वगृहागमनम्॥ वीर. परि.प्र.,
 भाग-1, पृ.564
60. त्रयः स्नातकाः भवन्ति। विद्यास्नातको व्रतस्नातको विद्याव्रतस्नातक इति।
 पा.गृ., 2/5/33
61. (क) एवं कृत्यन्तु कुर्वीत वेदस्वीकरणे बुधः।
 गुरवे च धनं दत्त्वा स्नायाच्च तदनन्तरम्॥ शं. स्मृ.. 3/15
 (ख) गुरुणानुमतः स्नात्वा समावृतो यथाविधि॥ मनु. 3/4
 (ग) आप.गृ., 12/1 (घ) अब. गृ., 1/22/16, 3/8 (ङ.) व्या. स्मृ., 1/42
62. (क) गुरवे च धन दत्त्वा स्नायाच्च तदनन्तरम्॥ शं. स्मृ.. 3/15 (ख) व्या.
 स्मृ., 1/42
63. सा भान्या या यहेदग्नि सा भान्या या पतिव्रता।
 सा भार्या या पतिप्राणा सा भार्या या प्रजावती॥ शं. स्मृ., 4/14
64. तस्माद्यावज्जायां न विन्दते, नैव तावत् प्रजायतेऽसौ हि तावत्। शत. ब्रा.
 5/2/1/10
65. विन्देत विधिवार्यामसमानार्षगोत्रजाम।
 मातृतः पञ्चमीञ्चापि पितृतस्त्वथ सप्तमीम् ॥ शं. स्मृ., 4/1
66. मनु.. 3/4-5
67. सगोत्राय दुहितरं न प्रयच्छेत्। आप.ध., 2/11/15
68. अप्रार्थितः प्रयत्नेन ब्राह्मस्तु परिकीर्तितः। शं. स्मृ.. 4/4
69. (क) यज्ञेषु ऋत्विजे दैव। शं. स्मृ., 4/4 (ख) मनु., 3/28 (ग) या. स्मृ.. 1/59
70. (क) आदायार्षस्तु गोद्वयम्॥ शं. स्मृ., 4/4

- (ख) मनु., 3/39
 (ग) या. स्मृ.. 1/59
71. (क) प्रार्थितः संप्रदानेन प्राजापत्यः प्रकीर्तितः। शं. स्मृ., 4/5
 (ख) मनु., 3/30
 (ग) या. स्मृ., 1/60
72. (क) आसुरो द्रविणादानाद्। शं. स्मृ.. 4/5
 (ख) मनु., 3/31
 (ग) या. स्मृ.. 1/61
73. क्रीता द्रव्येण या नारी सा न पत्नी विधीयते।
 सान दैवे न सा पित्रये दासी ता काश्यपोऽब्रवीत्।
 शुल्केन ये प्रयच्छन्ति स्वसुता लोभ मोहिताः।
 आत्मविक्रयिणः पापा महाकिल्बिषकारकाः ॥
 पतन्ति नरके घोरे घ्नन्ति चाऽऽसप्तम कुलम्।
 गमनागमनं चैव सर्व शुल्को विधीयते ॥ बौ.स्मृ., 1/11/20-22 ३
74. (क) गान्धर्वः समयान्मिथः। शं. स्मृ., 4/5
 (ख) मनु., 3/32
 (ग) या.स्मृ., 1/61 4
75. (क) राक्षसो युद्धहरणात्। शं. स्मृ., 4/5
 (ख) या.स्मृ., 1/61
76. (क) पैशाचः कन्यकाच्छलात् ॥ शं. स्मृ., 4/5
 (ख) या. स्मृ., 1/61
77. एते धास्तु चत्वारः पूर्वे विप्रे प्रकीर्तिताः।
 गान्धर्वो राक्षसबैव क्षत्रियस्य प्रशस्यते । शं. स्मृ., 4/3 तथा 2
78. त्रिंशद्वर्षोऽष्टवर्षो हृद्यां द्वादशवार्षिकीम्।
 त्रयष्टवर्षोऽष्टवर्षो वा धर्म सीदति सत्वरः॥ मनु.. 9/94
79. पाणिर्याद्यः सवर्णासु गीयात् क्षत्रिया शरम् ॥ शं. स्मृ., 4/13
80. लिखस्तु भार्या विप्रस्य ने भार्ये क्षत्रियस्य तु। एकैव भार्या वैश्यस्य तथा
 शूद्रस्य कीर्तिता। ब्राह्मणी क्षत्रिया वैश्या ब्राह्मणरय प्रकीर्तिता। क्षत्रिया चैव
 वैश्या च क्षत्रियस्य विधीयते। वैश्यैव भार्या वैश्यस्य शूद्रा शूद्रस्य कीर्तिता। शं.

स्मृ.4/6-7

81. मनुस्मृति 3/14
82. (क) शब्दकल्पद्रुमः, स्यार-राजा-राधाकान्देव-बहादुर, प्रथम भाग, तृतीय सं., वि.सं. 2024, पृ. 195
(ख) संस्कृत-हिन्दी कोश, वामन शिवराम, आप्टे, पुनर्मुद्रित सं. 2010, प. 165
(ग) मानक हिन्दी कोश, सम्पा. रामचन्द्र वर्मा, पहला खण्ड, 1993, पृ.292
83. काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, पृ. 267
84. The word therefore signifies a halt, a stoppage or a stage in the journey of life just for the sake of rest, in a sense, in order to prepare one self for further journey. Prabhu, P.N., Hindu Social Organization, p.8.3.
85. चतुष्पदी हि निःश्रेणी ब्रह्मण्येषा प्रतिष्ठिता ॥
एतामारुह्य निःश्रेणी ब्रह्मलोके महीयते॥ महा.शा.प., 242/15
86. ब्रहाचर्य परिसमाप्य गृही भवेद् गृही भूत्वा वनी भवेद्वनी भूत्वा प्रव्रजेत्। यदि वेतरथा ब्रह्मचयदिव प्रव्रजेद् गृहाद्वा वनाद्वा। यदहरेव विरजेत्तदहरेव प्रन्नजेत्। जाबा, उप., 4
87. चत्वारः आश्रमगार्हस्थ्यं आचार्यकुलं मौनं वानप्रस्थमिति। आप.घ.सू., 2/9/21/1
88. काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, पृ.264
89. The whole of the life of an individual for the Hindu, a kind of schooling & self discipline. Prabhu, Hindu Social Organization, p. 78.
90. (क) The Theory of 'Purusarthas' is given concrete expression in the Hindu Scheme of 'Ashramas'. Kapadia, K.M. Marriage and Family in India, 1958, p.27.
(ख) कापड़िया, के. एम. अनु., हरिकृष्ण रावत, भारतवर्ष में विवाह एवं परिवार, प्रथम सं. 1963, पृ.28
91. Prabhu, Hindu Social Organization, p.78.

92. (क) संस्कृत-हिन्दी कोश, वामन शिवराम आप्टे, पुनर्मुद्रित सं. 2010, पृ.721-723
 (ख) ब्रह्मचर्यम्-ब्रह्मणे वेदार्थं चर्यम् आचरणीयम्।
 ब्रह्मचारी-ब्रह्म ज्ञानं तपो चरतीति। ब्रह्म+च+आवश्यकं णिनि।
 हलायुधकोशः, सम्पा, जयशङ्करजोशी, तृतीय सं. 1993, पृ.484
 (ग) ब्रह्मवेदस्तदध्ययनार्थं व्रतं तदपि ब्रह्म। तच्चरतीति ब्रह्मचारी। काशिका, 8/3/86
93. स गुरुर्यः क्रियां कृत्वा वेदमस्मै प्रयच्छति।
 भृतकाध्यापको यस्तु उपाध्यायः स उच्यते॥ वहीं, 3/2
94. प्रयतः कल्यमुत्थाय स्नातो हुतहुताशनः।
 कुर्वीत प्रयतो भक्त्या गुरुणामभिवादनम्॥
 माता पिता गुरुश्चैव पूजनीयाः सदा नृणाम्।
 क्रियास्तस्याऽफलाः सर्वा यस्यैतेऽनादृतास्त्रयः ॥ वहीं, 3/4, 3
95. चतुर्दशी पञ्चदशीमष्टमी राहुसूतकम्।
 उल्कापातं महीकम्पमशौचं ग्रामविप्लवम्॥
 इन्द्रप्रयागं सुरतं घनसंघातनिःस्वनम्
 वाद्याकोलाहलं युद्धमनध्यायान् विवर्जयेत्॥
 नाधीयीताभियुक्तोऽपि प्रयत्नान्न च वेगतः।
 देवायतनवल्मीकशमशानशवसन्निधौ ॥ वहीं, 3/7-9
96. मनु., 2/183-184
97. हितं प्रियं गुरोः कुर्यादहङ्कारविवर्जितः।
 उपास्य पश्चिमां सन्ध्यां पूजयित्वा हुताशनम्॥
 अभिवाद्य गुरु पश्चात् गुरोर्वचनकृ वेत्।
 गुरोः पूर्वं समुत्तिष्ठेच्छयीत चरमं तथा। शं.स्मृ., 3/11-12
98. कौ. अर्थ, 1/3
99. मनु., 2/200, 201, 209, 211
100. वानप्रस्थो ब्रह्मचारी यतिश्चैव तथा द्विजः।
 गृहस्थस्य प्रसादेन जीवन्त्येते यथाविधि॥
 गृहस्थ एव यजते गृहस्थस्तप्यते तपः।

- दाता चैव गृहस्थः स्यात्तस्माच्छ्रेष्ठो गृहाश्रमी॥ वही, 5/5-6
101. यथा मातरमाश्रित्य सर्वे जीवन्ति जन्तवः।
एवं गृहस्थमाश्रित्य सर्वे जीवन्ति भिक्षवः ॥ व.स्मृ., 8/16
102. सा भार्या या बहेदग्निं सा भाज्या या पतिव्रता।
सा भार्या या पतिप्राणा सा भाज्या या प्रजावती ॥ शं.स्मृ., 4/14
103. सा भार्या या वहेदग्निं सा भाज्या या पतिव्रता।
सा भार्या या पतिप्राणा सा भाज्या या प्रजावती॥ शं. स्मृ., 4/14
104. शौचं नाम धर्मादिपथो ब्रह्मायतनं नियोधिवासो मनसः प्रसादनं देवानां प्रियं
शरीरे क्षेत्रदर्शनं बुद्धिप्रबोधनम्। गृ.र., पृ. 339 पर उद्धृत हारीत का वचना
105. शौचमेतद् गृहस्थानां द्विगुणं ब्रह्मचारिणाम्॥
त्रिगुणं च वनस्थानां यतीनां तु चतुर्गुणम्। शं. स्मृ., 16/22-23
106. प्राणस्यायमनं कृत्वा आचमेत् प्रयतोऽपि सन्
आन्तरं स्विद्यते यस्मात्तस्मादाचमनं स्मृतम्॥ ब्रू.यो. याज्ञ. स्मृ., 8/46
107. अन्तर्जानु जानुनोमध्ये हस्तौ कृत्वा दक्षिणेन हस्तेनेति ॥ या.स्मृ.. 1/18
(मिताक्षरा व्याख्या में उद्धृत)
108. कायं कनिष्ठिकामूले तीर्थमुक्तं मनीषिभिः।
ले च तथा प्राजापत्यं प्रकीर्तितम्।
अङ्गुल्यग्रे स्मृतं दैवं पित्र्यं तर्जनिमूलकम् ॥ शं. स्मृ., 10/1-2
109. हृगाभिः पूयते विप्रः कण्ठगाभिस्तु भूमिपः।
110. तालुगाभिस्तथा वैश्यः शूद्रः स्पृश्यभिरन्ततः॥ शं. स्मृ., 10/4
नित्यं नैमित्तिकं काम्यं क्रियाकं मलकर्षणम्।
क्रियास्नानं तथा षष्ठं षोढा स्नानं प्रकीर्तितम्॥
तत्र काम्यं नु कर्तव्यं यथावद्विधिचोदितम्॥ शं.स्मृ.. 8/1,8
111. (क) मनु., 5/85 (ख) या. स्मृ., 3/30 (ग) परा. स्मृ., 12/26, 7/28
112. गृ.र., पृ. 150, चण्डेश्वरकृत व्याख्या में उद्धृत
113. (क) आपो हि ष्ठा मयोभुवस् ता न ऊर्जे दधातना महे रणाय चक्षसे ॥
यो वः शिवतमो रसस् तस्य भाजयतेह नः। उशतीरिव मातरः ॥
तस्मा अरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ। आपो जनयथा च नः॥
ऋ.,10/9/1-3

- (ख) हिरण्यवर्णा। वहीं, 5/38/2 द्रष्टव्य परिशिष्ट
114. अनेन विधिना स्नातस्तीर्थस्य फलमन्नुते ॥ वही, 9/15
115. सर्ववेदपवित्राणि वक्ष्याम्यहमतः परम्।
 येषां जपैश्च होमैश्च पूयन्ते मानवाः सदा॥
 अघमर्षणं देवन्नतं शुद्धवत्यस्तु तत्समाः।
 कुष्माण्ड्यः पावमान्यश्च सावित्र्यश्च तथैव च ॥ शं. स्मृ., 11/1-2
116. एष एवं विधिः प्रोक्तः संध्ययोश्च द्विजातिषु। पूर्वी संध्यां जपंस्तिष्ठेदासीनः
 पश्चिमां तथा। शं. स्मृ., 10/19
117. (क) मनु., 2/101-102, 4/93 (ख) या.स्मृ., 1/24-25 (ग) का. स्मृ.,
 11/14
118. शं.स्मृ., 12/14-16, 20-26, 29
119. मनु., 4/94
120. इत्येवमुक्त्वा कर्तव्यस्ततः संमार्जनं जले।
 आपो हिष्ठेति तिसृभिर्यथावदनुपूर्वशः ॥
 हिरण्यवर्णेति तिसृभिर्जगतीति चतसृभिः ।
 शं नो देवीरिति तथा शं न आपस्तथैव च।
 इदमापः प्रवहते तथा मन्त्रमुदीरयेत्॥ शं.स्मृ., 9/8-9
121. उदृत्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः।
 दृशे विश्वाय सूर्यम स्वाहा ॥ क्र., 1/50/1 तथा यजु., 7/41
122. एतानि गीतानि पुनन्ति जन्तून्।
 जातिस्मरत्वं लभते यदीच्छेत् ॥ वही, 11/6
123. तीर्थ के जल से या स्वच्छ जल से शरीर को निर्मल करना या हाथ से
 अथवा कुशा से शरीर पर मन्त्रपूर्वक जल छिड़कना। संस्कृत- हिन्दी कोश,
 वामन शिवराम आप्टे, पृ. 1085 तथा 797
124. पञ्चसूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः।
 कण्डनी चोकुम्भश्च तस्य पापस्य शान्तये ॥
 पञ्चयज्ञविधानञ्च गृही नित्यं न हापयेत्।
 पञ्चयज्ञविधानेन तत्पापं तस्य नश्यति॥ वही, 5/1-2
125. (क) ऋ., 10/16/10 (ख) तै. आ., 2/10 (ग) बृह.उप., 1/4/16 (घ) गौ.ध.,

1/5/3,8

126. अग्नावग्निर्धन्वन्तरिर्विश्वेदेवाः प्रजापतिः स्विष्टकृदिति होमः। गौ.ध., 1/5/9
127. पित्रयः पिण्डक्रिया स्मृतः। शं. स्मृ., 5/4
128. (क) शं. स्मृ., 13/1, 6 (ख) संस्कृत-हिन्दी कोश, वामन शिवराम आप्टे, पृ. 424
129. सात पाताल हैं-अतल, वितल, सुतल, रसातल, महातल और पाताल (नागलोक)। संस्कृत हिन्दी कोश, वामन शिवराम आप्टे, पृ. 602-603
हदाख्य परिशिष्ट
130. (क) मनु., 2/63 (ख) संस्कृत-हिन्दी कोश, वामन शिवराम आप्टे, पृ.61
131. नोदकेषु न पात्रेषु न क्रुद्धो नैकपाणिना ।
नोपतिष्ठति तत्तोयं यन्न भूमौ प्रदीयते।
उदके नोदकं कुर्यात् पितृभ्यश्च कदाचन।
उत्तीर्य च शुचौ देशे कुर्यादुदकतर्पणम् ॥ गू.र., पृ.203 पर उद्धृत शंख का वचन
132. उदकस्याप्रदानात्तु स्नानशाटी न पीडयेत्। शं. स्मृ., 9/15
133. पितृणां यथाश्राद्धं प्रकाममुदकं दद्यात् ॥ वही, 13/8
134. स्वाध्यायो ब्रह्मयज्ञश्च ॥ शं. स्मृ., 5/4
135. नृत्यज्ञोऽतिथिपूजनम्॥ शं. स्मृ., 5/4
136. महा. अनु.प., 2/70
137. यथा भर्ता प्रभुः खीणां वर्णानां ब्राह्मणो यथा।
अतिथिस्तद्देवास्य गृहस्थस्य प्रभुः स्मृतः॥
न यज्ञैर्दक्षिणाभिश्च वह्निशुश्रूषया न चा
गृही स्वर्गमवाप्नोति यथा चातिथिपूजनात् ॥ शं. स्मृ., 5/7, 13
138. तस्मात् सर्वप्रयत्नेन गृहस्थोऽतिथिमागतम्।
आहारशयनाद्येन विधिवत् परिपूजयेत् ॥ वही, 5/14
139. जायमानो वे ब्राह्मणस्त्रिभिर्गैर्वा जायते ब्रह्मचर्येणा
ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्य एष। तै.सं, 6/3/10/5
ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्य एष
140. मनु., 6/35-37

141. शं.स्मृ., 1/2, 4,5
142. (क) अर्थ एव प्रधान इति का
 (ख) वृत्तिमूलम् अर्थः १ एव प्रधान इति कौटिल्यः।
 अर्थमूलौ धर्मकामौ। की. अर्थ., 1/7, भाग-1, 39
 (ख) वृत्तिमूलम् अर्थः। अर्थमूलौ धर्मकामौ। चाणक्य सूत्र, 1/89-90
143. ब्रह्मचारी गृहस्थो भिक्षुवैखानसः गौ.ध., 3/2
144. गृहस्थस्तु यदा पश्येद्वलीपलितमात्मनः।
 अपत्यस्यैव चापत्यं तदाऽरण्यं समाश्रयेत् ॥
 पुत्रेषु दारान्निक्षिप्य तथा वाऽनुगतो वनम्॥ शं.स्म, 6/1-2
145. कृच्छ्रे वाऽपि नयेत् कालं। शं. स्मृ., 6/7 *
146. अग्नीनुपचरेन्नित्यं वन्यमाहारमाहरेत् ॥
 यदाहारो भवेत्तेन पूजयेत् पितृदेवताः।
 तेनैव पूजयेन्नित्यमतिथिं समुपागतम् ॥
 ग्रामादाहृत्य चाशनीयादष्टौ ग्रासान् समाहितः ।
 स्वाध्यायञ्च सदा कुर्याज्जटाश्च विभृयात्तथा॥
 तपसा शोषयेन्नित्यं स्वकञ्चैव कलेवरम्।
 आर्द्रवासास्तु हेमन्ते ग्रीष्मे पञ्चतपास्तथा॥
 प्रावृष्याकाशशायी स्यान्नक्ताशी च सदा भवेत् ।
 चतुर्थकालिको वा स्यात् षष्ठकालिक एव वा ॥
 कृच्छ्रैर्वाऽपि नयेत् कालं ब्रह्मचर्यञ्च पालयेत् ॥ शं. स्मृ, 6/2-7
147. एवं नीत्वा वने कालं द्विजो ब्रह्माश्रमी भवेत् ॥ शं. स्मृ, 6/7
148. सम्यङ् नित्यमास्ते यस्मिन् यद्वा सम्यङ् न्यस्यन्ति दुःखानि कर्माणि येन
 स संन्यासः, स प्रशस्तो विद्यते यस्य स संन्यासी। सत्यार्थ प्रकाश, पंचम
 समुल्लास, पृ. 113
149. शं.म्मू., 5/12, 6/7, 7/1-2, 5, 8
150. एवं नीत्वा वने कालं द्विजो ब्रह्माश्रमी भवेत्॥ शं. स्मू., 6/7
151. प्रजापतेर्वा एष विक्रमाननुविक्रमते य उपहरति। योऽतिथीनां य आहवनीयो यो
 वेश्मनि स गार्हपत्यो यस्मिन् पचन्ति स दक्षिणाग्निः। अथर्व., 9/6/29-30
152. कौपीनाच्छादनं वासो बिभृयादव्यथञ्चरन्।

- शून्यागारनिकेतः स्याद्यवसायगृहो मुनिः॥ शं. स्मृ., 7/5
153. वर्षाकाले तु, न दोषः, उर्ध्वं वार्षिकाभ्यां मासाभ्यां नैकस्थानवासीः या. स्मृ., 3/58, मिताक्षरा व्याख्या में उक्त शंख का वचन
154. विधूमे न्यस्तमुसले व्यङ्गारे भुक्तवर्जने।
अतीते पादसम्पाते नित्यं भिक्षां यतिश्चरेत् ॥
सप्तागारांश्चरेक्ष्यं भिक्षितं नानुभिक्षयेत्।
न व्यथेत तथाऽलाभे वथालब्धेन वर्तयेत् ।
नाऽऽस्वादयेत्तथैवान्नं नाशनीयात् कस्यचिद् गृहे ॥
मृण्मयालाबुपात्राणि यतीनान्तु विनिर्दिशेत्।
तेषां सम्मार्जनाच्छुद्धिर चैवि प्रकीर्तिता॥ शं. स्मृ., 7/2-4
155. दृष्टिपूतं न्यसेत् पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत्। सत्यपूतां वदेद्वाचं मनः पूतं समाचरेत्॥ चन्दनैर्लिप्यतेऽङ्ग वा भस्मचूर्णैर्विगर्हितः। कल्याणमध्यकल्याणं तयोरेव न संश्रयेत् ॥ सर्वभूतहितो मैत्रः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
ध्यानयोगरतो नित्यं भिक्षुर्यायात् परां गतिम्॥ वही, 7/6-8
156. (क) मनु., 6/76-77 (ख) या. स्मृ., 3/63-64
157. मातरिश्वा वायुर्मातर्यन्तरिक्षे श्वसिति। निरु., 5/1/5
158. प्राणायामत्रयं कृत्वा स्नानकाले समाहितः ।
अहोरात्रकृतात्पापात्तत्क्षणादेव मुच्यते ॥
सव्याहृतिकाः सप्रणवाः प्राणायामास्तु षोडश।
अपि भ्रूणहनं मासात्युनन्त्यहरहः कृताः ॥ शं. स्मृ., 12/17-18
159. पञ्चकलेश-अविद्या-अस्मिता-राग-द्वेष-अभिनिवेशः। यो.सू, 2/3
160. यो.द., 2/1 (द्रष्टव्य, व्यासभाष्य पातञ्जलयोगदर्शनम्)
161. डॉ. नीना डोगरा, गृ.र., पृ. 182 पर योगियाजवल्क्य का वचन
162. चक्षुः क्षोत्रे स्पर्शनव्य रसना प्राणमेव च।
बुद्धीन्द्रियाणि जानीयात् पञ्चेमानि शरीरके॥
शब्दो रूपं तथा स्पर्शो रसो गन्धस्तथैव चा
इन्द्रियस्थान् विजानीयात् पञ्चैव विषयान् बुधः॥ वही, 7/24-25
163. वासुदेवस्तमोऽन्धानां प्रत्यक्षो नैव जायते।
अज्ञानपटसंवीतैरिन्द्रियैर्विषयेप्सुभिः ॥ शं. स्मृ., 7/20

164. देशबन्धञ्चित्तस्य धारणा। यो.सू., 3/3
165. स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः। यो.द., 2/54
166. ध्यानयोगमतः परम्॥ शं.स्मृ., 7/15
167. तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्। यो.सू., 3/2
168. ध्यानेनानीश्वरान् गुणान्। शं.स्मृ., 7/12
169. ध्याननिर्मथनाभ्यान्तु विष्णुं पश्येद् धृदिस्थितम्॥ वही, 7/17
170. हृदिस्था देवताः सर्वा हृदि प्राणाः प्रतिष्ठिताः।
हृदि ज्योतींषि सूर्यच हृदि सर्वं प्रतिष्ठितम्।
हृद्यर्कश्चन्द्रमाः सूर्यः सोमो मध्ये हुताशनः ।
तेजोमध्ये स्थितं तत्त्वं तत्त्वमध्ये स्थितोऽच्युतः ॥
एष वै पुरुषो विष्णुर्व्यक्ताव्यक्तः सनातनः।
एष धाता विधाता च पुराणो निष्कलः शिवः ॥ वही, 7/16, 18, 21
171. नान्यः पन्था विद्यते ऽयनाय ॥ वहीं, 7/22
172. तजोमयं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः ॥ वहीं, 7/19
173. ध्यानयोगरतो नित्यं भिक्षुर्यायात् परां गतिम् ॥ वही, 7/8
174. ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थोऽथ भिक्षुकः ।
पवाक्तचारिणः सर्वे गच्छन्ति परमां गतिम् ॥ महा. शा.प., 243/13, पृ. 754
175. काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, पृ. 381
176. काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, पृ. 501
177. पाण्डेय, डॉ. राजबली, हिन्दू-संस्कार, पृ. 351-352
178. काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, पृ. 180
179. (क) आशा रानी व्होरा, औरत कल, आज और कल, पृ.136
(ख) प्रो. सरिता वाशिष्ठ, महिला और कानून, पृ. 132-133
180. काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, पृ. 180
181. काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग पृ. 196 तथा 180
182. पुरोहित, डॉ. सोहन कृष्ण, उपनयन संस्कार मीमांसा, पृ.136
183. तोमर, प्रो. राम बिहारी सिंह, भारतीय सामाजिक संस्थाएँ, पृ. 41
184. तोमर, प्रो. राम बिहारी सिंह, भारतीय सामाजिक संस्थाएँ, पृ.60 र वही, पृ

185. तोमर, प्रो. राम बिहारी सिंह, भारतीय सामाजिक संस्थाएँ, पृ.46
186. प्रो. सरिता वाशिष्ठ, महिला और कानून, पृ. 136-137
187. (क) तोमर, प्रो. राम बिहारी सिंह, भारतीय सामाजिक संस्थाएँ, पृ.69-73
(ख) कापड़िया, के.एम., भारतवर्ष में विवाह एवं परिवार, पृ. 160-162, 172
(ग) आशा रानी व्होरा, औरत कल, आज और कल, पृ.134
188. (क) आशा रानी व्होरा, औरत कल, आज और कल, पृ.135
(ख) प्रो. सरिता वाशिष्ठ, महिला और कानून, पृ. 111, 133-134
189. (क) आशा रानी व्होरा, औरत कल, आज और कल, पृ.136
(ख) प्रो. सरिता वाशिष्ठ, महिला और कानून, पृ. 135-136
190. (क) कापड़िया, के.एम., भारतवर्ष में विवाह एवं परिवार, पृ. 120
(ख) तोमर, प्रो. राम बिहारी सिंह, भारतीय सामाजिक संस्थाएँ, पृ.31-32
(ग) प्रो. सरिता वाशिष्ठ, महिला और कानून, पृ. 133-134
191. जोशी, डॉ. प्रदीप कुमार, प्राचीन भारतीय शास्त्रों में वर्णित गार्हस्थ्य आश्रम,
पृ. 152-153
192. (क) कापड़िया, के.एम., भारतवर्ष में विवाह एवं परिवार, पृ. 123-124
(ख) तोमर, प्रो. राम बिहारी सिंह, भारतीय सामाजिक संस्थाएँ, पृ.35-36
193. आशा रानी बोहरा, औरत कल, आज और कल, पृ. 134-135

पंचम अध्याय
स्मृति साहित्य में अपराध एवं दण्ड
विधानः एक अनुशीलन

पंचम अध्याय

स्मृति साहित्य में अपराध एवं दण्ड विधान: एक अनुशीलन

अपराध का अर्थ, स्वरूप एवं प्रकार

प्राचीन ऋषियों द्वारा मानवीय मनोवृत्तियाँ अच्छी-बुरी तथा मनुष्य के सम्पूर्ण कार्यकलापों को सामाजिक अनुबन्धों में इस प्रकार गठित, अनुशासित और कुछ अंशो तक सीमित रखने का प्रयास किया गया, जिससे उसका जीवन सफल हो सके और मानव जीवन की सार्थकता अनुभव की जा सके। सामाजिक जीवन की सफलता को ध्यान में रखते हुए विपुल साहित्य के रूप में स्मृति ग्रन्थों की रचना हुई। स्मृतियों में तीन मुख्य विषयों का वर्णन है-

- (1) आचार
- (2) व्यवहार
- (3) प्रायश्चित

प्रायश्चित्त वर्ग में अपराध एवं पाप मुक्ति के उपाय है-

1. अपराध का अर्थ - स्मृतियों तथा अन्य राजनीतिक ग्रन्थों ने अपराध विषय पर विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की है। किसी समाज में, किसी व्यक्ति के द्वारा उस समाज की परम्पराओं, रीतियों के विरुद्ध किया गया कोई ऐसा कृत्य जिससे उस समाज को हानि हो, सामाजिक अपराध की श्रेणी में आता है। संक्षेप में बिना किसी के द्वारा सूचित हुए, अभियोग या अर्जी उपस्थित किए बिना प्रपंचो को अपराध का नाम दिया जाता है। प्राचीन भारतीय दण्ड शास्त्र अपराध व पाप में तारतम्य स्थापित करता है, क्योंकि कानून ही धर्म है। अतः समाज विरोधी आचरण जहाँ विधि का उल्लंघन करने के कारण अपराध था, वहीं धर्म विरोधी होने के कारण पाप अथवा पातक है। हिन्दू विधि शास्त्रों में अपराध एवं पाप के मध्य स्पष्ट विभाजन करना असंभव है।

अपराध का स्वरूप - धर्मशास्त्रों में वर्णित षड्रिपुओं के अन्तर्गत काम, क्रोध, लोभ, मोह इत्यादि का समावेश होता है। इन पर विजय प्राप्त कर लेने से व्यक्ति सद्गुण सम्पन्न तथा जितेन्द्रिय हो जाता है। इन रिपुओं की मनुष्य पर विजय होने पर वह उच्छृङ्खल हो जाता है। जब मनुष्य का विवके इन रिपुओं के आगे

मन्द हो जाता है, तब वह अपराधी प्रवृत्ति की तरफ बढ़ता है। नारद के अनुसार कोई भी व्यक्ति मन की चेष्टाओं द्वारा अपराध में लिप्त होता है। अतः यह मनोविज्ञान पर आधारित है। अपराध को सर्वप्रथम मनोविज्ञान के आधार पर काचिक, मानसिक तथा वाचिक तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है। हिन्दू न्याय व्यवस्था प्राचीन काल से ही अपराधों को दीवानी एवं फौजदारी दो प्रकारों में विभक्त करती है। धर्मसूत्रों के पश्चात् न्यायिक प्रक्रिया का उल्लेख व्यवहार के रूप में मिलने लगा। डॉ. पी.वी. काणे के अनुसार-व्यवहार पद का अर्थ है झगड़े, विवाद या मुकदमों का विषय।¹

अपराध के प्रकार -

अपराध को निम्न तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है।

(क) सामाजिक तथा व्यवहार से सम्बन्धित अपराध।

(ख) आर्थिक अपराध

(ग) राज्य से सम्बन्धित अपराध।

इनके अन्तर्गत बहुत से अपराधों का समावेश हो जाता है।

नारद स्मृति के अनुसार अपराध 10 प्रकार के होते हैं-

1. नृपाज्ञा का अतिक्रमण
2. नारीवध
3. वर्णसंकर
4. पर स्त्रीगमन
5. चोरी
6. पति बिना गर्भधारण
7. वाक्पारुष्य
8. अश्लीलता
9. दण्ड-पारुष्य
10. गर्भपात

बृहस्पति और नारद² के अनुसार साहस अपराध के तीन प्रकार हैं-

1. प्रथम साहस - कृषि को नुकसान करनाए गाली देना
2. द्वितीय साहस - वस्त्रों, बर्तनों को नष्ट करना
3. तृतीय साहस - हत्याए बलात्कार इत्यादि जघन्य अपराध

नारद, मनु, याज्ञवल्क्य के मत में सामान्य वस्तु के बलपूर्वक अपहरण को साहस कहते हैं। उसे वस्तु के मूल्य से दुगुना दण्ड मिलना चाहिए तथा अपराध अस्वीकार करने पर चार गुना दण्ड मिलना चाहिए। प्रारंभ से ही समाज को अधिकार था कि यदि कोई मनुष्य विधि विहित नियमों के विरुद्ध कार्य करे तो उसे दण्ड दिया जाये ताकि पुनः उस अपराध की पुनरावृत्ति न हो। मनु ने इस तरह के आपराधिक कृत्यों को महापातक³ और उपपातक रूप में परिभाषित किया।

महापातक पाँच प्रकार हैं-

1. ब्रह्महत्या
2. सुरापान
3. चोरी
4. गुरुपत्नी गमन
5. महापातकी संसर्ग

“ब्रह्महत्या, सुरापानन्स्तेय गुर्वङ्गनागमः।

महान्तिपातकान्याहुः संसर्गश्चपि तैः सहा।।

मनु ने आततायी अपराध की परिभाषा दी है - जो व्यक्ति तलवार उठाए हुए विष तथा अग्नि लिए हुए, तन्त्रमन्त्र से मारने वाला, राजा से चुगली करने वाला, स्त्रीधन का अपहरण करने वाला तथा छिद्रान्वेषी है वह आततायी अपराधी है। बृहस्पति तथा मनु के मतानुसार इस प्रकार के आततायी को आते देखकर मार डालना चाहिए।⁴

स्मृतिकारो ने प्राकृतिक वनस्पति वन्य जीव-जन्तुओं को नुकसान पहुँचाने वाले कृत्यों को भी अपराध की श्रेणी में रखकर दण्ड विधान किया है। सभी वनस्पतियों के उपभोगों में जैसी-जैसी उत्तमता होती है उसी के अनुसार उन वनस्पतियों को नुकसान पहुँचाने वाले को दण्ड दिया जाना चाहिए।⁵

पशु का लिंग कोई काटे या चोट पहुँचाए तो उसे पशु का मूल्य तथा मध्यम साहस का दण्ड मिलता था।⁶

प्राचीन स्मृतिकारों ने विहित विधानों के विरुद्ध आचरण करने पर अपराध के अनुरूप मानव कल्याण की भावना को ध्यान में रखते हुए समुचित दण्ड विधान का निर्माण किया है।

2. दण्ड विधान की अवधारणा

अपराध एवं दण्ड का सम्बन्ध मानवीय स्वभाव से है। इस संसार में पूर्णतया पवित्र मनुष्य दुर्लभ है।⁷ क्योंकि काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह और मात्सर्य ये 6 मनुष्य के प्रबल शत्रु हैं। इन षडरिपुओं के वशीभूत होकर मनुष्य नाना प्रकार के आपराधिक कृत्यों में लिप्त हो जाता है। प्राचीन भारतीय आचार्यों ने मानव समाज की आपराधिक निवृत्ति हेतु शक्ति की आवश्यकता महसूस की।

सर्वप्रथम शतपथ ब्राह्मण में दण्ड का प्रयोग शक्ति के अर्थ में किया गया। इससे पूर्व वेदों में कई स्थानों पर दण्ड शब्द का प्रयोग हुआ है। वहाँ उसे न्यायिक प्रशासन के रूप में प्रयुक्त नहीं किया गया। धर्मसूत्रकारों के अनुसार दण्ड का उद्देश्य समाज की यथास्थिति की रक्षा करना है। दण्ड की आवश्यकता संसार को धर्ममय बनाने के लिए है। डॉ. सुरेन्द्र नाथ मित्र के अनुसार “बाह्य आक्रमणों से एवं दुष्ट पुरुषों से समाज का संरक्षण केवल समुद्देश्यों एवं सद्भावना से नहीं हो सकता था। इसलिए प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में यह कहा गया है कि राजा की सहायता के लिए परमात्मा ने दण्ड की सृष्टि की तथा राजा दण्ड की सहायता से संसार को योग्य मार्ग पर बनाये रखता है। यदि दण्ड न हो तो संसार में कोई भी अपने धर्म पर स्थिर नहीं रहेगा तथा सारा समाज नष्ट हो जाएगा।⁸

मनुस्मृति में भी दण्ड को सर्वोपरि मानते हुए उल्लेख है कि दण्ड ही राजा है, वहीं पुरुष है, वहीं नेता है, वहीं शासक भी है। वहीं दण्ड चारों आश्रमों के धर्म के विचलन का निरोधक भी है।⁹

दण्ड विधान का स्वरूप

अति प्राचीन काल में लोग नीतिपरक आचरण करते थे। मनु ने लिखा है कि कृतयुग में धर्म अपनी पूर्णता के साथ विराजमान था, किन्तु आगे चलकर दूषित मनोवृत्तियों के कारण प्रत्येक युग में धर्म का पतन होता चला गया। नारद के अनुसार जब लोग धार्मिक एवं सत्यवादी थे उस समय न तो व्यवहार (कानून) की आवश्यकता थी और न द्वेष था। जब मनुष्यों में धर्म का हास हुआ तब धर्म और न्याय का प्रवर्तन हुआ। ऋग्वैदिक ऋत अब धर्म की धारणा में बदल गया।

दण्ड के स्वरूप से सम्बन्धित प्रत्येक धारणा पर देश, जाति, कुल एवं युग के विचारों का पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। प्राचीन ऋग्वैदिक काल में दण्ड का न्याय व्यवस्था से कोई सम्बन्ध नहीं था। महाभारत के विभिन्न प्रकरणों में दण्ड

विषयक जो विचार प्रकट किये गये हैं उनसे उस युग के बदले हुए मूल्य सामने आते हैं तथा वैदिक परम्पराओं को बनाये रखने की कामना भी स्पष्ट होती है। हरिहर नाथ त्रिपाठी के अनुसार महाभारत में मूल वैदिक परम्परा सुरक्षित रखने का प्रयास किया गया लेकिन युग की स्थिति अस्वीकार नहीं की जा सकती।¹⁰ कृष्ण ने दण्ड के 'दम' को अपना रूप बताया। मत्स्य न्याय से मुक्ति दण्ड द्वारा ही संभव है। कामन्दक ने लोक-परलोक दोनों के लिए दण्ड को आवश्यक माना है। दण्ड द्वारा सृष्टि के सभी प्राणियों को प्रशासित किया जाता है। दण्ड ही धर्म है। जब लोग सोते हैं तब दण्ड उनकी देखभाल करता है।¹¹

दण्ड शास्ति प्रजाः सर्वादण्ड एवऽभिरक्षति।

दण्ड सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मविदुर बुधाः॥

समाज में धर्म की स्थापना दण्ड का प्रमुख उद्देश्य माना गया है, इसलिए भारतीय आचार्यों ने सदैव राजा को न्यायपूर्ण व्यवहार हेतु निर्देशित किया। मनु तथा नारद स्मृति के साथ-साथ बृहस्पति स्मृति तथा कौटिल्य ने व्यवहार के 18 पदों का उल्लेख किया है। याज्ञवल्क्य स्मृति में 18 पदों को प्रकरण में विभक्त करके विशद वर्णन किया है। व्यवहार शब्द का अर्थ यहाँ पर मुकदमा या कचहरी में गए हुए झगड़े और न्याय सम्बन्धी विधि से है। वशिष्ठ तथा शंखलिखित के मत से विनिमय में प्रविष्ट होने से सम्बन्धित न्याय अर्थात् कानूनी सामर्थ्य व्यवहार का अर्थ है। याज्ञवल्क्य के अनुसार यदि कोई व्यक्ति धर्मशास्त्र और समयाचार के विरुद्ध ढंग से दूसरों द्वारा पीड़ित होकर राजा से निवेदन करता है तो वह व्यवहार का विषय माना जाता है।¹² नारद ने व्यवहार पद के स्थान पर 'विवादपद' का प्रयोग किया है।

मनु ने 18 व्यवहार के स्थानों को निम्न प्रकार उल्लेखित किया है-

1. ऋणादान (उधार देना)
2. निक्षेप (धरोहर रखना)
3. अस्वामिविक्रय (पर वस्तु को चोरी से बेचना)
4. संमूय समुत्थान (साझेदारी से व्यापार करना)
5. दन्तस्यानपाकर्म (दी गई वस्तु को लेना)
6. वेतना दान (काम करने वालों को मजदूरी नहीं देना)
7. संविद् व्यतिक्रम (प्रतिज्ञा/मर्यादा का उल्लंघन करना)

8. क्रयविक्रयानुशय (वस्तु को क्रय करके या विक्रय करके स्वीकार नहीं करना)
9. स्वामी और पशुपालक का झगड़ा
10. सीमा विवाद
11. कठोर वचन
12. प्रहार करना
13. चोरी
14. डकैती आदि साहस
15. स्त्रीसंग्रहण
16. स्त्री-पुरुष धर्म की व्याख्या
17. दाय भाग
18. जुआ और समाहय¹³

नारदीय मनुस्मृति में अल्पभेद से 18 व्यवहार पद दिए गए हैं और 18 अध्यायों में विशद वर्णन किया गया है।

दण्ड के रूप

सामान्यतया दण्ड के चार रूप माने गये हैं- प्रतीकारात्मक, अवरोधक, निरोधक एवं सुधारात्मक। प्राचीन भारत में दण्ड के चारों स्वरूप विद्यमान थे। इनके अतिरिक्त तत्कालीन समाज में प्रायश्चित का भी प्रचलन था। प्रायश्चित पापों के लिए किया जाता था, क्योंकि अनेक पाप या आचार सम्बन्धी अपराध ऐसे थे जो दण्ड की सीमा में नहीं आते थे।

1. प्रतीकारात्मक दण्ड - यह दण्ड बदले की भावना पर आधारित है। इसमें अपराधी को अपराधानुसार दण्ड दिया जाता है। प्रारम्भिक समाज में दण्ड के इसी रूप का प्रचलन था। प्राचीन कालीन दण्ड का प्रतीकारात्मक रूप 'दिव्य साक्षी' का था।

2. अवरोधात्मक दण्ड - इस दण्ड स्वरूप के मूल में अपराधी को पुनः अपराध नहीं करने की चेतावनी की जाती है। मनु के अनुसार चोर जिस अंग से चोरी करे वहीं अंग कटवा दिया जाना चाहिए ताकि समाज में भय व आतंक का माहौल बना रहे। ब्रह्मस्पति ने तो अपराधों के लिए प्राण दण्ड का भी समर्थन किया है। शुक के अनुसार पापी को दण्ड देने का अर्थ है अपराधों को रोकना। प्राचीन काल

में मृत्यु दण्ड, कारावास की सजा सार्वजनिक स्थानों पर दी जाती थी ताकि अन्य लोग भी देखकर सबक सीख सकें।

3. निरोधात्मक दण्ड - इस दण्ड में दमन से काम लिया जाता है। प्राचीन राज्य में अपराधियों से ऐसे कार्य कराये जाते थे जिनसे उनकी अपराध की वृत्ति समाप्त हो जाए। शुक्र के मतानुसार अपराधियों से सड़क साफ कराके कूड़ा-करकट उठाकर, सार्वजनिक स्थानों पर कार्य करवाकर, निरोध का प्रयास किया जाता था।

4. सुधारात्मक दण्ड - मनु के अनुसार दण्ड का यह रूप शल्य चिकित्सा के समान है जिसमें रोग का निदान किया जाता है रोगी को समाप्त नहीं किया जाता है। दण्ड का यह रूप सभ्यता के उत्कृष्ट रूप का घोटक है। दण्ड का सुधारात्मक रूप यह मानकर चलता है कि कोई भी व्यक्ति स्वभाव से बुरा नहीं होता, परिस्थितियाँ उसे बुरा बना देती हैं।

दण्ड के विभिन्न स्वरूपों का प्रमुख उद्देश्य समाज में धर्म की स्थापना माना गया है। प्राचीन आचार्यों की मान्यता थी कि दण्ड का उद्देश्य जन-कल्याण है और इस उद्देश्य को तभी प्राप्त किया जा सकता है जब न्यायपूर्वक व्यवहार किया जाए। जे. एच. गांगुली के अनुसार दण्ड और धर्म का समन्वय होने पर ही दण्ड संस्कृति के विकास की संस्था एवं धर्म मानव के अंतिम लक्ष्य का प्रतिपादक बनता है।

दण्ड के प्रकार

नारदीय मनु का विधान है कि शास्त्रोक्त विधि द्वारा ही दण्ड विधान की व्यवस्था करनी चाहिए। मनु के अनुसार किसने जितना अपराध किया उसको उसी अपराध के समान दण्ड मिलना चाहिए।¹⁴

मनु ने राजा को निर्देश दिया है कि उसके लिए कोई भी अदण्डनीय नहीं है। जो स्वधर्म का पालन नहीं करता वह दण्ड का भागी होगा।¹⁵

याज्ञवल्क्य का विधान है कि जो राजा दण्डनीयों को दण्ड देता है और हत्यारों का विनाश करता है, वह महायज्ञों का पुण्य प्राप्त करता है।¹⁶

यदि राजा शास्त्रानुसार दण्ड देता है, तो उसे स्वर्ग, यश और विजय की प्राप्ति होती है। यदि वह अलापपूर्वक दण्ड देता है, तो उसकी कीर्ति तथा परलोक का विनाश हो जाता है।¹⁷

स्मृतिकारों ने अपराधी की प्रकृति, परिस्थिति, मनः स्थिति को ध्यान में रखकर संतुलित रूप से दण्ड के 4 प्रकार बताये हैं।

मनु, याज्ञवल्क्य, बृहस्पति और वृद्धहारीत आदि स्मृतियों में दण्ड को चार प्रकारों में विभक्त किया है-

1. वाग्दण्ड
2. धिग्दण्ड
3. अर्थदण्ड
4. वधदण्ड

1. वाग्दण्ड - वाग्दण्ड में अपराधी की भर्त्सना की जाती है तथा उसे डाँटा-फटकारा जाता है। उससे पूछा जाता है कि तुमसे अधर्म कार्य क्यों किया? बृहस्पति का कथन है कि गुरुजनों, पुरोहितों तथा पुत्रों को शाब्दिक झिड़की नहीं दी जाती ये अपराधी काम, क्रोध, लोभ, मोह के क्षणिक आवेश में आकर अपराध कर जाते हैं। मनु ने इन्हीं अपराधियों को सुधारने के लिए वाग्दण्ड का विधान किया है।

इस तरह के अपराधियों को सुधारने के लिए वाग्दण्ड का विधान किया है। मनु का कहना है कि सबसे पहले वाग्दण्ड का ही प्रयोग करना चाहिए। वाग्दण्ड के असफल होने पर अन्य प्रकारों को व्यवहार में लाना चाहिए।¹⁸

2. धिग्दण्ड - वाग्दण्ड से अपराधी भयभीत न हो और अपराध कर्मों का त्याग न करे, तो उसे धिक्कारना चाहिए। धिक्कारते हुए उससे कहना चाहिए कि 'तुम्हें धिक्कार है, क्योंकि तुम पापी हो और दुष्ट कर्म करने वाले एवं अधर्म के अपराधी हो।' अति भावुक लोगों के लिए तथा भावुक समाज के मध्य दण्ड के उद्देश्य की सफलता के लिए वाग्दण्ड और धिग्दण्ड पर्याप्त है। बृहस्पति का कथन है कि उक्त दोनों विधियों को ब्राह्मण न्यायाधीश कार्यान्वित करता है।

3. अर्थदण्ड - जब अपराधी पर वाग् तथा धिक् दोनों दण्ड विफल हो जाते हैं, तो उस पर अर्थ दण्ड लगता है। अर्थ दण्ड अपराध के अनुसार लगाया जाता था। छोटे अपराध पर 10 पण तथा बड़े अपराध पर पूरी सम्पत्ति जब्त हो जाती थीं कौटिल्य ने प्रथम साहस, मध्यम साहस और उत्तम साहस के रूप में इसके तीन भेद किये हैं। भारतीय ग्रन्थों में इस सम्बन्ध में भिन्नता पाई जाती है कि एक अपराधी पर दण्ड के रूप में कितने पण का जुर्माना किया जाए, लेकिन अर्थदण्ड

के प्रथमए मध्यमए उत्तम साहस भेदों को प्रायः सभी आचार्यों ने स्वीकार किया। मुद्रा के रूप में जो भी धन प्राप्त होता था वह राजकोष में जमा किया जाता था।

4. वधदण्ड

यह दण्ड सबसे अन्तिम एवं सबसे कठोर प्रकार का था। मनु का कथन है कि जब अपराधी इतना अधिक धृष्ट हो कि वह अन्य किसी दण्ड से वश में न आए तो उसे एक साथ चारों प्रकार के दण्ड देने चाहिए।¹⁹ याज्ञवल्क्य²⁰, मनु²¹, वृद्ध हारीत इत्यादि स्मृतिकारों ने कहा है कि किसी भी अपराध में ब्राह्मण को वध दण्ड नहीं दिया जाना चाहिए। मनु का कथन है कि यदि कोई ब्राह्मण वध के योग्य अपराध करता है, तो उसको फाँसी नहीं देनी चाहिए अपितु सिर मुंडाकर देश निकाला दे।²²

हत्या, बलात्कार करने वाले अपराधी को अंगछेदन या वधदण्ड मिलता था। डॉ पी.वी. काणें ने भी उद्धृत किया है कि “कात्यायन के अनुसार भ्रूण हत्या, सोने की चोरी, ब्राह्मण स्त्री की हत्या या पतिव्रता स्त्री की हत्या के अपराधों में ब्राह्मण को भी मृत्यु दण्ड दिया जा सकता है।²³

मनु के दण्ड सिद्धान्त से पता चलता है कि अपराध के अनुसार अपराधी को दण्डित किया जाये। दण्ड एक भयंकर अस्त्र है, जिसको साधारण व्यक्ति नहीं संभाल सकाता। दण्ड का अनुचित प्रयोग राजा को भी सपरिवार नष्ट कर देता है। याज्ञवल्क्य ने दण्ड को साक्षात् धर्म कहा है जिसका निर्माण ब्रह्मा ने किया।²⁴ इसका प्रयोग पापियों पर करना चाहिए। जो राजा शास्त्रानुसार दण्डनीय तथा हत्यारों को दंडित करता है, वह अधिक यज्ञों के पुण्य को प्राप्त करता है।²⁵ विष्णु स्मृति में भी उल्लेख है कि कोई भी दण्ड व्यवस्था से मुक्त नहीं है। दण्ड व्यवस्था ठीक रहने से प्रजा की समृद्धि होती है। राजा के लिए निर्देश है कि वह फाँसी का आदेश देते समय मुँह पर विकार न आने दे।²⁶

मनु याज्ञवल्क्य तथा वृद्धहारित के मतानुसार दण्ड देते समय देश, व्यक्ति, काल, आयु, कर्म, आर्थिक स्थिति को ध्यान में रखना चाहिए।²⁷

राजा न्यायपूर्वक दण्डव्यवस्था नहीं करता है तो सारे राष्ट्र का पाप उसे ही भोगना पड़ता है। दण्ड का उचित प्रयोग राष्ट्र के लिए लाभदायक तथा अनुचित प्रयोग हानिकारक होता है।²⁸

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि धर्मशास्त्रकारों द्वारा निर्मित दण्ड विधान मानवतापूर्ण, सैद्धान्तिक तथा मनोविज्ञान पर आधारित श्रेष्ठ दण्ड विधान था जो तत्कालीन परिस्थितियों में लेकर वर्तमान तक समीचीन प्रतीत होता है।

3. अपराध से समाज पर दुष्प्रभाव -

जब हम अपराध और समाज की बात करते हैं, तो अपराध और समाज दोनों के बारे में जानना आवश्यक हो जाता है। अपराध प्राचीन काल सेही मानव सभ्यता का हिस्सा रहा है।

स्मृतिकारों ने भी तत्कालीन समाज में चोरी, हमला, डकैती, धोखाधड़ी, व्यभिचार, हत्या, बलात्कार जैसे जघन्य अपराधों का उल्लेख किया तथा अपराध की प्रकृति के अनुसार दण्ड व्यवस्था का निर्माण किया। तब से अब तक अपराध शब्द का दायरा आधुनिक रूप में बदल गया। सामान्य भाषा में अपराध को कानून द्वारा दंडनीय कार्य के रूप में परिभाषित किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में हम अपराध को किसी व्यक्ति या समूह द्वारा किसी अन्य व्यक्ति या राज्य के विरुद्ध नैतिक या सामाजिक रूप से किए गए किसी भी गलत कार्य के रूप में परिभाषित कर सकते हैं, जो राज्य द्वारा निषिद्ध है और दोषी पाए जाने पर राज्य द्वारा दंडित किया जाता है। अपराध के विभिन्न प्रकार हैं जैसे: व्यक्ति के विरुद्ध अपराध, सम्पत्ति के विरुद्ध अपराध, संगठित अपराध, व्यावसायिक अपराध, राजनीतिक अपराध तथा कॉर्पोरेट अपराध।

कोई भी कार्य तब तक अपराध नहीं होता जब तक समाज उसे अपराध न मान ले। अपराध वह कार्य है जो समाज के नियमानुसार नहीं है ऐसे कार्यों को दंडित किया जाना चाहिए। अपराध को परिभाषित करने में समाज की अहम भूमिका होती है क्योंकि इससे कानून बनाने में मदद मिलती है जो अपराध को होने से रोकता है।

अपराध के सिद्धान्त -

अपराध एक गतिशील अवधारणा है और नये आपराधिक व्यवहार के विकास के साथ इसका दायरा बदलता रहता है। कुछ आपराधिक सिद्धान्त हैं जिन्हें समाज में तीन दृष्टिकोण में बांटा गया है-

1. जैविक सिद्धान्त
2. समाजशास्त्रीय सिद्धान्त

3. मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त

किसी भी सिद्धान्त को अपराध की विविध अवधारणा को समझने के लिए सम्पूर्ण रूप से लागू नहीं किया जा सकता है। लेकिन इन सिद्धान्तों ने अपराध की अवधारणा और समाज में इसके संबंध को समझने में बहुत योगदान दिया है।

अपराध से समाज पर नकारात्मक प्रभाव -

मार्टिन लूथर किंग जूनियर अपने प्रसिद्ध लेख 'The Purpose of education' में लिखते हैं कि "नैतिकता के अभाव में बुद्धि से श्रेष्ठ व्यक्ति सबसे खतरनाक अपराधी बन सकता है।" असल में हम व्यावहारिक बदलाव के ऐसे दौर में हैं, जो स्थाई और परिवर्तनशील सामाजिक प्रभाव पैदा भी कर सकता है और नहीं भी। अधिकांश मामलों में अपराध के कारण समाज पर आर्थिक सामाजिक और राजनीतिक रूप से नकारात्मक प्रभाव पड़ता है। आज समाज में अपराध के निम्नलिखित दुष्प्रभाव हैं-

- 1. पारिवारिक दुष्प्रभाव** - कोई भी अपराधी किसी न किसी पारिवारिक पृष्ठभूमि से जुड़ा होता है। प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से अपराध की क्रियान्विति होने पर पारिवारिक विघटन निश्चित है।
- 2. सामाजिक दुष्प्रभाव** - कानून तोड़ने या सामाजिक मानदंडों का उल्लंघन करने पर दंड के रूप में शारीरिक, आर्थिक या मानसिक उत्पीड़न का सामना करना पड़ता है।
- 3. आर्थिक दुष्प्रभाव** - मादक पदार्थों के सेवन, भोग विलासिता पूर्ण जीवन-यापन की लालसा अपराधों को जन्म देती है। आर्थिक समस्या उत्पन्न होने पर व्यक्ति चोरी, डकैती जैसे अपराधों में लिप्त हो जाता है।
- 4. राजनीतिक दुष्प्रभाव** - संगठित अपराध समूह राजनीतिक दलों, सरकारी निकायों और स्थानीय प्रशासन को प्रभावित कर सकते हैं, इस प्रक्रिया में अक्सर राजनेताओं और सरकारी अधिकारियों का भ्रष्टाचार होता है।
- 5. यौन हिंसा** जैसे अपराध के कारण बच्चों में भय, अविश्वास और असुरक्षा की भावनाएं उत्पन्न हो जाती हैं, उनका सामाजिक संबंधों पर से विश्वास समाप्त हो जाता है। एकाकीपन की भावना प्रबल हो जाती है, और सामुदायिक सहभागिता में कमी आती है।

6. विलनाई और क्वीनो के विचार - से समाज में अपराध के कारण विभिन्न दुष्प्रभाव दिखाई देते हैं।

1. हिंसात्मक व्यक्तिगत अपराध
2. सम्पत्ति सम्बन्धी आकस्मिक अपराध
3. व्यावसायिक अपराध
4. राजनीतिक अपराध
5. सार्वजनिक व्यवस्था सम्बन्धी अपराध
6. परम्परागत सम्बन्धी अपराध
7. संगठित अपराध

अपराधो के कारण नैतिक एवं चारित्रिक पतन के दुष्प्रभाव -

1. क्रोध
2. प्रमाद
3. निन्दा
4. कामुकता
5. अवैध सन्तानोत्पत्ति
6. आर्थिक संकट
7. शारीरिक विकार
8. असंतुलित मानसिकता
9. अश्लील साहित्य में वृद्धि
10. शिक्षा का अभाव

यौन अपराधों का समाज पर दुष्प्रभाव -

1. कन्या भ्रूण हत्या
2. बलात्कार
3. कामकाजी महिलाओं का यौन-उत्पीड़न
4. अप्राकृतिक मैथुन
5. समलैंगिक मैथुन
6. गर्भ निरोधक उपकरणों की सुलभता
7. सुखवादी दर्शन का प्रभाव
8. महिला असुरक्षा की भावना

9. वेश्यावृत्ति

10. कौटुम्बिक व्यभिचार

अपराध एक सार्वकालिक और सार्वभौमिक घटना है। जो प्रत्येक व्यक्ति और समाज के लिए अप्रिय और हानिकारक होता है। बहुत से विद्वान अपराध के लिए व्यक्ति एवं परिस्थिति को जिम्मेदार ठहराते हैं। चिन्तन करने पर पाया कि अपराधी के पीछे आपराधिक प्रवृत्ति से कहीं अधिक व्यक्ति की सामाजिक और आर्थिक विवशताएँ, भावावेश, आवेश, मनोवेग आदि छिपा रहता हैं। वर्तमान में अपराधों का मुख्य कारण मनुष्य का नैतिक व चारित्रिक पतन है। जैसे-जैसे मानव मूल्यों में गिरावट आती है वैसे-वैसे मानव अपराधों की ओर अग्रसर होता है। आपराधिक मनोवृत्तियों व कृत्यों पर अंकुश लगाने के लिए तथा इनके दुष्प्रभावों से समाज को सुरक्षित रखने के लिए हमें प्राचीन भारतीय संस्कृति का अनुसरण करना ही होगा वरना पाश्चात्य अंधानुकरण की दौड़ में मानव व मानवीय मूल्य पीछे रह जाएंगे जो सम्पूर्ण सृष्टि के लिए भविष्य में घातक साबित होगा।

4. दण्ड विधान में समाज का सुधारात्मक कदम -

दण्ड की स्थापना का मुख्य उद्देश्य उन मनुष्यों के जीवन में अनुशासन लाना है जो स्वभाव से दुष्ट और भ्रष्ट हैं। मनु के अनुसार केवल राजा ही सम्पूर्ण मानव जाति की रक्षा कर सकता है और इसके लिए राजा दण्ड का साधन रूप में उपयोग करता है। धर्म की रक्षा के लिए दण्ड ही प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से सम्पूर्ण समाज पर नियंत्रण रखता है। विकास के किसी भी क्रम में समाज अपराध की समस्या से मुक्त नहीं हो सका इसलिए दण्ड की अवधारणा के पीछे का दर्शन न केवल पीड़ित को न्याय प्रदान करना है, बल्कि समाज में सुरक्षा बनाए रखना भी है। किसी अपराधी को दण्डित करने का अर्थ केवल उसे यातना देना या अपमानित करना नहीं है बल्कि शांतिपूर्ण समाज की स्थापना करना है। प्राचीन काल में अपराधी को दंड देने का मुख्य उद्देश्य समाज के अन्य व्यक्तियों को भयभीत करना होता था जिससे समाज में शांति बनी रहे जबकि वर्तमान में दंड का मुख्य उद्देश्य अपराधी को सुधारना है। वर्तमान दण्ड व्यवस्था यह कहती है “हमें अपराध का अन्त करना है अपराधी का नहीं”। दण्ड विधान व्यवस्था

बनाये रखने और राजनीतिक लक्ष्यों की प्राप्ति का एकमात्र साधन है। जिसको हम निम्नलिखित बिन्दुओं के द्वारा समझने का प्रयास करते हैं-

- दण्डविधान का मतलब है 'कानून और शासन'
- दण्ड विधान के द्वारा सामाजिक नियंत्रण में मदद मिलती है।
- समाज में सुव्यवस्थाएँ शांति स्थापित होती हैं।
- दण्ड के माध्यम से अपराधियों को डराया जाता है ताकि वे अपराध न करें।
- दण्डविधान के द्वारा ही संसाधनों का उचित वितरण संभव है।
- राष्ट्र का विकास दण्डविधान प्रक्रिया में ही समाहित है।
- प्राचीन भारतीय राजनीतिक दर्शन में दण्ड का महत्व बताकर उसके प्रतिशोधात्मक सिद्धान्त पर बल दिया।

दण्डशास्त्र के नवीन दृष्टिकोण के अनुसार अपराधों का मुख्य कारण समाज की सामाजिक, आर्थिक दोषपूर्ण संरचना है। अपराधी को केवल दण्ड देकर उसकी मनोवृत्ति एवं व्यवहार में परिवर्तन नहीं लाया जा सकता है। अतः अपराधी को दण्ड देना अवांछित, अमानवीय एवं अनैतिक है। अपराधी के व्यक्तित्व में परिवर्तन लाकर उसकी मनोवृत्ति को बदला जा सकता है। अपराधी को दण्ड की अवधि में हर सम्भव प्रयत्नों द्वारा सहायता पहुँचाकर उसके व्यक्तित्व में निहित आत्म-क्षमताओं एवं गुणों को विकसित करना सुधारात्मक दृष्टिकोण का विचार है। यह विचारधारा ऐसी वैज्ञानिक पद्धति का विकास करना चाहती है जिसके द्वारा अपराधी दण्ड मुक्ति के उपरान्त एक आत्म-स्वाभिमानी, निर्भर, आत्मविश्वासी एवं उत्तरदायी नागरिक की तरह समाज में जीवन-यापन कर सके। किसी भी व्यक्ति में कोई जन्मजात दोष नहीं होता है, व्यक्तिगत एवं सामाजिक परिस्थितियाँ व्यक्ति को समाज विरोधी कार्य करने के लिए प्रोत्साहित करती हैं। सामाजिक परिस्थितियाँ बहुत बड़ी सीमा तक उसके दोषपूर्ण समायोजन के लिए उत्तरदायी हैं। हर व्यक्ति में परिवर्तन के लक्षण विद्यमान होते हैं तथा प्रत्येक व्यक्ति में सुधार भी सम्भव है। अतः क्रूर तथा अमानवीय तरीकों के स्थान पर सुधारात्मक तरीकों के प्रयोग द्वारा अपराधी में सुधार लाया जा सकता है।

सुधार शब्द का अर्थ - अपराधी व्यक्ति को कानून का पालन करने वाले नागरिक की भाँति जीवन व्यतीत करने योग्य बनाना। इलियट महोदय के अनुसार सुधार

वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा आधुनिक समाज कानून तोड़ने वाले व्यक्तियों की आपराधिक मनोवृत्ति में परिवर्तन लाने तथा उसकी जीवन शैली को सामाजिक नियमों के अनुरूप ढालने का प्रयत्न करता है। बेनेट के अनुसार सुधार का उद्देश्य अपराधी को उसकी दण्ड अवधि में एक नई दिशा प्रदान करना है।

कोनार्ड के अनुसार सुधार का मुख्य उद्देश्य अपराध के व्यक्तित्व में एक परिवर्तन लाना है जिससे उसके मन में कारागार अथवा सुधार संस्था से मुक्ति के बाद अच्छा एवं उपयोगी जीवन बिताने की इच्छा उत्पन्न हो सके।

इस प्रकार निष्कर्ष रूप में सजा के प्रतिशोधात्मक सिद्धान्तों को सुधारात्मक और निवारक में बदलने की आवश्यकता है क्योंकि यह गलत करने वालों के मन में भय पैदा करेगा और देश में बढ़ती अपराध दर पर लगाम लगायेगा। दण्ड विधान में सुधारात्मक पहलू व्यावहारिक है जिसे आसानी से समझा और लागू किया जा सकता है।

5. स्मृतिकालीन अपराध एवं दण्ड विधान की आधुनिक समीक्षा - तत्कालीन समय में किसी भी प्रकार के शास्त्र विरुद्ध कार्य को पाप के समरूप माना जाता था। व्यक्ति द्वारा कृत हिंसात्मक कार्य किसी भी स्थिति में क्षम्य नहीं हो सकते थे।

अपराधी का दोष या उसकी निर्दोषता प्रायश्चित आदि साधनों से ही सिद्ध होती थी। उस समय यह सामान्य मान्यता थी कि व्यक्ति के पाप उसके पुनर्जन्म पर दुष्प्रभाव डालते हैं, इसलिये व्यक्ति में अपराध के प्रति भय भी बना रहता था।

अपराधी व्यक्ति अपने अपराधकृत्य के लिए पश्चाताप या आत्मग्लानि उत्पन्न होने पर विद्वानों की परिषद् द्वारा निर्धारित दण्ड को करके ही पापमुक्त हो सकता था प्रायश्चित्त की यह व्यवस्था वर्णानुसार की गयी थी तथा उसकी उदारता-कठोरता या न्यूनता-अधिकता वर्णाधीन थी। वस्तुतः अपराधियों को दण्डित करने के लिए “प्रायश्चित्त” को ही दण्ड का मूल साधन माना गया था।

वर्तमान में पुरातन वायश्रित्त-व्यवस्था या दण्ड को पूर्णतः वर्जित किया गया है। आज भारत में भारतीय दण्ड संहिता (INDIAN PENAL CODE) क्रियान्वित है, जिसका प्रारूप लार्ड मेकाले की अध्यक्षता में तैयार किया गया था और सन् 1860 में यह विधान रूप में पारित हुआ था।

भारत में यह 1 जनवरी 1862 को लागू किया गया था जो दण्डनिधि के रूप में आज भी प्रचलित है। इसमें समय-समय पर आवश्यकता एवं अपराध की प्रकृति के अनुरूप संसोधन होते रहते हैं।

आज भारतीय संहिता की धारा 2 के तहत भारत में रहने वाले किसी वर्ण विशेष के लिए नहीं अपितु सभी जाति धर्मों के लोगों के लिए एक समाज निष्पक्ष दण्ड का विधान है।²⁹ धारा 63-66 में अपराधों की प्रकृति एवं स्वरूप के अनुसार अपराधियों को अर्थदण्ड का कारावास एवं कठोर दण्ड से दण्डित किये जाने का प्रावधान है।³⁰ जो नव-अपराधियों तथा अभ्यरत (जो अपराध की पुनरावृत्ति करते हैं) अपराधियों के लिङ्ग आयु, बुद्धि तथा मानसिक स्थिति के अनुसार कम-अधिक हो सकता है वैसे तो आज अपराधियों को दण्डित करने की अपेक्षा उनमें सुधार करने पर अधिक बल दिया जा रहा है, क्योंकि यातनात्मक दण्ड प्रभावोत्पादक न होकर अपराधियों को अधिक हिंसात्मक तथा समाज विरोधी बनाता है।

इसलिए मात्र जघन्य एवं क्रूरतम हत्या जैसे अपराधों के लिए फाँसी की सजा का प्रावधान है। अतः तत्कालीन समय से प्रायश्चित्त का उद्देश्य अपराधी व्यक्ति को बिना कोई यातना पहुँचाएँ पाप भावना से मुक्ति था वही आज भी दण्ड लक्ष्य अपराधियों की पुनरावृत्ति तथा विधि के उल्लंघन पर रोक लगाना दुराचारी व्यक्ति की प्रवृत्तियों में परिवर्तन के द्वारा उसे उचित मार्ग पर लाना है जिससे वह पुनः समाजोपयोग बन सके और समाज का संरक्षण हो सके।

आधुनिक युग में अपराधों का वर्गीकरण करना अत्यन्त दुष्कर कार्य है क्योंकि देश की सामाजिक आर्थिक औद्योगिक तथा राजनीति प्रगति के कारण अनेक अपराध उदित हुए हैं और दिन-प्रतिदिन आपराधिक क्षेत्र में अनेक नये अपराधों की वृद्धि होती जा रही है।

बाल अपराधों की संख्या तो निरन्तर बढ़ती जा रही है जिन्हें कम करने के सभी वैधानिक प्रयत्न विफल हो रहे हैं। फिर भी वर्तमान अपराधों को दो श्रेणी में विभक्त किया जा सकता है-

1. रूढ़िगत अपराध (traditional offences)
2. सामाजिक-आर्थिक अपराध (socio-economic crimes)

रूढ़िगत अपराध में चोरी, डकैती, हत्या, उपहति (पीड़ा देना), अपहरण (अगवा) व्यवहरण (शिशुओं की चोरी, लुट, बलवा इत्यादि जैसे विभिन्न अपराध सम्मिलित हैं।

सामाजिक-आर्थिक अपराध को लोक कल्याण के विरुद्ध अपराध (crime Against public we fare) अथवा नियामक अपराध (Regulatory offences) भी कहा जाता है। इसी को सरदलैण्ड ने “सफेद पोश अपराध” white collar crimes के नाम से अभिहित किया है।

उन्होंने इसके अन्तर्गत मिथ्या एवं भ्रमात्मक विज्ञापनों द्वारा अपना माल खपाना व्यापार करना, कर्मचारियों का शोषण करना, माप-तौल के मानक नियमों का उल्लंघन, अपना घटिया माल दूसरी प्रतिष्ठित व्यापारिक इकाई के नाम पर बेचना, मिलावट, भ्रष्टाचार, रिश्वत खोरी, कालाबाजारी, मुनाफाखोरी, शराब या नशीले पदार्थों की तस्करी, भूमिगत अपराधियों को अवैध सेवाएँ उपलब्ध करना, आपराधिक रेकेट्स, झूठे दावे, ट्रेडमार्क, पेटेंट या कॉपीराइट का उल्लंघन तथा अन्य अनुचित श्रम एवं व्यापारिक सव्यवहार आदि का समावेश किया है।

किसी अपराध को प्रथम बार करने वाले अपराधी की अपेक्षा उसकी पुनरावृत्ति करने वाले अपराधी को कठोरतम दण्ड दिया जा सकता है।

इस अपराध के सन्दर्भ में अपराधी को मृत्युदण्ड के विकल्प के रूप में केवल आजीवन कारावास या कठिन कारावास (दश वर्ष) तथा अर्थदण्ड से भी दण्डित किया जा सकता है। if any one of the five or more persons who are conjointly committing dacoity. Commits murder in so committing dacoity everyone of the persons shall be punished with death, imprisonment for like rigorous imprisonment for a term which may extend to ten years. किन्तु आजीवन कारावास से दण्डित अपराधी के द्वारा हत्या का अपराध घटित। होने पर उसे भारतीय दण्ड संहिता की धारा - 303 के अन्तर्गत मृत्यु के अतिरिक्त कोई दण्ड नहीं दिया जा सकता है। ऐसा विधायक है।³³

धारा-35 के अनुसार सह अपराधी (Accomplice) को मुख्य अपराधी के समान ही माना जाता है तथा दोनों को समान दण्ड दिया जाता है।³⁴

भारतीय दण्ड संहिता की धारा-304 क के तहत यदि किसी व्यक्ति की उपेक्षापूर्ण कार्य से या असावधानीवश (RecklessNess) किसी अन्य व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है तो उस व्यक्ति को नर-हत्या के अपराध ने दो वर्ष के कारावास या जुर्माने या दोनों से दण्डित किया जा सकता है।³⁵

यदि कोई व्यक्ति ने अपनी प्राणरक्षा करने के लिए प्रतिरक्षात्मक दृष्टि से किया है तो भारतीय दण्ड संहिता की धारा 81 एवं 96 के आत्मसंरक्षण के सिद्धान्त के अनुसार उसे दण्डित नहीं किया जा सकता है।³⁶ इन दोनों ही प्रकार के अपराधों में निरन्तर हो रही वृद्धि पर नियन्त्रण दण्ड संहिता में कतिपय विशेष अधिनियमों या दण्ड का प्रावधान किया गया है जो तत्कालीन प्रायश्चित व्यवस्था से सर्वथा भिन्न है।

वही आज जन सामान्य को प्रायश्चित व्रतों (अघमर्षण, प्राजापत्य, तप्तकृच्छ्र पराक आदि) का भी स्मरण नहीं होगा। इस प्रकार के व्रतों का परिचय तो मात्र शास्त्रग्रन्थों में ही लिखित रूप में मिलता है।

वर्तमान में तो बढ़ते भ्रष्टाचार के कारण विभिन्न कानूनों को लागू कर दिया गया है आज भारतीय दण्ड विधि में अत्यन्त निकृष्ट अपराधों के लिए मृत्युदण्ड को अन्तिम साधन के रूप में मान्यता प्रदान की गयी है। भारतीय दण्ड संहिता की धारा 302 के अन्तर्गत यदि कोई व्यक्ति ज्ञानवश किसी की हत्या करता है तो उसका अपराध सिद्ध होने पर मृत्युदण्ड या

आजीवन कारावास तथा अर्थदण्ड से दण्डित किये जाने का प्रावधान है, किन्तु अज्ञानतावश हत्या करने पर धारा 304 के अनुसार दस (10) साल तक की कैद या जुर्माने की सजा या दोनों सजाएँ एक साथ दी जा सकती हैं।³⁷

इस सन्दर्भ में दण्डादेश पारित करने से पूर्व न्यायालय के लिए अपराध की प्रकृति, अपराधी की मानसिक स्थिति, आयु, उद्देश्य, अपराध के लिए प्रयुक्त साधन, अपराध के ढंग तथा उससे कारित क्षति की प्रकृति पर गम्भीरता से विचार करना अनिवार्य माना गया है।³⁸ य मात्रा आदि।³⁸

भारतीय संविधान की धारा 72 के तहत राष्ट्रपति को मृत्युदण्ड से दण्डित किये गये अपराधी को क्षमादान, स्थगित या लघुकरण करने का तथा धारा 161 के अनुसार राज्यपाल को मृत्युदण्ड के क्षमादान को छोड़कर मृत्युदण्ड के लघुकरण व स्थगित करने का अधिकार प्राप्त है।³⁹

मृत्यु दण्ड में जहाँ कहीं भी उदारता बरती गई है यहाँ उद्देश्य मात्र व्यक्ति की आपराधिक प्रवृत्ति को समाप्त करना है, तभी तो आज दण्ड का सुधारात्मक या उपचारात्मक स्वरूप अपनाया जा रहा है।

इसके अतिरिक्त तत्कालीन समय में किसी स्त्री के अज्ञात लिङ्ग भ्रूण की हत्या को महापाप के समान माना जाता था वहीं आज भी यह धारणा बदली नहीं है और भारतीय विधि में इसके लिए कठोर दण्ड का विधान किया गया है। भारतीय दण्ड संहिता की धारा 312 के अनुसार किसी गर्भवती स्त्री के द्वारा स्वेच्छा से गर्भपात कराना कानूनन अपराध है, इसके लिए उसे तीन वर्ष की कैद या जुर्माने या दोनों से दण्डित किया जा सकता है।

यदि वह स्त्री स्पन्दन गर्भा है तो सात वर्ष की कैद और जुर्माने से दण्डित होगी, यदि वह गर्भपात महिला के जीवन बचाने के उद्देश्य से न किया गया हो। यदि जीवन बचाने के प्रयोजन से किया गया है तो अपराध नहीं माना जाएगा। यहाँ गर्भपात के लिए सहमति देने वाली स्त्री तथा गर्भपात कराने वाले व्यक्ति चाहे वह पुरुष हो या स्त्री दोनों को समान रूप से दण्डित किया जाएगा।

भारतीय दण्ड संहिता की धारा-313 के तहत यदि कोई व्यक्ति स्त्री की सहमति के बिना गर्भपात करता है तो वह कैद या दस वर्ष तक की कैद और जुर्माने से दण्डित होगा। यहाँ गर्भवती स्त्री को दण्डित नहीं किया जाएगा अमितु गाभीयान कराने वाले व्यक्ति को दण्डित किया जाएगा क्योंकि गर्भपात स्त्री की सम्पत्ति के विरुद्ध कराया गया है।⁴⁰

स्मृति साहित्य काल में प्राणी हत्या के साथ साथ पशु पक्षियों तथा छोटे छोटे जीव की हिंसा करने पर प्रायश्चित्त विधान था वहीं आज भी जीव जन्तुओं के संरक्षण एवं विकास को अत्यधिक महत्व दिया गया है।

भारतीय दण्ड संहिता की धारा 429 के अनुसार किसी भी जीव जन्तु का व्यर्थ में वध करना, विष देना, विकलांग करना या निरुपयोगी बनाना कानूनन अपराध है ऐसे व्यक्ति के लिए पाँच वर्ष तक के कारावास या जुर्माने या दोनों राजाओं से दण्डित किये जाने का प्रावधान है।⁴¹

किन्तु वन्य जीव (संरक्षण) अधिनियम, 1972 की धारा 11(2) के अनुसार स्वयं की या किसी दूसरे की रक्षा के लिए तथा सद्भाव में (In good faith)

किसी वन्य पशु को मारना या घायल करना अपराध नहीं माना जाएगा। इसी प्रकाश पशु क्रूरता निवारण अधिनियम, 1960 की धारा-28 के तहत किसी जाति के द्वारा धर्म हेतु वध करने पर पशु का वध अपराध नहीं माना जाएगा।⁴²

वर्तमान में तो सुरक्षा की दृष्टि से वन्य जीव (संरक्षण) अधिनियम 1972 की धारा 9 वन्य पशुओं के शिकार (आखेट) पर भी प्रतिबन्ध लगाती है।

धारा-11 (1) क के अन्तर्गत वन्य जीव अभिरक्षक (warden) कुछ विशेष परिस्थितियों, तथा-किसी पशु का मानव जीवन के लिए खतरनाक होने पर एव इतना अशक्ता (Disabled) या रोगग्रस्त होने पर कि वह पुनःस्वस्थ होने के अयोग्य हो तथा धारा-12 के अनुसार-शिक्षा (Education) (Scientific Research) या वैज्ञानिक प्रबन्ध (Scientific Management) के लिए शिकार की अनुमति दे सकता है।

तत्कालीन समय की भांति वर्तमान में भी स्त्री व पुरुष के द्वारा कामुकता के कारण यौन अपराध (Sexual offences) किया जाना घृणित माना जाता है जो आज प्रायश्चित्त इत्यादि साधनों से क्षम्य नहीं है।

वर्तमान भारतीय विधि में वैवाहिक सम्बन्धों के अतिरिक्त अन्य यौन कृत्यों को निषिद्ध एव अपराधपूर्ण माना गया है। यथा-बलात्कार, शील-भंग करना, अप्राकृत मैथुन, जारकर्म, वैश्यावृत्ति इत्यादि। इनके लिए दण्ड की व्यवस्था की गई है-

1. बलात्कार (rape) भारतीय दण्ड संहिता की धारा 375 के अनुसार जब कोई व्यक्ति किसी स्त्री की इच्छा के विरुद्ध उससे सम्भोग करता है तो वह बलात्संगत की कोटी में आता है, ऐसे व्यक्ति को धारा-376 के तहत न्यूनतम सात वर्ष के कारावास या आजीवन कारावास और जुर्माने से दण्डित किये जाने का प्रावधान है। लेकिन अपवाद स्वरूप पुरुष का अपनी पत्नी के साथ सम्भोग बलात्संगत नहीं है, यदि वह पन्द्रह वर्ष से कम आयु की नहीं है।⁴³

2. अप्राकृत (unnatural offences) - अर्थात् प्रकृति के विरुद्ध मैथुन करना। धारा - 377 के अन्तर्गत किसी व्यक्ति के द्वारा स्वेच्छा से अप्राकृतिक ढंग से किसी पुरुष, स्त्री या जीव-जन्तु मैथुन करना कानूनन अपराध है, जिसे उम्रकैद और जुर्माने की सजा दी जाएगी।⁴⁴

3. शील-भंग करना (Quotroging the modesty of a women) - धारा 354 के अनुसार यदि कोई व्यक्ति किसी स्त्री की लज्जा भंग करने के आशय से उस पर अश्लील हमला या आपराधिक बल प्रयोग करता है तो उसे दो वर्ष के कैद या जुर्माने अथवा दोनों से दण्डित किये जाने का प्रावधान है।⁴⁵

4. जातकर्म (Adullery) - भारतीय दण्ड संहिता की धारा 497 के तहत जो पुरुष किसी की विवाहिता स्त्री के साथ उस व्यक्ति की सहमति के बिना सम्भोग करता है जो वह जारकर्म के अपराध का दोषी माना जाता है, ऐसे व्यक्ति के लिए पाँच वर्ष तक की कैद या जुर्माने या दोनों सजा का विधा है।⁴⁶

अवयस्क बालक-बालिकाओं का अवैध वेश्यावृत्ति के लिए क्रय-विक्रय: धारा-372 तथा 373 क अन्तर्गत 18 वर्ष से कम आयु के व्यक्तियों का वेश्यावृत्ति या अवैध सम्भोग अथवा अन्य अनैतिक कार्य के लिए क्रमशः विक्रय तथा क्रय अपराध है, जिसके लिए दोषी व्यक्ति को अर्थदण्ड सहित दश वर्ष के कारावास से दण्डित किया जा सकता है।⁴⁷

इस प्रकार वर्तमान में यौन दुराचरणों पर कड़े प्रतिबन्ध होतु हुए भी यौन अपराध में दिनो-दिन वृद्धि होती जा रही है। व्यक्ति अपनी कामतृष्णा की पूर्ति हेतु दुष्कर्म में प्रवृत्ति हो रहा है। आज गुप्तरूप से गर्भपात, अविवाहित मातृत्व के कलंक से बचने के लिए शिशुओं का त्याग इत्यादि जैसे अपराध भी यौन अपराधों के कारण ही जन्म ले रहे हैं। ये सब व्यक्ति के नैतिक एवं धार्मिक अघः पतन का ही दुष्परिणाम है।

शंखस्मृति काल में किसी भी वर्ण के व्यक्ति की आजिविका को नष्ट करने तथा किसी की सम्पत्ति का अपहरण करने पर प्रायश्चित्त विधान या जिससे व्यक्ति के व्यवसाय और सम्पत्ति की सुरक्षा हो सके। वर्तमान में कानून के माध्यम से एतदविषयक संरक्षण प्रदान किया गया है।

यदि कोई व्यक्ति किसी सार्वजनिक या व्यक्ति विशेष की आजीविका या सम्पत्ति को पूर्णतः या अंशतः नष्ट करने या परिवर्तन करने या हानि पहुँचाने के आशय से किसी कार्य को अंजाम देता है, यथा किसी की मूल्यवान् प्रतिभूतियों को स्वेच्छाया से जला देना या किसी के बर्फ़ घर में पानी छोड़ देना आदि किसी की फसल को नष्ट करने के उद्देश्य से खेत में पशुओं का प्रवेश कृत्य आदि कुल्य करता है तो वह धारा 425 के तहत कानूनन अपराध है, ऐसे को धारा 420 के

अनुसार तीन माल तक के कारावास या जुर्माने या यांनी सजाओं से दण्डित किये जाने का प्रावधान है।⁴⁸

इसी प्रकार किसी भी व्यक्ति की जगम सम्पत्ति को बिना उसकी सम्पत्ति के लेना भारतीय दण्ड संहिता की धारा 378 अनुसार चोरी⁴⁹ हो जंगम या चल सम्पत्ति में वह समस्त सम्पत्ति आ जाएगी, जिसे भूमि से पृथक किया गया है, यथा-दूसरे की भूमि से मिट्टी या पत्थर खोदकर ले जाना, कामगीर लडकी उठा लेना, जो नमक सरकार के पर्यवेक्षण में है। उसे लेना, मूर्ति, गैस, बिजली, जल, पशु-पक्षी, जलीय जीव, फसल मोटर गाड़ी का अपहरण आदि।⁵⁰

ऐसे अपराधी व्यक्ति को धारा 379 के तहत तीन साल तक की कैद साथ दी जाएगी।⁵¹ यदि चोरी समूह में अर्थात् पाँच या पाँच से अधिक व्यक्तियों के संयुक्त होने पर चोरी जुर्माने की सजा या दोनों राजा में एक-391 के अनुसार डकैती माना जाएगा और डकैती करने वालों को धारा 395 के तहत उम्रकैद दश वर्ष की कठिन पर की जाए तो उसे धारा कैद और जुर्माने की सजा दी जाएगी। यदि हत्या सहित डकैती की जाती है तो धारा 396 के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति को मृत्युदण्ड या आजीवन कारावास या दश (10) वर्ष के कठिन कारावास और जुर्माने से दण्डित किया जाएगा ऐसा प्रावधान है।⁵²

इसके अतिरिक्त भारतीय दण्ड संहिता की धारा 414 के अनुसार किसी व्यक्ति के द्वारा यह ज्ञात होने पर कि यह सम्पत्ति चुराई हुए है तब स्वेच्छा से उसे छिपाना या छिपाने में सहायता करना दण्डनीय अपराध है ऐसे व्यक्ति के लिए तीन वर्ष तक की कैद या जुर्मान या दोनों सजा का प्रावधान है।⁵³

उस समय कूटसाध्य, निक्षेपहरण तथा शरणागत के परित्याग को महापातक के समान माना जाता था और उसे महापातक विहित प्रायश्चित्त का निर्वाह करना होता था. किन्तु वर्तमान में किसी निर्दोष व्यक्ति के विरुद्ध न्यायालय में झूठा साध्य देकर फसाना कानूनन अपराध है, ऐसे व्यक्ति को भारतीय दण्ड संहिता की धारा 193 के अनुसार सात साल तक की कैद या जुर्माने की सजा का विधान है।⁵⁴

मिथ्या साक्ष्य के लिए इतनी कठोर राजा के प्रावधान का सम्भवतः कारण यह है कि मुकने की समस्तीप निर्भर करती है और झूठी गवाही निर्दोष व्यक्ति को भी फासी तक पहुँचा सकती है।

इसी कारण तो किसी व्यक्ति के द्वारा मृत्युदण्ड से दण्डित करवाये जाने की अभिलाषा से झूठी गवाही देने पर भारतीय दण्ड संहिता की धारा 194 के तहत उसे आजीवन कारावास या दस साल तक कठिन कारावास और जुमति से दण्डित किये जाने का विधान है।

यदि ऐसे मिथ्या साक्ष्य के परिणाम स्वरूप किसी निर्दोष को फांसी दे दी जाए तो मिथ्या साक्ष्य देने वाले के लिए मृत्युदण्ड या पूर्व वर्णित सजा का प्रावधान किया गया है।⁵⁵

भारतीय दण्ड संहिता की धारा 405 के तहत जब कोई व्यक्ति किसी के द्वारा धरोहर या न्यास (जतनेज) के रूप में रखी गई सम्पत्ति का धोखे से दुर्विनियोग या अपने स्वयं के उपयोग हेतु उसका संपरिवर्तन या सम्पत्ति का उपयोग या व्यय करना या अन्य को इसके लिए उत्प्रेरित करता है।

वह अपराध है, ऐसे अपराधी व्यक्ति को धारा 406 के अन्तर्गत तीन वर्ष तक की कैद या जुर्माना से या दोनों से दण्डित किये जाने का विधान है।⁵⁶

शरणागत के सम्बन्ध में वर्तमान राष्ट्रीय विधि में व्यक्ति को शरण लेने व शरण देने विषयक नियमों का विधान किया गया है। संयुक्त राष्ट्र के मानवाधिकार घोषणा पत्र, 1948 के अनुसार व्यक्ति को किसी भी देश में शरण लेने का अधिकार प्राप्त है, किन्तु शरण देना या न देना यह राज्य की इच्छा पर निर्भर करता है, कोई देश उसे शरण देने के लिए बाध्य नहीं कर सकता है।

1951 के कन्वेंशन के अनुसार ऐसा व्यक्ति शरण पाने का अधिकारी है जो अपनी जाति, धर्म, राष्ट्रीयता, राजनीतिक विचारों या सामाजिक समूह की सदस्यता के कारण सताए जाने के डर से अपने देश से बाहर है और देश का संरक्षण पाने में असमर्थ है। यदि किसी राज्य ने शरण में आए हुए किन्हीं उत्पीड़ित व्यक्तियों को शरण दी है तो उसका कर्तव्य है कि

वह उसका पूर्ण संरक्षण करे। यह शरणार्थी जब तक वह संरक्षण में रह सकता है। राज्य किसी भी परिस्थिति में जहाँ से वह उत्पीड़ित होकर अच्छा है, बलात् उसे भेज नहीं सकता है।

1967 से संयुक्त राष्ट्र की महासभा को प्राप्त एक घोषणा-पत्र के अनुसार किसी शरण में आए हुए उत्पीड़ित व्यक्ति को न तो सीमा से वापिस भेजी जा सकता है, यदि वह प्रदेश कर गया है तो न उसे निकाला जा सकता है न बलात्

वापिस भेजा जा सकता है, किन्तु युद्धापराध, शान्ति के विरुद्ध अपराध तथा मानवता के विरुद्ध अपराध करने वाले व्यक्तियों को शरण नहीं दी जा सकती है।⁵⁷

अभक्ष्य-भक्ष्य खाद्य पदार्थों के सम्बन्ध से समाज से सात्विक भोजन के सेवन को अत्यधिक महत्व दिया गया था। इसके साथ ही खान-पान विषयक बधन भी कठोर थे, विशेषकर ब्राह्मण वर्ग के लिए। कोई शास्त्र निषिद्ध खाद्य पदार्थों यथा-लहसुन प्यास, मद्य, दूध, उत्सर्जित मल, निम्न वण के व्यक्ति को भोजन, उच्छिष्ट, पशु-पक्षी कीट आदि।

स्पर्श किया हुआ मारक, द्रव्यो में रखे हुए जल आदि का सेवन करता था तो वह प्रायश्चित्त से शुद्ध होता था। परन्तु वर्तमान में इस प्रकार के नियमों को कोई महत्व नहीं देता है, क्योंकि भोजन की वह शुद्धता समाप्त हो गई है जो पूर्व में थी। आज तो अनेक खाद्य पदार्थ बाजार में उपलब्ध हैं, जिनमें गुणवत्ता नाम मात्र की रह गई है। इसलिये सात्विक भोजन के स्थान पर अभोज्य वस्तुओं का सेवन प्रायः देखा जाता है।

ब्राह्मण भी लहसुन, प्याज, मास, मदिरा आदि का पान करते हुए दिखाई देते हैं और अभक्ष्य के भक्ष्य पर किसी प्रकार का व्रत प्रायश्चित्त नहीं करते हैं केवल मात्र कुछ धर्म निष्ठ परिवार ही इनका पालन करते हुए दिखाई देते हैं। आज जॉत-पाँत का कोई भेद न रहने से किसी व्यक्ति के भोजन की अपवित्रता का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

इस प्रकार का भेदभाव अधिकांशतः कुछ कट्टर धर्मपंथी ब्राह्मण परिवारों में ही देखने में ही देखने को मिलता है। आज व्यक्ति की जीवन चर्या इतनी अधिक व्यस्त हो गई है कि वह स्वयं के भोजन के लिए कठिनाई से समय निकाल पाता है तो प्रतिदिन पितर, देवता, प्राणियों आदि को देकर खाने की तो बात की दूर है।

वर्तमान में व्यक्ति के आचार-विचारों में जो परिवर्तन दिखाई देता है उसका एक कारण अशुद्ध भोजन भी है। जिसका स्पष्टीकरण शाण्डिल्यस्मृति के बचन से होता है जिसमें अशुद्ध अन्न के सेवन से काम, क्रोध, लोभ, निद्रा, आलस्य, गेह आदि की वृद्धि तथा आयु की क्षीणता बतलायी गयी है।⁵⁸

यह सब अशुद्ध भोजन के सेवन का ही दुष्परिणाम है। फिर कहा भी गया है कि 'जैसा खावे अन्न वैसा होवे मन अर्थात् सात्विक भोजन से व्यक्ति के मन, वचन, कर्म में पवित्रता आती है।

छान्दोग्योपनिषद् के अनुसार आहारशुद्धि से सत्त्वशुद्धि, सत्त्वशुद्धि से सुन्दर एव एकाग्र स्मृति प्राप्त होती है, उस स्मृति से सारे बन्धन, जिनसे आत्मा इस संसार में बन्धी रहती है कर भोजन ग्रहण करना चाहिये कट जाते हैं।⁵⁹ इसलिये व्यक्ति को भोज्य अभोज्य का विचार

परिवेदन विवाह पर अर्थात् बड़े सहोदर भाई के अविवाहित रहते हुए छोटे भाई के द्वारा विवाह करने पर छोटे भाई, बड़े भाई, उस कन्या के लिए जिससे विवाह किया गया है। कन्या दान करने वाले तथा विवाह सम्पन्न कराने वाले याजक के लिए सवत्सर व्रत का विधान था। लेकिन आज इस प्रकार विवाह करने पर कोई विधिक नियम नहीं है, फिर भी भारतीय परम्परा के अनुसार सामाजिक दृष्टि से ऐसा करना उचित नहीं माना जाता है और ज्येष्ठ पुत्र या पुत्री के विवाह को ही अधिक प्राथमिकता दी जाती है।

तत्कालीन समय में कुत्ते आदि जानवरों के काटने पर सामान्य उपचार श्वेतश् था लेकिन वर्तमान में किसी भी जंगली जानवर (कुत्ते, बिल्ली, बन्दर, लोमड़ी आदि) के काने पर चिकित्सक के द्वारा उपचार किया जाता है। चिकित्सको का मानना है कि किसी भी जंगली जानवर के काटने पर व्यक्ति को रैबिज नामक बीमारी हो सकती है, जिसका उचित समय पर इलाज न होने पर व्यक्ति पागल या उसकी मृत्यु हो सकती है।

इस समय जल को स्नान या अपवित्र द्रव्य के द्वारा दूषित किये जाने पर एक मास तक के व्रत का विधान था। वहीं आज सार्वजनिक जल-स्त्रोतो, यथा- टंकी, कुओ, झरने, जलाशय आदि को कानूनी संरक्षण प्राप्त है। यदि कोई व्यक्ति जानबूझकर जल को इस प्रकार प्रदूषित करता है कि वह अनुपयोगी हो जाए तो यह भारतीय दण्ड संहिता की धारा-277 के अनुसार कानूनन अपराध है।

ऐसा करने को तीन माह तक की कैद या पाँच, सौ रुपये जुर्माना या दोनों सजाये एक साथ दिये जाने का प्रावधान है।⁶⁰ इसी प्रकार यदि कोई वातावरण को दूषित करता है जिससे आस-पास में रहने वाले या कारोबार करने वाले या उस

स्थान से गुजरने वालों के स्वास्थ्य पर हानिकारक प्रभाव पड़ेगा तो उस व्यक्ति को पाँच सौ रुपये तक के अर्थदण्ड से दण्डित किया जाएगा।⁶¹

समाज में अपने से श्रेष्ठ जन के प्रति शिष्ट व्यवहार को अत्यधिक महत्त्व दिया जाता था। यदि कोई व्यक्ति अपने से बड़ी के प्रति क्रोध या अशिष्ट व्यवहार यहाँ तक कि शत्रु शब्द का प्रयोग करता था तो वह दण्ड का प्रायश्चित्त-व्रत से शुद्धि को प्राप्त करता था। लेकिन वर्तमान में अपने से बड़ों के प्रति वह आदर सम्मान नहीं रह गया है जो पूर्व में था।

आज अधिकांशतः देखा जाता है कि लोग अपने से श्रेष्ठ के प्रति अशिष्ट व्यवहार करने पर तनिक भी लज्जा का अनुभव नहीं करते हैं तो फिर व्रत या प्रायश्चित्त का तो प्रश्न ही नहीं उठता। हाँ, यदि कोई व्यक्ति जानबूझकर मानहानि करता है। अर्थात् ऐसे मानहानिकारक शब्दों का प्रयोग करता है या कोई ऐसी बात कहता है या लिखित, सकेत या दृश्य निरूपण के रूप में प्रकाशित करता है, जिसके कारण किसी की प्रतिष्ठा को आघात पहुँचे तो भारतीय दण्ड संहिता की धारा-499 के तहत दण्डनीय अपराध है, ऐसे व्यक्ति के लिए धारा 500 के अन्तर्गत दो वर्ष तक के कारावास या जुर्माने या दोनों सजाओं को एक साथ दिये जाने का प्रावधान है।⁶²

इसके अतिरिक्त भारतीय दण्ड संहिता की धारा 504 के तहत यदि कोई व्यक्ति किसी का ज्ञानवश अपमान करता है तथा अपमान के द्वारा उसे इतना अधिक क्रोधित कर देता है कि वह लोक शांति को भंग करे या कोई अन्य अपराध करे तो उसे दो वर्ष के कारावास या जुर्माने या दोनों सजाओं से दण्डित करने का विधान है।

व्यक्ति के द्वारा यह अपमान अपमानजनित शब्द या आचरण के द्वारा किया हो सकता है, यथा किसी को गाली देकर सम्बोधित करना-हराम जादा (Bastard), सुअर (pig) आदि।⁶³

ब्राह्मण के अतिरिक्त क्षत्रिय तथा वैश्य के लिए भी प्रायश्चित्त व्यवस्था थी। क्षत्रिय के लिए अपने क्षात्रधर्म का पालन न करने तथा वृक्षों के छोदन पर वार्षिक व्रत का विधान था। वर्तमान में भारतीय संविधान द्वारा राष्ट्रपति को देश का प्रथम नागरिक होने का गौरव प्रदान किया गया है। आज राष्ट्रपति के द्वारा

तीनों सेनाओं-जल, थल एवं वायु की नियुक्ति की जाती है। जो अपने कर्तव्य के प्रति सदैव सजग रहती है।

वर्तमान में वृक्षों के संरक्षण, प्रबन्ध एवं विकास को भी अत्यधिक महत्व दिया गया है। वनों को अवैध रूप से काटे जाने तथा उनके अतिक्रमण को रोकने के लिए पर्याप्त कदम उठाए गये हैं। यन अधिनियम 1927 की धारा 26 के तहत आरक्षित जंगल में किसी वृक्ष को गिराना, काटना, घसीटना या कोई हानि पहुँचाना दण्डनीय अपराध है, ऐसे व्यक्ति को वन अधिनियम की धारा 26 (1) के अनुसार छः मास तक की कैद या 500 रुपये तक के जुर्माने या दोनों सजाएँ दिये जाने का उपबन्ध है। इस अधिनियम की धारा 33 (1) में तो वृक्षों को छाँटना, जलाना एवं पत्तियों को तोड़ना भी अपराध माना गया है किन्तु अपवाद स्वरूप धारा 26 (2) के अधीन यदि ऐसा आरक्षित जंगल में वन अधिकारी को लिखित अनुमति से या राज्य सरकार द्वारा बनाये गये नियम के अनुसार किया गया है तो वह अपराध नहीं माना जाएगा।⁶⁴

तत्कालीन समय में कम तौलने वाले विक्रेता के लिए एक दिन के व्रत का विधान था, किन्तु वर्तमान में ऐसे विक्रेता के लिए कठोर कानून की व्यवस्था की गई है।

भारतीय दण्ड संहिता की धारा 264 के अन्तर्गत यदि कोई विक्रेता किसी को धोखा देने की इच्छा से गलत बाँटो या मापो का प्रयोग करता है अथवा कम तौलता है तो ऐसे व्यक्ति को एक वर्ष तक की कैद या जुर्माने की सजा से या दोनों सजाओं से दण्डित किया जाएगा।⁶⁵

आज विक्रेता के लिए लवण, मास, तिलो एवं मद्य के विक्रय करने पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है। मद्य के विषय में यह नियम मात्र सरकारी दुकानदारों के लिए है गैर-सरकारी वालों के लिये नहीं। यद्यपि सम्पूर्ण भारतवर्ष में शराब पर प्रतिबन्ध है किन्तु कतिपय राज्य सरकारें ही इसका कठोर रूप से पालन कर रही हैं। पर वर्तमान इनका कोई औचित्य नहीं है क्योंकि 25 व 18 वर्ष से कम आयु के लोग भी अवैध रूप से शराब बेचते व पीते देखे जाते हैं जिससे अवैध रूप से मद्यपूर्ति तथा उससे सम्बन्धित अपराधों की वृद्धि हो रही है।

इस प्रकार गुजरात आदि राज्यों में शराब के पूर्ण रूप से प्रतिबन्ध होने पर भी यह नहीं कह सकते कि वे राज्य शराब पीने वाले लोगों से सुरक्षित हैं, क्योंकि

कुछ उच्च वर्ग के या अन्य लोग शराब अप्रतिबन्धित राज्यों में जाते समय शराब का खरीद लेते हैं।

लेकिन भारतीय दण्ड संहिता की धारा 510 के अन्तर्गत यदि कोई शराब पीकर किसी सार्वजनिक स्थल पर या किसी ऐसे स्थान विशेष पर जहाँ मद्यपान कर आना निषेध हो तो ऐसे व्यक्ति को चौबीस घण्टे के साधारण कारावास या दश रुपये तक के जुर्माने से या दोनों से दण्डित किये जाने का विधान है।⁶⁶

पर मेरे विचार से यह कोई समाधान नहीं है, जब तक सरकारी या गैर-सरकारी तरीके से यह लोगों को उपलब्ध होती रहेगी तब तक लोग इस खतरनाक पेय (जहर) का पान करते रहेंगे।

इसलिये सरकार को कठोर नियम बनाकर इस पर पूर्णतः प्रतिबन्ध लगाना चाहिये और जो लोग अवैध रूप से इस व्यवसाय में सम्मिलित हैं उन्हें कठोर सजा दी जानी चाहिये।

वर्तमान में उपर्युक्त अपराधों के अतिरिक्त कुछ और भी सामाजिक-आर्थिक अपराध हैं, जिनके नियन्त्रण या रोकथाम के लिए अधिनियम पारित किये गये हैं। लेकिन विषय की दृष्टि से उनकी व्याख्या करना आवश्यक नहीं है। कुछ अधिनियम हैं।⁶⁷

1. भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1988 (The prevention of corruption Act)
2. आयुध अधिनियम, 1959 (The Arms Act)
3. आवश्यक वस्तु अधिनियम, 1955 (The Essential commodities act as amended in 1993)
4. विदेशी मुद्रा विनियमन अधिनियम, 1973 (The foreign Exchange regectation act 1973 now colled FEMA)
5. विदेशी मुद्रा संरक्षण और तस्करी निवारण अधिनियम, 1974 (The conservation of foreign ExchangePrerention of smuggling activities act)
6. औषधि (नियन्त्रण) अधिनियम 1950 (The aug's control act)
7. एम.डी.पी.एस अधिनियम, 1988 (Nar coticdrugs"spsychtrophicsbustanees act 1988)

8. कॉपी राइट अधिनियम 1957 (copy right act as Amended in 1999)
9. एकाधिकार निवारण अधिनियम, 1968 (monopolies prevention act now called the competition act, 2002)
10. व्यापार चिन्ह अधिनियम, 1999 (Trade mark act, 1999)
11. सूचना प्रौद्योगिकी अधिनियम, 1980 (Information technology act, 2000)
12. निवारक विरोध अधिनियम, 1980 (Preventive Detention act)

स्मृतिसाहित्यों में अपराध एवं दण्ड विधान श्री आधुनिक समीक्षा का वर्तमान परिप्रेक्ष्य भारतीय दण्ड विधि में जहाँ व्यक्ति के दोषी होने पर दण्ड का विधान है यही किसी भी प्रकार के अन्याय से अपनी सुरक्षा तथा निर्दोषिता उजागर करने के लिए संरक्षण भी प्राप्त है, जो निम्न प्रकार से है।⁶⁸

1. संविधान के अनुच्छेद 20 (2) तथा दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 300 (1) के तहत दोहरे-दण्ड का निषेध (double jeopardy) है अर्थात् किसी भी व्यक्ति को एक ही अपराध के लिए एक से अधिक बार दण्डित नहीं किया जा सकता है।
2. अभियुक्त की निर्दोषिता की उपधारणा (presumption of Innocence) अर्थात् किसी भी व्यक्ति को तब तक निर्दोष माना जाएगा तब तक कि उसका अपराध सिद्ध नहीं हो जाता है।
3. आत्म-अभिनिर्माण (self in elimination) के सिद्धान्त के अनुसार भारतीय संविधान के अनुच्छेद 20 (3) के अन्तर्गत किसी भी अभियुक्त को स्वयं के विरुद्ध साक्षी होने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता है।
4. दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 303 के तहत न्यायालय के समक्ष विचारण हेतु लाए गए प्रत्येक अभियुक्त को अपनी पसन्द के अधिवक्ता द्वारा स्वयं का बचाव या प्रतिरक्षा प्रस्तुत करने का अधिकार है अर्थात् उसे विधिक सहायता का अधिकार (Right to legal Aid) प्राप्त है। यदि अभियुक्त आर्थिक गरीबी के कारण बचाव के लिए अधिवक्ता से सेवाएँ लेने में असमर्थ हो, तो राज्य उसे अपनी ओर से निःशुल्क विधिक सहायता उपलब्ध करता है।
5. संविधान के अनुच्छेद 21 तथा 22 द्वारा अभियुक्त को अवैध गिरफ्तारी पुलिस द्वारा प्रताड़ित किये जाने के विरुद्ध संरक्षण प्राप्त है।

तत्कालीन समाज में प्रायश्चित्त व्रतने के अतिरिक्त कुछ धार्मिक कृत्यो प्राणायाम जप, तप, होम, तीर्थ यात्रा एवं दान को भी प्रायश्चित्त का उत्तम साधन माना गया था। जो व्यक्ति के आचरण को शुद्ध कर धर्म के प्रति आस्था उत्पन्न करते हैं,

जिससे व्यक्ति स्वतः ही पाप से विमुक्त होता जाता है। उस समय पाप के शमनार्थ इनका अनुष्ठान, व्रत न कर पाने की स्थिति में किया जाता था। जबकि वर्तमान भारतीय दण्ड विधि में इस प्रकार के किसी धार्मिक कृत्य को वैकल्पिक व्यवस्था के रूप में मान्यता नहीं दी गई है। यह व्यक्ति के विवेक पर निर्भर करता है कि वह इनका अनुष्ठान करे या नहीं। आज प्राणायाम, तीर्थ यात्रा एवं दान के प्रति तो व्यक्तियों का रुझान दिखाई देता है, किन्तु जप, तप, होम, होम के प्रति नहीं।

प्राणायाम को आज प्रायश्चित्त के उद्देश्य से नहीं अपितु स्वास्थ्य की दृष्टि से अधिक महत्व दिया जा रहा है। तीर्थों के प्रति व्यक्तियों की धारणा यथावत् बनी हुई है कि उनके दर्शन व स्नान से व्यक्ति पवित्र आत्मा वाला होता है तथा पापमुक्त हो जाता है। हिन्दू धर्म में गंगा, त्रिवेणी संगम, चार-धाम-बद्रीनाथ, जगन्नाथपुरी, रामेश्वरम एवं द्वारका, मोक्षदायिनी पुरियाँ-अयोध्या, मथुरा, वृन्दावन, हरिद्वार, काशी, काँची तथा अवन्तिका या उज्जैन आदि को इस्लाम धर्म में मक्का एवं मदीना, बौद्ध धर्म में लुम्बिनी, बोधगंगा, सानाथ एवं कुशीनारा तथा ईसाई धर्म में जेरूसलम को पवित्र तीर्थ माना गया है।

इसके साथ ही अपेक्षाकृत अपराध की स्वीकृति में विभिन्न देवी-देवताओं की उपासना, नवग्रहों की पूजा आदि भी प्रायश्चित्त की ओर इंगित करती हैं। अधिकांशतः लोग जीवन को सुखमय बनाने के प्रयोजन से दान भी देते हैं। लेकिन दान ग्रहण करने योग्य सुपात्र का अभाव है। आज जप, तप, होम, के प्रति बढ़ती उदासीनता का मुख्य कारण समयाभाव, धार्मिकता के प्रति विमुखता तथा पाखण्डता के प्रति बढ़ता मोह है।

समाज में जो मानसिक तनाव, शारीरिक कष्ट, असन्तोष आदि विद्यमान हैं, वह कृत प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष अपराधों के प्रति प्रायश्चित्त न करने का ही दुष्परिणाम है, क्योंकि भारतीय दण्ड प्रक्रिया छोटे बड़े समस्त अपराधों के लिए तो दण्ड का विधान करती है, किन्तु-भक्ष्य-अभक्ष्य जैसे विषयों के लिए नहीं। वस्तुतः

व्यक्ति को अपनी आत्मिक उन्नति के साथ-साथ आध्यात्मिक उन्नति के लिए इनका अनुष्ठान अवश्य करना चाहिये।

“उपर्युक्त विवरणों और अध्ययन से स्पष्ट होता है कि वर्तमान कालीन दण्ड व्यवस्था तत्कालीन प्रायश्चित्त व्यवस्था (अपराध व दण्ड व मुक्ति) से पूर्णतः भिन्न है। जिसके अन्तर्गत समाज को अपराधमुक्त बनाने, शान्ति, व्यवस्था, स्थापित करने तथा अपराधियों को सुधारने के लिए समुचित कानूनों द्वारा न्याय प्रशासन को प्रभावशाली बनाया गया है। लेकिन अपराधों का निवारण केवल सामाजिक विधिक अथवा नैतिक बन्धन मात्र लगा देने से नहीं हो सकता, जब तक कि समाज का प्रत्येक व्यक्ति अपना कर्तव्य समझकर स्वेच्छा से उन्हें न करने का दृढ़ संकल्प नहीं करता और समाज में बढ़ते अपराधों की रोकथाम में सहयोग नहीं देता, तभी उनकी आपराधिक प्रवृत्तियों और अपराधों में निवृत्ति सम्भव है।”

सन्दर्भ सूची

1. डॉ. पी काणे भाग-2 पृ. 706
2. नारद स्मृति - 14 (3-6)
3. मनु. स्मृति - 11/54
4. मनुस्मृति - 8/350-35
5. मनुस्मृति - 8/285
6. याज्ञ. स्मृति - 2/224-226
7. मनुस्मृति (7.22)
8. मित्तल डॉ. सुरेन्द्र नाथ: समाज और राज्य - भारतीय विचार पृ. 251
9. मनुस्मृति (7.17)
10. त्रिपाठी डॉ हरिहर नाथ: प्राचीन भारत में राज्य और न्यायपालिका पृ. 220-21
11. मनुस्मृति 7/18
12. याज्ञ. स्मृति - 2.5
13. मनु.स्मृति 8. 4-7
14. मनु. स्मृति - यथा यथा महद् दुःख कुर्यात्तथा तथा। 8. 286
15. मनु. स्मृति - नादण्डयो नाम राज्ञोऽस्ति यः विधर्मे न तिष्ठति। 8. 325
16. याज्ञ. स्मृति - 1. 359
17. याज्ञ. स्मृति - 1. 357
18. वाग्दण्डं प्रथमं कुर्याद्विगदण्डं तदन्तरम्। मनु. 8. 129
19. मनुस्मृति - 8. 129
20. याज्ञ.स्मृति - 2. 270
21. मनुस्मृति - 8. 125
22. मनुस्मृति - 8. 380
23. काणे चण्टण् धर्मशाला का इतिहास भाग-2 पृष्ठ - 766
24. याज्ञ.स्मृति - 1. 354
25. याज्ञ.स्मृति - 1. 359
26. विष्णु स्मृति अध्याय - 2

- 27 याज्ञा. स्मृति - 1.368
- 28 वृद्ध हारीत स्मृति 4. 181
29. पराजय डॉ. ना. वि. भारतीय दण्ड संहिताए पंचम सं. 2008 पृष्ठ संख्या - 28-29।
30. भारतीय दण्ड संहिताए पंचम सं. 2008 - पृष्ठ संख्या - 133-116।
31. पराजयए डॉ. ना. वि. भारतीय दण्ड संहिता । प्रथम सं. 2008ए पृ. 23-24।
- 32 I.P.c SEC. 396.
33. I.P.C. SEC. 303 ।
34. I.P.C. SEC.- 35 ।
35. भारतीय दण्ड संहिता - 304।
36. I.P.C. SEC. - 81 ar 96 ।
37. I.P.C. SEC. 302 or 304 A.
- 38 पराजये, डॉ ना. वि. भारतीय दण्ड संहिता, प्रथम संस्करण - 2008 पृ. सं. - 486 ।
39. पाण्डेय, हॉ जय नारायण, भारत का संविधान, 40 वा मस्करण 2007, पृ. 483 - 484।
- 40 I. p. c. sec. 312 or 313
41. Whoever commits mischief by killing, posisoning, maiming or rendering, useless, and elephant, camal, horse, mule, buttalo, bull cow, or ox. Whatever may be the value there of, any other animal of the value of fitty rupees of vipwardil shall be eunished with imprison ment of either olescription for a term which many extendto five Years or with both I.P.C.SEC. 429
42. डॉ. चन्द्र प्रकाश सिंह, पर्यावरण विधि, पंचम सं. 2007 पृ. 564।
43. I.P.C. SEC. - 375 or 376.
44. I.P.C. SEC. - 377.
45. I.P.C. SEC. - 354.
45. I. p. c. sec. - 497 A
46. I. p. c. sec. - 372 or 373 A

48. l. p. c. sec. - 425 or 426।
49. l. p. c. sec. - 378
50. रनछोडिटाम रतनलाल तथा ठक्कर, धीरज लाल कैशवलाल, पृ. 1010-1013।
51. l. p. c. sec. - 379
52. l. p. c. sec. - 391 or 396।
53. l. p. c. sec. - 341।
54. l. p. c. sec. - 193।
55. l. p. c. sec. - 194।
56. l. p. c. sec. - 405 or 406।
57. अन्तराष्ट्रीय विधि न. 1967 पृष्ठ संख्या-250-252।
58. स्मृतियों में भारतीय जीवन पद्धति, शाण्डिल्य स्मृति पृष्ठ संख्या 220-221।
आहारशुद्धी सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः
59. स्मृतिसम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः ॥ छा. उप. 7/26/2 ।
60. l. p. c. - 277
61. l. p. c. - 278
62. l. p. c. - 499 or 500
63. l. p. c. - 504
64. डॉ. चन्द्र प्रकाश, पर्यावरण विधि, पंचम सं. 2007 पृ. 520-521-525-526।
65. l. p. c. - 254
66. l. p. c. - 510
69. डॉ. ना. वि. भारतीय दण्ड संहिता, पंचम सं. 2008, पृष्ठ 26 1

षष्ठ अध्याय
स्मृति साहित्य में वर्णित परिवार
एवं समाज व्यवस्था की वर्तमान
उपादेयता

षष्ठ अध्याय
स्मृति साहित्य में वर्णित परिवार एवं समाज
व्यवस्था की वर्तमान उपादेयता

भारतीयों का जीवन प्राचीन काल से धर्मगत उत्कण्ठा से अनुप्राणित रहा है जिसमें नैतिक मूल्यों, आचारगत अभिव्यक्तियों तथा जगन्नियन्ता के प्रति समर्पण की भावना का सन्निवेश था। सम्पूर्ण देश और समाज धर्म के विशाल आयाम में क्रियाशील रहा है। धर्म का व्यावहारिक महत्व कर्तव्य का समुचित पालन था, जिसके माध्यम से व्यक्ति लौकिक उत्कर्ष के साथ आध्यात्मिक उत्कर्ष करता रहा।

उसके समस्त कर्तव्य और कर्म ज्ञान-समन्वित और श्रद्धा-सिक्त होकर धर्म से ही उत्प्रेरित और गतिमान होते थे, जो उसके परिवार और समाज को गठित करने में अभूतपूर्व योग प्रदान करते थे।¹

भारतीय सामाजिक व्यवस्था का आशय भारतीय समाज में पाई जाने वाली उस सन्तुलित या व्यवस्थित स्थिति से है जो कि समाज की विभिन्न निर्णायक ईकाईयों के अपने-अपने स्थान पर रहते हुए पूर्व निश्चित कार्यों को करने के फलस्वरूप उत्पन्न होती है। इस दृष्टिकोण से भारतीय सामाजिक व्यवस्था उस संगठन की ओर संकेत करती है जिसके अन्तर्गत भारतीय जीवन के स्थापित तथा मान्य उद्देश्यों एवं आदर्शों की प्राप्ति संभव होती है। इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए भारतीय समाज ने विभिन्न उप-व्यवस्थाओं की स्थापना की जिनकी उपादेयता वर्तमान में भी सर्वोपरि है, जैसे- वर्णव्यवस्था, आश्रम व्यवस्था, संयुक्त परिवार इत्यादि।

स्मृतिकालीन संयुक्त परिवार की वर्तमान में उपादेयता

परिवार मानव समाज की आधारशिला है। यह समाज की विद्यमानता और निरन्तरता के लिये अनिवार्य है। यह एक सार्वभौमिक संस्थान है जो प्रत्येक समाज में चाहे वह आदिम हो या आधुनिक पाई जाती है। जहाँ पाश्चात्य समाजों में नाभिक अथवा केन्द्रीय परिवार की धारणा व्याप्त है। वहाँ भारत में सदियों से संयुक्त परिवार अपना महत्व रखते आ रहे हैं जो आज भी कायम है। यद्यपि

परिवर्तित परिस्थितियों में नाभिक या केन्द्रीय परिवार भी विकसित होते जा रहे हैं। इसी तरह परिवार की कार्य सम्बन्धी धारणा में जहाँ पाश्चात्य और मुस्लिम विचार लैंगिक सम्बन्धों की प्रधानता और बच्चों के पालन पोषण का है वहाँ भारतीय विचार 'धर्म' का अधिक है। हिन्दू सनातन धर्म 'संयुक्त परिवार' को श्रेष्ठ शिक्षण संस्थान मानता है। धर्मशास्त्र कहते हैं कि जो घर संयुक्त परिवार का पोषक नहीं है उसकी शांति और समृद्धि सिर्फ एक भ्रम है।

भारतीय समाज नियन्ताओं ने मनुष्य के चहुँमुखी जीवन को परिष्कृत, उन्नत करने के लिए भौतिक और आध्यात्मिक क्षेत्रों में नाना प्रयोग किए। धर्म, दर्शन, अर्थविज्ञान, वर्ण व्यवस्था, आश्रम, संस्कार आदि इसी प्रकार के प्रयोग थे। लेकिन जीवन को अधिक सहज, सरल, सुलभ, सुखकर बनाने के लिए परिवार संस्था का महत्वपूर्ण प्रयोग किया। इसका असर यह हुआ कि इतिहास बदल गये दुनिया बदल गई, समाज संस्थाओं में आमूलचूल परिवर्तन हुए लेकिन भारतीय समाज में संयुक्त परिवार आज भी ध्रुव बिन्दु की तरह जीवित है।

संयुक्त परिवार से संयुक्त ऊर्जा का जन्म होता है। संयुक्त ऊर्जा दुखों को खत्म करती है। ग्रंथियों को खोलती है। बदलती जीवनशैली और प्रतिस्पर्धा के दौर में तनाव तथा अन्य मानसिक समस्याओं से निपटने में अपनों का साथ अहम भूमिका निभा सकता है। संयुक्त परिवारों में आसपास अपनों की मौजूदगी एक सहारे का काम करती है। संयुक्त परिवारों में जहाँ बच्चों का पालन-पोषण और मानसिक विकास उचित रूप से होता है वहीं वृद्धजनों का अंतिम समय भी शांति और खुशी से गुजरता है। बच्चे संयुक्त परिवार में सभी रिश्तों में रहकर संस्कारों को सीखते हुए बड़े होते हैं। संयुक्त परिवार से ही संस्कारों का जन्म होता है भारतीय मनीषियों की एक विशेषता रही है, कि उनके प्रयोग केवल स्थूल पक्ष अथवा भौतिक तथ्यों तक ही सीमित नहीं रहे। वे सूक्ष्म क्षेत्रों में विश्व का संचालन करने वाले सार्वभौमिक तथ्यों की खोज करते थे और फिर उन्हें भौतिक विधानों में व्यवस्थित करते थे। "भारतीय विवाह पद्धति में स्त्री-पुरुष का एकाकार होना अद्वैत भाव को प्रकट करता है। भारत में लड़की घर और पहचान दोनों छोड़कर आती है। मृत्यु पूर्व घर छोड़ने का कोई इरादा नहीं होता। यहीं समर्पण घर को स्वर्ग बनाता है। सन्तान के लिए घर पहली पाठशाला बन जाता है और माँ प्रथम गुरु होती है।"²

संयुक्त पारिवारिक माहौल में व्यक्ति का स्वास्थ्य, बुद्धि, मानसिक प्रक्रिया और नैतिकता अच्छी तरह से विकसित होती है।

बच्चे मनोवैज्ञानिक रूप से सूक्ष्म और मजबूत चेतना के साथ बड़े होते हैं, क्योंकि उनके पास ऐसे कई व्यक्ति होते हैं, जिनसे वे प्रेरणा ले सकते हैं और वर्तमान समय में हो रही आत्महत्या जैसी कमजोर भावना से स्वयं को मुक्त कर सकते हैं।

संयुक्त परिवार में

- बच्चों का शारीरिक और चारित्रिक विकास वहीं तरीके से होता है।
- बच्चों को साँझा करने की कला सीखने को मिलता है।
- बच्चों में आत्म संयम की भावना बढ़ती है।
- परस्पर सम्मान की भावना सीखते हैं।
- बच्चों को मार्गदर्शन व सहभागी दोनों ही मिल जाते हैं।
- सुरक्षा की भावना प्रबल होती है।
- आपदा के समय अपनों का साथ मिलता है।
- बीमारी में सहयोग की भावना रहती है।
- सामाजिक संपर्क मजबूत होता है।
- जिम्मेदारियों का बटवारा हो जाता है।

समाज के सांस्कृतिक और सामाजिक मूल्यों को बनाए रखने और विकसित करने में परिवारों की महत्वपूर्ण भूमिका को ध्यान में रखते हुए संयुक्त राष्ट्र महासभा ने दिसम्बर 1989 में पारित एक प्रस्ताव में 'अन्तर्राष्ट्रीय परिवार वर्ष घोषित किया। 1993 में महासभा ने संकल्प लिया कि हर साल 15 मई को "अन्तर्राष्ट्रीय परिवार दिवस" के रूप में मनाया जाना चाहिए। वैश्विक स्तर पर लिया गया यह निर्णय हमारी धर्मशास्त्रीय सामाजिक-पारिवारिक परम्पराओं के पक्ष में मजबूत कदम साबित हुआ। हमारे समाज-शिल्पियों ने 'परिवार संस्थान' की नींव में ऐसे अमृततत्वों के बीज वपन कर दिए हैं जिनके कारण काल के अनन्त प्रवाह में भी भारतीय परिवार अपना अस्तित्व सर्वदा कायम रखेगा। आवश्यकता इस बात की है कि आज की परिवर्तित परिस्थितियों में परिवार संस्था को पुर्नगठित करके समाज की इस जीवनदायिनी धारा को अधिक शक्तिशाली और समृद्ध बनाया जाए।

स्मृति कालीन समाज की वर्तमान में उपादेयता

भारतीय समाज और संस्कृति विश्व के प्राचीनतम समाजों और संस्कृतियों में से एक है जो अनेक प्राकृतिक थपेड़ों एवं परिवर्तन की भीषण लहरों से सर्वाधिक प्रभावित रहने पर भी अपने अस्तित्व को सफलतापूर्वक बनाए हुए है। यद्यपि समयानुसार भारतीय समाज एवं संस्कृति में परिवर्तन आया है, लेकिन फिर भी अपनी आधारभूत विशेषताओं को बनाये रखा है। भारतीय समाज व संस्कृति कभी स्वयं तक सीमित नहीं रहे। विश्व का कोई भाग, जाति या सम्प्रदाय इसके स्नेहमयी आह्वान से कभी वंचित नहीं रहा। गौरवमय भारत की यही गौरवमयी परम्परा है। यही उसकी मूल संस्कृति है।³

प्राचीन स्मृतिकालीन सामाजिक व्यवस्था का मुख्य उद्देश्य व्यक्ति का भौतिक एवं आध्यात्मिक विकास करना है। व्यक्ति के सर्वांगीण विकास को ध्यान में रखकर ही अनेक व्यवस्थाओं की स्थापना की गई। वर्णाश्रम, पुरुषार्थ, विवाह, परिवार आदि विशिष्ट व्यवस्थाएँ व्यक्ति के सर्वांगीण विकास को ध्यान में रखकर ही की गई। सामाजिक व्यवस्थाओं का यह प्रवाह कभी किसी आघात से या अकस्मात् खण्डित नहीं हुआ बल्कि इसका निश्चित विकास और प्रसार होता रहा है। गाँव, जाति, संयुक्त परिवार, अध्यात्मवाद, पुरुषार्थ, वर्ण धर्म, आश्रम, वैदिक धर्म, पूर्वजन्म आदि अनेक ऐसे संस्कृति सम्पुट हैं जिन्हें हम आज भी स्थायी रूप से अपनाये हुए हैं। जैसे -

1. पुरुषार्थ - व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन को प्रभावित करने और उसके प्रमुख कर्तव्यों को कुछ विशेष वर्गों में विभाजित किया जा सके, इस कारण व्यक्ति के जीवन को चार महत्वपूर्ण लक्ष्यों (पुरुषार्थ) में स्मरण किया गया है। वे चार लक्ष्य हैं- धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष।

पुरुषार्थों का अर्थ स्पष्ट करते हुए के. एम. कापड़िया ने लिखा है कि मोक्ष मानव-जीवन के चरम् उद्देश्य तथा मानव की आन्तरिक आध्यात्मिक अनुभूति का प्रतीक है। अर्थ-मानव के वस्तुओं को प्राप्त करने एवं संग्रहण की जो सहज प्रवृत्ति है उसको स्पष्ट करता है। काम-मानव के सहज-स्वभाव और भावुक जीवन को व्यक्त करता है तथा इसका कार्य मनुष्य की काम-भावना एवं सौन्दर्य-प्रियता की वृत्ति को सन्तुष्ट करना है। अर्थ और काम दोनों इस संसार में व्यक्ति के भौतिक लगाव, कार्य-कलाप एवं जीवन की सफलता का प्रतिनिधित्व करते हैं।

धर्म-मानव के पाशविक एवं दैवीय प्रवृत्ति के मध्य की एक श्रृंखला है। इस प्रकार से चारों लक्ष्य आध्यात्मिकता के लिए किए गए प्रयत्नों के बीच समन्वय स्थापित करते हैं।⁴

2. संस्कार - सामाजिक गतिशीलता के फलस्वरूप सोलह संस्कारों की श्रृंखला में जन्मदिवसोत्सव, विवाहदिवसोत्सव जैसे आयोजन वर्तमान समय में प्रचलित हो रहे हैं। विवाहदिवसोत्सव हर वर्ष मनाने से लोगों को अपने वैवाहिक उत्तरदायित्वों और कर्तव्यों को निभाने की प्रेरणा मिलती रहेगी तथा भावनात्मक जुड़ाव मजबूत होगा। जन्मदिवसोत्सव के अवसर पर सभी को यह आकलन करने का मौका मिलता रहेगा कि पुरुषार्थ की किस सीढ़ी को वे प्रभावी ढंग से पार कर पाए हैं।

व्यक्तिगत दृष्टि से मनुष्य का अपना जन्मदिन ही उसके लिए सबसे बड़े हर्ष, गौरव एवं सौभाग्य का दिन हो सकता है। जन्मदिवसोत्सव पर यदि थोड़ा अधिक गंभीर आत्म-निरीक्षण कर लिया जाय और आगे के लिए कुछ ठोस सदुपयोग की बात सोच ली जाए तो वह दिन एक नये सूर्योदय जैसा प्रकाशवान् हो सकता है। बुद्ध, वाल्मीकि, सूरदास, तुलसी, अंगुलिमाल आदि के पूर्व जीवन बहुत अच्छे न थे पर एक दिन उनकी अन्तः चेतना जाग पड़ी और वे नर से नारायण बन गये। जन्मदिवस की उल्लास भरी घड़ी में यदि मनुष्य यत्किंचित् भी आत्मनिर्माण की बात सोचने लगे तो वह उसी अनुपात में उसके सौभाग्य की घड़ी सिद्ध हो सकती है।

जन्मदिन दिखने में सामान्य किन्तु प्रभाव में असामान्य संस्कार है जो सनातन हिन्दू परम्परा द्वारा मान्य व आधुनिकता से ओतप्रोत है।

भारतीय मनीषियों ने हजारों वर्षों के अनुभव के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला था कि मनुष्य जीवन केवल खाने-पाने और मौज उड़ाने के लिए नहीं है चौबीसों घण्टों भौतिक जीवन को सुखी बनाने की दौड़-धूप में लगे रहना कोई बुद्धिमानी की बात नहीं है वरन् इससे भी श्रेष्ठ उद्देश्य जीवन का निर्माण है जिससे वास्तव में मनुष्य बनता है। यही कारण है कि भारतीय ऋषियों ने भौतिक उन्नति को गौण और आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्ति को जीवन का मुख्य उद्देश्य निर्धारित किया था। वे भली प्रकार जानते थे कि “जन्मना जायते शूद्र - संस्कारद्विज उच्यते” जन्म से सभी शूद्र होते हैं। संस्कारों के द्वारा ही उसे द्विज बनाया जाता है। महर्षि गौतम ने भी इस बात का समर्थन किया है कि

संस्कारों से नैतिक विकास होता है। आधुनिक मनोविज्ञान भी यह मान चुका है कि व्यक्तित्व के विकास में पारिवारिक और सामाजिक वातावरण मुख्य कारक है। स्मृतिकालीन समाज से अनवरत चले आ रहे षोडश संस्कारों का कर्मकाण्ड तो रहस्यमय व अध्यात्म व विज्ञान के चमत्कारी सत्परिणामों से परिपूर्ण है।

पारिवारिक मूल्य - भारत में मजबूत एवं संयुक्त पारिवारिक मूल्य है। आज भी समाज की बुनियादी ईकाई के रूप में परिवार पर खासा जोर है। संयुक्त परिवार सामाजिक सम्बन्ध का तथा परस्पर सहयोग का अद्भुत ताना-बाना है। एशियारिक सोयायटी की वेबसाइट कहती है"- व्यक्ति कहीं जाए, लगभग हर जगह वह रिश्तेदार खोज सकता है, जिससे नैतिक और व्यावहारिक सहयोग की उम्मीद की जा सके।

पर्यावरण परिरक्षण - पर्यावरण परिरक्षण जो आज विश्व के समक्ष सर्वाधिक ज्वलंत विषय है के संदर्भ में स्मृतिकालीन सामाजिक संस्कृति ने सृष्टि निर्माण के प्रयुक्त पंच तत्वों क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर को देवता मानते हुए इनको स्वच्छ रखने का आह्वान किया है। पर्यावरण संरक्षण के प्रति भारतीय संस्कृति के प्रकृति प्रेम का अनुमान हम इसी तथ्य से लगा सकते हैं कि यहाँ पशु-पक्षी, पर्वत, नदियां, वृक्ष, पत्थर सभी धार्मिक आस्था के पात्र हैं। प्राचीन समय से ही गाय तथा 'नदी' को मां का दर्जा देते हुए इसके संरक्षण की बात कही गई है। इसके अतिरिक्त पीपल और वटवृक्ष में देवता का वास मानते हुए पूजने की प्रथा प्रचलित है। हमारी इन सभी प्राचीन आस्थाओं के पीछे वैज्ञानिक सोच दृष्टिगोचर होती है जिसे आज विश्व के पर्यावरणविदों ने भी स्वीकार किया।

नारी सम्मान विश्व की किसी भी संस्कृति व सामाजिक व्यवस्था में नारी के सम्मान को इतना महत्व नहीं दिया गया जितना भारतीय सांस्कृतिक सामाजिक परिवेश में दिया है। स्मृतिकारों ने तो आदर्श वाक्य प्रस्तुत किया- "यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता।" नारी का सम्मान और उसकी सुरक्षा की वर्तमान में भी महती आवश्यकता है।

वर्णाश्रम - संसार के अनेक भौतिकवादी समाज भी अब इस तथ्य को स्वीकार करने लगे हैं कि सामान्य कल्याण को प्रोत्साहन दिये बिना समाज को सुरक्षित नहीं रखा जा सकता। सोरोकिन जैसे विचारको ने भी अपनी मृत्यु के कुछ वर्ष पूर्व से आध्यात्मिक पुनर्निर्माण की बात की थी।

व्यक्तिवादिता के दोषों का समाधान करने के लिये ही विभिन्न आश्रमों के धर्म प्रकार निर्धारित किये गये जिससे समाज कल्याण की भावना को बल मिले। समाज के सभी आश्रमों द्वारा समाज के सभी वर्णों को इस प्रकार परस्पर सम्बन्धित किया गया कि किसी भी एक के योगदान के बिना न तो व्यक्तित्व का विकास ही हो सकता है और न ही मोक्ष प्राप्ति की सम्भावना प्राप्त की जा सकती है। पी.एन. प्रभु का कहना है कि व्यक्ति और समुह के मध्य पारस्परिक निर्भरता बढ़ाने और उनमें समन्वय करने के क्षेत्र में आश्रम व्यवस्था का महत्व सर्वोपरि है। एक मानवतावादी समाज की स्थापना में भी वर्णाश्रम व्यवस्था के महत्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। यदि हम गम्भीरता से देखें तो हमें ज्ञात होगा कि वर्णाश्रम व्यवस्था के कारण व्यक्तियों में उदारता, निष्ठा, सरलता, पवित्रता, सहिष्णुता, सामाजिकता, समाजसेवा, समानता, बन्धुत्व और आध्यात्मिकता के गुण उत्पन्न करने का प्रयास किया गया है। सामाजिक, आर्थिक और भौतिक परिवर्तन के इस नये दौर में तद्युगीन वर्णाश्रम व्यवस्था के कारण मानवीय गुणों के विकास में भी सहायता मिली है। ब्रह्मचर्य आश्रम का अर्थ ही महानता के मार्ग पर चलना है। K.M. कापडिया ने लिखा है कि जीवन का यह ढंग यौवनावस्था के प्रबल वेग को नियन्त्रित करता है। गृहस्थाश्रम में ब्रह्मचर्य की शिक्षाओं को मूर्त रूप दिया जाता है। मनुस्मृति में लिखा गया है कि “जो व्यक्ति पृथ्वी पर स्थायी प्रसन्नता और स्वर्ग का आशीर्वाद प्राप्त करना चाहते हैं उन्हें गृहस्थ आश्रम के दायित्वों को परिश्रम व लगन से पूरा करना अनिवार्य है क्योंकि दुर्बल मन के व्यक्ति गृहस्थाश्रम के महान् दायित्वों को कठिनाता से ही पूरा कर सकते हैं।”⁵

वानप्रस्थ आश्रम में धर्म को प्रमुख स्थान दिया गया है। ‘मनु’ ने लिखा है कि गृहस्थ जब देख ले कि उनकी त्वचा ढीली पड़ गयी हैए बाल सफेद हो गये हैं तथा सन्तान के भी सन्तान हो गई है, तब वह सभी को छोड़कर पत्नी सहित वन प्रस्थान करे।⁶ इस अवस्था में वैयक्तिक शुद्धिकरण और समाज कल्याण के उद्देश्यों की प्राप्ति एक साथ हो जाती है। सन्यास आश्रम भारतीय संस्कृति की उस विशेषता का प्रतीक है जिसमें “वसुधैव कुटुम्बकम्” के महान् लक्ष्य की पूर्ति होती है। स्मृतिकालीन सन्यास की सामाजिक उपयोगिता को वर्तमान परिप्रेक्ष्य के सन्दर्भ में स्पष्ट करते हुए कापडिया का कथन है कि “वास्तव में सन्यासी अपनी

विस्तृत मानवीयता सहित समाज को भली प्रकार प्रभावित करने और मार्गदर्शन करने के योग्य होता है।⁷

निष्कर्षत - भारतीय समाज और संस्कृति जीवंत है। हमारे ऋषि-मुनियों ने ऐसी सामाजिक व्यवस्था की स्थापना की जिसमें मनुष्य के चरित्र निर्माण से लेकर उसके जीवन के समस्त रचनात्मक पहलुओं पर न केवल गंभीरता के साथ विचार किया गया, अपितु आदर्शों एवं सुकृत्यों द्वारा उन्हें मूर्त रूप में परिणित भी किया गया। इसलिए हमारे समाज को अद्वितीय एवं विविधतापूर्ण सनातन समाज माना जाता है।

वर्तमान संक्रमणकालीन समय में भी वैश्विक स्तर पर योग, आयुर्वेद, सामाजिक व्यवस्था, पारिवारिक मूल्य, अध्यात्म, पर्यावरण सुरक्षा, स्त्री सम्मान तथा वसुधैव कुटुम्बकम् की अवधारणा का बोलबाला है। जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक काल हो या स्मृतिकाल हो या वर्तमान युग हो सभी में सार्वभौमिक मूल्यों की महती उपयोगिता रही है और हमेशा बनी रहेगी। अब आवश्यकता है तो हमारी प्राचीन समृद्ध परम्पराओं को आधुनिकता के साथ वैज्ञानिकता के साँचे में ढालने की।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. मैक्सवेवर, रिलिजन्स ऑफ इण्डिया, पृ. 52. 64
2. राज. पत्रिका समर्पण, 6 गुलाब कोठारी 1 दिस. 2024
3. मुकर्जी रबीन्द्रनाथ - भारतीय समाज और संस्कृति पृ. 9
4. कापडिया के.एम. Marriage and Family in India. P. 25.265
5. मनुस्मृति: 3/79
6. मनुस्मृति: 6/9 - 28
7. कापडिया के.एम. Marriage and Family in India.

उपसंहार

उपसंहार

स्मृति-साहित्य में तद्युगीन समाज की सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, वैधानिक, पारिवारिक सर्वक्षेत्रीय विचारधारा प्रतिबिम्बित होती है। स्मृति वैदिक मन्तव्य की ही व्याख्या करती है। स्मृति साहित्य को धर्मशास्त्र के नाम से अभिहित किया गया है। स्मृतियाँ वेदों पर आधृत होकर भी समकालीन लोकाचार एवं सामाजिक मर्यादाओं को ग्रहण करती है, जिससे वे कुछ बिन्दुओं पर वेदों से मत वैभिन्न्य रखती है। स्मृति-साहित्य में श्रुति परम्परा तथा सामाजिक रीति-रिवाज एवं आचार-व्यवहार का अच्छा समन्वय प्रतिपादित किया गया है। मनु एवं याज्ञवल्क्य स्मृति का धर्मशास्त्र साहित्य में प्रमुख स्थान रहा है, क्योंकि परवर्ती धर्मशास्त्र ग्रन्थों में इन्हीं दोनों का अनुकरण समयानुकूल संशोधन एवं परिवर्तन के साथ होता रहा है। स्मृति साहित्य में धर्मशास्त्रीय एवं अर्थशास्त्रीय विचारधाराओं में समन्वय की चारु-चेष्ट की है तथा विरोध की स्थिति में धर्मशास्त्र को ही प्रमाण माना है। प्राचीन भारतीय विचारकों ने व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक, सामाजिक और आध्यात्मिक विकास हेतु चारों आश्रमों की व्यवस्था की थी। जिसका लक्ष्य समाज कल्याण के साथ-साथ मोक्ष प्राप्त करना था। जन्म से मृत्यु तक के सभी संस्कारों का परिपालन होता था। अच्छे संस्कारों से ही व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्र का उत्थान संभव है। तत्कालीन समाज में आदर्श पारिवारिक मूल्यों के साथ संयुक्त परिवार प्रणाली प्रचलित थी।

इस शोध प्रबन्ध में स्मृतिकालीन परिवार एवं समाज की अनुशीलन एवं अनुशासित परम्परा के साथ एक झाँकी परिस्थिति, परिवर्तन, परम्परा और प्रगति की भी है। यहाँ समाज के विविध पहलुओं यथा गृहस्थ, परिवार, वर्ण स्त्री-पुरुष स्थिति, नैतिक आचारण, न्याय, दण्ड व्यवस्था और आस्थाओं-विचारधाराओं को अनुशीलन के रूप में प्रस्तुत करके वर्तमान समाज व्यवस्था में सुधार के आयाम प्रस्तुत किये गये हैं। तत्कालीन समाज के स्वरूप को समक्ष रखकर वर्तमान समाज अपनी भूलों में सुधार कर सकता है। विकृतियों एवं विसंगतियों से परे हटकर अपने नैतिक दृष्टिकोण की प्रस्थापना कर सकता है। वर्तमान समय में सामाजिक एवं पारिवारिक संस्थाएँ लक्ष्यभ्रंश के दौर से गुजर रही हैं जिसका

परिशोधन स्मृतिकालीन सामाजिक व्यवस्था के अध्ययन की पीठिका पर प्रस्थापित किया जा सकता है। भारतीय संस्कृति एवं सामाजिक व्यवस्था भौतिकवाद तथा व्यक्ति वादिता के विपरीत आध्यात्मिकता से ओत-प्रोत स्मृतिकालीन आर्य परम्परा का सतत् विस्तार ही भारतीय समाज का उद्देश्य है। परम्परागत सामाजिक एवं पारिवारिक व्यवस्था एक आदर्श भारतीय जीवन दृष्टि का निरूपण करती है। युगानुरूप हमारी सनातन परम्परा एवं आदर्श सामाजिक व्यवस्था को बनाए रखने में नयी पीढ़ी की भूमिका निर्णायक होगी।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में स्मृतिकालीन पारिवारिक मूल्य व सामाजिक आदर्शों को वर्तमान संक्रमणकालीन परिस्थितियों में अनुसरण व अनुकरणीय बनाने का मेरी ओर से अथक प्रयास किया गया है जो स्मृतिसाहित्य को एक नवीन एवं परिमल दृष्टि से देखने-परखने एवं आत्मिक और सामाजिक योगक्षेम में उतारने के लिए समुपयुक्त होगा। मेरा शोध ग्रन्थ वर्तमान समाज के लिए प्रेरणा स्रोत बनेगा, जिससे सामाजिक परिवर्तन होगा, व्यक्ति की नैतिक और आध्यात्मिक उन्नति होगी ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है।

शोध सारांश

शोध सारांश

वर्तमान भारतीय समाज संक्रमण काल से गुजर रहा है। संक्रमणकालीन परिस्थितियाँ सर्वदा समस्याओं को उत्पन्न करती हैं। हमारे भारतीय समाज के समक्ष भी सामाजिक, पारिवारिक एवं सांस्कृतिक समस्याएँ विद्यमान हैं। प्राचीन एवं नवीन पद्धतियों के मध्य सामन्जस्य स्थापित करना एक प्रमुख समस्या है। जिसके परिणामस्वरूप भारतीय समाज के पारम्परिक प्रथाएँ तथा पारिवारिक मूल्य या तो गायब हो रहे हैं या उन्हें लोगों द्वारा नये रूप में प्रतिस्थापित किया जा रहा है। संयुक्त परिवारों का विघटन, रिश्तों की तनावपूर्ण स्थिति आपराधिक कृत्यों को जन्म दे रही है। स्वार्थी मनोवृत्ति के कारण सामाजिक जीवन में सहयोग समाप्त होता जा रहा है। यदि हमें एक सशक्त तथा समृद्ध समाज की रचना करनी है तो अतीत के ज्ञान एवं अनुभवों से लाभ उठाने का प्रयास भी करना होगा। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध “स्मृति साहित्य में परिवार एवं समाज: एक अनुशीलन” के माध्यम से मैंने स्मृति साहित्य में वर्णित पारिवारिक एवं सामाजिक जीवन का गहन अध्ययन करते हुए वर्तमान समाज में उसकी उपयोगिता पर प्रकाश डालने का प्रयास किया है। वर्तमान समय में हो रहे सांस्कृतिक क्षरण को रोकने में सम्पूर्ण स्मृति साहित्य अपनी महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन करता है। प्राचीन समय के प्रचलित संस्कारों, नैतिक-मूल्यों, मानव-धर्मों तथा शैक्षिक आदर्शों का पुनर्प्रचलन आज के समय की एक आवश्यक मांग है। स्मृति साहित्य में वर्णित पारिवारिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, वैधानिक पक्षों के विस्तारपूर्वक अध्ययन की आवश्यकता वर्तमान समाज को है। इस प्रकार शोध की सतत् प्रवाहमान प्रक्रिया के क्रम में स्मृति साहित्य के पारिवारिक तथा सामाजिक पक्षों का अध्ययन प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के सात अध्यायों में किया गया है, जो इस प्रकार हैं-

प्रथम अध्याय में स्मृति साहित्य का उद्भव, विकास, अर्थ, स्वरूप संख्या, समय-निर्धारण एवं प्रतिपाद्य विषय पर दृष्टिपात किया गया है। भारतीय संस्कृति के मूलाधार वैदिक साहित्य के पश्चात् धर्मशास्त्र साहित्य का सर्वोत्कृष्ट स्थान है।

वेदों में निहित ज्ञान वैदिक रीति से मंत्रबद्ध होने के कारण विद्वद्जनों के लिए तो ग्राह्य था, किन्तु जनसाधारण के लिए नहीं।

अतएव परवर्ती वेदज्ञ ऋषियों ने जनकल्याण की भावना से वेदज्ञानराशि का स्मरण कर जिन ग्रन्थों का प्रणयन किया वे ही कालान्तर में ‘स्मृति’ रूप में प्रसिद्ध

हुए, जो पूर्णरूप से वेदविहित धर्म का ही सरल एवं सुस्पष्ट शैली में व्याख्यान करते हैं।

संस्कृति के इतिवृत्त का नाम श्रुति है और सांस्कृतिक आचारों के इतिवृत्त का नाम स्मृति है।

महर्षि पतञ्जलि ने स्मृति को चित्त की वृत्ति बताते हुए कहा है ष्अनुभव किये गये विषय को किसी दशा में न भूलना अर्थात् चित्त में उपस्थित रहना ही स्मृति है।

अमरकोश के टीकाकार क्षीरस्वामी ने कहा है ण्ज्ण्ट होते हुए और बिखरे हुए लोकाचार के नियमों एवं सिद्धान्तों को याद रखना स्मृति का विषय है, जो मनुस्मृति आदि ग्रन्थों में संग्रहीत किये गये हैं।

मनु का कथन है कि जितने भी धर्मशास्त्र हैं वे सभी स्मृतियाँ हैं। इन धर्मशास्त्रों के रचनाकारों के सन्दर्भ में हमें पराशर स्मृति में विवरण प्राप्त होता है।

मनु, वशिष्ठ, कश्यप, गर्ग, गौतम, उशना, अत्रि, विष्णु, संवर्त, दक्ष, अंगिरा, शातातप, हारीत, याज्ञवल्क्य, आपस्तम्ब शंख, लिखित, काव्यायन, प्राचेतस 19 स्मृतिकारों का नामोल्लेख पाराशर स्मृति में मिलता है।

स्मृतियों की यह विशाल संख्या भारतीय मनीषा का एक उदाहरण है। इन स्मृतियों में भारतीय धर्म का पारम्परिक स्वरूप दृष्टिगोचर होता है। स्मृतियाँ वेद में निहित धर्म का पोषण करती हैं। स्मृतियों का स्वरूप इस प्रकार है कि स्मृतियों के अध्ययन के बिना भारतीय धर्म की पालना असम्भव है। स्मृतियों में ही विभिन्न यज्ञों, दान, तप, अशौच, व्रत, तीर्थ, वर्ण, आश्रम, वर्णाश्रम सम्बन्धी सभी विवरण हमें प्राप्त होते हैं।

द्वितीय अध्याय स्मृति साहित्य में परिवार एक अनुशीलन में स्मृति कालीन परिवार की अवधारणाओं, प्रकार, पारिवारिक सदस्यों के कर्तव्यों अधिकार इत्यादि का वर्णन किया गया है।

हिन्दू परिवार का स्वरूप संयुक्त है। परिवार का यह स्वरूप प्राचीन है जो आज भी भारतीय हिन्दू परिवारों में प्रचलित है। प्राचीन परम्परा का पालन करते हुए याज्ञवल्क्य ने तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था में संयुक्त परिवार का प्रतिपादन किया है।

भारतीय हिन्दू परिवार का जीवन दर्शन पुरुषार्थ, संस्कार, सहयोग की भावना पर आधृत है। भारतीय परिवार मनुष्य के सभ्य और सुसंस्कृत होने का स्वाभाविक

तारतम्य है जिसके माध्यम से मानव जीवन का उद्धार होता है। परिवार में पति-पत्नी, माता-पिता, भाई-बहिन, पुत्र-पुत्री सभी सहयोग व प्रेम की भावना से बंधे रहते हैं।

एक मूलभूत आधार वाले सुव्यवस्थित सामाजिक समूह का नाम ही परिवार है। वैदिक काल से ही समाज में संयुक्त परिवार प्रथा प्रचलित थी। इसके सदस्य माता, पिता, भाई, बहन, पुत्र, कन्या, वधू, पौत्र, प्रपौत्र आदि थे। परिवार के मुखिया के रूप में पिता परिवार को सुव्यवस्थित ढंग से चलाता था। पिता के नियंत्रण निर्देश व संरक्षण में सभी सदस्य रहते थे। इसके विपरीत वर्तमानकालीन संयुक्त परिवार में व्यक्तिवादी धारणा संयुक्त परिवारों पर धन की चोट कर रही है।

आज अनेक कारणों से हिन्दु समाज के संयुक्त परिवार खण्ड खण्ड होने लगे हैं। पाश्चात्य संस्कृति का अंधानुकरण सामाजिक व्यवस्था को दोषपूर्ण बना रहा है। विभिन्न विषमताओं के बावजूद भी मनोवृत्ति आज भी संयुक्त परिवारों के पक्ष में है। इसीलिए विभिन्न तनावों तथा भारों को सहन करते हुए भी संयुक्त परिवार बने रहेंगे। आधुनिक दौर में हमें उन परिस्थितियों का निर्माण करना चाहिए जिससे इस प्रणाली के सभी दोष मिट कर यह फल फूल सके। एक संयुक्त परिवार सामाजिक एवं नागरिक गुणों की शाश्वत पाठशाला इसीलिए कहा जाता है कि उसमें सहयोग, संगठन, त्याग, और स्नेह का सामन्जस्य होता है।

परिवार एक ऐसी कार्यशाला है जहाँ व्यक्ति का निर्माण होता है। परिवार में जन्म लेने के बाद बच्चे की सुप्त मानसिक शक्तियाँ परिवार में स्पर्श से जाग्रत होती हैं। बच्चे के भावी जीवन के बीज परिवार में ही बोए जाते हैं। परिवार ही उसमें सामाजिक गुणों और नैतिकता का प्रारंभिक संचार करता है जो आगे चलकर विभिन्न सम्पर्कों से विकसित होता जाता है। पारिवारिक कार्यों की सूची इतनी लम्बी है कि सभी का उल्लेख करना और उन्हें विभिन्न दृष्टिकोणों से समझना बहुत कठिन है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के तृतीय अध्याय “स्मृति साहित्य में समाज : एक अनुशीलन” के अन्तर्गत स्मृतिकालीन समाज की अवधारणा तथा वर्णव्यवस्था के साथ-साथ वर्तमान समाज का समीक्षात्मक विवेचन प्रस्तुत है। समाज एक ऐसा मानव संगठन है जो एक विशेष प्रकार की जीवन पद्धति को स्वीकार करके उसका अनुसरण करता है।

धर्मशास्त्रों में कहा गया है कि समाज के निर्माण के लिए कुछ विशिष्ट गुण चाहिए। ये गुण हैं-

- (1) रक्षण शक्ति
- (2) ज्ञान (बुद्धिबल)
- (3) प्रजा पालन या भरण पोषण की सामर्थ्य।
- (4) श्रमशक्ति का विभाजन व योगदान
- (5) मौलिक एकता।

वेदों में जो वर्ण-व्यवस्था दी गई है, वह शुद्धरूप से गुणों और कर्मों पर आश्रित है। वेदों में वर्ण वृत्तिपरक है, जातिपरक नहीं। अतः ब्राह्मण आदि वर्णों का सम्बन्ध जन्म से सर्वथा नहीं है। जिसकी जो वृत्ति होगी, वही उसका वर्ण होगा। अतः वर्ण-व्यवस्था समाज का अभिन्न अंग है।

समूहीकरण का भाव समाज का मूलधार है। समूह में रहकर एक व्यक्ति को दूसरे की इच्छाओं, क्षमताओं और आवश्यकताओं का ध्यान रखना पड़ता है और यही से ही विविध सामाजिक परम्पराओं का जन्म होता है। सामाजिक परम्पराओं के अन्तर्गत सर्वप्रथम वर्णव्यवस्था का वर्णन आता है। प्राचीन भारतीय विचारकों ने समाज को सुव्यवस्थित एवं सुसंगठित ढंग से चलाने के लिए ही वर्णाश्रम धर्म की व्यवस्था की है।

यह सामाजिक स्तरीकरण की एक ऐसी व्यवस्था थी, जो समाज के प्रत्येक वर्ग के समान महत्त्व एवं अवसर प्रदान कर, उसके कर्तव्य कर्मों पर बल देती थी, जिससे उनमें सामंजस्य बना रहे, संघर्ष की स्थिति उत्पन्न न हो। अतएव मनुष्य जो कि समाज की एक महत्वपूर्ण इकाई है, उसे चार वर्णों में विभाजित किया ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र। उनके लिए क्रमशः शिक्षण, शासन, व्यवसाय एवं श्रम को निर्धारित किया। इसके अधीन रहकर ही सभी वर्ण अपने धर्म का पालन करते थे और समाज के प्रति अपना पूर्ण उत्तरदायित्व निभाते थे। यही कारण है कि यह हजारों वर्षों तक भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता का अभिन्न अंग बनी रही।

आधुनिक समय में वर्ण-व्यवस्था का स्थान 'जातिप्रथा' ने ले लिया है। आज भारतीय हिन्दू समाज चार वर्गों में नहीं वरन् कई हजार जातियों तथा उपजातियों में विभाजित है। यह व्यवस्था भारतवर्ष में ही पाई जाती है अन्य देशों में नहीं।

इस व्यवस्था के अनुसार व्यक्ति जिस किसी जाति विशेष में जन्म लेता है वही उसकी जाति मान ली जाती है। यदि एक व्यक्ति ब्राह्मण जाति में उत्पन्न हुआ है तो जीवनभर ब्राह्मण ही रहेगा। इसी प्रकार शूद्र आजीवन शूद्र ही रहेगा और समाज में वह निम्न स्तर ही प्राप्त करेगा, चाहे उसके कार्य कितने ही अच्छे क्यों न हो,

परन्तु वह संवैधानिक धर्मनिरपेक्षता के सिद्धान्त के अनुसार किसी भी धर्म को अपना सकता है।

चतुर्थ अध्याय “स्मृति साहित्य में संस्कार एवं आश्रम व्यवस्था एक अनुशीलन के अन्तर्गत स्मृतिकालीन संस्कार एवं आश्रम व्यवस्था की अवधारणा के साथ-साथ वर्तमान कालीन समाज का समीक्षात्मक विवेचन प्रस्तुत है।

संस्कार को व्याख्यायित करते हुए कहा गया है कि बालक जब जन्म लेता है तो वह दो प्रकार के संस्कार अपने साथ लेकर आता है। एक प्रकार के वे संस्कार, जिन्हें वह जन्म-जन्मान्तरों से अपने साथ लाता है। दूसरे प्रकार के वे संस्कार, जिन्हें वह अपने माता-पिता के संस्कारों के रूप में वंशपरम्परा से प्राप्त करता है। जिनमें कुछ अच्छे भी हो सकते हैं और कुछ बुरे भी।

संस्कारों का उद्देश्य मनुष्य के किसी एक पक्ष को उद्घाटित करना नहीं था अपितु उसके जीवन के प्रत्येक पक्ष को प्रभावित करना था, जिससे व्यक्ति का लौकिक और पारलौकिक कल्याण हो सके। मनुष्य के अभीष्ट की प्राप्ति और उसके प्रयोजन की सिद्धि संस्कारों के माध्यम से मानी गई है। इनके अनुपालन से मनुष्य का शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक एवं वैयक्तिक परिष्कार होता है। उसका समाजीकरण होता है। वह सामाजिक प्रतिमानों, मूल्यों, आदर्शों आदि से परिचित होकर अपने उत्तरदायित्वों का निर्वाह करता है जिससे वह समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करता है। साथ ही उसका नैतिक, धार्मिक और आध्यात्मिक विकास होता है, क्योंकि संस्कार एक धार्मिक क्रिया है और धर्म आध्यात्म का आधार है। इनमें की जाने वाली सभी धार्मिक क्रियायें विभिन्न देवी-देवताओं के अनुष्ठान से सम्बद्ध हैं जो मानव जीवन को अध्यात्म की ओर अग्रसर करती हैं।

शंखस्मृति के अनुसार मुख्यतः बारह संस्कारों को अवस्था के अनुसार चार भागों में विभाजित किया जा सकता है-

- जन्म से पूर्व के संस्कार,
- जन्म के बाद शैशवावस्था के संस्कार,
- शैक्षणिक संस्कार और
- विवाह संस्कार।

प्राचीनकाल में हिन्दू संस्कृति एवं समाज का अविभाज्य अंग ‘आश्रमव्यवस्था’ थी। भारतीय चिन्तकों ने मानव जीवन के क्रमिक विकास हेतु इसकी नियोजना की थी। जो सम्पूर्ण समाज के लिए नियमित एवं संयमित जीवन का मार्ग प्रशस्त करते हुए,

उसे जीवन के आध्यात्मिक लक्ष्य की ओर अग्रसर करती थी। इसमें ज्ञान-विज्ञान, कर्म-धर्म, भोग-त्याग का अद्भुत समन्वय था। व्यक्ति सश्रम अपने सात्त्विक, शुद्धाचरित एवं योगमय आदर्शयुक्त मार्ग का अनुसरण करते हुए क्रमानुसार एक आश्रम से होते हुए अन्तिम आश्रम में पहुँचकर चरम लक्ष्य (मोक्ष) की प्राप्ति करता था। अतएव आश्रमव्यवस्था का प्रधान उद्देश्य मानव के लौकिक एवं पारलौकिक जीवन को सुखमय एवं आनन्दमय बनाना था।

तत्कालीन आश्रम व्यवस्था में जहाँ इसे एक आदर्श एवं संतुलित जीवन पद्धति के रूप में अपनाया गया था वहीं आज व्यवहारिक रूप में इसका प्रचलन नाममात्र का रह गया है। संस्कारों के अभाव में पारस्परिक विद्वेष, नैतिक एवं चारित्रिक पतन जैसी विषम प्रवृत्तियाँ समाज में दृष्टिगोचर हो रही हैं। यदि स्मृतिकालीन संस्कार एवं आश्रम व्यवस्था का समुचित रीति से नियमपूर्वक पालन किया जाए तो आध्यात्मिक उन्नति संभव हो सकती है।

परिवर्तन सृष्टि का नियम है। जो काल, परिस्थिति, देश के अनुरूप होता रहता है। परिवर्तन की इस धारा से आश्रमव्यवस्था भी प्रभावित हुए बिना न रह सकी। जैसे-जैसे समाज की परम्पराओं, मान्यताओं, रीति-रिवाजों में परिवर्तन हुआ वैसे-वैसे व्यक्ति की बौद्धिक क्षमता में भी परिवर्तन होता गया। फलतः आश्रमव्यवस्था का स्वरूप परिवर्तित होता रहा। वर्तमान भारतीय समाज में तो आश्रमव्यवस्था का मूलभूत स्वरूप परिवर्तित हो चुका है। आयु के अनुसार आश्रमों में प्रवेश देखने को नहीं मिलता। समर्थ कुटुम्ब वाले भी वानप्रस्थ अथवा संन्यास नहीं लेते और न ही अन्य आश्रमों के भरण-पोषण की दृष्टि से आय-व्यय करते हैं जबकि यह व्यवस्था व्यक्तित्व निर्माण के साथ-साथ समाजकल्याण के लिए भी थी।

मनुस्मृति काल में बालक की शिक्षा का प्रारम्भ ब्रह्मचर्याश्रम में उपनयन संस्कार से होता था। इस आश्रम में न केवल शिक्षा अपितु बालक के सम्पूर्ण व्यक्तित्व के विकास पर भी बल दिया जाता था। शिष्य गुरुगृह में रहकर विद्यार्जन करता था। साथ ही गुरु के अनुशासन में इन्द्रिय-संयम (ब्रह्मचर्य), बौद्धिक (वेद-ग्रहण), आत्मिक (व्रतादेशन) उन्नति के लिए अनुशासन, कर्तव्यपालन, नैतिकता, आचरण की शुद्धता, पवित्रता आदि गुणों को ग्रहण करता था और चरित्र-निर्माण करते हुए आदर्श स्थिति को प्राप्त करता था। आज शिक्षा, शिक्षा के माध्यमादि सभी परिवर्तित हो चुके हैं। आधुनिक शिक्षण सस्थानों-विद्यालयों, महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों तथा संस्थानों आदि में इस प्रकार के उपनयन का सर्वथा अभाव है,

किन्तु जहाँ परम्परागत ढंग से गुरुकुल प्रणाली के माध्यम से शिक्षा दी जाती है वहाँ बालक की शिक्षा का प्रारम्भ अभी भी उपनयन संस्कार से होता है।

पाश्चात्य मनोविज्ञान ने हमें पशु प्रवृत्तियों का गुलाम बनाकर स्वच्छन्द जीवन जीने, अनैतिक आचरण करने की खुली छूट दे दी किन्तु भारत के प्राच्य स्मृतिकारों, मनीषियों ने मानव मात्र के लिए कर्म-प्रारब्ध संस्कार, मन-बुद्धि-चित्त अहंकार रूपी अन्तः करण चतुष्टय की व्याख्या कर विश्व मानवता की सबसे बड़ी सेवा की। संस्कार की अवधारणा आत्मा की नश्वरता व जीवन के सतत् अखण्ड रूप पर विश्वास करती है। भारतीय मनोविज्ञान अन्तः करण चतुष्टय की अवधारणा को मानता है व उसके चार भाग बताता है - मनु, बुद्धि, चिन्त, अहंकार। मन व बुद्धि चेतन के अंग हैं तथा चित्त व अहंकार अचेतन भाग में विराजमान हैं। संस्कारों का मुख्य उद्देश्य ही आध्यात्मिक जीवन और धार्मिक भावना की वृद्धि करना है।

पंचम अध्याय “स्मृति साहित्य में अपराध एवं दण्ड विधान एक अनुशीलन” प्राचीन स्मृतिकारों ने विहित विधानों के विरुद्ध आचरण करने पर अपराध के अनुरूप मानव कल्याण की भावना को ध्यान में रखते हुए समुचित दण्ड विधान का निर्माण किया है।

सामाजिक जीवन की सफलता को ध्यान में रखते हुए विपुल साहित्य के रूप में स्मृति ग्रन्थों की रचना हुई। स्मृतियों में तीन मुख्य विषयों का वर्णन है-

(1) आचार

(2) व्यवहार

(3) प्रायश्चित

प्रायश्चित वर्ग में अपराध एवं पाप मुक्ति के उपाय हैं-

स्मृतियों तथा अन्य राजनीतिक ग्रन्थों ने अपराध विषय पर विस्तृत व्याख्या प्रस्तुत की है। किसी समाज में, किसी व्यक्ति के द्वारा उस समाज की परम्पराओं, रीतियों के विरुद्ध किया गया कोई ऐसा कृत्य जिससे उस समाज को हानि हो, सामाजिक अपराध की श्रेणी में आता है। संक्षेप में बिना किसी के द्वारा सूचित हुए, अभियोग या अर्जी उपस्थित किए बिना प्रपंचो को अपराध का नाम दिया जाता है।

डॉ. पी.वी. काणे के अनुसार-व्यवहार पद का अर्थ है झगड़े, विवाद या मुकदमें का विषय।

अपराध एवं दण्ड का सम्बन्ध मानवीय स्वभाव से है। इस संसार में पूर्णतया पवित्र मनुष्य दुर्लभ है। क्योंकि काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह और मात्सर्य मनुष्य के

प्रबल शत्रु है। इन षडरिपुओं के वशीभूत होकर मनुष्य नाना प्रकार के आपराधिक कृत्यों में लिप्त हो जाता है। प्राचीन भारतीय आचार्यों ने मानव समाज की आपराधिक निवृत्ति हेतु शक्ति की आवश्यकता महसूस की।

सर्वप्रथम शतपथ ब्राह्मण में दण्ड का प्रयोग शक्ति के अर्थ में किया गया। इससे पूर्व वेदों में कई स्थानों पर दण्ड शब्द का प्रयोग हुआ है। वहाँ उसे न्यायिक प्रशासन के रूप में प्रयुक्त नहीं किया गया। धर्मसूत्रकारों के अनुसार दण्ड का उद्देश्य समाज की यथास्थिति की रक्षा करना है। दण्ड की आवश्यकता संसार को धर्ममय बनाने के लिए है। डॉ. सुरेन्द्र नाथ मित्र के अनुसार “बाह्य आक्रमणों से एवं दुष्ट पुरुषों से समाज का संरक्षण केवल समुद्देश्यों एवं सद्भावना से नहीं हो सकता था। इसलिए प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में यह कहा गया है कि राजा की सहायता के लिए परमात्मा ने दण्ड की सृष्टि की तथा राजा दण्ड की सहायता से संसार को योग्य मार्ग पर बनाये रखता है। यदि दण्ड न हो तो संसार में कोई भी अपने धर्म पर स्थिर नहीं रहेगा तथा सारा समाज नष्ट हो जाएगा।

मनुस्मृति में भी दण्ड को सर्वोपरि मानते हुए उल्लेख है कि दण्ड ही राजा है, वहीं पुरुष है, वहीं नेता है, वहीं शासक भी है। वहीं दण्ड चारों आश्रमों के धर्म के विचलन का निरोधक भी है।

“उपर्युक्त विवरणों और अध्ययन से स्पष्ट होता है कि वर्तमान कालीन दण्ड व्यवस्था तत्कालीन प्रायश्चित्त व्यवस्था से पूर्णतः भिन्न है। जिसके अन्तर्गत समाज को अपराधमुक्त बनाने, शान्ति, व्यवस्था, स्थापित करने तथा अपराधियों को सुधारने के लिए समुचित कानूनों द्वारा न्याय प्रशासन को प्रभावशाली बनाया गया है। लेकिन अपराधों का निवारण केवल सामाजिक विधिक अथवा नैतिक बन्धन मात्र लगा देने से नहीं हो सकता, जब तक कि समाज का प्रत्येक व्यक्ति अपना कर्तव्य समझकर स्वेच्छा से उन्हें न करने का दृढ़ संकल्प नहीं करता और समाज में बढ़ते अपराधों की रोकथाम में सहयोग नहीं देता, तभी उनकी आपराधिक प्रवृत्तियों और अपराधों में निवृत्ति सम्भव है।”

जब हम अपराध और समाज की बात करते हैं, तो अपराध और समाज दोनों के बारे में जानना आवश्यक हो जाता है। अपराध प्राचीन काल से ही मानव सभ्यता का हिस्सा रहा है।

स्मृतिकारों ने भी तत्कालीन समाज में चोरी, हमला, डकैती, धोखाधड़ी, व्यभिचार, हत्या, बलात्कार जैसे जघन्य अपराधों का उल्लेख किया तथा अपराध की

प्रकृति के अनुसार दण्ड व्यवस्था का निर्माण किया। तब से अब तक अपराध शब्द का दायरा आधुनिक रूप में बदल गया।

दण्ड की स्थापना का मुख्य उद्देश्य उन मनुष्यों के जीवन में अनुशासन लाना है जो स्वभाव से दुष्ट और भ्रष्ट हैं। मनु के अनुसार केवल राजा ही सम्पूर्ण मानव जाति की रक्षा कर सकता है और इसके लिए राजा दण्ड का साधन रूप में उपयोग करता है। धर्म की रक्षा के लिए दण्ड ही प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से सम्पूर्ण समाज पर नियंत्रण रखता है। विकास के किसी भी क्रम में समाज अपराध की समस्या से मुक्त नहीं हो सका इसलिए दण्ड की अवधारणा के पीछे का दर्शन न केवल पीड़ित को न्याय प्रदान करना है, बल्कि समाज में सुरक्षा बनाए रखना भी है।

समय में किसी भी प्रकार के शास्त्र विरुद्ध कार्य को पाप के समरूप माना जाता था। व्यक्ति द्वारा कृत हिंसात्मक कार्य किसी भी स्थिति में क्षम्य नहीं हो सकते थे।

अपराधी का दोष या उसकी निर्दोषता प्रायश्चित आदि साधनों से ही सिद्ध होती थी। उस समय यह सामान्य मान्यता थी कि व्यक्ति के पाप उसके पुनर्जन्म पर दुष्प्रभाव डालते हैं, इसलिये व्यक्ति में अपराध के प्रति भय भी बना रहता था।

षष्ठ अध्याय स्मृति साहित्य में वर्णित परिवार एवं समाज व्यवस्था की वर्तमान उपादेयता

भारतीय सामाजिक व्यवस्था का आशय भारतीय समाज में पाई जाने वाली उस सन्तुलित या व्यवस्थित स्थिति से है जो कि समाज की विभिन्न निर्णायक ईकाईयों के अपने-अपने स्थान पर रहते हुए पूर्व निश्चित कार्यों को करने के फलस्वरूप उत्पन्न होती है। इस दृष्टिकोण से भारतीय सामाजिक व्यवस्था उस संगठन की ओर संकेत करती है जिसके अन्तर्गत भारतीय जीवन के स्थापित तथा मान्य उद्देश्यों एवं आदर्शों की प्राप्ति संभव होती है। इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए भारतीय समाज ने विभिन्न उप-व्यवस्थाओं की स्थापना की जिनकी उपादेयता वर्तमान में भी सर्वोपरि है, जैसे- वर्णव्यवस्था, आश्रम व्यवस्था, संयुक्त परिवार इत्यादि।

स्मृतिकालीन संयुक्त परिवार की वर्तमान में उपादेयता

परिवार मानव समाज की आधारशिला है। यह समाज की विद्यमानता और निरन्तरता के लिये अनिवार्य है। यह एक सार्वभौमिक संस्थान है जो प्रत्येक समाज में चाहे वह आदिम हो या आधुनिक पाई जाती है। जहाँ पाश्चात्य समाजों में नाभिक

अथवा केन्द्रीय परिवार की धारणा व्याप्त है। वहाँ भारत में सदियों से संयुक्त परिवार अपना महत्व रखते आ रहे हैं जो आज भी कायम है।

समाज के सांस्कृतिक और सामाजिक मूल्यों को बनाए रखने और विकसित करने में परिवारों की महत्वपूर्ण भूमिका को ध्यान में रखते हुए संयुक्त राष्ट्र महासभा ने दिसम्बर 1989 में पारित एक प्रस्ताव में 'अन्तर्राष्ट्रीय परिवार वर्ष घोषित किया। 1993 में महासभा ने संकल्प लिया कि हर साल 15 मई को "अन्तर्राष्ट्रीय परिवार दिवस" के रूप में मनाया जाना चाहिए। वैश्विक स्तर पर लिया गया यह निर्णय हमारी धर्मशास्त्रीय सामाजिक-पारिवारिक परम्पराओं के पक्ष में मजबूत कदम साबित हुआ। हमारे समाज-शिल्पियों ने 'परिवार संस्थान' की नींव में ऐसे अमृततत्वों के बीज वपन कर दिए हैं जिनके कारण काल के अनन्त प्रवाह में भी भारतीय परिवार अपना अस्तित्व सर्वदा कायम रखेगा। आवश्यकता इस बात की है कि आज की परिवर्तित परिस्थितियों में परिवार संस्था को पुनर्गठित करके समाज की इस जीवनदायिनी धारा को अधिक शक्तिशाली और समृद्ध बनाया जाए।

भारतीय समाज और संस्कृति विश्व के प्राचीनतम समाजों और संस्कृतियों में से एक है जो अनेक प्राकृतिक थपेड़ों एवं परिवर्तन की भीषण लहरों से सर्वाधिक प्रभावित रहने पर भी अपने अस्तित्व को सफलतापूर्वक बनाए हुए है। यद्यपि समयानुसार भारतीय समाज एवं संस्कृति में परिवर्तन आया है, लेकिन फिर भी अपनी आधारभूत विशेषताओं को बनाये रखा है।

उपसंहार

संसार के अनेक भौतिकवादी समाज भी अब इस तथ्य को स्वीकार करने लगे हैं कि सामान्य कल्याण को प्रोत्साहन दिये बिना समाज को सुरक्षित नहीं रखा जा सकता। सोरोकिन जैसे विचारकों ने भी अपनी मृत्यु के कुछ वर्ष पूर्व से आध्यात्मिक पुनर्निर्माण की बात की थी।

भारतीय समाज और संस्कृति जीवन्त है। हमारे ऋषि-मुनियों ने ऐसी सामाजिक व्यवस्था की स्थापना की जिसमें मनुष्य के चरित्र निर्माण से लेकर उसके जीवन के समस्त रचनात्मक पहलुओं पर न केवल गंभीरता के साथ विचार किया गया, अपितु आदर्शों एवं सुकृत्यों द्वारा उन्हें मूर्त रूप में परिणित भी किया गया। इसलिए हमारे समाज को अद्वितीय एवं विविधतापूर्ण सनातन समाज माना जाता है।

वर्तमान संक्रमणकालीन समय में भी वैश्विक स्तर पर योग, आयुर्वेद, सामाजिक व्यवस्था, पारिवारिक मूल्य, अध्यात्म, पर्यावरण सुरक्षा, स्त्री सम्मान तथा

वसुधैव कुटुम्बकम् की अवधारणा का बोलबाला है। जिससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक काल हो या स्मृतिकाल हो या वर्तमान युग हो सभी में सार्वभौमिक मूल्यों की महती उपयोगिता रही है और हमेशा बनी रहेगी। अब आवश्यकता है तो हमारी प्राचीन समृद्ध परम्पराओं को आधुनिकता के साथ वैज्ञानिकता के साँचे में ढालने की।

इस शोध प्रबन्ध में स्मृतिकालीन परिवार एवं समाज की अनुशीलन एवं अनुशासित परम्परा के साथ एक झँकी परिस्थिति, परिवर्तन, परम्परा और प्रगति की भी है। भारतीय संस्कृति एवं सामाजिक व्यवस्था भौतिकवाद तथा व्यक्ति वादिता के विपरीत आध्यात्मिकता से ओत-प्रोत है। स्मृतिकालीन आर्य परम्परा का सतत् विस्तार ही भारतीय समाज का उद्देश्य है। परम्परागत सामाजिक एवं पारिवारिक व्यवस्था एक आदर्श भारतीय जीवन दृष्टि का निरूपण करती है। प्राचीन भारतीय विचारकों ने व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक, सामाजिक और आध्यात्मिक विकास हेतु चारों आश्रमों की व्यवस्था की थी। मेरा शोध ग्रन्थ वर्तमान समाज के लिए प्रेरणा स्रोत बनेगा, जिससे सामाजिक परिवर्तन होगा। ऐसा मेरा दृढ़विश्वास है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

मूल संस्कृत ग्रन्थ

क्रं. सं.	ग्रन्थ का नाम	लेखक / सम्पादक	प्रकाशन वर्ष
1.	अथर्ववेद संहिता भाषाभाष्य (4 भाग)	जयदेव शर्मा	आर्य साहित्य मण्डल लि. अजमेर 1981
2.	ऋग्वेद सुबोधभाष्य (4 भाग)	श्री पाद दामोदर सातवलेकर	स्थाध्याय मण्डल पारडी 1993
3.	अष्टादश स्मृति	प.मिहिरचन्द्र (सम्पादक)	राष्ट्रीय संस्कृत स्थान नई दिल्ली 1991
4.	आपस्तम्ब धर्म सूत्रम्	डॉ. उमेश चन्द्र पाण्डेय	चौखम्भा संस्कृत संस्थान वाराणसी 2006
5.	गौतम धर्मसूत्र	डॉ. उमेश चन्द्र पाण्डेय	चौखम्भा संस्कृत संस्थान वाराणसी 2005
6.	चतुर्दश चिन्तामणि (भाग - 6)	हेमाद्रि विरचित	चौखम्भा संस्कृत संस्थान वाराणसी 1085
7.	कामसूत्रम्, वात्स्यायनमुनि	पारसनाथ द्विचैरी	चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी 2010
8.	कौटिलीय अर्थशास्त्र	वांचस्पति गैरोला	चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी 2009
9.	धर्मशास्त्र का इतिहास (भाग 5)	डॉ. पाण्डुरंग वामन काणे	उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान लखनऊ 1992
10.	धर्मशास्त्र का इतिहास 'धर्महुम	राजेन्द्र प्रसाद पाण्डेय	चौखम्भा विद्याभवन वाराणसी 1996

11.	धर्मसिन्धु	रविदत्त शास्त्री	चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान दिल्ली 2009
12.	निर्णय सिन्धु	कमलाकर भट्ट	चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी 2009
13.	पाराशर स्मृति	सं. शिवदत्त मिश्र	ठाकुर दास व सन्स बुम्सेलर वाराणसी 1969
14.	बीस स्मृतियाँ (भाग-1-2)	श्री राम शर्मा	संस्कृति संस्थान बरेली 1986
15.	बृहस्पति स्मृति	रंगास्वामी आंयगर	गायकवाड ओरियन्टल सीरिज, बहीदा, 1941
16.	मनुस्मृति	मेघातिथि भाष्य मन सुखराय मोर	कलकत्ता, पूर्वाद्ध 1967 उत्तरार्थ 1971
17.	मनुस्मृति	पण्डित जर्नादन झा	हिन्दी पु. एजेन्सी कलकता 1959
18.	मनुस्मृति	श्री हरिगोविन्द शास्त्री	चौखम्बा सीरीज ऑफिस वाराणसी, चतुर्थ संस्करण 1979
19.	मनुस्मृति	अनु. स्वामी दर्शनानन्द	मुराराबाद 1984
20.	मनुस्मृति	मनुस्मृति डॉ. कृष्णकान्त त्रिपाठी	कानपुर 1990
21.	मनुस्मृति	पं. परमेश्वर भट्ट	चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान दिल्ली, 2015

22.	मनुस्मृति	डॉ. रामचन्द्र वर्मा शास्त्री	प्रभात पेपर वेक्स नई दिल्ली 2016
23.	याज्ञवल्क्य स्मृति (अपराक टीका)	स. कैलाश नाथ द्विवेदी	आनन्द आश्रम, पूना भाग (1-2) मिताक्षरा बाल भट्टी अपराके टीका निर्णय सागर प्रेस बम्बई 1940
24.	स्मृति चन्द्रिका (भाग 1-3)	वेदाभट्ट विरचित जगन्नाथ, रघुनाथ	चानपुरा बम्बई 1918
25.	स्मृतानां समुच्चय आनन्दाश्रम ग्रन्थावली (27 स्मृतियाँ)	विनायक गणेश आम्टे	आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना वितीय स. 1920
26.	स्मृति सन्दर्भ (1-6)	श्री नांगमणी शर्मा	माग प्रकाशन दिल्ली 1988
27.	सप्तऋषि स्मृति समुच्चय	प्रो. प्रभाकर शास्त्री	रचना प्रकाशन, जयपुर 2005
28.	विष्णु स्मृति	बैजयन्ती टीका सहित जुलियस जोली	ची. सं. सी. वाराणसी 1962

सहायक पुस्तके

क्रं. स.	संस्कृत का ग्रंथ	लेखक सम्पादक	प्रकाशन वर्ष
1.	धर्मसूत्रीय आचारसंहिता	डॉ. नरेन्द्र कुमार	विधानिधि प्रकाशन दिल्ली 1999
2.	प्रमुख धर्मसूत्रों एवं स्मृतियों में प्रायश्चित्त विधान	डॉ. शिखा आर्य	न्यू भारतीय बुक कॉर्पोरेशन दिल्ली 2007
3.	प्रमुख स्मृतियों का अध्ययन	लक्ष्मीदत्त ठाकुर	हिन्दी समिति लखनऊ 1965
4.	प्राचीन भारतीय शासन पद्धति	अनन्त सदाशिव अल्वेकर	भारती भण्डार, इलाहाबाद 1971
5.	प्राचीन भारत का राजनैतिक एवं सांस्कृतिक इतिहास	रति भानुसिंह नाहर	किताब महल, इलाहाबाद 1971
6.	प्राचीन भारत का सामाजिक इतिहास	जयशंकर मिश्रा	बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी पटना, द्वितीय संस्करण 1973
7.	प्राचीन भारत की सामाजिक संस्कृति	डॉ. रामजी उपाध्याय रामनारायण लाल बैनी	माधव, इलाहाबाद, प्रथम स. -1963
8.	प्राचीन भारतीय संस्कृति	बी. एन लूनिया	लक्ष्मीनारायण अग्रवाल आगरा तृतीय 1972

9.	भारतीय संस्कृति का इतिहास	डॉ. नरेन्द्र देवासिह	साहित्य भण्डार मेरठ, 1974
10.	भारतीय संस्कृति का विकास	वैदिक धारा मगलदेव शास्त्री	वाराणसी 1956
11.	भारतीय संस्कृति की अवधारणाएँ	एन. ए. निगम	राधाकृष्ण प्रकाशन सई दिल्ली 1971
12.	मनुस्मृति में राजतन्त्र	कौशल किशोर मिश्र	संकटमोचन फाण्डेशन वाराणसी 1980

संबंधित पुस्तके

क्रं. स.	सम्पादक लेखक	पुस्तक का नाम	प्रकाशन वर्ष
1.	शम्भुरत्न	त्रिपाठी भारतीय सामाजिक संरचना और संस्कृति	महल इलाहबाद 1952
2.	सत्यमित्र दुबे	मनु की समाज व्यवस्था	मैक. ई. लि. दिल्ली
3.	सुरेश नारग	धर्मशास्त्र: आधुनिक सन्दर्भ में	नाग पब्लिशर्स, दिल्ली 1980
4.	एम. विण्टर विट्ज	प्राचीन भारतीय साहित्य का इतिहास	
5.	अच्युतानन्द बिल्डाल	प्राचीन भारतीय स्मृतिकार और नारी	चौखम्बा वाराणसी 1947
6.	डॉ. प्यारेलाल चौहान	स्मृति युगीन शासन सुरक्षा	नाग प्रकाशन, दिल्ली 1991

7.	डॉ. श्यामलाल पाण्डेय	मनु का राजधर्म	पवन प्रिंटिंग प्रेस, लखनऊ
8.	ऊमारेण व राजकुमार अवस्थी	आधुनिक भारतीय सामाजिक एवं राजनैतिक चिन्तन	रिजर्व पब्लिकेशन्स जयपुर 1988
9.	डॉ. किरण टण्डन	भारतीय संस्कृति	ईस्टर्न बुकलिंगर्स दिल्ली 1984
10.	डॉ. गीता रानी अग्रवाल	धर्मशास्त्रों का समाज दर्शन	चौखम्बा वाराणसी 1983
11.	डॉ. गुप्ता	याज्ञवल्क्य स्मृति का समीक्षात्मक अध्ययन	ईस्टर्न बुकलिंगर्स दिल्ली
12.	इरावती कर्वे	हिन्दु समाज और जाति व्यवस्था	ओरिएण्ट लॉन्गमैन नई दिल्ली 1975
13.	गुप्ता व शर्मा	सामाजिक नियन्त्रण तथा परिवर्तन	साहित्य भवन पब्लिश आगरा 1952
14.	जी. एस. धुरिये	कास्ट एण्ड क्लास इन इण्डिया	पापुलर प्रकाशन आगरा 1952
15.	मोतीलाल गुप्ता	भारतीय सामाजिक संस्थाएँ	रा. हिन्दी ग्रन्थ अकादमी जयपुर 1973
16.	मुखर्जी व अग्रवाल	भारतीय सामाजिक व्यवस्था	विवेक प्रकाशन दिल्ली 2002
17.	डॉ. मीना शुक्ला	स्मृति ग्रन्थों में वर्णित समाज	ईस्टर्न बुक लिंगर्स दिल्ली 2000
18.	डॉ. मनोज कुमार दुबे	स्मृतियों के परिप्रेक्ष्य में	मनीष प्रकाशन

शब्दकोश एवं कौशग्रन्थ -

1. अमरकोश (अमरसिंह) स. टी. गणपति, शास्त्री अनन्तशयन सस्कृत ग्रन्थावली त्रिवेन्द्रम् 1916
2. अष्टाध्यायी (पाणिनि) सूत्रपाठ, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, 1930
3. संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी (मोनियर विलियम्स) मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली 1971
संशोधित संस्करण - परिमल पब्लिकेशन्स दिल्ली, 2008
4. मानविकी परिभाषिक कोश डॉ. नगेन्द्र, राजकमल प्रकाशन दिल्ली, 1966।
5. शब्दकल्पद्रुम - राधाकान्तदेव पाथुरिया स्ट्रीट कोलकाता, 1834।
6. संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ द्वारकाप्रसाद शर्मा, रामनारायण लाल बेनी प्रसाद, इलाहाबाद 2024 एवं पुनसंपादित संस्करण - न्यू भारतीय बुक कार्पोरेशन, न्यू चन्द्रावल दिल्ली (2002)
7. संस्कृत हिन्दी कोश: वामन शिवराम आष्टेट (आष्टेट, नाग प्रकाशन, दिल्ली 1995
8. हिन्दी विश्वकोष - संया नगेन्द्रनाथ वसु, विश्वकोश लेन, कलकत्ता 1926
9. हिन्दी साहित्य कोश संया धीरेन्द्र वर्मा दिल्ली 1969
10. हलायुधकोश - उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान लखनऊ 1972
11. हिन्दू धर्मकोश - डॉ. राजबली पाण्डेय, उत्तरप्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ 2003

पत्र - पत्रिकाए

1. वागर्थ (मासिक) - भारतीय भाषा परिषद् प्रकाशन, हिन्दुस्तान टाइम्स अपार्टमेन्ट, दिल्ली
2. आलोचना (मासिक) राजकमल प्रकाशन, प्रा. लि. फैजाबाद, दिल्ली।
3. लहर (मासिक) - संपा. जैन प्रकाशन, मनमोहिनी, अजमेर।
4. संस्कृत-मञ्जरी - दिल्ली संस्कृत अकादमी, दिल्ली।
5. भारती (मासिक) - संस्कृत भारती भवन, जयपुर।
6. संस्कृत प्रभा (मासिक) साहित्य अकादमी, नई दिल्ली।
7. स्वरमंगला - संस्कृत साहित्य अकादमी, गणगौरी बाजार जयपुर।
8. सागरिका (मासिक) सागर विश्वविद्यालय, सागर।
9. गाण्डीवम् (मासिक) सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी।

10 ज्ञान गरिमा सिन्धु (त्रैमासिक) वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग, मानव संसाधन विकास मन्त्रालय नई दिल्ली।

**अनुसंधान प्रकाशन
संदर्भित पत्रिकाओं में**

Published Research Paper-1



Gyanshauryam, International Scientific Refereed Research Journal
© 2019 GISRRJ | Volume 2 | Issue 2 | ISSN : 2582-0095

स्मृति कालीन समाज एवं वर्तमान समाज की समीक्षा

प्रभा चतुर्वेदी

शोध छात्रा, संस्कृत विभाग, राजकीय महाविद्यालय, कोटा, राजस्थान।

सारांश- आधुनिक भारत में वर्णव्यवस्था का नहीं जातिवाद का प्राबल्य है। कतिपय सन्दर्भों में यह पहले की अपेक्षा अधिक संगठित तथा आक्रामक हो चुकी है। आज यह अपने जिस उग्र रूप में है उसे सहजतापूर्वक समाप्त तो नहीं किया जा सकता, क्योंकि कुछ लोग इसे हितकर तो कुछ अहितकर मानते हैं, परन्तु इसके दोषों को दूर करने का प्रयास अवश्य करते रहना चाहिये। डॉ. मजूमदार का मत है कि “अस्पृश्यता एक जाति का दूसरी जाति द्वारा शोषण है और ऐसी ही अन्य इस प्रथा की हानिकारक सहयोगी प्रथाओं को समाप्त कर देना चाहिये, न कि सम्पूर्ण व्यवस्था को। क्षतग्रस्त विषाक्त अंगुली को काटना चाहिये न कि पूरे हाथ को। यदि हम जनतंत्र को सुदृढ़ करना चाहते हैं तो जातिगत रूढ़ियों को शिथिल करना होगा और योग्यता एवं समानता को महत्व देना होगा।

मुख्य शब्द - वर्ण, व्यवस्था, सदस्य, कर्तव्य, स्मृति, समाज, जातिप्रथा, भारतीय, हिन्दू, धर्म।

आधुनिक समय में वर्ण- व्यवस्था का स्थान 'जातिप्रथा' ने ले लिया है। आज भारतीय हिन्दू समाज चार वर्गों में नहीं वरन् कई हजार जातियों तथा उपजातियों में विभाजित है। यह व्यवस्था भारतवर्ष में ही पाई जाती है अन्य देशों में नहीं। यहाँ पर ध्यातव्य है कि यह व्यवस्था भारतवर्ष में ही क्यों पाई जाती है? तो इसका कोई एक कारण नहीं है अपितु अनेक कारण बतलाए जाते हैं जो सदियों से इसे पोषित करते आ रहे हैं, यथा-कालान्तर में परम्परागत चिन्तन के फलस्वरूप इसका विकास हुआ, ब्राह्मणों ने स्वार्थवश इसे बनाया, विभिन्न प्रजातियों के मिश्रण, अनुलोम-प्रतिलोम विवाह, कार्यक्षेत्र को अपनाने तथा भौगोलिक क्षेत्रों में बसने के कारण आदि।¹ हर्टन ने भारत में जातिप्रथा की उत्पत्ति का प्रमुख कारण बताते हुए कहा है कि "भारतीय जातिप्रथा अनेक भौगोलिक, सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक एवं आर्थिक कारकों के पारस्परिक सम्बन्धी कार्यों का प्राकृतिक फल है। ये कारण इस प्रकार सम्बन्धित अन्य कहीं नहीं पाये जाते हैं।"²

इस व्यवस्था के अनुसार व्यक्ति जिस किसी जाति विशेष में जन्म लेता है वही उसकी जाति मान ली जाती है। यदि एक व्यक्ति ब्राह्मण जाति में उत्पन्न हुआ है तो जीवनभर ब्राह्मण ही रहेगा। इसी प्रकार शूद्र आजीवन शूद्र ही रहेगा और समाज में वह निम्न स्तर ही प्राप्त करेगा, चाहे उसके कार्य कितने ही अच्छे क्यों न हो, परन्तु वह संवैधानिक धर्मनिरपेक्षता के सिद्धान्त के अनुसार किसी भी धर्म को अपना सकता है।³ इसके अतिरिक्त इस व्यवस्था के अन्तर्गत अपनी जाति से अलग जाति में विवाह करना धार्मिक अपराध माना जाता था और ऐसे दम्पती के बच्चों की गणना 'वर्णसंकर' सन्तान के रूप में की जाती थी।⁴ आज वर्णसंकर जातियों की संख्या अनगिनत है, क्योंकि समाज में अन्तर्जातीय विवाह प्रारम्भ से ही होते रहे हैं चाहे

समाज ने उनका विरोध ही किया हो। इसलिये जाति को सीमित मर्यादा में नहीं बांधा जा सकता। जहाँ पुरातन विचारधारा प्रचलन में है वहीं पर रक्त की शुद्धता देखी जा सकती है, लेकिन शहरी वातावरण में यह लुप्तप्रायः है।

आज अध्यापक, वकील, क्लर्क, डॉक्टर, इंजीनियर आदि जो भी व्यवसाय करते हैं, लेकिन ये अपने कार्यक्षेत्र से नहीं अपितु जाति से पहचाने जाते हैं। इससे पूर्व वर्ण के आधार पर जाना जाता था। आज परिवेश के परिवर्तित होने पर जातिप्रथा बदली नहीं अपितु परिस्थितियों के अनुसार उसने नवीन रूप धारण कर लिया है।

वर्तमानकाल में जाति व्यवस्था को चार भागों में वर्गीकृत किया गया है—(1) उच्च जातियाँ (2) मध्यम जातियाँ (3) निम्न जातियाँ और (4) अति निम्न जातियाँ। उच्च जातियों को सामान्य वर्ग, मध्यम जातियों को अन्य पिछड़ा वर्ग, निम्न जातियों को अनुसूचित जाति तथा अति निम्न जातियों को जनजातियों की श्रेणी में रखा गया है। इनमें से जनजातियाँ वे अविकसित जातियाँ हैं जो जंगलों, पहाड़ियों, घाटियों, तराई क्षेत्रों आदि में निवास करने वाली हैं। इन्हें आदिवासी, वन्य जाति, वनवासी, आदिम जाति भी कहा जाता है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 342 के अन्तर्गत इन जातियों को अनुसूचित जनजाति के रूप में निर्दिष्ट किया गया है।⁵ इस प्रकार समग्र भारत में हजारों जातियों-उपजातियों⁶ का निवास है जिनकी तालिका निम्न है - (देखें तालिका अग्रिम पृ)

तालिका में उद्धरणस्वरूप दी गई उच्च जातियाँ सामान्यतौर पर प्राप्त ब्राह्मण उप जातियाँ हैं। मध्यम जातियों और निम्न जातियों में दिल्ली राज्य की पूर्ण केन्द्रीय सूची तथा अति निम्न जातियों में मध्य प्रदेश राज्य की जातियाँ दी गई हैं। अन्य राज्यों की जातियों का विवरण परिशिष्ट में दिया गया है।'

उपर्युक्त जातियों और जनजातियों के साथ-साथ भारत में कई धर्म और सम्प्रदाय भी हैं, यथा-मुसलमान, सिक्ख, ईसाई आदि। इनमें जाति एवं वर्ण को कोई स्थान नहीं दिया गया है। ये सामूहिक समानता पर बल देते हैं। फिर भी इनमें किसी-न-किसी रूप में जातीय-विभेद पाया जाता है। जो इस प्रकार है -

उच्च जातियाँ (सामान्य वर्ग) आज ब्राह्मण जाति (वर्ण में नहीं) ⁷ में प्राप्त उपजातियाँ	मध्यम जातियाँ (अन्य पिछड़ा वर्ग) दिल्ली राज्य ⁸	निम्न जातियाँ (अनुसूचित जाति) दिल्ली राज्य ⁹ , अनुसूचित जातियाँ और अनुसूचित जनजातियाँ सूची (उपान्तरण) आदेश, 1956	अति निम्न जातियाँ (अनुसूचित जनजाति) मध्य प्रदेश राज्य ¹⁰ , अनुसूचित जातियाँ और अनुसूचित जनजातियाँ आदेश (संशोधन) अधिनियम, 1976
1. वसिष्ठ 2. हुसेनी 3. चितपावन 4. शक/गौड़ 5. भार्गव 6. पुष्करणी	1. अब्बासी, भिश्ती, सक्का 2. अगरी, खरवाल 3. अहीर, यादव, ग्वाल 4. अरैन, रायी, कुजड़ा 5. बटई, बरई, खाती,	1. आदि-धर्मी 2. अगरिया 3. अहेरिया 4. बलाई 5. बंजारा 6. बावरिया	1. अगरिया 2. आन्ध 3. बैगा 4. भैना 5. भारिआ भूमिआ, भुईहार भूमिया, भूमिआ, भारिया, पालिहा, पांडो

7. कन्नौजिया	तख्मन, जागड़ा-ब्राह्मिन	7. बाजीगर	6. भत्तरा
8. निरोला	विश्वकर्मा, रामगढ़िया	8. भंगी	7. भील, भिलाला, बरेला, पटलिया
9. मैथिल	पाँचाल, धीमान्	9. भील	8. भील मीना
10. मालवीय	6. बड़ी	10. चमार, चंवर चमार,	9. भुजिया
11. सारस्वत	7. बैरागी	जटिया या जाटव चमार,	10. बीआर, बीयार
12. द्विवेदी	8. बैरवा, बेरवा	मोची, रामदासिया, रवि	11. बिंझवार
13. त्रिवेदी	9. बरई, बरी, तम्बोली	दासी, रैदासी, रेहगर या	12. बिरहुल, बिरहोर
14. चतुर्वेदी	10. बौरिया/बावरिया	रैगर	13. दमोर, दामरिया
15. झा	11. बाजीगर, नट, कलंदर	11. चोहड़ा (स्वीपर)	14. धनवार
16. ओझा	12. भरभूजा, कनु	12. चुहड़ा (बाल्मीकि)	15. गडाबा, गडबा
17. पाठक	13. भाट	13. धनक या धनुक	16. गोंड, अरख, अरख, अगरिया, असुर,
18. उपाध्याय	14. भाटिआरा	14. धोबी	बड़ी मारिया, बड़ा मारिया, भटोला, भीमा,
19. अवस्थी	15. चाक	15. डोम	भुता, कोइलाभुता, कोलियाभुती भार,
20. देशस्थ	16. चिप्पी, टोंक, दर्जी,	16. घर्मांमी	बिसोनहान मारिया, छोटा मारिया, दंडामी
21. विसेन	इद्रिशी	17. जुलाहा (वीवर)	मारिया, धुरु, धुरवा, धोबा, धुलिया, डोरला,
22. शुक्ला	17. डकौत, प्रादे	18. कबीर पंथी	गयकी, गट्टा, गट्टी, गैटा, गोवारी, हिल
23. वाजपेयी	18. धीनवर, झीनवर,	19. कछन्धा	मारिया, कंडरा, कलंगा, खटोला, कोइतर
24. मिश्र	निषाद, केवट/मल्लाह,	20. कंजर या गियरह	कोया, खिरवार, खिरवारा, कुचा मारिया,
25. कोकणस्थ	कहर, कश्यप	21. खटीक	कुचाकी, मारिया, माडिया, मारिया, माना,
26. पाराशर	19. धोबी, कस्सर	22. कोली	मन्नेवार, मोध्या, मोगिया, मोध्या, मुडिया,
27. व्यास	20. धुनिया, पिंजारा,	23. लालबेगी	मुरिया, नगारची, नागवंशी, ओझा, राज
28. गोसायनी	कंदेरा-करन, धुन्नेवाला	24. मदारी	गोंड, सोन्झारी झरेकाथाटिया, थोट्या, वड़े
29. गिरि पर्वत	नद्वपफ, मन्सूरी	25. मल्लाह	मारिया, डरोई
30. पारसीका	21. फकीर	26. मजहबी	17. हलबा, हलबी
31. शर्मन	22. गडरिया, गडेरी,	27. मेघवाल	18. कमार
32. शाक द्वीपी	गड्डी, गरी	28. नारीबत	19. कारकू
33. अंग	23. घसिआरा	29. नट (राणा)	20. कवर, कंवर, कौर, चेरवा, राधिया
34. तिवारी	24. गुजर / गुज्जर, गुर्जर	30. पासी	तँवर, छत्री
35. चौबे	25. जोगी, गोस्वामी	31. पेरना	21. कीर
36. दूबे	26. जुलाहा, अंसारी	32. सांसी या भेदकूट	22. खैरवार, कोंडर
37. पाण्डेय	27. कच्ची, कोइरी, मुरै,	33. सपेरा	23. खरिया
38. तैलंग	मुराओ	34. सिकलीगर	24. कोंध, खोंड, कांध
39. नागर	28. कसाई, कस्सब,	35. सिंगीवाला या	25. कोल
40. मिश्रा	कुरैशी	कालबेलिया	26. कोलम

29. कसेरा, तमेरा, ठठिआर 30. खटगुने 31. खटिक 32. कुम्हार, प्रजापति 33. कुर्मी 34. लेखेड़ा, मनिहार 35. लोदी, लोदा, लोद, महा-लोद 36. लुहार, भुभलिया, सैफी 37. माची, मच्छेरा 38. माली, सैनी, साडथिया, सगरवंशी माली, नायक 39. मेमार, राज 40. मिणा / मीणा 41. मेरसी, मिरासी 42. मोची 43. नाई, हज्जम, नाई (सबिता), सलमानी 44. नलबंद 45. नक्कल 46. पाखीवाड़ा 47. पटवा 48. पथार-चेरा, संगतरश 49. रंगरेज 50. सुनार 51. तेली, तेली-मलिक 52. कल्वर 53. अरक, अरकवंशीय 54. रै-सिख (महतम)	36. सिरकीबन्द	27. कोरकु, बोपची, मोवासी निहाल, नाहुल, बोंधी, बोंडेया 28. कोरवा, कोडाकू 29. माझी 30. मझवार 31. मवासी 32. मीना 33. मुंडा 34. नगेसिया, नगासिया 35. उरांव, धनका, धांगड 36. पनिका 37. पाओ 38. परधान, पथारी, सरोती 39. पारधी 40. पारधी, बहेलिया, बहेल्लिया, चिता पारधी, लंगोली पारधी, फांस पारधी, शिकारी, टकनकर, टाकिया 41. परजा 42. सहारिया, सहारिआ, सेहारिआ, सेहरिआ, सोसिआ सोर 43. साओता, सौता 44. सौर 45. सावर, सावरा 46. सोर

- मुस्लिम जातियाँ-भारतीय मुसलमानों में चौधरी, सैयद, शैख, अंसारी, काजी, घोसी, हलवाई, बढई, दर्जी, लुहार, धूना, खटिक, नाई, तेली, कलाल, माहगीर, कसाई¹¹, मुगल, पठान, मोमिन, मंसूरी, इब्राहिम, जुलाहा, दफाली इत्यादि।¹²
- सिक्ख जातियाँ-कामी सिक्ख, राम गढ़िया सिक्ख, रेहटिया सिक्ख, मजहबी सिक्ख, राय सिक्ख आदि।
- ईसाई जातियाँ-विदेशी ईसाईयों में बड़ी-बड़ी जातियाँ-अमेरिकन जाति, रसियन जाति, जर्मन जाति, चीनी जाति, जापानी, अंग्रेजी जाति, गौरी एवं काली जाति देखने को मिलती हैं। वहाँ पर इन जातियों का उद्भव वारक्षण के प्रतिबन्ध न होने के कारण ही हुआ। जबकि भारतीय ईसाईयों में सीरियन ईसाई, नाडार ईसाई, वेल्लालास ईसाई, मादिगस ईसाई, सीरियन रोमन, लैटिन रोमन, जैकोबाइट, लैटिन कैथोलिक, मारथोमाइट, सीरियन कैथोलिक, प्रोटेस्टेन्ट आदि। ये स्वयं को एक-दूसरे से पृथक् मानते हैं।

इन सभी सूचीबद्ध समूहों की जातियों को एक समान नहीं माना जाता। इनमें ऊँच-नीच का भेद व्याप्त है। उच्च और मध्यम जातियों की अपेक्षा निम्न और अति निम्न जातियों की स्थिति अति शोचनीय है। परम्परागत रूप से यह सबसे वंचित वर्ग रहा है और है भी। उच्च वर्ग के लोग इन्हें घृणा की दृष्टि से देखते हैं। अपनी निम्न जाति के कारण इनको ऐसे व्यवसाय करने पड़ते हैं। जो सबसे कम वांछित माने जाते हैं, यथा-चमारों के द्वारा परम्परागत रूप से जानवरों की खाल उतारना एवं जूते तथा चमड़े के अन्य सामान बनाना। भंगी के द्वारा सफाई इत्यादि का कार्य करना। आरम्भ से ही नीची जातियों को ऊँची जातियों के कुएं, तालाब से पानी भरना, सार्वजनिक स्थल, मंदिरों में प्रवेश करना, विद्यालयों में पढ़ना, छात्रावास में रहना, होटल में ठहरना, अच्छे मकान, कपड़े एवं आभूषणों को पहनना, धार्मिक पुस्तकों का अध्ययन व उपदेशों का श्रवण करना, उच्च व्यवसाय इत्यादि का प्रतिबन्ध था।¹³ इन सब से वंचित रहने के कारण ये स्वयं को ऊँची जातियों के समक्ष कमजोर और पतित समझने लगे। जिससे इनका जीवन नरकमय हो गया था। इस जातीय संकीर्णता के कारण भारतीय समाज की स्थिति चिन्तनीय बनी रही। सदियों से उच्चकुल में उत्पन्न लोगों ने अपने जातीय अधिकारों का दुरुपयोग किया। दूसरी ओर शूद्र जाति में उत्पन्न व्यक्तियों को अपनी क्षमताओं के समुचित विकास का अवसर प्राप्त नहीं हुआ और उनका सदियों तक शोषण होता रहा। इसलिये वर्तमानयुग में यह आवश्यक समझा गया कि दलित वर्ग को संरक्षण प्रदान किया जाए। आज संवैधानिक कानून व्यवस्था में किसी के भी साथ इस प्रकार के व्यवहार को दण्डनीय अपराध घोषित किया गया है जिससे पुराने नियम शिथिल पड़ते जा रहे हैं और निम्न जाति के लोग सामान्य जीवन जीने के लिए अग्रसर हो रहे हैं।

वर्तमान में शिक्षा और ज्ञान बढ़ता जा रहा है, आवागमन एवं संदेशवाहन के साधनों की वृद्धि के कारण भौगोलिक पृथक्ता समाप्त होती जा रही है, उद्योग-धन्धों के बढ़ने के कारण लोगों का आपसी सम्पर्क बढ़ रहा है, लोगों का रुझान विज्ञान की ओर बढ़ रहा है, नवीन विचारधारा एवं धार्मिक सुधारों का प्रभाव तथा धन का महत्त्व बढ़ता जा रहा है। फिर भी कुछ लोगों की आन्तरिक भावना अभी भी परिवर्तित नहीं हुई है। वे अभी भी जातीय भेदभाव में विश्वास रखते हैं, किन्तु जाति व्यवस्था में बहुत से परिवर्तन हो गए हैं, यथा-अब किसी भी जाति-धर्म के लोग एक साथ रह सकते हैं, खान-पान कर सकते हैं। इसमें कोई प्रतिबंध नहीं है। जहाँ अधिकांश जातियों की निश्चित वृत्तियाँ थी और वंशपरम्परागत हस्तान्तरित होती रहती थी वहीं आज प्रत्येक जाति के व्यक्ति अपनी योग्यतानुसार किसी भी प्रकार की वृत्तियों को अपनाने के लिए स्वतंत्र हैं। चमार,

धोबी, धानुक, मेहतर, दर्जी इत्यादि के कार्य, जिन्हें निम्न कार्य माना जाता था, ब्राह्मण, ठाकुर, बनिया, कुर्मी, काही, किसान जैसी ऊँची जातियों के लोग करने लगे हैं। इसके साथ ही उच्च वर्गों के समान निम्न जातियाँ भी प्रशासनिक क्षेत्र में उन्नति कर रही हैं, यथा-उत्तर प्रदेश में मायावती तथा बिहार में लालू प्रसाद यादव का अपने-अपने प्रदेश में मुख्यमंत्री बनना। इनके द्वारा सत्ता की बागडोर सम्भालने पर अस्पृश्य एवं पिछड़े वर्ग का तेजी से विकास प्रारम्भ हो गया है और उनकी सामाजिक स्थिति में सुधार हुआ है।

यद्यपि पहले अन्तर्जातीय विवाह होते थे, किन्तु आज ग्रामीण क्षेत्रों के लोग ऐसे विवाहों को अनादर की दृष्टि से देखते हैं। वे अपनी ही जाति में विवाह करना उचित मानते हैं। यदि कोई जाति से बाहर विवाह करता है तो उसे जाति से बहिष्कृत कर दिया जाता है। लेकिन नगरों में शिक्षित वर्ग की मनोवृत्ति इस ओर उदार होती जा रही है। ऐसा लगता है कि जातिप्रथा के जो बन्धन कठोर हो गये थे, उनमें शिथिलता आ रही है, परन्तु वास्तविकता तो यह है कि आन्तरिक जातीय भावना अत्यधिक दृढ़ होती जा रही है और गम्भीर रूप धारण कर रही है। एक जाति का दूसरी जाति से सामाजिक संघर्ष बढ़ता जा रहा है। बाह्यरूप से तो लोग जातिप्रथा के विरुद्ध चर्चा करते हैं, उसका विरोध करते हैं, परन्तु आन्तरिक दृष्टि से वे जातिप्रथा के अत्यधिक पोषक हैं। लोग एक-दूसरे को उन्नति करते हुए देख नहीं सकते, वैमनस्य का भाव रखते हैं, जिससे भीषण जातिवाद का स्वरूप अन्दर-ही-अन्दर पनपता जा रहा है। इस भावना के कारण एक जाति के व्यक्ति देश या समाज के सामान्य हितों को दृष्टि में न रखते हुए, केवल अपनी जाति सदस्यों के उत्थान, एकता एवं सामाजिक स्थिति की वृद्धि चाहते हैं। यह प्रयास प्रत्येक क्षेत्र में हो रहा है। यही कारण है कि यह अनिष्टकारक होने पर भी भारतवासियों के चिन्तन में रमी हुई है, और लोग इसे छोड़ना नहीं चाहते। हार्टन ने जातिप्रथा के गुणों पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि- 'जाति का महत्त्वपूर्ण कार्य भारतीय समाज को अखण्ड बनाना और विभिन्न प्रतिद्वंदी समूहों को एक समुदाय में जोड़ना है।'¹⁴

एक ओर जाति अपने सदस्यों को मानसिक, सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक सुरक्षा प्रदान करती है। विभिन्न समुदायों को एकता के सूत्र में बांधती है। समूहों में सहयोग की भावना का संचार करती है¹⁵ तो दूसरी ओर यह प्रथा ही राष्ट्रीय एकता में बाधक है, क्योंकि इसके कारण जातियों एवं उपजातियों में जो ऊँच-नीच का भाव आ गया है उसने ही एक सुदृढ़ राष्ट्र का निर्माण नहीं होने दिया। इसने ही साम्प्रदायिकता, अलगाववाद, अस्पृश्यता, अप्रवेश्यता और अदर्शनीयता को जन्म दिया, जिसमें व्यक्ति-व्यक्ति के बीच इतना भेद किया जाने लगा कि निम्न जाति के स्पर्शमात्र, प्रवेशमात्र और दर्शनमात्र से ही उच्च जातियों के व्यक्ति अपवित्र माने जाने लगे।¹⁶ जातिगत आरक्षण को प्रोत्साहन भी इसी की देन है, किन्तु व्यक्ति की योग्यता की अपेक्षा नहीं की जानी चाहिये।

आज जातिप्रथा ने व्यक्ति-व्यक्ति में प्रतिस्पर्धा को इतना बढ़ा दिया है कि वह धर्म एवं राष्ट्रहित के स्थान पर व्यक्तिगत लाभ एवं निजी स्वार्थ को अत्यधिक महत्त्व देता है तथा अधिक-से-अधिक लाभ, धनार्जित करने के लिए उचित एवं अनुचित रीतियों का उपयोग करता है। वस्तुतः जातीय भावना राष्ट्रीय भावना को पनपने नहीं देती, अपितु उसे विघटन की ओर ले जाती है जबकि राष्ट्रीय भावना संगठन की ओर। अतएव हमें जातिगत विसंगतियों को दूर करना होगा।

समानता और स्वतंत्रता के विचारों पर आधारित आधुनिक विचारधारा में जातिवाद के लिए कोई स्थान नहीं है। समय-समय पर अनेक समाज सुधारकों तथा विचारकों ने इसके विरुद्ध आवाज उठाई है। स्वामी दयानन्द सरस्वती, स्वामी रामकृष्ण परमहंस, राजाराममोहन राय, स्वामी विवेकानन्द, गुरु नानक, कबीर, महात्मा गांधी, डॉ. भीमराव अम्बेडकर आदि सभी ने जातीय उत्पीड़न के विरुद्ध दलितों के उत्थान तथा जातिवाद एवं अस्पृश्यता की समाप्ति के लिए संघर्ष किया। लेकिन यह समाप्त नहीं हुई अपितु अपना स्वरूप परिवर्तित करती रही। बाद में भारतीय संवैधानिक व्यवस्था में जातीय भेदभाव तथा अस्पृश्यता को समाप्त करने के लिए एक समान व्यवस्था का प्रावधान किया गया। कुछ नियम-कानून इस प्रकार हैं -

- अनुच्छेद 15(1) के अनुसार राज्य के द्वारा किसी भी नागरिक से केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्म-स्थान के आधार पर कोई भेदभाव नहीं किया जाएगा। इसके साथ ही अनुच्छेद 15(2) राज्य और व्यक्तियों दोनों को धर्म, मूलवंश आदि इनमें से किसी के आधार पर सार्वजनिक दुकानों, होटलों, मनोरंजन के स्थानों, कुओं, तालाबों, घाटों, सड़कों एवं अन्य सार्वजनिक स्थान के उपयोग में विभेद करने का निषेध करता है।¹⁷
- अनुच्छेद 16(1) के अन्तर्गत राज्य के अधीन नौकरियों या पदों पर नियुक्ति के सम्बन्ध में सब नागरिकों के लिए अवसर की समता का अधिकार प्रदान किया गया है। तो अनुच्छेद 16(2) के तहत केवल धर्म, मूलवंश, जाति, लिंग, जन्मस्थान, निवास या इनमें से किसी के आधार पर किसी नागरिक के लिए राज्य के अधीन किसी नौकरी या पद के विषय में न अपात्रता होगी और न विभेद किया जाएगा।¹⁸
- अनुच्छेद 17 अस्पृश्यता को गैर-कानूनी घोषित करता है और उसका किसी भी रूप में आचरण करने का निषेध करता है। इस व्यवस्था के अतिरिक्त अस्पृश्यता के विरुद्ध "अस्पृश्यता अपराध अधिनियम 1955" पारित किया गया। इसके अन्तर्गत अस्पृश्यता का आचरण करने वाले तथा उसे प्रोत्साहित करने वाले को छः मास तक की कारावास तथा पाँच सौ रुपये जुर्माने की सजा दी जा सकती है।¹⁹
- अनुच्छेद 29(2) के अधीन राज्य द्वारा पोषित अथवा राज्य निधि से सहायता पाने वाली किसी शिक्षा संस्था में प्रवेश से किसी नागरिक को केवल धर्म, मूलवंश, जाति इत्यादि किसी भी आधार पर वंचित नहीं रखा जाएगा।²⁰
- अनुच्छेद 46 के अनुसार राज्य, जनता के दुर्बलतर विभागों (वर्गों) विशेषतया अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के शिक्षा तथा अर्थ सम्बन्धी हितों को विशेष सावधानीपूर्वक उन्नत करेगा तथा सामाजिक अन्याय तथा सब प्रकार के शोषण से उनका संरक्षण करेगा।²¹

यहाँ सरकारी सेवाओं एवं सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों में नौकरी के लिए आरक्षण स्थापित करने का उद्देश्य भारतीय समाज के वंचित वर्गों को सहायता प्रदान करके एक न्यायसंगत समाज का निर्माण करना है। साथ ही उन्हें सामाजिक, आर्थिक एवं शैक्षिक आदि सभी प्रकार की गतिशीलता के लिए अवसर उपलब्ध कराना भी है।

समाज के दुर्बल वर्गों के पक्ष में इन संवैधानिक संरक्षण के अतिरिक्त कुछ संरक्षात्मक एवं शोषण विरोधी अधिनियम की भी व्यवस्था की गई। 1989 में संसद ने अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति "अत्याचार निवारण अधिनियम 1989" में पारित कर, इन वर्गों पर होने वाले अत्याचारों को रोकने के लिए आवश्यक कदम उठाए। लेकिन धीरे-धीरे प्रशासन और

पुलिस की मानसिकता के कारण इसे निष्प्रभावी बनाने का प्रयास जारी रहा। इसलिये 11 अगस्त, 2012 में दिल्ली में इस अधिनियम को निष्प्रभावी बनाये जाने के विरोध में एक दिवसीय सम्मेलन का आयोजन किया गया। इस सम्मेलन में न्यू डेमोक्रेटिक पार्टी ऑफ इण्डिया के महासचिव एडवोकेट अरुण मांझी ने और जाति विरोधी संगठन, दिल्ली के कामरेड जयप्रकाश ने क्रमशः एस.सी. या एस.टी. एक्ट 1989 पर तथा दलितों पर उत्पीड़न के सम्बन्ध में पर्चा पेश किया। उन्होंने इस बात पर बल दिया कि इस एक्ट के तहत दलितों और आदिवासियों पर अत्याचार की घटनाओं के सभी मामलों को दर्ज किया जाना चाहिए। जिससे वे शोषण से बच सकें और इस अधिनियम का लाभ पा सकें।²²

वर्णित कानून व्यवस्था के अतिरिक्त समय-समय पर अखिल भारतीय सामाजिक संस्थाओं, यथा-अखिल भारतीय हरिजन सेवक संघ दिल्ली, ईश्वरशरण आश्रम इलाहाबाद, हिन्दू-मिशन कलकत्ता, दी सर्वेण्ट्स ऑफ इण्डियन सोसायटी पूना, भारतीय दलित वर्ग संघ नई दिल्ली, भारत दलित सेवक संघ पूना, केन्द्रीय समाज-कल्याण बोर्ड नई दिल्ली इत्यादि ने अस्पृश्यता के विरुद्ध कार्य किया तथा अब भी कार्यरत हैं। इन्होंने सार्वजनिक सभाओं, सम्मेलनों, सिनेमा, पोस्टरों आदि के माध्यम से प्रचार किया। सामाजिक कल्याण केन्द्र खोले। हरिजनों के लिए अनेक छात्रावास, मन्दिर, जलपानगृह, धर्मशालायें, कूएं, नाई की दुकानें खुलवाईं। मन्दिरों एवं कुओं पर प्रवेश करवाया आदि।²³

सरकार (केन्द्रीय तथा राज्य सरकारें) अनुसूचित जाति तथा जनजाति के शैक्षणिक, आर्थिक, राजनैतिक, सामाजिक स्थितियों इत्यादि के उत्थान के लिए प्रतिवर्ष गैर सरकारी संस्थाओं को अनुदान दे रही है। वे संस्थायें हैं-अखिल भारतीय हरिजन सेवक संघ दिल्ली, भारतीय दलित वर्ग संघ नई दिल्ली, ईश्वरशरण आश्रम इलाहाबाद, भारत दलित सेवक संघ पूना, केन्द्रीय समाज-कल्याण बोर्ड नई दिल्ली आदि। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय सरकार राज्य सरकारों को धनराशि देती है, जिससे उन्हें शिक्षा के क्षेत्र में निःशुल्क शिक्षा, छात्रवृत्तियाँ, फीस में रियायत, छात्रावास की दृष्टि से छात्रवृत्तियाँ, विदेशों में अध्ययनार्थ छात्रवृत्तियाँ, पब्लिक स्कूलों में योग्य छात्रों के लिए छात्रवृत्तियाँ, प्रौद्योगिक विद्यालयों में प्रवेश के लिए स्थान सुरक्षित की सुविधा, आर्थिक क्षेत्र में भूमि अधिकार की सुरक्षा, कुटीर उद्योग के प्रशिक्षण, अन्न भण्डारों को खोलने, कर्ज की ब्याज की दर कम करने, जन स्वास्थ्य के लिए औषधालय की व्यवस्था, गृह निर्माण आदि की सुविधा दी जाती है।²⁴ इस प्रकार पहले दलित वर्गों को अनेक सुविधाओं से वंचित रखा गया था और आज अनेक सुविधाओं के साथ-साथ विभिन्न अधिकार प्रदान किये गये हैं, किन्तु शिक्षा-संस्थानों तथा सरकारी सेवाओं आदि में विभिन्न राज्यों में हुए आरक्षण के कारण सामान्य श्रेणी और निम्न श्रेणी के लोगों में तनाव की स्थिति उत्पन्न हो गई है, क्योंकि आरक्षण विरोधियों का यह मानना है कि उनकी योग्यता की उपेक्षा की जा रही है।

यद्यपि आज न्यायव्यवस्था सभी के लिए समान है और विभिन्न संस्थायें जाति-वाद के खिलाफ कार्य कर रही हैं। फिर भी वर्गगत भेद अभी तक समाप्त नहीं हो पाया है। दलितों के पीड़ित होने की अनेक घटनाएँ देखने को मिलती हैं तथा अपराधी व्यक्ति विभिन्न उपायों से प्रायः दण्डमुक्त रह जाते हैं। राजनीतिज्ञ अपने प्रभाव से, पूँजीपति धन के बल से, शिक्षित अपने बौद्धिक चातुर्य से दण्डित नहीं हो पाते। आज आवश्यकता इस बात की है कि न्यायव्यवस्था किसी भी प्रकार के प्रभाव से मुक्त रहते हुए निष्पक्ष भाव से अपना कार्य करती रहे।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि आधुनिक भारत में वर्णव्यवस्था का नहीं जातिवाद का प्राबल्य है। कतिपय सन्दर्भों में यह पहले की अपेक्षा अधिक संगठित तथा आक्रामक हो चुकी है। आज यह अपने जिस उग्र रूप में है उसे सहजतापूर्वक समाप्त तो नहीं किया जा सकता, क्योंकि कुछ लोग इसे हितकर तो कुछ अहितकर मानते हैं, परन्तु इसके दोषों को दूर करने का प्रयास अवश्य करते रहना चाहिये। डॉ. मजूमदार का मत है कि “अस्पृश्यता एक जाति का दूसरी जाति द्वारा शोषण है और ऐसी ही अन्य इस प्रथा की हानिकारक सहयोगी प्रथाओं को समाप्त कर देना चाहिये, न कि सम्पूर्ण व्यवस्था को। क्षतग्रस्त विषाक्त अंगुली को काटना चाहिये न कि पूरे हाथ को।²⁵ यदि हम जनतंत्र को सुदृढ़ करना चाहते हैं तो जातिगत रूढ़ियों को शिथिल करना होगा और योग्यता एवं समानता को महत्त्व देना होगा।

सन्दर्भग्रन्थाः

1. तोमर, प्रो. राम बिहारी सिंह, भारतीय सामाजिक संस्थाएँ, प्र.सं.1959, पृ.159-165
2. "It is urged emphatically that the Indian Caste System is the natural result of the interaction of a number of geographical, social, political, religious and economic factors not elsewhere found in conjunction. Hutton, J.H. Caste in India, P.188.
3. पाण्डेय, डॉ. जय नारायण, भारत का संविधान, संस्करण पैंतालिसवाँ, 2012, संविधान का अनुच्छेद 25, पृ.314-315
4. शाह, एस.एल., भारत में जाति एवं वर्ण व्यवस्था कब और कैसे? प्र.सं.2005, पृ.91
5. (क) सम्पा., रमणिका गुप्ता, आदिवासी कौन, प्र.सं.2008, पृ.26-27
(ख) जैन, श्रीचंद्र, आदिवासियों के बीच, प्र.सं.2007, पृ.11-12
6. उपजातियाँ, यथा-अकेले कुर्मी जाति में लगभग चार हजार से अधिक उपजातियाँ मिलती हैं। निर्मोही, डॉ. एस.एल. सिंह देव, भारत की जातियाँ उद्भव एवं विकास, खण्ड-2, प्र.सं. 2011, पृ.895-945
7. निर्मोही, डॉ. एस. एल. सिंह देव, भारत की जातियाँ उद्भव एवं विकास, प्रथम खण्ड, प्र.सं.2011, पृ.56-59, 78-80 तथा द्वितीय खण्ड, पृ. 628
8. www.ncbc.nic.in/centrallistifobc.html (as on 04.03.2013)
9. dtf.in/lists-of-scheduled-castes-scheduled (as on 03.03.2013)
10. वही
11. संपा.-अहमद, इम्तियाज, अनु.-नदीम नरेश, भारत के मुसलमानों में जातिव्यवस्था और सामाजिक स्तरीकरण, प्र.सं.2003, पृ.204
12. निर्मोही, डॉ. एस.एल. सिंह देव, भारत की जातियाँ उद्भव एवं विकास, प्रथम खण्ड, प्र.सं. 2011, पृ.34
13. तोमर, प्रो. राम बिहारी सिंह, भारतीय सामाजिक संस्थाएँ, प्र.सं.1960, पृ.196-197

14. It will be understood then that one important function of caste, perhaps the most important of all its functions' and the one which above all others makes caste in India an unequal institution, is or has been, to integrate Indian Society, to weld in to one community the various competing, if not incompatible groups composing it. Hutton, J.H., Caste in India, p.119.
15. तोमर, प्रो. राम बिहारी सिंह, भारतीय सामाजिक संस्थाएँ, प्र.सं.1959, पृ.176-177
16. तोमर, प्रो. राम बिहारी सिंह, भारतीय सामाजिक संस्थाएँ, प्र.सं.1959, पृ.180
17. पाण्डेय, डॉ. जय नारायण, भारत का संविधान, पैतालिसवाँ सं.2012, संविधान का अनुच्छेद 15(1), 15(2), पृ.127-128
18. वही, अनुच्छेद 16(1), 16(2), पृ.141
19. वही, अनुच्छेद 17, पृ.172-173
20. वही, अनुच्छेद 29(2), पृ.331
21. वही, अनुच्छेद 46, पृ.401
22. सम्पा.-नरेला, जे.पी., पत्रिका-जाति उन्मूलन, जाति विहीन, वर्ग विहीन समाज निर्माण के लिए, अंक 1, मार्च-मई 2013, हिन्दी, पृ.28
23. तोमर, प्रो. राम बिहारी, भारतीय सामाजिक संस्थाएँ, पं.सं.1959, पृ.205-209
24. तोमर, प्रो. राम बिहारी, भारतीय सामाजिक संस्थाएँ, पं.सं.1959, पृ.216-226
25. "Untouchability, exploitation or one caste by another and such other harmful concomitants of the system should be done away with, and not the whole system, the broken, poisoned finger should be amputated not the whole hand." Mazumdar, D.N. and Madan, T.N. 'Social Anthropology', p.238.

Published Research Paper-2



Gyanshauryam, International Scientific Refereed Research Journal
© 2021 GISRRJ | Volume 4 | Issue 5 | ISSN : 2582-0095

संस्कार एवं आश्रम व्यवस्था की वर्तमान परिप्रेक्ष्य में समीक्षा

प्रभा चतुर्वेदी

शोध छात्रा, संस्कृत विभाग, राजकीय महाविद्यालय, कोटा, राजस्थान।

Article Info

Volume 4 Issue 5

Page Number : 92-101

Publication Issue :

September-October-2021

Article History

Accepted : 01 Sep 2021

Published : 15 Sep 2021

सारांश- संस्कारों के विवेचन से स्पष्ट होता है कि यद्यपि वर्तमान समय में सुरक्षात्मक दृष्टि से विभिन्न नियम-कानून बनाए गये हैं फिर भी बदलते परिवेश, पाश्चात्य दृष्टिकोण व संकुचित मानसिकता आदि के कारण संस्कारों का वास्तविक स्वरूप एवं उद्देश्य विकृत हो गया है। जिसके कारण आज समाज में पारस्परिक विद्वेष, नैतिक एवं चरित्रिक पतन जैसी विषम प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर हो रही हैं। यदि इन संस्कारों का समुचित रीति से नियमपूर्वक पालन किया जाए तो प्रतिभा सम्पन्न व्यक्तित्व का निर्माण तथा आध्यात्मिक प्रवृत्ति सम्भव हो सकती है।

मुख्य शब्द- संस्कार, व्यवस्था, सदस्य, कर्तव्य, अधिकार, वर्णव्यवस्था, समाज, स्मृति, साहित्य, धर्म।

स्मृति साहित्य व अन्य धर्मशास्त्रकारों ने मानव जीवन के लिए जिन संस्कारों का विधान किया है वे मनुष्य के चरित्र निर्माण एवं व्यक्तित्व के विकास में सहायक होने के साथ ही उसमें उच्च नैतिक गुणों के स्थापक हैं। तत्कालीन समाज में इनका अनुष्ठान निर्धारित समय पर पूर्ण आस्था एवं विश्वास के साथ विधिवत् किया जाता था, लेकिन कालक्रम के प्रभाव से नई सामाजिक, धार्मिक संस्थाओं और विचारधाराओं का उदय हुआ, जिससे तत्कालीन मान्यताओं व संस्थाओं का स्वरूप बदलता गया। इसके साथ ही भाषागत कठिनाता, वेद मन्त्रों की अग्राह्यता, धार्मिक विधि-विधानों की अस्पष्टता तथा उनमें मात्र पुरोहित जनों की बोधगम्यता, जनसाधारण की उनके प्रति उदासीनता एवं अरुचि, विभिन्न जातियों व धर्मों के विकास और पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव आदि के कारण शनैः शनैः संस्कारों का ह्रास होता रहा।¹ आज समाज में संस्कारों का महत्त्व नाममात्र का रह गया है तथापि कुछ संस्कार आज भी समाज में अपना स्थान बनाए हुए हैं, यद्यपि उनके स्वरूप, अनुष्ठान पद्धति तथा संख्यादि में अन्तर आ गया है।

स्मृतिसाहित्य में जिन संस्कारों की गणना की गयी है उनमें सबसे पहला संस्कार 'निषेककर्म' अर्थात् गर्भाधान है जिसे उस समय की संस्कृति नवीन आत्मा के आह्वान का एक पवित्र यज्ञ मानती थी, जो उचित तिथि व दिन के नियमानुसार किया जाता था। आज इस संस्कार में उतनी धार्मिकता या पवित्रता तो नहीं रही है, किन्तु अब सन्तानोत्पत्ति आकस्मिक या अविवेचना की परिणति न होकर सोच-विचारकर उचित समय पर की जाती है। यह समय की विडम्बना है कि कहीं-कहीं अब यह संस्कार त्यागा भी जा चुका है।² वर्तमान समय में पुंसवन एवं सीमन्तोन्नयन संस्कार समाप्त हो गये हैं।³ लेकिन कुछ

Copyright: © the author(s), publisher and licensee Technoscience Academy. This is an open-access article distributed under the terms of the Creative Commons Attribution Non-Commercial License, which permits unrestricted non-commercial use, distribution, and reproduction in any medium, provided the original work is properly cited

92

लोगों की 'पुंस' उत्पत्ति विषयक मानसिकता अभी भी नहीं बदली है। वे आज भी पुत्र उत्पत्ति को अधिक महत्व देते हैं। इसके लिये लोग गुप्त रूप से अल्ट्रासाउण्ड तथा सोनोग्राफी के माध्यम से भ्रूण के लिंग को जानने का प्रयास करते हैं कि वह नर है या मादा। अब सरकार ने "गर्भ का चिकित्सीय समापन अधिनियम 1971 (1971 का 34)" के तहत लिङ्ग जाँच व भ्रूण हत्या पर रोक लगा दी है³ और ऐसा करने वालों के लिए सजा व जुर्माने का प्रावधान किया है।⁴ भारतीय दण्ड विधि संशोधन विधेयक, 2006 के द्वारा गर्भ-पूर्व लिंग निर्धारण परीक्षण (Pre-natal sex determination test) को घोर अपराध माना गया है, ऐसे व्यक्ति के लिए उम्र कैद तथा एक लाख रुपये तक के जुर्माने से दण्डित . किये जाने का प्रावधान किया गया है। निश्चय ही ऐसे प्रावधान से लिङ्ग जाँच व भ्रूण हत्या में कमी आयी है।

अब सीमन्तोन्नयन संस्कार तो नहीं किया जाता, किन्तु इसकी मनोवैज्ञानिक महत्ता से इन्कार नहीं किया जा सकता। आज भी चिकित्सक तथा अन्य अनुभवी वृद्धजन गर्भिणी स्त्री को प्रसन्न रहने की सलाह देते हैं और परिवारजन उसे प्रसन्न रखने का हर सम्भव प्रयास करते हैं। आज सभी देशों में गर्भस्थ शिशु व उसकी माता के संरक्षण व निरोगता के लिए अनेक क्रियायें 'Pre-natal care' के नाम से प्रारम्भ हो जाती हैं।⁵ जिस प्रकार स्वास्थ्य की दृष्टि से इस संस्कार को महत्त्व दिया जाता था उसी प्रकार जन्म से पूर्व इन्जेक्शन, दवाईयाँ अथवा औषधि को आवश्यक माना गया है। वस्तुतः दोनों का उद्देश्य समान ही है-शिशु व माता की सुरक्षा। चाहे वह संस्कार के माध्यम से की जाए या औषधि आदि के रूप में। फिर भी यह संस्कार जो मानसिक शांति प्रदान करता था, वह आज की दवाईयाँ नहीं। कुछ संस्कारों में धार्मिक विधियों का अभाव है, यथा-जातकर्म, निष्क्रमण, अन्नप्राशन आदि। जातकर्म संस्कार में जिन शहद चटाने इत्यादि क्रियाओं का मन्त्रोच्चारण पूर्वक उल्लेख मिलता है, वे सब नवजात शिशु के साथ सुविधाजनक नहीं रही होगी, तभी तो इस प्रकार की बातें केवल ग्रन्थों में मिलती हैं, व्यवहारिक जीवन में नहीं। आधुनिक समय में अधिकांशतया घर के स्थान पर अस्पतालों में प्रसूति होने के कारण भी यह संस्कार लुप्त हो गया है। काणे के अनुसार बंगाल में तो जातकर्म तथा अन्न-प्राशन एक ही दिन सम्पादित किये जाते हैं।⁶ निष्क्रमण संस्कार का प्रारम्भिक स्वरूप तो नहीं रहा है, किन्तु कुछ लोग बालक को घर से बाहर ले जाते समय उत्सव मनाते हैं⁷, तो कुछ नदी-पूजन या देव-पूजन करते हैं।⁸ अब नामकरण के साथ भी इस संस्कार को सम्पन्न कर दिया जाता है, ऐसा उल्लेख मिलता है।⁹ अन्नप्राशन का सीमित रूप दिखाई देता है जो बिना किसी मन्त्रोच्चारण तथा पुरोहित को बुलाये सम्पन्न कर दिया जाता है। आज चिकित्सक भी महर्षि शंख की भाँति अन्नप्राशन विषयक छठे माह को ही उचित बताते हैं। कुछ संस्कारों का परम्परापूर्ति हेतु मात्र अनुष्ठान कर दिया जाता है, यथा नामकरण एवं मुण्डन संस्कार। आधुनिक समय में बालक का नामकरण जन्म के बारहवें दिन बिना किसी वैदिक मन्त्रोच्चारण के कर दिया जाता है। कहीं-कहीं अब भी यह संस्कार पूर्ण वैदिक रीति से किया जाता है।¹⁰ किन्तु पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव में सार्थक नामों की परम्परा लुप्त होती जा रही है। लोग अपनी इच्छानुसार नाम रखते हैं, चाहे उसका कोई अर्थ हो या न हो। इसी प्रकार बालक के जन्म के केश भी एक बार कटवा दिये जाते हैं, क्योंकि गर्भ वाले केश अपवित्र माने जाते हैं। केश कर्तन का सम्पूर्ण कार्य नाई ही सम्पन्न करता है। 'चूडाकर्म' यह शब्द प्रायः इस संस्कार के लिए रूढ़ हो गया है और अब इसे 'मुण्डन' कहा जाता है। इस संस्कार में शिखा रखने की परम्परा भी अब न के बराबर है, क्योंकि अधिकांशतः हिन्दू लोग शिखा रखने में लज्जा का अनुभव करते हैं, किन्तु परम्परावादी संस्कारवान् परिवारों में आज भी लोग शिखा रखते हैं। देवल ऋषि ने शिखा एवं यज्ञोपवीत के महत्त्व को

प्रदर्शित करते हुए कहा है कि बिना शिखा एवं यज्ञोपवीत के कोई भी धार्मिक-कृत्य नहीं करना चाहिए। इन दोनों के बिना किया हुआ धार्मिक-कृत्य न किया हुआ समझना चाहिए। अतएव धार्मिक-कृत्य सम्पन्न कराने वाले ब्राह्मणों के लिए यह आज भी प्रासङ्गिक है। उपनयन के दिन भी इस संस्कार को करने का विधान मिलता है।'

आज सामान्य रूप से उपनयन एवं समावर्तन संस्कार का प्रचलन दिखाई नहीं देता, क्योंकि शिक्षा, शिक्षा के माध्यमादि सभी परिवर्तित हो चुके हैं, किन्तु आज जहाँ परम्परागत ढंग से गुरुकुल प्रणाली के माध्यम से शिक्षा दी जाती है वहाँ उपनयन एवं समावर्तन शास्त्रोक्त विधि से किये जाते हैं। कुछ आधुनिक गुरुकुलों के नाम इस प्रकार हैं-श्रीमद्भयानन्द वेद विद्यालय गौतमनगर, नई दिल्ली-49, गुरुकुल यमुनातट मझवली, जिला-फरीदाबाद (हरियाणा), श्रीमद्भयानन्द आर्ष ज्योतिर्मठ, गुरुकुल दूनवाटिका-2, पौधा, जिला-देहरादून (उत्तराखण्ड), गुरुकुल नरसिंहनाथ पाईकमाल, जिला-बरगढ़ (उड़ीसा), आर्ष कन्या गुरुकुल, देवनगर (घूचापाली), जिला-बरगढ़ (उड़ीसा), गुरुकुल योगाश्रम, पतरकोनी, पेण्ड्रा रोड, जिला-बिलासपुर (छत्तीसगढ़), श्रीकृष्ण आर्ष गुरुकुल, देवालय गोमत, वाया खैर, जिला-अलीगढ़ (उत्तर प्रदेश), श्रीमद्भयानन्द उपदेशक महाविद्यालय शादीपुर, यमुना नगर हरियाणा इत्यादि।

वर्तमान समय में उपनयन संस्कार के हमें दो रूप दिखायी देते हैं-प्रथम शिक्षा सम्बन्धी उपनयन संस्कार। द्वितीय विवाह सम्बन्धी उपनयन संस्कार। प्रथमतः आज भी गुरुकुलों में उपनयन संस्कार की सम्पूर्ण क्रिया यत्किञ्चित् परिवर्तित विधि-विधान के साथ सम्पन्न की जाती है, किन्तु वर्णानुसार जहाँ बालक को विभिन्न प्रकार के मेखला, वस्त्र, दण्ड एवं यज्ञोपवीत धारण करने होते थे वहीं आज इस अवसर पर प्रत्येक छात्र को समान रूप से साधारण स्वच्छ वस्त्र, दण्ड, मेखला एवं यज्ञोपवीत धारण करवाये जाते हैं और भिक्षाचरण की क्रिया भी सम्पन्न करवायी जाती है। यहाँ दण्ड धारण एवं भिक्षाचरण उसके दैनिक क्रिया के अभिन्न अंग न होकर मात्र नियम के पालन हेतु करवाये जाते हैं, क्योंकि परिस्थितिवश अब इनकी अनिवार्यता समाप्त हो चुकी है। आज अधिकांशतः गुरुकुलों में भोजनादि समस्त वस्तुओं की व्यवस्था उपलब्ध है। प्रशासन एवं विभिन्न शिक्षण संस्थाओं की ओर से निर्धन तथा मेधावी छात्र-छात्राओं को शिक्षा पूर्ण करने हेतु छात्रवृत्तियाँ दी जाती हैं। आज भी ब्राह्मण जातियों में इस संस्कार का निर्वाह पूर्ण श्रद्धा के साथ किया जा रहा है।¹¹ लेकिन आधुनिक शिक्षण संस्थानों-विद्यालयों, महाविद्यालयों विश्वविद्यालयों तथा इन्स्टीच्यूट आदि में इस प्रकार के उपनयन का सर्वथा अभाव है, जिसके कारण आज बालक विद्यास्नातक तो हो जाता है लेकिन विद्याव्रतस्नातक नहीं। यही कारण है कि आज शिक्षा के उच्च शिखर पर पहुँच जाने पर भी छात्रों में गुरु सेवा, तपश्चर्या, विनम्रता, धैर्यता आदि का अभाव मिलता है।

द्वितीयतः उपनयन शब्द का प्रयोग शिक्षा के अर्थ में न होकर एक विशिष्ट संस्कार के अर्थ में किया जाता है जो द्विजाति कहे जाने वाले व्यक्ति के विवाह से पूर्व किसी भी समय किया जा सकता है। इस अर्थ में इसे 'जनेऊ' कहा जाता है, जिसका अभिप्राय उस संस्कार से है जिसमें बालक को यज्ञोपवीत पहनाया जाता है।¹² अतएव वर्तमान में उपनयन का प्राचीन स्वरूप गुरुकुलों को छोड़कर प्रायः समाप्त हो चुका है। अब उपनयन का अर्थ केवल 'जनेऊ' धारण करना रह गया है।

यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि जहाँ स्मृतियों में स्त्रियों के उपनयन संस्कार का निषेध किया गया है वहीं आज अनेक गुरुकुल स्त्री-शिक्षा के लिए प्रतिष्ठित हैं। जहाँ उपनयन संस्कार से लेकर सम्पूर्ण अध्ययन-अध्यापन का कार्य स्त्रियाँ कर रही हैं। उपनयन संस्कार की सम्पूर्ण क्रिया मन्त्रोच्चारणपूर्वक वैदिक रीति से ही सम्पन्न की जाती है। कुछ वर्तमान कन्या गुरुकुलों के

नाम इस प्रकार हैं-श्रीमद्दयानन्द कन्या गुरुकुल महाविद्यालय, चोटीपुरा (मुरादाबाद), कन्या गुरुकुल सासनी (हाथरस), गुरुकुल आर्ष कन्या विद्यापीठ नजीबाबाद, जिला बिजनौर, कन्या महाविद्यालय जालन्धर, कन्या गुरुकुल महाविद्यालय देहरादून, आर्य कन्या महाविद्यालय बड़ौदा, आर्य कन्या गुरुकुल लोवाकलां (रोहतक), आर्ष कन्या गुरुकुल नरेला (दिल्ली), आर्य कन्या गुरुकुल, न्यू राजेन्द्र नगर, नई दिल्ली, कन्या गुरुकुल बचगाँवा गामड़ी (कुरुक्षेत्र)।

वर्तमान समय में वेदारम्भ संस्कार को एक पृथक् संस्कार न मानकर उपनयन संस्कार का ही अंग माना गया है, क्योंकि अब उपनयन के अवसर पर ही मुख्य वेदी या अलग से वेदी बनाकर उस पर वेदारम्भ सम्बन्धी आहुतियाँ देने की परम्परा विकसित हो गई है।¹³ इसके अतिरिक्त आजकल जो पद्धति अपनायी जा रही है उसमें इस संस्कार से पूर्व नौ ग्रहों¹⁴ की पूजा को आवश्यक माना गया है। इसके साथ ही इस संस्कार में ब्रह्मा का वरण करके उसके तिलक कर, मौली बाँधने का विधान किया गया है। गुरु वेद पढ़ाने से पूर्व वस्त्र पर चावलों से अष्टदल बनाकर उस पर सरस्वती तथा वेदों की पूजा भी करवाता है। राजस्थान की प्रथा के अनुसार संस्कार के अन्त में गुरु खड़ा होकर ब्रह्मचारी के दाहिने हाथ से स्पर्श कराते हुए पुष्प-फल युक्त घृत भरे हुए सुवे (प्रोक्षणी) से पूर्णाहुति देता है फिर बैठकर सुवा से भस्म उठाकर दाहिने हाथ की अनामिका से लेकर गुरु अपने माथे, गले और दाहिने कन्धे एवं छाती पर लगाता है। फिर इसी क्रम में वह शिष्य के शरीर पर भस्म धारण करवाता है।¹⁵

समावर्तन संस्कार का निर्वहन अधिकांश गुरुकुलों तथा संस्कृत संस्थानों में किया जा रहा है। आधुनिक शिक्षण संस्थानों में भी इस संस्कार की छाप दिखाई देती है। विद्यार्थियों के द्वारा स्नातक की परीक्षा उत्तीर्ण करने के उपरान्त जो विश्वविद्यालयों या महाविद्यालयों से उपाधि-पत्र दिया जाता है वही आधुनिक संस्थानों का बालक के लिए समावर्तन है। इससे पूर्व आधुनिक विश्वविद्यालयों में 'दीक्षान्त समारोह' का आयोजन किया जाता था। स्नातकों को उपाधि प्राप्ति हेतु विशिष्ट वेशभूषा दी जाती थी। दीक्षान्त समारोह के दिन विश्वविद्यालय के कुलपति स्नातक परीक्षा उत्तीर्ण करने वाले छात्रों को उपाधि-पत्र देते थे और तैत्तिरीयोपनिषद् का अनुशासन प्रस्तुत करके विद्यार्थियों को सदाचरण के लिए प्रेरित करते थे¹⁶, किन्तु अब यह स्वरूप भी बदल कर मात्र उपाधि-पत्र तक ही सीमित रह गया है। स्नातक के लिए किसी दीक्षान्त समारोह को आयोजित नहीं किया जाता। आज गुरुकुलों तथा अन्य संस्थाओं से समावर्तन के पश्चात् भी छात्र उच्च शिक्षा को प्राप्त कर तथा आजीविका ग्रहण कर विवाह करता है। वस्तुतः बालक की शिक्षा अब स्नातक तक सीमित नहीं रह गई है। इसके अनन्तर भी वह अनेक उपाधियों को प्राप्त कर जीवन को सुखमय बनाने का यथासम्भव प्रयास करता है।

विवाह आज भी धार्मिक संस्कार के रूप में प्रचलित है। इस संस्कार का विधिरूप तो लगभग यथावत् है, किन्तु अन्य अनेक विस्तार तथा सूक्ष्मताएँ लुप्त हो गई हैं। तत्कालीन समय में जहाँ सवर्ण, गोत्र, प्रवर, कुल, सपिण्ड तथा कन्या एवं वर के गुणादि का विचार कर विवाह संबंध तय किया जाता था वहीं आज कन्या एवं वर के गुण-अवगुण तथा कुलादि को तो महत्त्व दिया जाता है लेकिन अन्य को नहीं। आज सवर्ण अथवा सजातीय विवाह की अनिवार्यता क्षीण होने से गोत्र एवं प्रवर संबंधी मान्यतायें व्यर्थ होती जा रही हैं। बहुत से ऐसे लोग भी हैं, जिन्हें यह ज्ञात ही नहीं है कि प्रवर एवं गोत्र होता क्या है? यदि सपिण्डता की बात करें तो लोगों को माता की पाँच पीढ़ी और पिता की सात पीढ़ी का नाम स्मरण ही नहीं होगा। जबकि सभी धर्मशास्त्रों में सगोत्र एवं सप्रवर विवाह का निषेध किया गया है।

आरम्भ में हिन्दू कानून के द्वारा भी इस प्रकार के विवाह अवैध माने गये थे, किन्तु बाद में परिस्थितियों के अनुरूप सगोत्र, सप्रवर तथा सपिण्डता सम्बन्धित नियमों का प्रावधान कर दिया गया। आज "हिन्दू विवाह अयोग्यतायें निवारण अधिनियम 1946"¹⁷ तथा "हिन्दू विवाह अधिनियम 1955 की धारा 292 के अनुसार सप्रवर तथा सगोत्र विवाह वैध है। इसी प्रकार सपिण्डता कहाँ तक मानी जाए? इसके लिए रीति-रिवाज एवं कानून को आधार माना गया है। "हिन्दू विवाह अधिनियम 1955 की धारा 3 'एफ' तथा 'जी' के अनुसार माता की ओर से तीन पीढ़ियों तक तथा पिता की ओर से पाँच पीढ़ियों तक सपिण्ड माने जाएंगे। लेकिन अधिकांशतः हिन्दू परिवारों में आज भी सवर्ण कन्या से विवाह को ही मान्यता दी जाती है और अपने गोत्र में एवं सपिण्ड से विवाह न करने की परम्परा विद्यमान है। सपिण्ड के साथ, यथा-फुफेरी, मौसरी, ममेरी बहन से विवाह नहीं किया जाता। किन्तु दक्षिण भारत के कुछ प्रदेशों, यथा-कर्नाटक एवं मैसूर के लोग, जिनमें ब्राह्मण भी सम्मिलित हैं, जो अपनी बहन की लड़की से विवाह कर सकते हैं। तमिल एवं तेलुगु जिलों के ब्राह्मणों एवं शूद्रों में अपनी पत्नी की बहन की लड़की से विवाह वैध माना गया है।¹⁸ यहाँ तक कि दक्षिण भारत में मामा की लड़की से भी विवाह प्रचलित है। आधुनिक युग में इस प्रथा को उचित नहीं माना जाता। "हिन्दू विवाह अधिनियम की धारा 5, उपधारा पअ" के अनुसार ये विवाह नहीं हो सकते, यदि इस प्रकार की कोई प्रथा उनके समाज में नहीं है।¹⁹

शंखस्मृति विहित आठ प्रकार के विवाहों में से अधिकांश विवाह-दैव, आर्ष, आसुर, राक्षस और पैशाच लुप्त हो चुके हैं, जिनका विधान तत्कालीन परिस्थितियों के अनुरूप वर्णानुसार किया गया था। आज न तो वर्णव्यवस्था रही है और न ही उक्त विवाह। वर्तमान में विवाह का जो आदर्श स्वरूप (कन्यादान तथा आशीर्वादात्मक) दिखाई देता है। हाँ, उसे हम ब्राह्म या धर्म विवाह तथा प्राजापत्य की कोटि में रख सकते हैं, जो किसी जाति विशेष के लिए न होकर सम्पूर्ण हिन्दू समाज के लिए है। सामान्यतः आज इसी को जन सामान्य में श्रेष्ठ माना जाता है।

समाज में आसुर विवाह की प्रथा यद्यपि वैदिककाल²⁰ से ही प्रचलित रही है, किन्तु इसे प्रशंसनीय नहीं माना जाता था। सभी धर्मशास्त्रकारों ने आरम्भ से ही इसकी भर्त्सना की है। फिर भी आधुनिक युग में यह प्रथा कतिपय निम्न जातियों में देखने को मिलती है। राजस्थान के कन्जर, झाँसी, मोना इत्यादि जातियों में इस प्रथा का प्रचलन है। कहीं-कहीं उच्च जातियों में भी बेमेल विवाहों का आधार अप्रत्यक्ष रूप से कन्यामूल्य है।²¹

आज लड़के-लड़कियों में शिक्षा के प्रसार तथा सह-शिक्षा के कारण 'प्रेम विवाह' भी प्रचलन में आ रहा है, जिसे आजकल प्राचीनकालीन गान्धर्व विवाह का ही रूप माना जाता है, किन्तु इन दोनों का गहनतापूर्वक अध्ययन करें तो आज दोनों को समान मानना युक्तिसंगत न होगा। गान्धर्व विवाह में मात्र कामनावश संयुक्त होने को ही गान्धर्व नाम दिया गया था। जबकि प्रेम-विवाह के कई रूप दृष्टिगोचर होते हैं, यथा- परिवार वालों की बिना अनुमति से विवाह करना, परिवार वालों की सहमति से विवाह करना, कानूनी विवाह (Court Marriage), मंदिरों में जाकर कुछ सम्बन्धियों की उपस्थिति में विवाह करना। इनमें विधि-विधान को भी महत्त्व दिया जाता है, लेकिन विवाह से पूर्व संयुक्त होने को आज विवाह की श्रेणी में नहीं रखा जाता। यद्यपि इस प्रकार के कतिपय मुकद्दमें न्यायालय में आ जाते हैं पर इसे विवाह मानना आज के युग में सर्वथा अनुचित होगा। उदाहरण के लिए महाकवि कालिदास के सर्वोत्कृष्ट नाटक "अभिज्ञानशाकुन्तलम्" को देखें तो वहाँ दुष्यन्त व शकुन्तला के कामवश संयुक्त होने को 'गान्धर्व' नाम दिया गया, जिसे प्रणय का प्रतीक मानकर विवाह के रूप में मान्य

ठहराया। यहाँ यह दृष्टव्य है कि उनका विवाह बिना किसी की उपस्थिति में तथा बिना वैदिक रीति से हुआ था। आज यदि ऐसा किया जाता है तो उसे विवाह नहीं माना जाता और कामातुरता प्रधान होने के कारण समाज में इसे हेय दृष्टि से देखा जाता है। लेकिन कुछ परिवारों में प्रेम के पश्चात् यदि दोनों के परिवार जनों से स्वीकृति मिल जाती है तो उसमें कुछ स्थायित्व आ जाता है और उसे समाज में स्वीकार कर लिया जाता है। युवा पीढ़ी आज इस विवाह को श्रेष्ठ मानती है। प्रशासन भी ऐसे विवाहों को प्रोत्साहित कर रहा है, किन्तु बिना परिवार जनों की सहमति के विवाह करना आज भी समाज में निन्दनीय माना जाता है। भले ही सरकार ऐसे विवाहों को प्रोत्साहित क्यों न करे? क्योंकि इस प्रकार के विवाहों में आज ग्राम से बाहर निकालना, जातिच्युत करना, दम्पती से किसी प्रकार का सम्बन्ध न रखना, सहयोग न करना, यहाँ तक कि हत्या इत्यादि के मामले भी देखे जाते हैं। सामाजिक दृष्टि से परिवारों में कलह, विवाह-विच्छेद आदि का कारण भी अधिकांशतः प्रेम-विवाह है, क्योंकि ऐसे विवाहों में लड़का-लड़की दोनों अपने को समान समझते हैं, अतः वैचारिक मतभेद होना स्वाभाविक है। आज प्रेम का सच्चा स्वरूप नहीं रह गया है। इसलिये अधिकतर विवाह सफल नहीं होते। यद्यपि तत्कालीन समाज में गान्धर्व-विवाह मान्य था। बाद में 1881 ई. में इलाहाबाद कोर्ट ने गान्धर्व-विवाह को अमान्य घोषित कर दिया था, किन्तु हिन्दू कानून के अनेक आधुनिक वक्ताओं ने इसे मान्य ठहराया। बनर्जी ने अपनी पुस्तक "हिन्दू लॉ" तथा मेन ने अपनी पुस्तक "मेन ट्रिट्रीज एन हिन्दू लॉ एण्ड यूजेज" में इस विवाह को मान्यता दी। आज तो यह प्रेम-विवाह के रूप में मान्य है ही। 1872 ई. में 'प्रेम-विवाह' को हिन्दू रीति-रिवाजों के विरुद्ध कानूनी रूप से सम्पन्न करने की सुविधा "विशेष विवाह अधिनियम" के द्वारा प्रदान की गई है।²² प्रेम-विवाह के अतिरिक्त पूँजीपतियों में स्वयंवर प्रथा भी दिखाई देती है, यथा-राहुल महाजन और डिम्पी का स्वयंवर।

तत्कालीन समय में स्त्री व उसकी सन्तान को समाज में सम्मानपूर्वक जीने का अधिकार मिल सके, इसलिये राक्षस और पैशाच कृत्य को विवाह के रूप में मान्यता मिली होगी, किन्तु आज राक्षस तो प्रायः लुप्त हो गया है। यदि आज विवाह धोखे से या जोर-जबरदस्ती से कर दिया गया हो तो उसे आधुनिक कानून के अनुसार अन्यथा सिद्ध किया जा सकता है, भले ही विवाह में सभी धार्मिक-कृत्य क्यों न सम्पादित कर दिये गये हों।²³ पैशाच-कृत्य, विवाह के रूप में नहीं अपितु दुष्कर्म या बलात्कार के रूप में बढ़ता जा रहा है। कन्याएँ प्रतिदिन इस शोषण का शिकार हो रही हैं। छोटी उम्र से लेकर बड़ी उम्र तक इस दुष्कर्म को अन्जाम दिया जा रहा है। यहाँ तक कि ऐसा दुष्कर्म करने के उपरान्त लड़कियों को मार दिया जाता है जिसे प्राचीनकालीन पैशाच की संज्ञा नहीं दी जा सकती। विवाह का अर्थ होता है- 'विशिष्ट ढंग से कन्या को ले जाना। यह विवाह भी तभी सार्थक है जब धार्मिक विधि-विधान के साथ सम्पन्न किया जाए अन्यथा बलपूर्वक या दुष्कर्म कर कन्या को प्राप्त करने को विवाह का नाम नहीं दिया जा सकता, ऐसा करना मात्र दुष्कर्म है, मानवता का हनन है। तत्कालीन समय में भी इसे अत्यन्त घृणास्पद, जघन्य कर्म माना जाता था और आज भी। हाल ही में हुए दो वर्ष की बच्ची 'फलक' तथा 'दामिनि' केश ने भारतवर्ष को शर्मसार कर दिया है। ऐसे हजारों केश कन्या शोषण से सम्बन्धित हैं। यद्यपि ऐसे दुष्कर्म के लिए "भारतीय दण्ड संहिता (फौजदारी कानून) की धारा 376" के अनुसार बलात्कारी के लिए 7 वर्ष से 10 वर्ष या उम्र कैद का विधान किया गया है।²⁴ फिर भी इस दुष्कृत्य में वृद्धि होती जा रही है। ऐसे दुष्कर्म को रोकने के लिए और अधिक कठोर से कठोर

कानून बनाये जाने चाहिये। ऐसे मामलों में शीघ्रताशीघ्र निर्णय लिया जाना चाहिये, तभी देश का उज्ज्वल भविष्य सम्भव है, अन्यथा देश अंधकाररूपी पतन के गर्त में चला जाएगा।

तत्कालीन समाज में पुरुष का विवाह वयस्क होने पर तथा स्त्री का विवाह बाल आयु में होता था। आधुनिक समय में बाल-विवाह की यह कुरीति समाप्त हो गई है। प्रारम्भ में भारत सरकार ने "बाल-विवाह नियंत्रक अधिनियम 1929 या शारदा विवाह अधिनियम" के द्वारा लड़के की विवाह आयु 18 वर्ष और लड़की की आयु 15 वर्ष निर्धारित कर बाल-विवाह को रोकने का प्रयास किया। इसी प्रकार "हिन्दू विवाह अधिनियम 1955" पारित किया गया, जिसमें वर की आयु 18 वर्ष तथा वधू की आयु 15 वर्ष निश्चित की गई। जिसका उल्लंघन करने पर धारा 18, उपधारा (अ) के अनुसार 15 दिन के साधारण कारावास या एक हजार रुपये जुर्माने का विधान किया गया।²⁵ लेकिन बाद में इस अधिनियम को संशोधित कर लड़की के विवाह की न्यूनतम आयु 18 वर्ष और लड़के की 21 वर्ष निर्धारित की गई।²⁶ वर्तमान में विवाह की यह आयु वैध मानी गई है जो शारीरिक व मानसिक दृष्टि से उचित है। ग्रामीण क्षेत्रों में कहीं-कहीं लड़कियों का अल्पायु में विवाह देखने को मिलता है, जिसका कारण वहाँ की प्रथाएँ, रीति-रिवाज, अशिक्षा, रूढ़िवादिता इत्यादि हैं। शहरी क्षेत्रों में अब लड़कियों के पढ़ने-लिखने के पश्चात् ही विवाह किया जाता है। अतएव लड़कियों में शिक्षा का प्रसार बढ़ जाने से भी उनकी विवाह की आयु स्वतः बढ़ रही है।

शंखस्मृति में कहीं भी ऐसा संकेत नहीं मिलता है जिससे यह लक्षित होता हो कि कन्याओं का विवाह करने में कन्या पक्ष वालों को बहुत अधिक आर्थिक कठिनाई का सामना करना पड़ता था। यदि धन दिया भी जाता रहा होगा तो बहुत कम या धर्म के पालन हेतु या इस प्रकार की प्रथा धनी या उच्च वर्ग में होगी साधारण जन में नहीं, क्योंकि शंख ने कहीं भी कन्या को अलंकृत कर दान करने की बात नहीं कही है। वस्तुतः विवाह बिना किसी दहेज के अत्यन्त साधारण ढंग से होता था, किन्तु आज विवाह में 'दहेज' एक विकट समस्या बन गई है। जिसके कारण आज पारिवारिक संघर्ष, निम्न जीवनस्तर, नवजात कन्याओं की हत्या, आत्महत्या, लड़कियों का अविवाहिता रह जाना, बेमेल विवाह, विवाह-विच्छेद, बाल-विवाह, अनैतिकता व अपराध का बढ़ना, मानसिक व्याधियाँ, स्त्री शिक्षा में बाधा इत्यादि समस्याएँ दिन- प्रतिदिन बढ़ती जा रही हैं। इसलिये दहेज के विरुद्ध कानून बना दिये गये हैं। दहेज की रकम भी तय की गई है। उदाहरण के लिए "राजस्थान दहेज प्रतिबन्ध विधेयक 1958" के अनुसार यह 501 रुपये से अधिक नहीं हो सकती और भारतीय लोकसभा में प्रस्तावित "दहेज निषेध विधेयक" के अनुसार दो हजार से अधिक नहीं होनी चाहिए।²⁷ लेकिन आज दहेज मांगने वाले रूपये हजारों में नहीं वरन् लाखों में दहेज की मांग करते हैं। इसलिये अब "दहेज निषेध अधिनियम 1961 (1961 का 28वां)" की धारा 3 और 4 के अनुसार दहेज देना या लेना और दहेज मांगना कानूनी अपराध घोषित कर दिया गया है तथा ऐसे लोगों को दण्डरूप में 6 मास का कारावास या 5,000 रुपये जुर्माना अथवा दोनों हो सकते हैं।²⁸

समाज में बहुपत्नी विवाह की प्रथा थी, लेकिन एक पत्नी विवाह को ही आदर्श रूप में माना जाता था। आज बहुपत्नी विवाह न तो सैद्धान्तिक रूप से मान्य है, न ही व्यवहारिक रूप में। अब एक से अधिक स्त्रियों से विवाह करना गैरकानूनी है। भारत सरकार के "हिन्दू विवाह अधिनियम 1955 (1955 का 25वां)" के अनुसार कोई भी व्यक्ति एक पत्नी या पति के रहते हुए दूसरा विवाह नहीं कर सकता। यदि पति-पत्नी का कानूनन विवाह-विच्छेद (तलाक) नहीं हुआ है तो भी दूसरा विवाह

करना अवैध है। हाँ, यदि विवाह के समय पति या पत्नी जीवित न हो या कानूनन विवाह-विच्छेद हुआ हो तो दोनों विवाह कर सकते हैं। इस प्रकार वर्तमान में विवाह सम्बन्धी स्वच्छन्द प्रवृत्तियों के स्थान पर मानवोचित व्यवहार को मर्यादित कर दिया गया है।

बहुपत्नीत्व के साथ-साथ समाज में अनुलोम विवाह का प्रचलन था अर्थात् उच्च वर्ण का पुरुष अपने से निम्न वर्ण वाली स्त्री से विवाह कर सकता था²⁹, किन्तु सवर्णा अर्थात् अपनी ही जाति वाली स्त्री से विवाह को उत्कृष्ट माना जाता था। आधुनिक समय में इसे अन्तर्विवाह (Inter Caste) कहा जाता है। आज अधिकांशतः हिन्दू परिवारों में इस नियम का दृढ़ता से निर्वाह किया जा रहा है। विशेषकर ग्रामों में इस नियम के विरुद्ध जाकर विवाह करना सरल नहीं है। ऐसा करने पर लोग उसे जाति से बहिष्कृत कर देते हैं, किसी प्रकार का सम्बन्ध नहीं रखते तथा कोई सहयोग नहीं करते, किन्तु अब शिक्षा के प्रचार-प्रसार, सह-शिक्षा, विचारों व सामाजिक सुधारकों का प्रभाव, वयस्क विवाह, आवागमन एवं सन्देशवाहन के साधनों में वृद्धि, सह-कार्य, औद्योगीकरण एवं नगरीकरण, विज्ञान का प्रभाव, कानूनी बाधाओं की समाप्ति आदि के कारण अन्तर्जातीय विवाह का प्रचलन बढ़ रहा है, जिनमें सर्वाधिक प्रेम-विवाह है। डॉ. सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार ने अन्तर्विवाह तथा अन्तर्जातीय विवाह के भेद को स्पष्ट करते हुए कहा है कि "अपनी जाति में ही विवाह करना अन्तर्विवाह (Inter Caste) है, यथा-सारस्वत ब्राह्मण का सारस्वतों में, गौड़ का गौड़ों में और कान्यकुब्ज का कान्यकुब्जों में विवाह करना।" यदि अपनी जाति से बाहर विवाह किया जाए तो वह अन्तर्जातीय विवाह है, यथा-ब्राह्मण यदि सारस्वत है और वह गौड़ या कान्यकुब्ज ब्राह्मण परिवार में विवाह करता है तो वह अन्तर्जातीय विवाह (Inter Sub-Caste Marriage) है।³⁰ वस्तुतः अन्तर्जातीय विवाह जाति-विवाह ही है फिर भी अन्तर्जातीय विवाह नहीं किये जाते हैं। प्रारम्भ में कानून ने भी इसे अवैध माना था, किन्तु बाद में इसे वैध माना गया। वर्तमान में "हिन्दू विवाह मान्यता अधिनियम 1949" के अनुसार विवाह के लिए एक ही जाति या धर्म का होना आवश्यक नहीं है। किसी भी धर्म, जाति या उपजाति के लोग आपस में विवाह कर सकते हैं।³¹ इसी प्रकार "विशेष विवाह अधिनियम 1954 (1954 का 43वां)" के अधीन विभिन्न धर्मावलम्बियों को बिना अपना धर्म बदले आपस में विवाह करना मान्य है।³²

इस प्रकार संस्कारों के विवेचन से स्पष्ट होता है कि यद्यपि वर्तमान समय में सुरक्षात्मक दृष्टि से विभिन्न नियम-कानून बनाए गये हैं फिर भी बदलते परिवेश, पाश्चात्य दृष्टिकोण व संकुचित मानसिकता आदि के कारण संस्कारों का वास्तविक स्वरूप एवं उद्देश्य विकृत हो गया है। जिसके कारण आज समाज में पारस्परिक विद्वेष, नैतिक एवं चारित्रिक पतन जैसी विषम प्रवृत्तियाँ दृष्टिगोचर हो रही हैं। यदि इन संस्कारों का समुचित रीति से नियमपूर्वक पालन किया जाए तो प्रतिभा सम्पन्न व्यक्तित्व का निर्माण तथा आध्यात्मिक प्रवृत्ति सम्भव हो सकती है।

सन्दर्भग्रन्थाः

1. पाण्डेय, डॉ. राजबली, हिन्दू-संस्कार, पृ.351-352
2. काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, पृ.180
3. (क) आशा रानी व्होरा, औरत कल, आज और कल, पृ.136

- (ख) प्रो. सरिता वाशिष्ठ, महिला और कानून, पृ.132-133
4. परांजपे, डॉ. ना.वि., भारतीय दण्ड संहिता, संस्करण 2008, पृ.545
 5. शर्मा, हरद्वारी लाल, संस्कृति-विज्ञान की रूप-रेखा, पृ.199
 6. काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, पृ.180
 7. प्रीति प्रभा गोयल, भारतीय संस्कृति, पृ.74
 8. द्विवेदी, श्री ब्रजवल्लभ, भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्व, पृ.4
 9. डॉ. किरण टण्डन, भारतीय संस्कृति, पृ.60
 10. काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग पृ.196 तथा 180
 11. पुरोहित, डॉ. सोहन कृष्ण, उपनयन संस्कार मीमांसा, पृ.136
 12. पाण्डेय, डॉ. राजबली, हिन्दू संस्कार, पृ.149-150
 13. पुरोहित, डॉ. सोहन कृष्ण, उपनयन संस्कार मीमांसा, पृ.110
 14. सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि, राहु एवं केतु । दीक्षित, स्व. श्री शंकर बालकृष्ण, अनु.-झारखण्डी, शिवनाथ, भारतीय ज्योतिष, पृ.733-734
 15. शास्त्री, धरणीधर : सुगम उपनयन पद्धति, पृ.45-54
 16. डॉ., किरण टण्डन, भारतीय संस्कृति, पृ.134
 17. तोमर, प्रो. राम बिहारी सिंह, भारतीय सामाजिक संस्थाएँ, पृ.35
 18. काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, पृ.281
 19. तोमर, प्रो. राम बिहारी सिंह, भारतीय सामाजिक संस्थाएँ, पृ.41
 20. (क) अश्वत्थं हि भूरिदावत्तरा वां विजामातुरुत वा द्या स्यालात् ॥ ऋ., 1/109/2
 - (ख) दयति दोषा मर्यतो वधूयोः परिप्रीता पन्यसा वार्येण । वही, 10/27/12
 21. तोमर, प्रो. राम बिहारी सिंह, भारतीय सामाजिक संस्थाएँ, पृ.60 र वही, पृ
 22. तोमर, प्रो. राम बिहारी सिंह, भारतीय सामाजिक संस्थाएँ, पृ.46
 23. काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, पृ.306
 24. प्रो. सरिता वाशिष्ठ, महिला और कानून, पृ.136-137
 25. (क) तोमर, प्रो. राम बिहारी सिंह, भारतीय सामाजिक संस्थाएँ, पृ.69-73
 - (ख) कापड़िया, के.एम., भारतवर्ष में विवाह एवं परिवार, पृ.160-162, 172
 - (ग) आशा रानी व्होरा, औरत कल, आज और कल, पृ.134
 26. (क) आशा रानी व्होरा, औरत कल, आज और कल, पृ.135
 - (ख) प्रो. सरिता वाशिष्ठ, महिला और कानून, पृ.111, 133-134
 27. तोमर, प्रो. राम बिहारी सिंह, भारतीय सामाजिक संस्थाएँ, पृ.51

28. (क) आशा रानी व्होरा, औरत कल, आज और वफल, पृ.136
(ख) प्रो. सरिता वाशिष्ठ, महिला और कानून, पृ.135-136
29. (क) कापड़िया, के.एम., भारतवर्ष में विवाह एवं परिवार, पृ.120
(ख) तोमर, प्रो. राम बिहारी सिंह, भारतीय सामाजिक संस्थाएँ, पृ.31-32
(ग) प्रो. सरिता वाशिष्ठ, महिला और कानून, पृ.133-134
30. जोशी, डॉ. प्रदीप कुमार, प्राचीन भारतीय शास्त्रों में वर्णित गार्हस्थ्य आश्रम, पृ.152-153
31. (क) कापड़िया, के.एम., भारतवर्ष में विवाह एवं परिवार, पृ.123-124
(ख) तोमर, प्रो. राम बिहारी सिंह, भारतीय सामाजिक संस्थाएँ, पृ.35-36
32. आशा रानी व्होरा, औरत कल, आज और कल, पृ.134-135

Published Research Paper-3



Shodhshauryam, International Scientific Refereed Research Journal
© 2022 SHISRRJ | Volume 5 | Issue 4 | ISSN : 2581- 6306

स्मृति साहित्य में वर्णव्यवस्था की अवधारणा

प्रभा चतुर्वेदी

शोध छात्रा, संस्कृत विभाग, राजकीय महाविद्यालय, कोटा, राजस्थान।

Article Info

Volume 5, Issue 4

Page Number : 35-46

Publication Issue :

July-August 2022

Article History

Accepted : 01 July 2022

Published : 20 July 2022

सारांश- मानव के विभिन्न अंग उसके लिए जितने महत्वपूर्ण हैं उतने ही समाज के लिए ये चारों वर्ण आवश्यक थे। चारों वर्गों में से प्रथम तीन-ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य को 'द्विज' की संज्ञा दी गयी थी। इन तीनों को द्विज इसलिए कहा जाता था कि इनका प्रथम जन्म माता के गर्भ से और द्वितीय जन्म उपनयन के समय यज्ञोपवीत धारण करने से माना जाता था। चतुर्थ वर्ण शूद्र को अन्य तीन वर्णों की अपेक्षा निम्न स्थान दिया गया था और अन्य किसी पंचम वर्ण को मान्यता नहीं दी गयी थी।

मुख्य शब्द- स्मृति, साहित्य, वर्णव्यवस्था, समाज, मनुष्य, शिक्षण, संस्कृति, सभ्यता।

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज से पृथक् रहकर उसका अपना कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। समाज को व्यवस्थित, समुन्नत एवं सुसंगठित बनाने का पूर्ण दायित्व भी मनुष्य का ही है। इसलिये प्राचीन भारतीय मनीषियों ने एक आदर्श समाज की परिकल्पना की, जिसे साकार या मूर्तरूप देने के लिए नानाविध संस्थाओं को विकसित किया। जिनमें से एक 'वर्णव्यवस्था' थी। यह सामाजिक स्तरीकरण को एक ऐसी व्यवस्था थी, जो समाज के प्रत्येक वर्ग को समान महत्त्व एवं अवसर प्रदान कर, उसके कर्तव्य-कर्मों पर बल देती थी, जिससे उनमें सामञ्जस्य बना रहे, संघर्ष की स्थिति उत्पन्न न हो, क्योंकि सभी को समान अधिकार प्रदान करने पर समाज में शांति-व्यवस्था का बने रहना असम्भव है।¹ अतएव मनुष्य जोकि समाज की एक महत्वपूर्ण इकाई है, उसे चार वर्गों में विभाजित किया-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र। उनके लिए क्रमशः शिक्षण, शासन, व्यवसाय एवं श्रम को निर्धारित किया गया। इसके अधीन रहकर ही सभी वर्ण अपने धर्म का पालन करते थे और समाज के प्रति अपना पूर्ण उत्तरदायित्व निभाते थे। यही कारण है कि यह हजारों वर्षों तक भारतीय संस्कृति एवं सभ्यता का अभिन्न अंग बनी रही।

वर्ण शब्द की व्युत्पत्ति एवं अर्थ - वर्ण शब्द अति प्राचीन है जिसका सर्वप्रथम वर्णन हमें ऋग्वेद में उपलब्ध होता है। जहाँ यह 'रंग' अथवा 'प्रकाश'² के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। वहाँ पर यह जनसमुदाय³ के रूप में भी आया है जो आर्य (द्विजाति) तथा अनार्य (शूद्र) की रचना व विकास तथा मानवमात्र का कल्याण ही इसका ध्येय है, जो इसकी महत्ता को स्वतः स्पष्ट करता है।

Copyright: © the author(s), publisher and licensee Technoscience Academy. This is an open-access article distributed under the terms of the Creative Commons Attribution Non-Commercial License, which permits unrestricted non-commercial use, distribution, and reproduction in any medium, provided the original work is properly cited

यह ग्रन्थ प्राचीन भारतीय संस्कृति, सभ्यता, परम्परा, धर्म, आचार, नैतिकता आदि पर मूल्यवान् प्रकाश डालता है और इतने विषयों का सूक्ष्मदृष्टि से विशद् विवेचन करता है कि सीमित शब्दों में बहुत कुछ कह देना सम्भव नहीं है। अद्वैतग्रह अध्यायों में निहित गहन चिन्तन या विषय, यथा-ब्राह्मणादि वर्गों के कर्म, चारों आश्रमों के धर्म, संस्कार, पञ्चमहायज्ञ, आचमन, प्राणायाम, योग, अधमर्षण, गायत्री-जप, तर्पण, शुद्धि, अशौच, श्राद्ध तथा प्रायश्चित्त विधान आदि इसके महत्त्व को प्रकट करते हैं। मानवजीवनोपयोगी ये समस्त मूल्य समाज को अनुशासित, व्यवस्थित व विधिसम्पन्न बनाते हैं। मनुष्य का शारीरिक, मानसिक व बौद्धिक विकास कर उसमें उच्च नैतिक गुणों का आधान करते हैं। उसके चरित्र का निर्माण कर अन्तःकरण की शुद्धता व पवित्रता को स्थापित करते हैं। उसे सदाचार, शिष्टाचार, अनुशासन, संयम एवं विनम्रता का पाठ पढ़ाकर व्यवहारकुशल व धर्मपरायण बनाते हैं। प्राणीमात्र में समता का भाव उत्पन्न करते हैं जिससे मनुष्य सर्वाङ्गीण विकास के साथ-साथ समाज के प्रत्येक वर्ग-मनुष्य, देव, पितर आदि का पोषण करते हुए उसका विकास कर सके। अतएव इसमें निहित शिक्षा कर्तव्यच्युत को धर्मानुसार व नियमानुकूल सच्चरित्र जीवन व्यतीत करना तथा अनियमित व अनाचारयुक्त जीवन का त्याग करना सिखाती है जिससे मनुष्य सांस्कृतिक जीवन का विकास कर लोक और परलोक दोनों को सिद्ध कर सके।

आज के वैज्ञानिक युग में मनुष्य जहाँ मात्र स्वार्थसिद्धि रूपी लक्ष्य की प्राप्ति हेतु कर्म करता जा रहा है, प्रतिस्पर्धावश उसके अन्तःकरण में जो दुष्प्रवृत्तियाँ जन्म लेती जा रही हैं तथा समाज में जो अव्यवस्था बढ़ती जा रही है, उसका कारण स्मृति विहित धर्मसम्बन्धी जीवन-मूल्यों को निरर्थक मानते हुए उनकी अवहेलना का ही दुष्परिणाम है। अतः इस स्मृति के आदर्श नियम व सिद्धान्त आज भी मनुष्य की चरमोन्नति में सहायक हैं।

की ओर संकेत करता है। परवर्ती साहित्य में यह विविध अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। निरुक्त में वर्ण की व्युत्पत्ति 'वृज्' धातु से की गई है जिसका अर्थ है-चुनाव करना या वरण करना।⁴कोशग्रन्थ में वर्ण शब्द को 'वर्ण' धातुपूर्वक 'घञ्' प्रत्यय से निष्पन्न बताया है जिसमें उसके रंग, रूप, सौन्दर्य, मनुष्य श्रेणी, जनजाति, कबीला, ब्राह्मणादि जाति, श्रेणी, वंश, जनजाति इत्यादि अर्थ किये गये हैं।⁵ इसके अतिरिक्त 'वृ' धातु का प्रयोग वरण, वर्णन, आच्छादित करने एवं जीविका के अर्थ में हुआ है।⁶ कह सकते हैं कि जीविका आदि के लिए व्यवसाय का वरण करना 'वर्ण' है। अतएव वर्ण शब्द से आर्य एवं अनार्य जाति विशेष, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र-इन चार वर्णों का बोध होता है। वर्णव्यवस्था से तात्पर्य इन्हीं चार वर्णों से है।

कालान्तर में 'वर्ण' तथा 'जाति' शब्द को समानार्थक माना जाने लगा। महर्षि शंख ने वर्ण शब्द चारों वर्णों⁷ के लिए प्रयुक्त किया है और 'जाति' शब्द 'वर्ण' के लिए नहीं वरन् मनुष्य जाति⁸ के लिए किया है। स्मृतिकार मनु ने वर्ण शब्द का प्रयोग कुछ स्थानों पर 'जाति'⁹ अर्थ में तो कहीं पर मिश्रित जातियों¹⁰ के अर्थ में किया है। आधुनिक समय में तो 'वर्ण' तथा 'जाति' को पर्याय ही माना जाता है, किन्तु इन दोनों का गहनतापूर्वक अध्ययन करें तो इनमें विभिन्नता दिखाई देती है।

'जाति' शब्द स्त्रीलिंग का वाचक है। जो 'जन्' धातु 'क्तिन्' प्रत्यय¹¹ अथवा जनी प्रादुर्भावे¹² धातु से निष्पन्न हुआ है। इसमें जनन या उत्पन्न होने का भाव निहित है। गौतमन्यायसूत्रभाष्य में जाति की व्युत्पत्ति करते हुए कहा है कि-

"समानप्रसवात्मिका जातिः।¹³ अर्थात् जो प्राणी अपने ही समान प्रजनन में समर्थ हो, उसकी एक जाति होती है, यथा- मनुष्य जाति, पशु जाति, तिर्यक् जाति आदि। महाभाष्यकार ने आकृति भेद को जाति का बोधक मानते हुए जाति को परिभाषित किया है कि-"आकृति के द्वारा जिसका ज्ञान हो, जो सम्पूर्ण लिंगों को ग्रहण न करे और जो एक बार उपदेश से ही जान ली जाये, वह जाति है।¹⁴ वस्तुतः जो शब्द सभी लिंगों में व्यवहृत न होकर मात्र स्त्रीलिंग व पुल्लिंग में प्रयुक्त हो, जातिवाचक शब्द है। राम शब्द जातिवाचक नहीं है, क्योंकि इससे मात्र एक व्यक्ति का बोध होता है जबकि कुम्हार, बढ़ई इत्यादि शब्द जातिवाचक हैं, क्योंकि इनसे अनेक मनुष्यों की कुम्हार आदि जाति के रूप में पहचान होती है और ये सभी शब्द मात्र स्त्रीलिंग और पुल्लिंग में ही प्रयुक्त होते हैं। इस प्रकार मनुष्य जाति, गौ जाति, पशु जाति, पक्षी जाति इत्यादि आकृति भेद से पृथक्-पृथक् जातियाँ हैं।

श्री केतकर ने जाति को एक सामाजिक समूह मानते हुए इसकी दो विशेषताएँ बतलाई हैं (1) जाति की सदस्यता जन्मजात होती है तथा (2) इसके सदस्यों को एक सामूहिक नियमों के बंधन में ही रहना पड़ता है।¹⁵ इसी प्रकार डॉ. एन.के. दत्त ने जाति के विषय में कहा है कि "एक जाति के सदस्य स्वजाति के बाहर विवाह सम्बन्ध नहीं कर सकते, अन्य जातियों के लोगों के साथ बैठकर न भोजन और न कोई पेय ही ग्रहण कर सकते हैं। अधिकतर जातियों का अपना एक निश्चित व्यवसाय होता है। इनके साथ ही कुछ ऊँच-नीच के विभेद परस्पर जातियों में बने होते हैं। किसी व्यक्ति का सम्बन्ध किसी जाति विशेष से जन्म के ही आधार पर किया जाता है। एक जाति का दूसरी जाति में परिवर्तन तब तक सम्भव नहीं है जब तक कि व्यक्ति को किसी विशेष नियम के उल्लंघन के कारण अपनी जाति से बहिष्कृत न कर दिया जाए।¹⁶

कुछ विचारकों ने वर्ण एवं जाति के अन्तर को स्पष्ट किया है। पी.वी. काणे के अनुसार "वर्ण की धारणा वंश, संस्कृति, चरित्र (स्वभाव) एवं व्यवसाय पर मूलतः आधारित है। इसमें व्यक्ति की नैतिक एवं बौद्धिक योग्यता का समावेश होता है और यह स्वाभाविक वर्गों की व्यवस्था का सूचक है। स्मृतियों में भी वर्गों का आदर्श है कर्त्तव्यों पर, समाज या वर्ग के उच्च मापदण्ड पर बल देना, न कि जन्म से प्राप्त अधिकारों एवं विशेषाधिकारों पर बल देना। जबकि जातिव्यवस्था जन्म एवं आनुवांशिकता पर बल देती है। यह बिना कर्त्तव्यों के आचरणों पर बल दिये, केवल विशेषाधिकारों पर ही आधारित कही जा सकती है।¹⁷ इसी प्रकार वर्ण तथा जाति के भेद को अभिव्यक्त करते हुए किरण टण्डन ने वर्ण को कर्ममूलक तथा जाति को जन्ममूलक कहा है। उनके मत से "वर्णव्यवस्था लचीली है, क्योंकि व्यक्ति का वर्ण उसके कर्मानुसार बदल सकता था, यथा-जाति की दृष्टि से विश्वामित्र क्षत्रिय थे, किन्तु वर्ण की दृष्टि से 'ब्रह्मर्षि' पद प्राप्त करने पर ब्राह्मण बन गये थे। यह व्यवस्था समानता के सिद्धान्त का पालन करती है। इसमें अनुलोम विवाहादि की स्वीकृति मिल जाती है। यह कर्त्तव्यनिष्ठा का प्रतीक तथा सामाजिक अनुशासन का मूल है। इसके विपरीत जातिव्यवस्था कठोर है, क्योंकि जाति में परिवर्तन सम्भव नहीं है। यह ऊँच-नीच, असमानता, भेदभाव का प्रतीक बनी हुई है। इसमें एक जाति के व्यक्ति के वैवाहिक सम्बन्ध दूसरी जाति के व्यक्ति से नहीं हो सकते। यह सामाजिक, धार्मिक प्रतिबन्धों पर जोर देती है तथा यह वर्णव्यवस्था का ही विकृत रूप है।¹⁸ वस्तुतः वर्ण और जाति दोनों भिन्न अभिप्राय के वाचक हैं, किन्तु वर्तमान समय में लोग भ्रमवश दोनों को एक ही अर्थ का बोधक समझ लेते हैं।

वर्णों की उत्पत्ति तथा विकास - वर्णों की उत्पत्ति विषयक धारणा सर्वप्रथम ऋग्वेद के पुरुषसूक्त से स्पष्ट होती है। जहाँ विराट् पुरुष के मुख, भुजाओं, जंघाओं एवं पैरों से क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र की उत्पत्ति बतलाई गई है।¹⁹ जो प्राचीन- कालीन वर्णव्यवस्था को द्योतित करती है। जबकि कुछ विचारकों के अनुसार यह सूक्त अर्वाचीन है। उनका मानना है कि काल की दृष्टि से यह सूक्त बाद में जोड़ा गया है।²⁰ परवर्ती साहित्य में भी वर्णों के उत्पत्ति विषयक इसी सिद्धान्त को यथावत् स्वीकार कर लिया गया।²¹ वर्णों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में तैत्तिरीय ब्राह्मण में भेद अवश्य मिलता है जिसमें तीन वेदों में तीन वर्णों की उत्पत्ति कही गयी है, यथा-सामवेद से ब्राह्मण, यजुर्वेद से क्षत्रिय एवं ऋग्वेदों से वैश्य।²² स्मृतिकार मनु ने वर्णों की उत्पत्ति का आधार ब्रह्मा को मानते हुए कहा है कि सृष्टि के विकास हेतु स्वयं ब्रह्मा ने इनकी उत्पत्ति की है।²³ महाभारत के शांतिपर्व से ज्ञात होता है कि ब्रह्मा ने एक साथ चारों वर्णों को उत्पन्न नहीं किया वरन् सर्वप्रथम ब्राह्मण को उत्पन्न किया और बाद में उसकी सहायता के लिए अन्य वर्णों को। जिनमें प्रारम्भ में किसी प्रकार का कोई भेद नहीं था, सम्पूर्ण जगत् ही ब्राह्मण था अर्थात् एक ही वर्ण था-ब्राह्मण, किन्तु बाद में कर्मों की विविधता के कारण ब्राह्मण ही अपने-अपने कर्मानुसार पृथक्-पृथक् वर्णों में विभक्त हो गया।²⁴ यहाँ इतना तो स्पष्ट होता है कि पहले वर्णभेद नहीं था, लेकिन बाद में सामाजिक आवश्यकताओं के परिप्रेक्ष्य में कर्म के अनुसार वर्ण विभाजन हो गया।

कर्म-विभाजन के कारण ही विभिन्न जातियों का उद्भव हुआ।²⁵ वैदिकग्रन्थों में चारों वर्णों के अतिरिक्त कुछ ऐसे व्यवसायों के नामोल्लेख मिलते हैं। जो बाद में जाति के परिचायक हो गये थे, यथा-बढ़ई, रथकार, वैद्य, लोहार, कुम्हार, चमार इत्यादि। धर्मशास्त्रीयग्रन्थों²⁶ में भी असंख्य जातियों-चाण्डाल, अम्बष्ठ, आयोगव, आश्विक, कुम्भ-कार, कर्मकार (चमार), कर्मकार (लोहार), कांस्यकार आदि के होने का वर्णन मिलता है। यहाँ पर चाण्डाल-शूद्र द्वारा ब्राह्मणों में उत्पन्न प्रतिलोम सन्तान है। जो शर्वों को ढोने या जल्लाद का कार्य करता है। अम्बष्ठ-ब्राह्मण एवं वैश्य नारी की अनुलोम सन्तान है। यह शल्यजीवी या वैद्य का कार्य करने वाला है। आयोगव-वैश्य पुरुष एवं क्षत्रिय नारी से उत्पन्न प्रतिलोम सन्तान है। इसका कार्य लकड़ी काटने, धान उत्पन्न करने या कपड़े बेचने का है। आश्विक-क्षत्रिय पुरुष एवं वैश्य नारी के गान्धर्व विवाह से उत्पन्न है। यह घोड़े का व्यापार करने वाला है।²⁷ इसी प्रकार स्मृतिग्रन्थों²⁸ के अध्ययन से ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में कतिपय जातियाँ व उपजातियाँ बन चुकी थी। शंखस्मृति में चारों वर्णों-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र के अतिरिक्त शिल्पकार, नट, चिकित्सक, स्त्री व मृगों से आजीविका कमाने वाले, चमार, रागी, सुनार, ब्याज से आजीविका करने वाले, कुत्तों से आजीविका करने वाले, मूँज से आजीविका करने वाले तथा वणिक् जातियों का वर्णन उपलब्ध होता है।²⁹ आज जो विविध जातियाँ दिखाई देती हैं वे प्रचलित ऐतिहासिक आचार परम्पराओं एवं धार्मिक, आर्थिक कारकों का ही परिणाम है।

वर्ण विभाजन का आधार - वर्ण विभाजन के सम्बन्ध में सामान्यतः तीन सिद्धान्त प्रचलित हैं-कर्मगत, गुण एवं कर्मगत तथा जन्मगत एवं कर्मगत। इन तीन सिद्धान्तों के अन्तर्गत ही वर्ण-विभाजन विषयक समस्त विषयों का समावेश हो जाता है।

कर्मगत - प्राचीनकालीन वर्णव्यवस्था में कर्म को विशेष महत्त्व दिया गया था। इसमें व्यक्ति की योग्यता व क्षमता के आधार पर कर्तव्य-कर्मों पर बल दिया गया था। यह सिद्धान्त मुख्यतः दो मान्यताओं पर प्रकाश डालता है। प्रथम तो यह है कि जिस व्यक्ति ने अपनी क्षमता के अनुसार जिस कर्म या व्यवसाय को स्वीकार किया, उसी के आधार पर उसके वर्ण का निर्धारण हुआ, यथा-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र। अतएव जो व्यक्ति ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुआ है वह सदैव ब्राह्मण रहे, यह आवश्यक नहीं था, वह अपनी इच्छानुसार किसी भी वर्ण का वरण कर सकता था। ऋग्वेद में एक ऐसे परिवार का वर्णन प्राप्त होता है जिसमें एक मंत्रकार के पिता को वैद्य तथा माता को अनाज पीसने वाली बताया गया है।³⁰ साथ ही ब्राह्मणत्व जन्म से नहीं वरन् आचरण से माना गया था। एक संवाद के अनुसार जबाला का पुत्र सत्यकाम हरिदुमत के पुत्र गौतम के पास जाकर कहता है-भगवन् ! मैं आपका ब्रह्मचारी बनना चाहता हूँ। इसलिये आपके समीप आया हूँ। तब आचार्य गौतम ने कहा-हे सौम्य ! तुम किस वंश के हो, उसने कहा -भगवन् ! मैं नहीं जानता कि मैं किस वंश का हूँ। मैंने अपनी माता से पूछा था। उसने कहा है कि अपनी युवावस्था में मैंने दासी के रूप में अनेक लोगों की सेवा की थी, तब तुझे प्राप्त किया था। इसलिये मैं नहीं जानती कि तू किस वंश का है। मेरा नाम जबाला है और तू सत्यकाम है। तू अपने को सत्यकाम जाबाल बतला देना। अतएव हे गुरु ! मैं सत्यकाम जाबाल हूँ। गौतम ने सत्यकाम से कहा-एक सच्चे ब्राह्मण के अतिरिक्त अन्य कोई इतना स्पष्टवादी नहीं हो सकता, जाओ उपनयन के लिए समिधा ले आओ। मैं तुम्हें अपना शिष्य स्वीकार करता हूँ, क्योंकि तूने सत्य का त्याग नहीं किया।³¹ दूसरे मत के अनुसार किये गये कर्मों के प्रतिफल के रूप में प्राप्त पुनर्जन्म, यथा-शूद्र के घर जन्म लेने वाला व्यक्ति यदि अपने जीवनकाल में अच्छे कर्म करता है तो हो सकता है वह पुनर्जन्म में उच्च वर्ण को प्राप्त करे, क्योंकि ऐसा माना जाता है कि व्यक्ति के द्वारा किया गया कर्म कभी व्यर्थ नहीं जाता अपितु उसका प्रतिफल अवश्य प्राप्त होता है।³²

गुण एवं कर्मगत - यहाँ गुण तथा कर्म से अभिप्राय व्यक्तियों की स्वाभाविक प्रवृत्तियों एवं उसके सामाजिक दायित्वों से है, जिसके आधार पर उन्हें चार वर्गों में विभाजित किया गया था। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं कहा है कि-मैंने गुण और कर्म के आधार पर चारों वर्गों की सृष्टि की है।³³ गुण तीन प्रकार के कहे गये हैं-सत्त्व, रजस् एवं तमस्।³⁴ इनमें सत्त्वगुण निर्मल, प्रकाशमान एवं क्लेशरहित होने के कारण सुख तथा ज्ञान की प्राप्ति कराने वाला है। रजोगुण राग-द्वेष एवं विषयों की ओर आकृष्ट कर कर्म की ओर प्रेरित करता है। तमोगुण प्रसाद, आलस्य, निद्रा को उत्पन्न कर मोहयुक्त कर देता है। अतएव सत्त्वगुण धर्म, रजोगुण अर्थ तथा तमोगुण काम या अज्ञान का हेतु है। इनमें धर्म की ओर प्रवृत्त करने के कारण सत्त्वगुण सर्वश्रेष्ठ है।³⁵ महाभारत के एक पद्य से स्पष्ट होता है कि ब्रह्मा ने वर्गों की उत्पत्ति सम्भवतः सत्त्व, रजस् एवं तमस्-इन तीन गुणों³⁶ के आधार पर की हो, तभी तो ब्राह्मणों में सत्त्वगुण व पवित्रता की, क्षत्रियों में रजोगुण व तेज की, वैश्यों में रजस् व तमस् की तथा शूद्रों में तमोगुण व अज्ञान की प्रधानता मानी गयी है।³⁷ जिस प्रकार चारों वर्गों के गुण भिन्न-भिन्न हैं उसी प्रकार उनके पुरुषार्थ (कर्म) भी अलग-अलग हो गये। धर्म कार्य को करने वाले ब्राह्मण, विषयों में आसक्त, तीक्ष्ण स्वभाव वाले, क्रोधी तथा साहस का काम करने वाले क्षत्रिय, कृषि, व्यवसायादि को प्रधानता देने वाले वैश्य तथा पवित्रता एवं सदाचार से हीन एवं लोभयुक्त होकर निन्दित कर्मों से जीविका चलाने वालों को शूद्र कहा जाने लगा।³⁸ इस प्रकार गुणों के आधार पर चारों वर्गों के पुरुषार्थ में भेद हो गया।

जन्मगत एवं कर्मगत - स्मृतियों ने जन्मगत एवं कर्मगत दोनों सिद्धान्तों को मान्यता दी है। इनके प्रणयन समय में वर्णव्यवस्था इतनी अधिक सुदृढ़ हो गयी थी कि वर्ण का आधार जन्म को स्वीकार किया जाने लगा था, कर्म को नहीं। इस सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति जिस किसी वर्ण में जन्म लेता है वह उसी वर्ण का माना जाता है, यथा-ब्राह्मण का पुत्र ब्राह्मण एवं क्षत्रिय का क्षत्रिय होगा। स्मृतियों में ऐसे बहुत से उद्धरण मिलते हैं जो जन्मना वर्णव्यवस्था की पुष्टि करते हैं। मनुस्मृति में जन्म से ही ब्राह्मण को अन्यान्य वर्गों की अपेक्षा श्रेष्ठ माना गया है।³⁹ लघुहारीतस्मृति में ब्राह्मण के द्वारा ब्राह्मण स्त्री में उत्पन्न को ब्राह्मण कहा गया है।⁴⁰ यदि हम किसी बालक के नाम या संस्कार की बात करें तो जन्म से ही इनका निर्धारण होता है न कि कर्म से, क्योंकि एक बालक का तो कोई कर्म निर्धारित नहीं होता, तब तो उसका नाम या संस्कार उसके जन्मगत वर्ण के आधार पर ही किये जाएंगे। ये सभी तथ्य जन्मना वर्णव्यवस्था की ओर संकेत करते हैं, किन्तु स्मृतियों में मात्र जन्म या वंश से ही ब्राह्मणत्व को स्वीकार नहीं किया गया है अपितु उनके आचार, चरित्रिक श्रेष्ठता एवं कर्मों पर भी अधिक बल दिया गया है⁴¹, क्योंकि विहित कर्मों को न करने से तथा निषिद्ध कर्मों को करने से मनुष्य पतित होता है।⁴² मनु के अनुसार आचारहीन ब्राह्मण शूद्रत्व को प्राप्त करता है और आचारयुक्त शूद्र श्रेष्ठ जाति को।⁴³

शंखस्मृति में जन्म एवं कर्म दोनों को वर्ण विभाजन का आधार माना गया है। एक स्थान पर ब्राह्मण को उपदेश दिया गया है कि वह उसी का यज्ञ कराये व उसी से दान स्वीकार करे, जिसने परम्परागत आजीविका का परित्याग न किया हो और कर्म एवं जन्म से उसका नियमपूर्वक पालन किया हो।⁴⁴ शंखस्मृति में यह भी उल्लेख मिलता है कि ब्राह्मण बालक का नाम शर्मन् अन्त वाला (रामदेव शर्मा), क्षत्रिय का वर्मन् (रणवीर वर्मा), वैश्य का धनयुक्त (मोतीलाल गुप्त) एवं शूद्र का दास अन्त वाला (हरिदास) होना चाहिये।⁴⁵ यहाँ ब्राह्मणादि वर्गों का शर्मनादि नाम रखा जाना जन्मगत वर्णव्यवस्था को इंगित करता है, किन्तु शंख ने स्पष्ट कहा है कि संस्कार के अभाव में वे (द्विज) शूद्र के समान समझे जाएंगे। और उपनयन के पश्चात् वेदाध्ययन से ही उनको द्विज माना जाएगा।⁴⁶ उन्होंने ब्राह्मण को परिभाषित करते हुए कहा है कि जो जन्म-मृत्यु, आधि-व्याधि आदि किसी परिस्थिति में विचलित नहीं होता, वह ब्राह्मण है।⁴⁷ अतएव शंख ने जन्मना ब्राह्मण होने पर भी कर्म से ब्राह्मणत्व की सार्थकता मानी है। इस प्रकार स्मृतिकाल में जन्मतः वर्ण होने पर भी कर्म एवं आचार ही ब्राह्मणत्व एवं शूद्रत्व के निर्णायक थे। इसलिये वर्ण का आधार मात्र जन्म को मानना युक्तिसंगत न होगा। जो लोग ऐसा समझते हैं वह वस्तुतः अज्ञानवश ही ऐसा करते हैं।

संक्षेपतः प्राचीनकाल में व्यक्तियों की कर्मगत विशिष्टता को ध्यान में रखकर समाज का चार वर्गों में विभाजन किया गया था और स्मृतिकाल में जन्म के साथ-साथ कर्म एवं आचार को प्रधानता दी गयी थी। कालान्तर में जन्मगत होने से व्यक्ति को माता-पिता के वर्ण से जोड़कर उसकी चिन्तन शक्ति, योग्यता एवं चरित्र का विचार किये बिना उसे अनेक सुविधाओं से वंचित कर दिया गया, जिससे उनमें ऊँच-नीच की भावना पनपती रही और वर्गों में विरोध एवं अलगाव उत्पन्न हो गया।

यहाँ यह विचारणीय है कि किसी वर्ण का निर्धारण मात्र जन्म के आधार पर करना क्या संगत है? क्योंकि यह आवश्यक नहीं है कि ब्राह्मण परिवार में उत्पन्न बालक में ब्राह्मणोचित गुण हो। यह ठीक है कि अनेकशः ऐसा होता है, परन्तु इसे

आधार मानना भी तो उचित नहीं है। आज गुण या योग्यता का विचार किये बिना मात्र जन्म के आधार पर वर्ण का निर्धारण करने के कारण ही समाज में असन्तोष तथा अव्यवस्था उत्पन्न हो चुकी है। इसी कारण बहुत से विद्वानों ने वर्णव्यवस्था के गुण-दोषों की भी चर्चा की है-मेरिडिथ टाउनसन्ड वर्णव्यवस्था को सकारात्मक देखते हुए कहते हैं कि "यह एक अद्भुत आविष्कार है, समाजवाद का एक रूप है जिसने सदियों से हिन्दू समाज को अराजकता एवं औद्योगिक तथा प्रतिस्पर्धात्मक जैसी जीवन की हानिकारक बुराईयों से बचाया है। यह निर्धन के लिए स्वतः प्रवृत्त कानून और सर्वाधिक सुदृढ़ व्यवसायिक संगठन है।⁴⁸ सिडनी लॉ के अनुसार " भारतीय समाज को राजनैतिक आघात (प्रभाव) और प्राकृतिक विकल्पों के लिए सबल बनाने वाली तथा मूलभूत स्थिरता और संतोष का प्रमुख कारण, यहाँ की वर्णव्यवस्था है। जो प्रत्येक मनुष्य को समाज में उसका स्थान, आजीविका, जीवन प्रणाली और मित्रमण्डली देती है। यह उसे आरम्भ से ही एक सामूहिक संगठन की सदस्यता प्रदान करती है तथा उसे आजीवन समाज की विनाशकारी दुष्प्रवृत्तियों (ईर्ष्या, अपूर्ण आकांक्षाओं) से बचाती रहती है।⁴⁹

दूसरी ओर कुछ विद्वान् वर्णव्यवस्था की निन्दा करते हैं। सर हेनरी मेन ने इसकी भर्त्सना करते हुए, इसे सबसे अधिक विनाशकारी बताया है⁵⁰, किन्तु अध्ययन से स्पष्ट होता है कि प्रारम्भ में यह उतनी कठोर नहीं थी, जितनी कालक्रम के प्रभाव से लोगों ने धर्म, सम्प्रदाय इत्यादि से जोड़कर इसे कठोर बना दिया। डॉ. राधाकृष्णन् के अनुसार "जातिभेद रूपी संस्था सिद्धान्तविहीन पुरोहितों का आविष्कार न होकर समय की अवस्थाओं द्वारा मनुष्य, समाज का स्वयं विकसित रूप थी, जो कि ब्राह्मणग्रन्थों के काल तक आते-आते दृढ़ हो चुकी थी। उनके अनुसार उस समय अनुलोम एवं प्रतिलोम विवाह प्रचलन में थे, किन्तु बाद में रक्त के अत्यधिक सम्मिश्रण को बचाने के लिए सवर्ण विवाह को ही महत्त्व दिया जाने लगा। इस प्रकार जो संस्था प्रारम्भ में केवल सामाजिक रूप में थी, उसे धार्मिक रूप दे दिया गया और जाति विषयक नियम अटल बन गये। प्रारम्भिक वर्णधर्म में जो लचीलापन था उसके स्थान पर जाँत-पाँत के नियम अत्यन्त कठोर हो गये। प्राचीन वैदिककाल में पौरोहित्य एक व्यवसाय था। कोई भी आर्य इस कर्म को कर सकता था, किन्तु इन्हें वैश्य वर्ग से श्रेष्ठ नहीं समझा जाता था। कभी-कभी उन्हें घृणा की दृष्टि से भी देखा जाता था, लेकिन अभिमान के कारण जो अलग रहने का भाव आ गया था, वह जाति का आधार बन गया। इस प्रवृत्ति के कारण स्वतन्त्र विचार दब गये और चिन्तन सम्बन्धी उन्नति पिछड़ गई। सदाचार का मानदंड खण्डित हो गया। जो व्यक्ति जात-बिरादरी के नियमों का उल्लंघन करता था उसे विद्रोही समझा जाता था और जाति से बहिष्कृत कर दिया जाता था। शूद्रों के लिए द्विज कर्मों के अनुष्ठान पर प्रतिबन्ध था, यह धारणा दृढ़ हो चली थी। इस कारण पारस्परिक घृणा बढ़ती गयी।⁵¹

वैदिककाल से चली आयी वर्णव्यवस्था का विकसित व सुदृढ़ रूप स्मृतिग्रन्थों में उपलब्ध होता है। मन्वादि स्मृतिकारों ने इसका विशद् वर्णन किया है वहीं महर्षि शंख ने अपने शंखस्मृति नामक धर्मशास्त्रग्रन्थ की रचना ही चारों वर्गों के हितसम्पादनार्थ की है।⁵² उन्होंने इसमें जिन सांस्कृतिक तथ्यों (वर्णाश्रमादि) को उद्धृत किया है उनसे तत्कालीन समाज का जीवन प्रतिबिम्बित होता है। जिनमें से प्रथमतः वर्णव्यवस्था को विवेचित किया है। महर्षि ने वर्णव्यवस्था सम्बन्धी वर्णोत्पत्ति पर नाममात्र का भी प्रकाश नहीं डाला है केवल शास्त्र के प्रारम्भ में "स्वयम्भुवे नमस्कृत्य सृष्टिसंहारकारिणे।⁵³ कहा है और चारों वर्गों के धर्म-कर्मों पर संक्षिप्त चर्चा की है। ऐसा लगता है कि महर्षि ने अपने से पूर्व मन के ब्रह्मा से

वर्ण उत्पत्ति विषयक सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया हो, इसलिये उन्होंने इसका वर्णन करना उचित न समझा हो। सम्भवतः वर्ण- व्यवस्था का विस्तृत वर्णन न करने का एक कारण यह हो सकता है कि तत्कालीन समाज में यह व्यवस्था सम्यक् रूप से चल रही हो, इसलिये चारों वर्ण अपने कर्तव्यों को विस्मृत न करने लगे, उन्होंने अपने शास्त्र के माध्यम से उनको अपने धर्म का स्मरण कराया। दूसरी ओर यह अनुमानित किया जा सकता है कि तत्कालीन समाज में वर्ण विषयक नियमों में कहीं-न-कहीं क्षीणता आने लगी हो, जिनके संरक्षण हेतु महर्षि ने सर्वप्रथम वर्णधर्म को अपना विषय बनाया। कारण चाहे जो भी रहा हो पर शंखस्मृति में चारों वर्गों के आचार अथवा कर्तव्य-कर्मों पर बल दिया गया है, क्योंकि व्यक्ति के कर्तव्यच्युत होने से धर्म पराङ्गमुख हो जाता है।⁵⁴

चारों वर्गों के लिए स्व-स्व उपयोगिता के आधार पर कार्य निर्धारण किया गया था और सभी वर्गों को अपने-अपने धर्म पालन का उपदेश दिया गया था।⁵⁵ देवी सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मणों की उत्पत्ति हुई है। मुख बौद्धिक विकास अर्थात् ज्ञान-विज्ञान का परिचायक है। इसलिये ब्राह्मणों को ज्ञान के प्रचार-प्रसार व समाज के मार्गदर्शन का कार्यभार सौंपा गया। ब्रह्मा की भुजाओं से क्षत्रिय की उत्पत्ति कही गयी है। भुजाएँ शक्ति का प्रतीक हैं और शरीर के रक्षण कार्य में सहायक हैं। अतएव समाज की सुरक्षा व शासन संचालन का कार्य क्षत्रियों को दिया गया। वैश्यों की जंघाओं से उत्पत्ति वर्णित है। जंघा शरीर का आधारस्तम्भ है। इस प्रकार वैश्यों को समाज का आधारस्तम्भ मानते हुए, उनके लिए कृषि, व्यापार एवं पशुपालन आदि व्यवसाय के द्वारा समाज के भरण-पोषण का कार्य निर्धारित किया गया। इसी प्रकार ब्रह्मा के पैरों से शूद्र की उत्पत्ति मानी गयी है। पैरों का कार्य शरीर के भार को संभालना तथा उसे गति प्रदान करना है। अतः समाज के लिए शूद्र की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए, उसे अन्य तीन वर्गों की सेवा का कार्यभार दिया गया। इससे स्पष्ट होता है कि कार्यात्मक दृष्टि से समाज में किसी वर्ण को उच्च तथा किसी को निम्न नहीं माना गया था अपितु सभी वर्णों को समान महत्ता दी गयी थी। ये चारों वर्ण एक-दूसरे के पूरक थे, जिनकी सहभागिता के बिना समाज का संचालन असम्भव था। गृहस्थरत्नाकर में कहा गया है कि जिस प्रकार से एक मानव शरीर का निर्माण एवं संगठन मुख, बाहू, जंघा तथा पैर-इन अंगों की समष्टि से हुआ है उसी प्रकार हमारे समाज का निर्माण इन चारों वर्गों के संगठन से हुआ है। ये पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र रूप से कार्य नहीं कर सकते अपितु इनके पारस्परिक संगठित रूप से कार्य करने पर ही समाज का कल्याण सम्भव है।⁵⁶ अतएव मानव के विभिन्न अंग उसके लिए जितने महत्वपूर्ण हैं उतने ही समाज के लिए ये चारों वर्ण आवश्यक थे। चारों वर्गों में से प्रथम तीन-ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य को 'द्विज' की संज्ञा दी गयी थी। इन तीनों को द्विज इसलिए कहा जाता था कि इनका प्रथम जन्म माता के गर्भ से और द्वितीय जन्म उपनयन के समय यज्ञोपवीत धारण करने से माना जाता था।⁵⁷ चतुर्थ वर्ण शूद्र को अन्य तीन वर्गों की अपेक्षा निम्न स्थान दिया गया था और अन्य किसी पंचम वर्ण को मान्यता नहीं दी गयी थी।⁵⁸

सन्दर्भग्रन्थाः

1. आर्यानार्ययोर्व्यतिक्षेपे कर्मणः साम्यम्॥ गौ. ध., द्वितीय प्रश्नः, प्रथम अध्यायः, 69
2. नक्ता च चक्रुरुषया विरुपे कृष्णं च वर्णमरूपं च सं धुः॥ ऋ., 1/73/7, 1/96/5, 2/3/5, 9/97/15, 9/104/4, 9/105/4, 10/124/7

वर्ण उत्पत्ति विषयक सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया हो, इसलिये उन्होंने इसका वर्णन करना उचित न समझा हो। सम्भवतः वर्ण- व्यवस्था का विस्तृत वर्णन न करने का एक कारण यह हो सकता है कि तत्कालीन समाज में यह व्यवस्था सम्यक् रूप से चल रही हो, इसलिये चारों वर्ण अपने कर्तव्यों को विस्मृत न करने लगे, उन्होंने अपने शास्त्र के माध्यम से उनको अपने धर्म का स्मरण कराया। दूसरी ओर यह अनुमानित किया जा सकता है कि तत्कालीन समाज में वर्ण विषयक नियमों में कहीं-न-कहीं क्षीणता आने लगी हो, जिनके संरक्षण हेतु महर्षि ने सर्वप्रथम वर्णधर्म को अपना विषय बनाया। कारण चाहे जो भी रहा हो पर शंखस्मृति में चारों वर्गों के आचार अथवा कर्तव्य-कर्मों पर बल दिया गया है, क्योंकि व्यक्ति के कर्तव्यच्युत होने से धर्म पराङ्गमुख हो जाता है।⁵⁴

चारों वर्गों के लिए स्व-स्व उपयोगिता के आधार पर कार्य निर्धारण किया गया था और सभी वर्गों को अपने-अपने धर्म पालन का उपदेश दिया गया था।⁵⁵ दैवी सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मणों की उत्पत्ति हुई है। मुख बौद्धिक विकास अर्थात् ज्ञान-विज्ञान का परिचायक है। इसलिये ब्राह्मणों को ज्ञान के प्रचार-प्रसार व समाज के मार्गदर्शन का कार्यभार सौंपा गया। ब्रह्मा की भुजाओं से क्षत्रिय की उत्पत्ति कही गयी है। भुजाएँ शक्ति का प्रतीक हैं और शरीर के रक्षण कार्य में सहायक हैं। अतएव समाज की सुरक्षा व शासन संचालन का कार्य क्षत्रियों को दिया गया। वैश्यों की जंघाओं से उत्पत्ति वर्णित है। जंघा शरीर का आधारस्तम्भ है। इस प्रकार वैश्यों को समाज का आधारस्तम्भ मानते हुए, उनके लिए कृषि, व्यापार एवं पशुपालन आदि व्यवसाय के द्वारा समाज के भरण-पोषण का कार्य निर्धारित किया गया। इसी प्रकार ब्रह्मा के पैरों से शूद्र की उत्पत्ति मानी गयी है। पैरों का कार्य शरीर के भार को संभालना तथा उसे गति प्रदान करना है। अतः समाज के लिए शूद्र की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए, उसे अन्य तीन वर्गों की सेवा का कार्यभार दिया गया। इससे स्पष्ट होता है कि कार्यात्मक दृष्टि से समाज में किसी वर्ण को उच्च तथा किसी को निम्न नहीं माना गया था अपितु सभी वर्णों को समान महत्ता दी गयी थी। ये चारों वर्ण एक-दूसरे के पूरक थे, जिनकी सहभागिता के बिना समाज का संचालन असम्भव था। गृहस्थरत्नाकर में कहा गया है कि जिस प्रकार से एक मानव शरीर का निर्माण एवं संगठन मुख, बाहू, जंघा तथा पैर-इन अंगों की समष्टि से हुआ है उसी प्रकार हमारे समाज का निर्माण इन चारों वर्गों के संगठन से हुआ है। ये पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र रूप से कार्य नहीं कर सकते अपितु इनके पारस्परिक संगठित रूप से कार्य करने पर ही समाज का कल्याण सम्भव है।⁵⁶ अतएव मानव के विभिन्न अंग उसके लिए जितने महत्वपूर्ण हैं उतने ही समाज के लिए ये चारों वर्ण आवश्यक थे। चारों वर्गों में से प्रथम तीन-ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य को 'द्विज' की संज्ञा दी गयी थी। इन तीनों को द्विज इसलिए कहा जाता था कि इनका प्रथम जन्म माता के गर्भ से और द्वितीय जन्म उपनयन के समय यज्ञोपवीत धारण करने से माना जाता था।⁵⁷ चतुर्थ वर्ण शूद्र को अन्य तीन वर्गों की अपेक्षा निम्न स्थान दिया गया था और अन्य किसी पंचम वर्ण को मान्यता नहीं दी गयी थी।⁵⁸

सन्दर्भग्रन्थाः

1. आर्यानार्ययोर्व्यतिक्षेपे कर्मणः साम्यम् ॥ गौ. ध., द्वितीय प्रश्नः, प्रथम अध्यायः, 69
2. नक्ता च चक्रुरुषया विरुपे कृष्णं च वर्णमरूपं च सं धुः ॥ ऋ., 1/73/7, 1/96/5, 2/3/5, 9/97/15, 9/104/4, 9/105/4, 10/124/7

17. काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, पृ.119
18. डॉ. किरण टण्डन, भारतीय संस्कृति, पृ.290-291
19. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहु राजन्यः कृतः।
उरु तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥ ऋ., 10/90/12
20. डॉ. प्रीति प्रभा गोयल, भारतीय संस्कृति, पृ.21
21. (क) शत.ब्रा., का.2, प्र.1, ब्रा.4, 12 (ख) तै.सं., का.7, प्र.1, अनु.1, 4 (ग) बृह.उप., अ.1, ब्रा.4, 11-13 (घ) महा.शा.प., 181/4, 72/4
22. ऋग्भ्यो जातं वैश्यं वर्णमाहुः। यजुर्वेदं क्षत्रियस्याऽहुर्योनिम्। सामवेदो ब्राह्मणानां प्रसूतिः।
तै.ब्रा., का.3, प्र.12, अनु.9
23. लोकानां तु विवृद्ध्यर्थं मुखबाहूरुपादतः। ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निरवर्तयत्॥ मनु., 1/31
24. न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्।
ब्राह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम्॥ महा.शा.प., 181/10
25. (क) ऋ., 1/61/4, 7/32/20, 8/102/8, 9/112/1-3, 10/72/2 (ख) अथर्व., 3/5/6, 7
(ग) तै.सं., का.4, प्र.5, अनु.4, 2-3 (घ) वाज.सं., 16/26-28
26. (क) वर्णसंकरादुत्पन्नान् ब्राह्मणानां हुर्मनीषिणः। बौ.ध., 1/9/16, 3, 7 (ख) व.ध., 16/30, 18/1 (ग) वै.ध., 10/12, 10/15 (घ) वि.ध., 51/8, 51/14, 10/4 (1) आप.ध., 9/32
27. काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, पृ.125-129
28. जातियाँ- (क) मनु., 3/174, 4/79, 215, 8/68, 10/4, 8, 9, 12, 15, 22, 27, 34, 36, 43-44 (ख) या.स्मृ., 1/91, 92, 94, 148, 197 (ग) अ.सं., 197-199, 251 (घ) वि.स्मृ., 16/1-7, 7/3, 10/4, 51/8-14 (ङ) लि.स्मृ., 80-81 (च) व्या.स्मृ., 1/10-12
(छ) परा.स्मृ. 6/44 (ज) गौ.स्मृ., 4/4-5 तथा उपजातियाँ- मनु., 10/36
29. शं.स्मृ., 1/2-4, 15/22 तथा 17/36-40, 58
30. कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना।
नानाधियो मसूयवोऽनु गा इव तस्थिमेन्द्रायेन्दो परिस्रवः॥ ऋ., 9/112/3
31. छा.उप., अ.4, ख.4, 1-5
32. श्रीमद्.गी., 6/44-45
33. चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः॥ वही, 4/13
34. सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः॥ वही, 14/5
35. (क) मनु., 12/26-29, 38 (ख) श्रीमद्.गी., 14/6-9
36. तमः शूद्रे रजः क्षत्रे ब्राह्मणे सत्त्वमुत्तमम्।

- इत्येवं त्रिषु वर्णेषु विवर्तन्ते गुणास्त्रयः॥ महा.आश्व.प., 39/11
37. ब्राह्मणानां सितो वर्णः क्षत्रियाणां तु लोहितः।
वैश्यानां पीतको वर्णः शूद्राणामसितस्तथा। महा.शा.प., 181/5
38. वही, 181/11-13
39. मनु., 1/99, 11/84
40. ब्राह्मण्यां ब्राह्मणेनैव ह्युत्पन्नो ब्राह्मणः स्मृतः। ल.हा.स्म., 1/15
41. (क) एकोऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः।
स विज्ञेयः परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः॥
अवतानाममन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनाम्।
सहस्रशः समेतानां परिषत्त्वं न विद्यते॥ मनु., 12/113-114
(ख) आचारहीनस्य तु ब्राह्मणस्य वेदाः षडङ्गास्त्वखिलाः सयज्ञाः।
कां प्रीतिमुत्पादयितुं समर्था अंधस्य दारा इव दर्शनीयाः॥ व.स्म., 168
42. अकुर्वन्विहितं कर्म निन्दितं च समाचरन्।
प्रसक्तश्चेन्द्रियार्थेषु प्रायश्चित्तीयते नरः॥ मनु., 11/44
43. वही, 2/168 तथा 9/335
44. वृत्तिन्तु न त्यजेद्विद्वानृत्विजं पूर्वमेव तु।
कर्मणा जन्मना शुद्धं विधिना च वृणीत तम्॥
एतैरेव गुणैर्युक्तं धर्माजितधनं तथा।
याजयीत सदा विप्रो ग्राह्यस्तस्मात् प्रतिग्रहः॥ शं.स्म., 5/18-19
45. शर्मान्तं ब्राह्मणस्योक्तं वर्मान्तं क्षत्रियस्य तु।
धनान्तं चैव वैश्यस्य दासान्तं वान्त्यजन्मनः॥ वही, 2/4
46. वृत्त्या शूद्रसमास्तावद्विज्ञेयास्ते विचक्षणैः।
यावद्वेदेन जायन्ते द्विजा ज्ञेयास्ततः परम्॥ वही, 1/8
47. जन्मना यस्तु निर्विण्णो मरणेन तथैव च।
आधिभिव्याधिभिश्चैव तं देवा ब्राह्मणं विदुः॥ वही, 7/9
48. "If firmly believe caste to be a marvellous discovery a form of socialism
which through ages has protected Hindoo society from anarchy and from the worst
evils of industrial and competitive life – it is an automatic poor-low to begin with, and
the strongest form known of trades Union". Townsend, Meredith, Asia and Europe,
edition 1901, p.72.

49. "There is no doubt that it is the main cause of the fundamental stability and contentment by which Indian society has been braced for centuries against the shocks of politics and the cataclysms of nature. It provides every man with his place, his career, his occupation his circle of friends. It makes him, at the outset, a member of a corporate body, it protects him through life from the canker of social jealousy and unfulfilled aspirations." Low, Sidney, Vision of India, Second edition 1975, p.262-263.
50. काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, पृ.109
51. डॉ. राधाकृष्णन्, भारतीय दर्शन, भाग-I, पृ.121-122
52. चातुर्वर्ण्यहितार्थाय शङ्खः शास्त्रमथाकरोत् ॥ शं.स्मृ., 1/1
53. वही, 1/1
54. चतुर्णामपि वर्णानामाचारो धर्मपालकः।
आचारभ्रष्टदेहानां भवेद्धर्मः पराङ्मुखः ॥ परा.स्मृ., 1/37
55. (क) शं.स्मृ., 1/2-5 (ख) मनु., 10/97 (ग) श्रीमद्.गी., 3/35
56. डॉ. नीना डोगरा, ग.र., पृ.15
57. (क) ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातयः।
तेषां जन्म द्वितीयन्तु विज्ञेयं मौञ्जिबन्धनम् ॥ शं.स्मृ., 1/6
(ख) मनु., 10/4 (ग) या.स्मृ., 1/10, 1/39
58. (क) शं.स्मृ., 1/1 (ख) मनु., 10/4

Published Research Paper-5



Shodhshauryam, International Scientific Refereed Research Journal

© 2018 SHISRRJ | Volume 1 | Issue 4 | ISSN : 2581- 6306

संस्कार एवं आश्रम व्यवस्था से परिवार एवं समाज पर प्रभाव

प्रभा चतुर्वेदी

शोध छात्रा, संस्कृत विभाग, राजकीय महाविद्यालय, कोटा, राजस्थान।

सारांश- वर्तमान में शुद्धि के अन्तर्गत तत्कालीन समय की अपेक्षा अशौच विषयक नियमों में क्षीणता आयी है। अशौच में स्मृति विहित कुछ नियमों का परिवर्तन के साथ अनुसरण किया जा रहा है तो कुछ नियम समाप्त हो गये हैं। जबकि शरीरशुद्धि एवं द्रव्यशुद्धि के क्षेत्र में अधिक उन्नति हुई है। शरीर, स्थल, पात्रों तथा वस्तुओं की स्वच्छता के लिए प्रयुक्त होने वाले आधुनिक उपकरण या रसायन इसके स्पष्ट उदाहरण हैं।

मुख्य शब्द- संस्कार, आश्रम व्यवस्था, सदस्य, कर्तव्य, अधिकार, वर्णव्यवस्था, समाज, स्मृति।

परिवर्तन सृष्टि का नियम है। जो काल, परिस्थिति, देश के अनुरूप होता रहता है। परिवर्तन की इस धारा से आश्रमव्यवस्था भी प्रभावित हुए बिना न रह सकी। जैसे-जैसे समाज की परम्पराओं, मान्यताओं, रीति-रिवाजों में परिवर्तन हुआ वैसे-वैसे व्यक्ति की बौद्धिक क्षमता में भी परिवर्तन होता गया। फलतः आश्रमव्यवस्था का स्वरूप परिवर्तित होता रहा। वर्तमान भारतीय समाज में तो आश्रमव्यवस्था का मूलभूत स्वरूप परिवर्तित हो चुका है। आयु के अनुसार आश्रमों में प्रवेश देखने को नहीं मिलता। समर्थ कुटुम्ब वाले भी वानप्रस्थ अथवा संन्यास नहीं लेते और न ही अन्य आश्रमों के भरण-पोषण की दृष्टि से आय- व्यय करते हैं जबकि यह व्यवस्था व्यक्तित्व निर्माण के साथ-साथ समाजकल्याण के लिए भी थी। परिवर्तित आश्रमव्यवस्था निम्न प्रकार से है

मनुस्मृति काल में बालक की शिक्षा का प्रारम्भ ब्रह्मचर्याश्रम में उपनयन संस्कार से होता था। इस आश्रम में न केवल शिक्षा अपितु बालक के सम्पूर्ण व्यक्तित्व के विकास पर भी बल दिया जाता था। शिष्य गुरुगृह में रहकर विद्यार्जन करता था। साथ ही गुरु के अनुशासन में इन्द्रिय-संयम (ब्रह्मचर्य), बौद्धिक (वेद-ग्रहण), आत्मिक (व्रतादेशन) उन्नति के लिए अनुशासन, कर्तव्यपालन, नैतिकता, आचरण की शुद्धता, पवित्रता आदि गुणों को ग्रहण करता था और चरित्र-निर्माण करते हुए आदर्श स्थिति को प्राप्त करता था। आज शिक्षा, शिक्षा के माध्यमादि सभी परिवर्तित हो चुके हैं। आधुनिक शिक्षण संस्थानों-विद्यालयों, महाविद्यालयों, विश्वविद्यालयों तथा संस्थानों आदि में इस प्रकार के उपनयन का सर्वथा अभाव है, किन्तु जहाँ परम्परागत ढंग से गुरुकुल प्रणाली के माध्यम से शिक्षा दी जाती है वहाँ बालक की शिक्षा का प्रारम्भ अभी भी उपनयन संस्कार से होता है। कुछ आधुनिक गुरुकुलों के नाम संस्कार अध्याय में वर्णित किये जा चुके हैं।

एक द्विज को जहाँ निर्धारित आयु में वेदाध्ययन का अधिकार था और वर्णानुसार विभिन्न प्रकार के मेखला, वस्त्र, दण्ड एवं यज्ञोपवीत धारण करने होते थे वहीं आज सभी जाति, धर्मों, सम्प्रदायों के बच्चों को शिक्षा ग्रहण करने का अधिकार है।

बालक की शिक्षा प्राप्ति की अब कोई निश्चित आयु निर्धारित नहीं की गई है। माता-पिता अपनी इच्छानुसार बालक की बौद्धिक क्षमता के अनुरूप चार या पाँच वर्ष की आयु में विद्यालय भेज सकते हैं। सभी के परिधान भी अपनी-अपनी संस्था के अनुसार हैं, कोई सामान्य नहीं। आज मात्र गुरुकुलों में उपनयन के अवसर पर प्रत्येक छात्र को समान रूप से साधारण स्वच्छ वस्त्र, दण्ड, मेखला एवं यज्ञोपवीत धारण करवाये जाते हैं और भिक्षाचरण की क्रिया भी सम्पन्न की जाती है। यहाँ दण्ड धारण एवं भिक्षाचरण उसके दैनिक जीवन के अभिन्न अंग न होकर मात्र नियम के पालन हेतु करवाये जाते हैं, क्योंकि परिस्थितिवश अब इनकी अनिवार्यता समाप्त हो चुकी है। लेकिन गुरुकुलों में अग्निकर्म एवं सन्ध्योपासना आदि क्रियाओं को अभी भी प्रतिदिन किये जाने का विधान है। आज अधिकांशतः गुरुकुलों में भोजनादि समस्त वस्तुओं की व्यवस्था उपलब्ध है। प्रशासन एवं विभिन्न शिक्षण संस्थानों की ओर से निर्धन तथा मेधावी छात्र-छात्राओं को शिक्षा पूर्ण करने हेतु छात्रवृत्तियाँ दी जाती हैं।

उस समय शिक्षा के क्षेत्र में गुरु और अध्यापक-ये दो श्रेणियाँ थी जबकि वर्तमान में अध्यापक, उपआचार्य, आचार्य, सहायक प्राध्यापक, सह-प्राध्यापक, प्रवाचक, प्राध्यापक आदि हैं। उस समय वेद-वेदाङ्गों के अध्ययन पर विशेष बल दिया जाता था पर अब इनके अतिरिक्त ज्ञान के अनेक शास्त्र विद्यमान हैं। बालक विद्यालयी स्तर पर हिन्दी, संस्कृत, विज्ञान, सामाजिक विज्ञान, राजनीतिक विज्ञान, गृह-विज्ञान, गणित, अंग्रेजी आदि विभिन्न विषयों का ज्ञान प्राप्त कर अपनी अभिरुचि के अनुसार विषयों का चयन करके उच्च स्तर तक शिक्षा जारी रख सकता है। ब्रह्मचारी बालक के लिए जहाँ अमावस्या, पूर्णिमा, सूर्य व चन्द्र ग्रहण, मेघों की गर्जना, बाजों के कोलाहल आदि के समय वेदाध्ययन का निषेध था वहीं आज इस प्रकार की तिथियों या परिस्थितियों को कोई महत्त्व नहीं दिया जाता है। इसके अतिरिक्त ब्रह्मचारी अर्थोपार्जन की वृत्ति नहीं अपना सकता था पर आज का विद्यार्थी अध्ययन और अध्यापन दोनों कार्य एक साथ कर सकता है और कर भी रहा है।

एक ब्रह्मचारी को भोग-विलास, वासनाओं का त्यागकर 'ब्रह्मचर्य' का पालन करते हुए धर्म की साधना करनी होती थी लेकिन आज के युग में 'ब्रह्मचर्य' शब्द के अर्थ में कुछ संकोच हुआ है। यह केवल अपनी कामविषयक वृत्तियों पर विजय प्राप्त करने के अर्थ में प्रयुक्त होता है। अनेकशः यह इससे भी अधिक संकुचित अर्थ में ग्रहण किया जाता है। तदनुसार यह अविवाहित व्यक्ति के अर्थ में आता है। जबकि ब्रह्म अर्थात् 'ज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में विचरण करने वाले' अर्थ के अतिरिक्त ब्रह्म अर्थात् प्रत्येक ईश्वरीय गुण से युक्त व्यक्ति को ब्रह्मचारी कहा जाता था और कामवृत्ति के अतिरिक्त क्रोध, ईर्ष्या, द्वेष, असत्याचरण इत्यादि दुष्टवृत्तियों से परे रहना ही ब्रह्मचर्य था। इसके साथ ही ब्रह्मचारी के लिए मधु व मांस का भक्षण, गायन, नृत्य, हिंसा, निन्दा, स्त्रियों के साथ क्रीड़ा करना आदि शास्त्र निषिद्ध कर्मों से दूर रहना तथा अपने शील की रक्षा करना, कार्य को निपुणता के साथ करना, गुरु के प्रति श्रद्धाभाव रखना, आदि आवश्यक था। अतः उसका जीवन विलासिता की आवश्यकताओं से बहुत परे होने के कारण आडम्बरहीन था, किन्तु आज के अधिकांशतः विद्यार्थी पाश्चात्य प्रभाव व अन्धानुकरण की प्रवृत्ति के कारण अनेक नशीले या मादक द्रव्यों-शृङ्गपान, मद्यपान, अफीम, मतिभ्रमकारी औषधियाँ (हैलुसिनेशन), भांग, चरस, कोकीन इत्यादि का सेवन करने लगे हैं। पाश्चात्य जीवन दर्शन से प्रभावित विद्यार्थी शारीरिक एवं मानसिक आनन्द के लिए क्लब, होटल आदि में भी जाते हुए देखे जाते हैं और पथभ्रष्ट हो जाते हैं। जिससे समाज में अपराधों तथा रोगों की वृद्धि होती जा रही है। इसी कारण उनमें आज वह ओजस्विता व तेजस्विता नहीं है जोकि गुरुकुलों में रहने वाले ब्रह्मचारियों के जीवन में रहती थी। निश्चित रूप से एक विद्यार्थी को भोग-विलासिता के पदार्थों से तथा पापाचरण से सदैव दूर रहना चाहिये।

गुरु को देवता के समान माने जाने वाले आदर्श को भी आज शिक्षण संस्थानों में विस्मृत कर दिया गया है। वस्तुतः आज के विद्यार्थी में नैतिक गुणों का अभाव होता जा रहा है, क्योंकि आज का विद्यार्थी प्रारम्भ से ही उत्तेजक वातावरण में रहता है और बहुत ही शीघ्र सांसारिक भोगों का उपभोग करना आरम्भ कर देता है। गृहस्थाश्रम के आते-आते उसकी शक्तियाँ क्षीण हो चुकी होती हैं, परिणामस्वरूप वह पूर्णकाम नहीं हो पाता, जबकि पच्चीस वर्ष की अवस्था तक ब्रह्मचर्य व्रत के पालन में गुरुकुल शिक्षा पद्धति का बड़ा ही महत्त्व था, जिसके अन्तर्गत अनुकूल वातावरण की सहज प्राप्ति अति सहायक सिद्ध होती थी। वर्तमान युग में प्रदर्शित चल-चित्रों में कामुकता का नग्न प्रदर्शन तथा काम-वासनाओं के विषय पर केन्द्रित उपन्यासों की कथावस्तु, क्या संयमित जीवन के प्रेरणा स्रोत हो सकते हैं? कभी नहीं। यही कारण है कि आज शिक्षा के उच्च शिखर पर पहुँच जाने पर भी छात्रों में गुरु सेवा, तपश्चर्या, विनम्रता, धैर्यता आदि का अभाव मिलता है।

आज के विद्यार्थी के लिए भी गुरुकुल के समान सात्त्विक वातावरण का होना अनिवार्य है, जिसका कि हमारी इन्द्रियों पर अनुकूल प्रभाव पड़े। तामसिक वातावरण में इन्द्रियाँ उत्तेजित हो उठती हैं। हमारे आस-पास का वातावरण मित्रवर्ग, उठने-बैठने के स्थान, ग्रन्थादि इस प्रकार के हों, जो हमारे जीवन का उत्कर्ष कर सके। आज नगरों व ग्रामों में बने घरों का स्थान इतना संकुचित होता है कि न बालक उनमें सुविधापूर्वक रह सकता है और न उनमें रहकर सम्यक् रूप से अध्ययन कर सकता है। उच्चवर्ग तथा कुछ मध्यमवर्ग के छात्र-छात्राओं को छोड़कर अधिकांशतः निम्नवर्ग के छात्र-छात्राओं को अधिक कठिनाई का सामना करना पड़ता है।

तत्कालीन समाज में जहाँ ब्रह्मचर्याश्रम का समापन समावर्तन संस्कार से होता था वहीं आधुनिक शिक्षण-संस्थानों में भी इस संस्कार की छाप दिखाई देती है। विद्यार्थियों के द्वारा स्नातक की परीक्षा उत्तीर्ण करने के उपरान्त जो महाविद्यालयों या विश्वविद्यालयों से उपाधि-पत्र दिया जाता है वही आधुनिक संस्थानों का बालक के लिए समावर्तन है। परन्तु आज गुरुकुलों तथा अन्य संस्थानों से समावर्तन के पश्चात् भी छात्र उच्च शिक्षा को प्राप्त कर तथा आजीविका ग्रहण कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करता है। वस्तुतः बालक की शिक्षा अब स्नातक तक सीमित नहीं रह गई है। इसके अनन्तर भी वह अनेक उपाधियों को प्राप्त कर जीवन को सुखमय बनाने का यथासम्भव प्रयास करता है।

दूसरा आश्रम 'गृहस्थ' था। इस आश्रम में संयम परस्परार्पण, त्याग, निष्ठा और सेवा के आदर्श को प्रधानता दी गई थी। प्रत्येक व्यक्ति यह अनुभव करता था कि वह समाज का ऋणी है और वह समाज कल्याण की ओर अग्रसर होता था। वर्तमान युग में भी गृहस्थाश्रमी लोग सब जगह देखने को मिलते हैं, किन्तु यह अपने जिस आदर्श रूप में था वह अब नहीं रहा है। गृहस्थ के लिए जहाँ सर्वप्रथम अपने समान वर्ण वाली कन्या से विवाह कर, गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने और उसे मर्यादापूर्वक भोगने का विधान था वहीं आज सवर्ण अथवा सजातीय विवाह की अनिवार्यता क्षीण होती जा रही है तथा व्यक्ति अमर्यादित भोग की ओर आकर्षित होता जा रहा है। कुछ लोग तो विवाह को समझौता मात्र समझते हैं। इसी कारण गृहों में कलह-क्लेश व विवाह-विच्छेद की समस्या देखने को मिलती है। जबकि दम्पती के परस्पर सहयोग से ही गृहस्थाश्रम सफल होता है।

मनुस्मृति में अपनी धर्मपत्नी के सहयोग से ही धर्म, अर्थ, काम एवं अन्य कर्तव्यों का समचितरूप से निर्वाह करने का निर्देश दिया गया है। इस सांस्कृतिक परम्परा के अनुसार भारतवर्ष में आज भी गृह-प्रवेश तथा अन्य धार्मिक या मांगलिक कार्या म पति-पत्नी का साथ होना अनिवार्य माना गया है। आज कुछ सात्त्विक जन एस ह जो अविवाहित रहकर धर्म एवं अर्थ की साधना में लगे रहते हैं और कुछ ऐसे भा ह जो इस प्रकार की जीवन-शैली व्यतीत करने का प्रयत्न करते हुए छ रूप से

कामभोग में लिप्त रहते हैं। ऐसे लोग समाज को भ्रम में रखकर मात्र अपने स्वार्थ का पूर्ति करते हैं। आज जिस प्रकार लोग अर्थोपार्जन एवं कामोपभोग के लिए प्रवृत्त दिखाई देते हैं। उनको संयमित करने के लिए शंखस्मृति के उपदेश की प्रासङ्गिकता निर्विवाद है। अतएव व्यक्ति को धर्मानुकूल त्रिवर्ग का सेवन करना चाहिए।

उस समय समस्त आश्रमवासियों के लिए आचार के पालन को एक अनिवार्य तत्त्व माना गया था। गृहस्थादि के लिए जो भी आचार निर्धारित किये गये थे वे सभी नैतिकता से सम्बद्ध थे। जो व्यक्ति के चरित्र का निर्माण कर उसे समाज में एक प्रतिष्ठित व्यक्ति बनाते हैं। आचार का पालन न करने पर व्यक्ति पाप का भागी बनता है। वस्तुतः सदाचरण ही सुखी जीवन का आधार है। इसलिये गृहस्थी के जीवन में सर्वप्रथम सत्य, क्षमा, दम, पवित्रता, सेवाभाव, अहिंसा, दया आदि को अनिवार्य माना गया था, जिनका पालन आज भी प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक है। उसका जीवन शान्त व धर्मयुक्त हो, वह शुद्ध आत्मा वाला हो, उसके व्यवहार में सत्यता हो, किन्तु वह अप्रिय सत्य न कहे। इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे कर्म थे, जिनका सम्पादन प्रत्येक गृहस्थ प्रतिदिन नियमित रूप से करता था जिससे व्यक्ति व समाज का जीवन व्यवस्थित एवं गतिशील था, किन्तु आधुनिक समय में उन कर्मों का अभाव दिखाई देता है।

कुछ नियम व उपनियम तो ऐसे हैं जो लुप्त हो गए हैं, यथा-शौच के पश्चात् स्वच्छता के लिए मिट्टी का प्रयोग, सामान्य व धार्मिक क्रियाओं में दिशानुसार आचमन करना, छः प्रकार के स्नानों को विधिवत् करना, सन्ध्यादि में अधमर्षण सूक्त का जप, पूर्व व पश्चिम दिशा में मुख करके गायत्री जपपूर्वक क्रमशः प्रातः व सांय दोनों कालों में उपासना करना तथा अर्घ्य व पवित्र करने वाले मंत्रों का जप करना आदि। अपवादस्वरूप आज कुछ धर्मनिष्ठ परिवार ऐसे दिखाई देते हैं। जहाँ कतिपय क्रियाओं का पालन होता है, यथा-आचमन की क्रिया। पर्वतीय प्रदेशों में भोजन तब तक नहीं परोसा जाता जब तक आचमन न कर लिया जाए।¹ ऐसा नहीं है कि ये क्रियायें पूर्णतः समाप्त हो गई हैं अपितु समय के अभाव के कारण इन क्रियाओं के सम्पन्न करने में सहायक नियम कालबाह्य हो गये हैं। आज स्मृत्युक्त कुछ कर्मों का व्यक्ति द्वारा अंशतः पालन किया जा रहा है, किन्तु इन दैनिक क्रियाओं को पूर्ण करने में सहायक सामग्री भिन्न है, यथा-शुद्धि के लिए मिट्टी के स्थान पर अनेक प्रकार के साबुन, शैम्पू, पाउडर, कन्डिशनर, माउथ वॉश या हैंड वॉश का प्रयोग, आचमन के स्थान पर सामान्यतः कुल्ला करने की प्रक्रिया, गायत्री-जप के स्थान पर अनेक देवी-देवताओं की तिमाओं की पूजा-अर्चना आदि।

गृहस्थ के लिए जिन पञ्चमहायज्ञों का अनिवार्य कर्त्तव्य के रूप में विवेचन किया गया है। वर्तमान समय में उनका प्रतिदिन पालन न होकर यदा-कदा आंशिक रूप से होता है। देवयज्ञ में जहाँ देवताओं के प्रति हवन का विधान था वदी जान मूर्ति-पूजा, नवद्या भक्ति के रूप में इसका अस्तित्व विद्यमान है। हवन के अनि उसे समय-समय पर दर्शपौर्णमास, पशुबन्ध आदि यज्ञों को भी सम्पादित करना होता था, पर आज के जीवन में इन सभी यज्ञों का विस्तारपूर्वक अनान करना सम्भव नहीं है। भूतयज्ञ तथा पितृयज्ञ का भी अंशतः पालन दिखाई देता है। आज व्यक्ति की जीवनचर्या इतनी अधिक व्यस्त हो गई है कि वह स्वयं के भोजन के लिए कठिनाई से समय निकाल पाता है तो प्रतिदिन-प्राणियों, देवताओं और पितरों आदि को देने की तो बात ही दूर है। यदि वह कुछ समय निकाल कर इन धार्मिक क्रियाओं को सम्पन्न करना भी चाहे तो आर्थिक समस्या के कारण नहीं कर पाता। हाँ, कुछ समृद्धजन कभी-कभी त्याग एवं दान की भावना से जीव-जन्तुओं या अन्य प्राणियों को भोजन देते हुए दिखाई देते हैं। पितृयज्ञ में जो तर्पण और श्राद्ध की क्रिया की जाती थी वह अब संक्षिप्त रूप में कुछ परम्परागत ब्राह्मण परिवारों तथा शास्त्रज्ञों में ही दिखाई देती है। तदनुसार श्राद्ध के अवसर पर ब्राह्मण भोज तथा तर्पण आदि की क्रिया

सम्पन्न की जाती है। पी.वी. काणे के मत से सामान्यतः आजकल श्रावण मास में एक दिन ब्रह्मयज्ञ के एक अंश के रूप में अधिकांश ब्राह्मण तर्पण करते हैं। लेकिन प्रतिदिन पितरों एवं देवताओं को दिशानुसार जल, अन्न से तर्पित करने का अभी भी अभाव है।¹² ब्रह्मयज्ञ के सन्दर्भ में उनका कथन है कि वैदिकों एवं शास्त्रियों को छोड़कर ब्रह्मयज्ञ प्रतिदिन कोई नहीं करता। आजकल वर्ष में केवल एक बार श्रावण मास में निर्धारित एक सूत्र 'ओं भुर्भुवः स्वः' के अनुसार ब्रह्मयज्ञ किया जाता है। जबकि ज्ञानवर्धन व ज्ञान की निर्मलता हेतु प्रतिदिन सद्शास्त्रों का अध्ययन अनिवार्य है। इसी प्रकार अतिथि सेवारूप नृयज्ञ को अति महत्त्व दिया गया था। जो आज के युग में प्रत्येक गृहस्थी के लिए आदर्श को प्रस्तुत करता है। यदि आज व्यक्ति अतिथि-सेवा-परायण हो जाए तो विश्वबन्धुत्व व समता की भावना प्रबल होगी, जिसका आज अत्यन्त अभाव दृष्टिगत होता है। इसके अतिरिक्त इन पञ्चमहायज्ञों में जो ऋणमुक्ति की भावना निहित थी वह आज भी गृहस्थ को तीन ऋणों (देवऋण, ऋषिऋण एवं पितृऋण) से उऋण होने का स्मरण कराती है। अतएव व्यक्ति को आज उपर्युक्त कर्मों-अग्निहोत्र, देवताओं एवं प्राणियों की सेवा, दानशीलता, उदारता, ध्यान, सद्शास्त्रों का पठन-पाठन, अतिथि- सत्कार आदि से जीवन को सफल बनाने का यथासम्भव प्रयास करना चाहिए।

मनुस्मृति में परिश्रमपूर्वक न्यायरूप धर्म के अनुसार गृहस्थ को धनोपार्जन करने का निर्देश दिया गया है। आज के भौतिकवादी युग में जहाँ सत्य की प्रतिष्ठा कम होती जा रही है वहीं व्यक्ति अधर्मपूर्वक धनोपार्जन में तनिक भी संकोच नहीं करता है। तत्कालीन समय में व्यक्ति गृहस्थी होने पर अर्थात् 25-30 वर्षों की आयु से धनार्जन आरम्भ करते हुए 50-60 वर्षों की आयु के उपरान्त धनार्जन कार्य से अवकाश लेता था। इस प्रकार अनियन्त्रित भोग पर अंकुश लगता था। परिणामस्वरूप बेरोजगारी की समस्या का समाधान होता था और मस्तिष्क पर अर्थ सञ्चय करने की चिन्ता का भार अधिक समय तक नहीं रहता था। इससे समाज में आर्थिक सन्तुलन बना रहता था, किन्तु वर्तमान युग में व्यक्ति 18-20 वर्ष की आयु से और अधिकांशतः तो इससे पूर्व बाल आयु से ही धनोपार्जन के कार्य में लग जाते हैं तथा जब तक वे शारीरिक दृष्टि से अशक्त नहीं हो जाते तब तक अर्थ सञ्चय से अवकाश ग्रहण नहीं करते। इसलिये उस समय संयम और त्याग की वृत्ति को महत्त्व दिया गया था। अतएव आज भी जीवन की उन्नति व सार्थकता के लिए संयम व त्याग की आवश्यकता है। संयम के द्वारा तो व्यक्ति की अनुभव शक्ति बढ़ती है। हर प्रकार का सामर्थ्य बढ़ता है। सार-असार का भेद करने की सूक्ष्म बुद्धि बढ़ती है या यह कहे कि इसमें ही जीवन साफल्य की पराकाष्ठा है तो अतिशयोक्ति न होगी।

वर्तमान समय में हमारे समक्ष अनेक ऐसे विद्वद्जनों के चरित्र अनुकरणीय हैं, जिनसे व्यक्ति शिक्षा ग्रहण कर जीवन को सार्थक बना सकता है, यथा-कबीर, महावीर, गौतम बुद्ध, स्वामी दयानन्द, नानक आदि। जो गृहस्थी होते हुए भी सांसारिक आसक्ति से विरक्त थे। यदि आज भी गृहस्थी निश्चयात्मक बुद्धि से सज्जनों की सङ्गति कर, श्रद्धा-विश्वास के साथ मानव-सेवा को अपना लक्ष्य बनाकर, छल-कपट की भावना का त्यागकर, ईश्वर का स्मरणकर, परिवार, समाज तथा राष्ट्र के प्रति अपने दायित्व का निष्ठापूर्वक पालन करे तो वह आज भी वास्तविक सुख की प्राप्ति कर सकता है।

गृहस्थाश्रम के पश्चात् वानप्रस्थ में प्रवेश का विधान था। वानप्रस्थी गृहस्थाश्रम के भोग-ऐश्वर्यों का त्यागकर व पारिवारिक सत्ता का हस्तांतरण करके, वन में निवास करता हुआ ईश्वर-आराधना में निमग्न रहता था। वर्तमान युग में वन में निवास करना सम्भव नहीं है, किन्तु वानप्रस्थी के लिए जो सदाचार का पालन, संसार के भ्रमजाल से दूर रहना, सद्ग्रन्थों का अध्ययन तथा आध्यात्म की ओर अग्रसर रहने की बात कही गई है वह आज भी निर्विवाद रूप से जीवन के तृतीय चरण में अनुकरणीय

है। हाँ, इसके लिए वन में निवास करना आवश्यक नहीं है। वृद्धजन शास्त्रकथित एक निश्चित आयु (50-60 वर्ष) के उपरान्त कुटुम्ब सेवा के संकुचित क्षेत्र से बाहर निकलकर वान-प्रस्थवत् कार्यों को कर सकते हैं। यदि वे बाहर किसी शान्त व पवित्र वातावरण में न जा सकें तो परिवार में रहते हुए भी सांसारिक पदार्थों में ममत्वभाव का त्याग, गृहस्थ जीवन की ओर प्रवृत्त करने वाले कार्यों व आहार-विहार आदि पर पूर्णरूप से नियन्त्रण, व्रत-उपवास, हवन, पूजा-पाठ, धार्मिक-ग्रन्थों का अध्ययन, ईश्वर-उपासना, ध्यानादि में मन लगा सकते हैं। आज बहुत से वृद्धजन मानसिक शांति के लिए ईश्वर-भजन, सत्संग, मन्दिर, मस्जिद, गुरुद्वारों, तीर्थ-स्थानों, धार्मिक सभाओं तथा शान्त वातावरण इत्यादि में जाते दिखाई देते हैं, इसे वानप्रस्थ का आंशिक रूप माना जा सकता है, किन्तु कुछ वृद्धजन जो सांसारिक वातावरण का त्याग नहीं कर पाते और दीर्घसमय तक भोग में प्रवृत्त रहते हैं फलतः वे अनेक व्याधियों से ग्रस्त हो जाते हैं। अतएव शारीरिक स्वस्थता एवं दीर्घायुष्य के लिए गृह, धन-सम्पत्ति व रोजगार विषयक भोगवृत्ति का त्याग अनिवार्य है। इसके अतिरिक्त सामाजिक व राष्ट्रीय दृष्टि से भी यह आवश्यक है कि वृद्धजन कुछ निश्चित समय के उपरान्त आजीविका के साधनों व उच्च पदों से निवृत्त हों। यदि वे उचित समय पर सरकारी या गैर-सरकारी पदों से विरत नहीं होते हैं तो नई पीढ़ी कार्यारम्भ करने में कठिनाई का अनुभव करती है और उन्हें आर्थिक समस्या का सामना करना पड़ता है। इसलिये नवयुवकों को कार्य का समुचित अवसर प्रदान करने के लिए इनका निश्चित आयु में सेवा-निवृत्त होना आवश्यक है। सरकार की ओर से ऐसे वृद्ध कार्यकर्ताओं के लिए "वृद्धावस्था पेंशन" की व्यवस्था की गई है फिर भी अधिकांशतः लोग अन्तिम समय तक धनार्जन करने में लगे रहते हैं। सम्भवतः ये लोग अपनी वृद्धावस्था की सुरक्षा की दृष्टि से ऐसा करते हैं। आज समाज में देखने को मिलता है कि नई पीढ़ी तब तक उनकी सेवा करती है जब तक उनके पास धन-सम्पत्ति है अन्यथा उन्हें भाररूप समझती है।

उस समय समाज-सेवा वानप्रस्थी का एक महत्त्वपूर्ण कार्य था। वह वन में रहकर अपने ज्ञान का विस्तार करने के साथ-साथ अपने ज्ञान को वितरित भी करता था अर्थात् वह शिक्षा का प्रचार-प्रसार किया करता था उनका यह कार्य राष्ट्र के लिए अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होता था। इससे एक ओर राष्ट्र में निःशुल्क शिक्षा की व्यवस्था होती थी तो दूसरी ओर परिवार व नगरों में भीड़-भाड़ (Crowded) कम रहती थी और परिवार के ऊपर निवास व आर्थिक समस्याओं की सम्भावना कम रहती थी। आज के युग में जहाँ वानप्रस्थ समाप्त हो चुका है वहीं शिक्षा-पद्धति परिवर्तित होने से बहुमूल्यवान् हो गई है, जिसके कारण सामान्य वर्ग के परिवारों पर आर्थिक भार बना रहता है। ऐसे में पेंशनधारक या सेवा-निवृत्त परिपक्व बुद्धि वाले वृद्धजन निःशुल्क शिक्षा या सेवा संस्थाओं को चलाकर नई पीढ़ी तथा अन्य जनों को सदोपदेश देकर उनका मार्ग प्रशस्त तथा समाज-कल्याण के कार्यों में अपना सहयोग दे सकते हैं।

यदि वृद्धजनों की स्थिति के विषय में विचार करें तो तत्कालीन समय की अपेक्षा उनकी स्थिति में कमी आई है। उस समय वृद्धजनों का जीवन परिवार या वानप्रस्थाश्रम में रहकर अधिक सहजता से व्यतीत होता था। वर्तमान समय में वानप्रस्थाश्रम का प्रचलन न रहने से वे परिवार के मध्य रहकर जो जीवन व्यतीत कर रहे हैं वह उतना सुखद नहीं रहा है जितना होना चाहिये। आज व्यस्तता के कारण किसी के पास किसी के लिए समय नहीं है, कोई किसी के लिए कुछ त्याग नहीं करना चाहता। ऐसे परिवारों में वृद्धजनों के लिए स्थान दिनोंदिन सीमित होता जा रहा है। बदलती पारिवारिक, सामाजिक परिस्थितियों के साथ नई पीढ़ी में नैतिक मूल्यहीनता और स्वतंत्रता के स्थान पर स्वच्छंदता की चाह-ये इसके प्रमुख कारण हैं। आज नगरों, शहरों, गाँवों में प्रायः देखने को मिलता है कि बहुत से बच्चे अपने वृद्ध माता-पिता के साथ रहना नहीं

चाहते। ऐसे में कुछ वृद्धजन जीवन के सूनपन, अकेलेपन से क्षुब्ध, व्याधि, आर्थिक असुरक्षा व अशक्तता, उस पर अपमान और अवसाद से घिरे, भार बनने के अहसास से दुःखी होकर या तो स्वयं घर से चले जाते हैं या उन्हें इसके लिए विवश कर दिया जाता है कि जैसे भी हो, अपने लिए कोई वैकल्पिक व्यवस्था कर ले। इन परिस्थितियों में वृद्धजन घर से बाहर किसी वृद्धाश्रम, आर्य समाज जैसी संस्थाओं या तीर्थ-स्थानों में जीवन व्यतीत करते हैं। जो उनके लिए अपमानजनक स्थिति या घोर पीड़ादायक अभिशाप जैसा है।

ऐसे अनेकों आश्रम हैं जहाँ हजारों वृद्धजन जीवन व्यतीत कर रहे हैं³ -

- सन्ध्या सीनियर सिटिजन्स होम, नेताजी नगर, न्यू दिल्ली-110023
- आराधना सीनियर सिटिजन्स होम (केवल महिला), भगवान दास लैन, न्यू दिल्ली-110001
- वरदान सीनियर सिटिजन होम, मालवीय नगर, न्यू दिल्ली-110017
- गोधुलि-सीनियर सिटिजन होम, सैक्टर-2, द्वारका, न्यू दिल्ली-110075
- आर्य महिला आश्रम, दुर्गा कॉलोनी, न्यू राजेन्द्र नगर, न्यू दिल्ली-110060
- साई सहरा ओल्ड एज होम, तोडापुर गाँव, न्यू दिल्ली-110012
- गुरु विश्राम वृद्ध आश्रम, कालकाजी, न्यू दिल्ली-110017
- दर्शन विश्राम वृद्ध आश्रम, इन्दिरा विकास कॉलोनी, दिल्ली-110009
- श्री गीता वृद्ध आश्रम, न्यू राजेन्द्र नगर, न्यू दिल्ली-110060
- आनन्द धाम एण्ड वृद्ध आश्रम, नजफगढ़ रोड, नांगलोई-110041
- ओल्ड एज होम, कालकाजी, दिल्ली-110019
- ओल्ड एज होम, हरिजन कॉलोनी, तिलक विहार, न्यू दिल्ली-110018
- शिव आश्रय सीनियर सिटिजन एण्ड ओल्ड एज होम, सैक्टर-9, रोहिणी, दिल्ली-110085
- मन्वायतन (ओल्ड एज होम), सैक्टर-37, नौएडा, उत्तर प्रदेश-201303
- आनन्द निकेतन वृद्ध सेवा आश्रम, सैक्टर-55, नौएडा, उत्तर प्रदेश-201305
- समर्पण, बरिष्ठ जन परिसर, आदिल नगर, लखनऊ (न्वा)
- सुक्रित वृद्धवास-ओल्ड एज होम, एन.आई.टी., फरीदाबाद (हरियाणा)
- चिरंजीव कर्म भूमि, पालम विहार, गुडगाँव (हरियाणा)
- होप सीनियर सिटिजन्स होम सोसायटी, न्यू पालम विहार, फेस-ए, गुडगाँव (हरियाणा)-122017
- मोक्ष वृद्ध आश्रम, केमरी रोड, हिसार (हरियाणा)-125001
- कस्तूरबा गाँधी वृद्ध आश्रम, हिसार रोड, सिरसा (हरियाणा)-125005
- श्री रामकृष्ण सत्यानन्द आश्रम, देशबन्धु रोड, आलमबाजार, कलकत्ता-700035
- आनन्द आश्रम, एस.आर. दास रोड, कालीघाट, कलकत्ता-700026

- भोलानन्दा वृद्ध आश्रम, मिडल रोड, बाररैक-पोरे, कलकत्ता-700120
- महिला सेवा समिति, गवर्नमेन्ट प्लेस नॉर्थ, कलकत्ता-700062
- कुन्दनलाल भल्ला चेरिटेबल ट्रस्ट, ओल्ड एज होम, रायपुर रोड, देहरादून
- लाला जगत नारैन वृद्ध आश्रम, गीता कुटीर तपोवन, हरिद्वार-249410
- प्रेम धाम, नेहरू रोड, देहरादून
- वृद्धा सेवा आश्रम, भारत सदन, साधुबेला सप्त सरोवर रोड, हरिद्वार-249410
- निष्काम सेवा आश्रम, दाद गाँव, पखोवाल रोड, लुधियाना,
- पंजाब-142022 भाई वीर संघ वृद्ध घर, जन्डिअला रोड, तारन तारान, अमृतसर-143410
- वृद्धाश्रम, जलालाबाद रोड, मुक्तसर, पंजाब-152026
- शहीद बाबा तेग सिंह सेवा सोसायटी, वृद्ध आश्रम, चंद पुरान, मोघ, पंजाब- 142038
- ओल्ड एज होम, थली तहसील-छुरला, चम्बा (जिला), हिमाचल प्रदेश
- होम फॉर दि एज्ड, गर्ली, कांगड़ा (जिला), हिमाचल प्रदेश
- एच.पी. स्टेट वेलफेयर बोर्ड, ओल्ड एज होम, बसन्तपुर, शिमला (जिला)
- एच.पी. स्टेट सोशल वेलफेयर बोर्ड, शिमला
- आनन्द-धाम हनुमान जी टेम्पल, लम्ब्वेल, आनन्द, गुजरात-388310
- महिला वृद्धाश्रम, श्री आनन्दभव सेवा संस्था संचालित, लिम्बा लैन, शारदा मन्दिर हाई स्कूल, जमनगर, गुजरात-361001
- मानव सेवा ट्रस्ट (वानप्रस्थाश्रम), वल्सद, गुजरात-396020
- अन्ध वृद्धाश्रम, स्वामी विवेकानन्द, हाईवे ग्राउंड, जूनागढ़, गुजरात-362001
- साई स्नेहधाम वृद्धाश्रम, तुम्कुर रोड, बंगलौर-560123
- गंगाधाम वृद्धाश्रम, सावर गाँव, मुल्शी, पूना-411057 आदि।

वस्तुतः आज वानप्रस्थ का स्थान विभिन्न वृद्धाश्रम संस्थाओं ने ले लिया है। इन संस्थाओं के अतिरिक्त वृन्दावन में लगभग पन्द्रह हजार वृद्धाएँ रह रही हैं।⁴वर्तमान में वृद्धाश्रम जैसी संस्थागत व्यवस्था भारतीय संस्कार के अनुकूल नहीं है फिर भी सामाजिक परिस्थितियाँ हमें इस ओर ले जा रही हैं। इन वैकल्पिक व्यवस्थाओं को मात्र विवशता की स्थिति में अपनाया जाना चाहिए। वृद्धावस्था का सुखद-दुःखद होना बहुत कुछ वृद्धजनों के चिन्तन, सक्रियता और नई पीढ़ी के सहयोग पर निर्भर करता है। वृद्धजनों को सही दिशा में चिन्तन के लिए प्रेरित और उन्हें अवसादजनित बीमारियों से बचाने के लिए सार्थक दिशा देने की आवश्यकता है। साथ ही नई पीढ़ी को यह अहसास कराने की भी कि वृद्धजन भाररूप नहीं आशीर्वाद होते हैं। उनके आशीर्वाद से ही हमारा भविष्य उज्ज्वल बनता है।

चतुर्थ आश्रम 'संन्यास' था। प्रत्येक द्विज के लिए वानप्रस्थ के उपरान्त इस आश्रम में प्रवेश करना आवश्यक था। वह संसार से पूर्णतः विरक्त होकर ईश्वर-प्राप्ति व मोक्ष-सिद्धि हेतु साधना करता था। वर्तमान समय में संन्यास का पालन करना प्रत्येक व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं है, क्योंकि संन्यास का जो अर्थ था- 'सम्यक् न्यास' अर्थात् काम्य कर्मों का त्याग 'संन्यास' और कर्मफल के प्रति आसक्ति न रखने वाला 'संन्यासी' था। वह अर्थ अब रूढ़िगत हो गया है। आज मोक्ष अर्थात् छुटकारा, संन्यासी अर्थात् जीवनकलहरूपी सांसारिक बंधनों से मुक्ति पाने वाला और उसका मोक्ष, फिर से इनमें बन्धित न हो, ऐसा लोग समझते हैं। इसके साथ ही लोगों के मन में त्याग और संन्यास जैसे शब्दों के प्रति भी घुणा उत्पन्न हुई है। इसलिये आज तत्कालीन समाज की अपेक्षा संन्यासी कम पाये जाते हैं। जो हैं उनमें संन्यासी, साधु, भिक्षु, सन्त, महन्त, महात्मा, बाबा, वैरागी, गद्दीपति और आध्यात्मिक गुरु सब आ जाते हैं। पी.वी. काणे के मत से आज जो सन्त-महात्मा या संन्यासी बनते हैं उन्हें आधुनिक हिन्दू कानून के अनुसार परिवार, सम्पत्ति व वसीयत से विच्छेद करना होता है और गेरुए वस्त्र को चिह्न मात्र के रूप में धारण कर, अपेक्षित कृत्य भी सम्पादित करने होते हैं। संन्यासी की मृत्यु के पश्चात उसके वस्त्र, खाड़ाम्, ग्रन्थादि उसके परिवार वालों को नहीं प्रत्युत उसके शिष्यों को दे दिये जाते हैं।⁵

तत्कालीन समय में संन्यासी समाज से विलग एकाकी जीवन व्यतीत करते हुए, एक स्थान से दूसरे स्थान पर विचरण करता था। वर्तमान में अधिकतर साधु, संन्यासी समूह में, कुछ सम्प्रदाय के अनुसार तो कुछ गिरि कन्दराओं में समाधि लगाकर रह रहे हैं। आज जो भी संन्यासियों के अखाड़े (साधुओं की साम्प्रदायिक मण्डली) और उपसम्प्रदाय उपलब्ध होते हैं वे वैचारिक भिन्नता व व्यवहारिकता का परिणाम है। यद्यपि इनकी निश्चित गणना कर पाना दुष्कर कार्य है तथापि प्राप्त अखाड़ों व उपसम्प्रदायों का वर्णन निम्न है⁶

अखाड़े : साधुओं की साम्प्रदायिक मण्डली को अखाड़ा कहा जाता है। अखाड़ों का उद्देश्य शास्त्र पठन, आध्यात्मिक चिन्तन एवं मनन के साथ धर्म का प्रचार, सन्त सेवा व जनता की सेवा करना है। प्रारम्भ में इन अखाड़ों में महिलाओं के लिए स्थान नहीं था, किन्तु अब महिलायें भी संन्यास ले, इनमें रह सकती हैं। फिर भी पुरुष वर्ग की संख्या ही अधिक है। कुछ प्रमुख अखाड़े इस प्रकार हैं

निरंजनी अखाड़ा : यह अखाड़ा सन् 904 में गुजरात में स्थित मांडवी स्थान में स्थापित किया गया। इस अखाड़े के संन्यासी देवताओं के सेनापति कार्तिकेय को अपना इष्टदेव मानते हैं। ये लोग शैव हैं तथा जटा धारण करते हैं।

निर्वाणी अखाड़ा : इस अखाड़े के केन्द्र प्रयाग, कनखल, ओंकार, काशी, त्रयंबक, कुरुक्षेत्र, उज्जैन, उदयपुर में हैं। उज्जैन के महाकाल मन्दिर में भस्म चढ़ाने वाले महन्त इस अखाड़े से सम्बन्धित हैं।

महानिर्वाणी अखाड़ा : इस अखाड़े की स्थापना के विषय में मतभेद है। जो निर्वाणी अखाड़े की ही एक शाखा मानी जाती है। यह अखाड़ा दारागंज (प्रयाग) में है। इसका केन्द्र कनखल तथा खाण्डवा में है। ये लोग नागा शैव हैं और जटा रखते हैं।

आवाह अखाड़ा : यह अखाड़ा सन् 547 में स्थापित किया गया। इसकी शाखा काशी में है। श्री गणेश जी तथा दत्तात्रेय (जोकि रुद्रावतार है) इस अखाड़े के इष्टदेव हैं।

अटल अखाड़ा : अटल अखाड़ा सन् 647 में गोण्डवाना में बना था। इसके केन्द्र काशी, बड़ौदा, हरिद्वार, त्रयंबक, उज्जैन में स्थित हैं। इष्टदेव श्री गणेश जी हैं।

आनन्द अखाड़ा : इसकी स्थापना विक्रम संवत् 856 में बरार में हुई थी। इसके इष्टदेव सूर्य है।

अग्नि अखाड़ा : सन् 1957 में इस अखाड़े की स्थापना हुई। गिरनार की पहाड़ी पर इसका केन्द्र है।

श्री पञ्च अग्नि अखाड़ा : यह अखाड़ा विक्रम संवत् 1192 में काशी में बना। राजघाट, काशी, नया महादेव मौहल्ले में इसके केन्द्र हैं। इष्ट देवी गायत्री माता एवं अग्नि हैं। इस अखाड़े में अब संन्यासी नागे न रहकर कर्मकाण्डी नैष्ठिक ब्रह्मचारी रहते हैं।

उपसम्प्रदाय : अखाड़ों के अतिरिक्त संन्यासियों के कुछ उपसम्प्रदाय भी हैं जो अपनी वेश-भूषा, रहन-सहन या पूजा करने की पद्धति के कारण भिन्न प्रकार के हैं। कुछ उपसम्प्रदाय निम्नलिखित हैं

दण्डी : इस सम्प्रदाय के साधु यात्रा के समय दण्ड और कमण्डल अपने साथ रखते हैं। ये न किसी धातु की वस्तु एवं न अग्नि को स्पर्श करते हैं।

परमहंस : ये दो प्रकार के हैं-दण्डी परमहंस और अवधूत परमहंस । दण्ड को साथ रखने वाले साधु 'दण्डी' और अन्य अवधूत कहे जाते हैं।

दशनामी नागा : ये तीन प्रकार की जटा को धारण करते हैं-नागा जटा, शम्भु जटा और बारबन। रस्सी के समान गुंथी हुई व साँप की आकृति वाली 'नागा जटा' है तथा 'शम्भु जटा' का छोटा रूप 'बारबन' है।

अलेखिया : इस सम्प्रदाय के संन्यासी चाँदी, पीतल या ताँबे से निर्मित कुछ विशेष प्रकार के आभूषणों-गिरनार, चल, तोरा, छल्ला आदि को धारण करते हैं। ये भिक्षा माँगते समय भिन्न प्रकार का केलका' व 'मातंगा' नामक वस्त्र धारण करते हैं। साथ ही लोगों का ध्यान आकर्षित करने के लिए अपनी कमर पर छोटी घंटिया बांधते हैं। इनमें जो काला भिक्षापात्र रखते हैं वे अर्धरात्रि में भिक्षा माँगते हैं।

डंगलि : ये संन्यासी भिक्षा न मांगकर, व्यापार करते हैं और प्राप्त धन से संन्यासियों के लिए भोजन की व्यवस्था करते हैं।

अघोरी : अघोरी अन्य संन्यासियों की अपेक्षा भिन्न हैं। जो समदृष्टि तत्त्व का अभ्यास करते हैं। शुभ व अशुभ वस्तुओं में भेद नहीं करते। भिक्षापात्र के रूप में मानव मुँड रखते हैं तथा शिव एवं शक्ति की उपासना करते हैं।

उर्ध्व बाहु : कुछ संन्यासी अपने इष्टदेव को प्रसन्न करने के लिए एक या दोनों हाथों को ऊपर उठाकर रखने की शपथ लेते हैं।

आकाशमुखी : जो अपने मुख को आकाश की ओर उठाये रखने की शपथ लेते हैं।

नखी : इस प्रकार के संन्यासी अपने नखों को न काटने की शपथ लेते हैं।

श्राश्वरी : ऐसे संन्यासी दिन और रात खड़े रहने का संकल्प लेते हैं। ये खड़े रहकर ही भोजन तथा शयन करते हैं।

उर्ध्वमुखी : जो अपने पैरों को किसी वृक्ष की शाखा से बांधकर सिर को नीचे की ओर लटकाते हैं। अतः ये संन्यासी अत्यन्त कठिन तपस्या करते हैं।

पंचधुनी : पंचधुनी संन्यासी चारों दिशाओं में अग्नि को प्रज्वलित कर, उसके मध्य में स्थित होकर तपते हैं।

मौनव्रती : ये मौनव्रत रखने की शपथ लेकर ईश्वर का मानस जप करते हैं।

जलसाजीवी : इस प्रकार के संन्यासी प्रातः से सन्ध्या तक जल में खड़े रहने का संकल्प कर, उसमें ही खड़े होकर तप करते हैं।

जलधारा तपसी : ऐसे संन्यासी गड्ढा खोदकर उसमें बैठते हैं। ऊपर छेद वाला एक घड़ा रखते हैं जिसमें से जल उनके ऊपर गिरता रहता है।

करलिंगी : जितेन्द्रिय समझे जाने वाले ये संन्यासी निरवस्त्र (नग्न) रहने का व्रत लेते हैं।

फलाहारी : फलाहारी अन्न न खाने की शपथ लेकर केवलमात्र फलों से जीवन-निर्वाह करते हैं।

दूधारी : जो आहार के रूप में मात्र दूध पर निर्भर रहते हैं। अलूना : ये संन्यासी बिना नमक का भोजन खाते व ग्रहण करते हैं।

गूदड़ : ऐसे संन्यासी 'केलका' नामक एक प्रकार का वस्त्र धारण करते हैं। एक कान में छल्ला तथा दूसरे में तौबे से निर्मित वस्तु को पहनते हैं। भिक्षा के समय सुगन्धित वस्तु का प्रयोग करते हैं। किसी मृत संन्यासी का दाह संस्कार करना इनका कर्तव्य है। ये लोग मृत संन्यासियों की वस्तुएँ ले लेते हैं।

सुखर : इस प्रकार के संन्यासी भिक्षा के लिए नारियल से बने खप्पर का प्रयोग करते हैं और भिक्षा के समय सुगन्धित वस्तुएँ जलाते हैं। इनके अन्य कर्तव्य गूदड़ संन्यासियों के समान हैं।

शंखस्मृति में वर्णित भारतीय संस्कृति के मूलभूत तत्त्व कुखर : कुखर संन्यासी नये पात्र में ही भिक्षा ग्रहण करते हैं तथा पकाते हैं। भूखर : जो भिक्षा के समय सुगन्धित वस्तुएँ नहीं जलाते हैं।

अवधूतनी : ऐसी संन्यासिन स्त्रियाँ जो माला धारण करती हैं। माथे पर शैव चिह्न अंकित करती हैं। तीर्थ यात्रा पर जाती हैं तथा भिक्षा से जीवन-निर्वाह करती

घरबारी : इस प्रकार के संन्यासी अपने परिवार के साथ रहते हैं। ये अपने को संन्यासी कहते हैं।

टिकरनाथ : ये भैरव की पूजा करते हैं और टिकरा अर्थात् मिट्टी का बना पात्र प्रयोग करते हैं।

त्यागी : त्यागी संन्यासी बिना मांगे जो मिल जाए उसी से जीवनयापन करते हैं। यदि वस्त्र मिल जाए तो पहन लेते हैं अन्यथा निरवस्त्र रहते हैं।

मानस : जो घर का त्यागकर, साधु का जीवन व्यतीत करता है।

अन्त संन्यासी : ऐसा संन्यासी जो एक स्थान पर बैठकर तब तक उपवास करता है और ईश्वर के ध्यान में लीन रहता है जब तक उसकी मृत्यु न हो जाये।

क्षेत्र संन्यासी : जब कोई व्यक्ति संन्यासी जीवन व्यतीत करने का संकल्प लेकर, मृत्यु तक किसी पवित्र स्थान पर रहता है।

भोपा : जो भैरव की पूजा करते हैं। इनके केश लम्बे होते हैं। भिक्षा के समय अपनी कमर या पैर में घंटियाँ बाँधते हैं, नाचते हैं तथा भैरव की स्तुति में गीत गाते हैं।

चन्द्रवत : चन्द्रवत संन्यासी घरेलू भिखारी होते हैं। ये अपने साथ गाय, बकरी, बन्दर आदि रखते हैं और कभी-कभी जादू के खेल द्वारा धनार्जित करते हैं।

इस प्रकार प्राचीन समय से चले आये विभिन्न आश्रम व अखाड़ों में समय-समय पर कुछ परिवर्तन होते रहे और अनेक उपसम्प्रदायों का जन्म हुआ।

उस समय मन, वचन, कर्म की पवित्रता, सुख-दुःख लाभ-हानि आदि सभी में समत्वभाव रखना, भिक्षा से प्राप्त भोजन से निर्वाह करना तथा योग में निमग्न रहना संन्यासी का धर्म था। वर्तमान समय में इस प्रकार के संन्यासी विरले ही दिखाई देते हैं। आज कुछ सन्त, महात्मा को छोड़कर अन्य संन्यासी जन पाखण्डी हो गये हैं। वे देखने में तो विरक्त हैं, किन्तु स्त्री, धन आदि सभी का परिग्रह करते हैं अर्थात् अप्रत्यक्ष रूप से इन्द्रिय-सुख, भोगों का अनुगमन करते हैं। लेकिन जो स्वयं श्रेष्ठ आचरण नहीं कर पाते वे समाज को सही मार्गदर्शन कैसे दे पाएंगे। जबकि संन्यासाश्रम आत्मा के स्वरूप को समझने और उससे संलग्न हुए मल-विक्षेपों के अज्ञान आवरणों के अनर्थ को जानने के लिए आत्म-चिन्तन की आवश्यकता को अभिव्यक्त करता था, जिससे सांसारिक प्रगति, समृद्धि एवं सुसम्बन्धों की अभिवृद्धि हो सके, किन्तु भौतिक युग में तो आध्यात्मिक प्रगति हो या न हो, लौकिक जीवन अवश्य सुखमय होना चाहिये, मानो ऐसा उद्देश्य जीवन का बन गया है। वस्तुतः जिस उन्नत मार्ग पर अग्रसर होने के लिए संन्यास मार्ग का अनुसरण किया गया था उसे आज के अधिकांश संन्यासी प्रायः विस्मृत कर चुके हैं। जिसका परिणाम यह होता है कि देहभाव में निमग्न हो जाने के कारण उनकी क्रियायें, चेष्टायें एवं आकांक्षायें भी निम्न श्रेणी की हो जाती हैं। इसलिये आज जो भी साधु, सन्त, संन्यासी हैं उन्हें संन्यस्त मार्ग की गरिमा को बनाये रखने के लिए संसार में प्रतिष्ठा अथवा लाभ, धन से भोग या पुत्रादि के मोह से पृथक् होकर मोक्ष के साधनों में तत्पर रहना, प्राणिमात्र में पक्षपात रहित होकर समबुद्धि रखते हुए व स्थिर बुद्धि वाले एवं मननशील होकर परमेश्वर का चिन्तन करना, दुष्प्रवृत्तियों का त्याग करते हुए, आनन्द एवं दुःख में समभाव रखते हुए योग अर्थात् प्राणायाम से दोषों को, धारणा से अन्तःकरण के मैल को, ध्यान से अज्ञान, पक्षपात आदि दोषों को छुड़ाते हुए प्राणिमात्र और समाज के कल्याण में लगा रहना चाहिये। वस्तुतः उनका उदासीन भाव भौतिक पदार्थों के प्रति होना चाहिए न कि समाज के श्रेष्ठ कर्मों के प्रति। राष्ट्रहित को दृष्टि में रखते हुए ही जीवन-निर्वाह करना आज की परिस्थितियों में अत्यन्त आवश्यक है। जो संन्यासी मानवमात्र के कल्याण में तथा मानवीय एकता के कार्य में संलग्न रहता हो, वही संन्यासी श्रेष्ठतम है। उसको धर्म-अधर्म के भेद पर प्रकाश डालते हुए समाज को सही दिशा दिखानी चाहिये।

यदि संन्यासी से इतर सामान्य व्यक्तियों की बात करें, जो संन्यास नहीं लेते तो उनके लिए भी अपनी अन्तिम वय में सभी पदार्थों के प्रति मोह का त्याग, सभी प्राणियों पर दया तथा क्रोध, असत्य आदि से दूर रहकर ब्रह्म-चिन्तन व समाज की सेवा करते रहना आवश्यक है। साथ ही उन्हें वैराग्यभाव को इतना बढ़ाना चाहिये कि जीवन के अन्तिम समय में किसी प्रकार की आकांक्षा शेष न रहें और बिना किसी भय तथा दुःख के देह छोड़ी जा सके।

आश्रमव्यवस्था के समग्र विवेचन के पश्चात् कहा जा सकता है कि तत्कालीन समाज में जहाँ इसे एक आदर्श एवं संतुलित जीवन पद्धति के रूप में अपनाया गया था वहीं आज व्यवहारिक रूप में इसका प्रचलन नाममात्र का रह गया है।

हाँ, वर्तमान समाज में अब प्रारम्भिक कक्षा से स्नातकोत्तर या उसके आगे तक का शिक्षण, अट्ठारह से पच्चीस वर्ष की आयु में विवाह का निर्धारण, कार्यक्षेत्र से सेवानिवृत्ति, कुछ लोगों का विवाह से पूर्व या विवाह के उपरान्त साधु, सन्त या संन्यासी बनना आदि को आश्रमव्यवस्था का ही आंशिक रूप माना जा सकता है। यद्यपि काल परिवर्तन के साथ उनमें से कुछ विषयों का यथोचित निर्वाह कर पाना सम्भव नहीं है तथापि अधिकांश विषय किसी-न-किसी रूप में अपनी प्रासङ्गिकता रखते हैं।

श्राद्ध विधान

भारतीय हिन्दू समाज में वर्णाश्रम, संस्कारादि सामाजिक, धार्मिक संस्थाओं के समान श्राद्धकर्म को भी मानव जीवन के अभ्युत्थान का हेतु माना गया था। व्यक्ति यदि देव, ऋषि, पितृकार्यों में देवकार्य विस्तार से न कर सके तो उससे व्यक्ति की आगामी उन्नति रुकती है, पतन नहीं होता, लेकिन पितृकार्यों का अनुष्ठान न करने पर पतन की पूर्ण सम्भावना हो जाती है। जबकि अपने कुल-वंशजों के द्वारा श्राद्धीय-पदार्थों से संतुष्ट किये जाने पर पितरगण अपनी वंशसन्तति को अविच्छिन्न रखते हैं और उनका कल्याण करते हैं, ऐसा धर्मग्रन्थों में निर्देशित किया गया है। इसलिये प्रत्येक व्यक्ति के द्वारा श्राद्धपूर्वक अपने पितरगणों का स्मरण, उनको जल-अन्न देना तथा पिण्डदान करना अनिवार्य कर्तव्य माना गया था, जिसकी स्वीकार्यता आज भी यथावत् बनी हुई है।

श्राद्ध शब्द की व्युत्पत्ति एवं अर्थ

'श्राद्ध' शब्द 'श्रद्धा' से निष्पन्न हुआ है।⁸ श्रद्धा में विश्वास या निष्ठा का भाव समाहित है।⁸ देवल ने 'श्रद्धा' को परिभाषित करते हुए कहा है कि—'धार्मिक-कृत्यों में जो प्रत्यय या विश्वास होता है, वही श्रद्धा है, जिसे प्रत्यय नहीं है उसे धार्मिक कर्म करने का प्रयोजन नहीं है।'⁹ वस्तुतः श्राद्धकृत्य में श्रद्धा मूल होने के कारण ही इसका नाम श्राद्ध पड़ा। कहा भी गया है—'श्रद्धया दीयते यस्माच्छ्राद्धं तेन निगटते'¹⁰ अर्थात् दिवंगत पितरों के निमित्त जो कर्म श्रद्धापूर्वक किया जाता है, उसे श्राद्ध' कहते हैं। मिताक्षरा ने श्राद्ध की परिभाषा इस प्रकार दी है—'पितरों को उद्देश्य करके (उनके कल्याण के लिए) श्रद्धापूर्वक किसी वस्तु या उनसे सम्बन्धित किसी द्रव्य का त्याग श्राद्ध है'¹¹। बृहत्पराशरस्मृति में उल्लिखित है कि—'जो कुछ उचित स्थान, काल एवं पात्र के अनुसार शास्त्रानुमोदित विधि द्वारा पितरों को लक्ष्य करके श्रद्धापूर्वक हविष्यान्न, तिल, कुश तथा मन्त्रादि का त्याग-दान किया जाता है, वह श्राद्ध कहलाता है'¹² कुछ अन्य धर्मशास्त्रकारों ने भी श्राद्ध को इसी प्रकार परिभाषित किया है। साथ ही उन्होंने पितरों को उद्देश्य करके श्रद्धापूर्वक ब्राह्मणों को जो कुछ दिया जाता है उसको भी सम्मिलित किया है।¹³ वस्तुतः इसमें श्राद्धकर्ता का न केवल विश्वास, प्रत्युत अटल धारणा थी कि मृत पितरों के कल्याण के लिए ब्राह्मणों को जो कुछ दिया जाता है, वह उन्हें किसी प्रकार अवश्य प्राप्त होता है। इस प्रकार श्राद्ध वह प्रक्रिया है जो मृत-पूर्वजों के प्रति विश्वास या आदर के द्वारा संचालित होती है।

श्राद्ध की प्राचीनता

वैदिक साहित्य में कठोपनिषद्¹⁴ को छोड़कर 'श्राद्ध' शब्द प्राप्त नहीं होता, किन्तु पितर विषयक कतिपय विश्वास प्रकट किये गये हैं, जो वैदिककाल से ही श्राद्ध की विद्यमानता को स्पष्ट करते हैं। ऋग्वैदिक मन्त्रों से ज्ञात होता है कि शरीर के दाह के उपरान्त मृतात्मा को वायव्य शरीर प्राप्त होता है और वह मनुष्यों को एकत्र करने वाले यम एवं पितरों के साथ पितृलोक में चला जाता है।¹⁵ और अग्नि से प्रार्थना की जाती है कि वह उसे सत् कर्म करने वाले पितरों एवं विष्णु के पादन्यास (विक्रम) की ओर ले जाये।¹⁶ इसके साथ ही पितरगणों को विभिन्न दैवी शक्तियों से युक्त माना गया है। उनका अनुग्रह प्राप्त करने के लिए, उन्हें श्रद्धापूर्वक आहुतियों, प्रार्थनाओं, मन्त्रों के आह्वान आदि के माध्यम से बुलाया जाता था। ऋग्वेद में पितरों से सुमति एवं सौमनस (अनुग्रह) प्राप्त करने की बात कही गयी है। उनसे कष्टरहित आनन्द देने एवं यजमान (यज्ञकर्ता) तथा उसके पुत्र को सम्पत्ति देने के लिए प्रार्थना की गयी है।¹⁷ मृत-जो पितृलोक को गये हैं, वे दिव्य-शक्ति-सम्पन्न होने के कारण पृथिवी, अन्तरिक्ष आदि सब जगह रह सकते हैं। सम्भवतः इसी कारण अथर्ववेद में पृथिवी, अन्तरिक्ष एवं ध्रुलोक में

रहने वाले पितरों के लिए स्वधा (अन्नदान) देने को कहा गया है¹⁸। इसी ग्रन्थ के एक अन्य स्थल पर वर्णित है कि 'जो पितर गाड़े गये हैं, जो परोप्ता अर्थात् अरण्य में फेंके गये हैं, जो जलाये गये हैं और जो ऊपर वृक्ष आदि पर रखे गये हैं उन सबको हे अग्नि ! तुम हवि भोजन करने को ले आओ। इसमें श्राद्ध की अनिवार्यता को अभिव्यक्त करते हुए कहा गया है कि- 'हम श्रद्धापूर्वक पिता के पिता एवं पितामह की जो बृहत् मध्यम लोक (यमलोक, जहाँ मृतात्मा एकत्र होते हैं), पृथिवी एवं स्वर्ग में रहते हैं, पूजा करें।'¹⁹ इन मन्त्रों में प्रयुक्त 'पितृ' शब्द मृत पितरों के लिए प्रयुक्त हुआ है। इसी प्रकार ब्राह्मणग्रन्थों में 'पितरः' शब्द सामान्यतः व्यक्ति के समीपवर्ती पिता, पितामह एवं प्रपितामह-इन मृत पुरुष पूर्वजों के लिए प्रयोग होता रहा है। शतपथब्राह्मण में पिता, पितामह एवं प्रपितामह को पुरोडाश (रोटी) देते समय के सूक्तों का उल्लेख किया है और कहा है कि कर्ता इन शब्दों को कहता है- 'हे पितरगण, यहाँ आकर आनन्द लो, बैलों के समान अपने-अपने भाग पर स्वयं आओ'²⁰ साथ ही इसमें तीन पूर्व पुरुषों को स्वधाप्रेमी भी कहा गया है।²¹

वैदिक साहित्य के उपरान्त 'श्राद्ध' शब्द के अन्य प्रयोग सूत्र एवं स्मृति साहित्य में उपलब्ध होते हैं। जहाँ धर्मशास्त्रकारों ने श्राद्ध की महत्ता एवं उससे उत्पन्न कल्याण की प्रशंसा का विस्तृत वर्णन किया है। आपस्तम्बधर्मसूत्र का कथन है कि- 'प्राचीनकाल में मनुष्य एवं देवता इस लोक में एक साथ ही रहते थे। देवताओं ने अपने उत्तम कर्मों (यज्ञादि) के प्रभाव से अर्थात् श्रौत, स्मार्त और गृह्य कर्मों के यथावत् अनुष्ठान से स्वर्ग को प्राप्त किया और मनुष्य वैसा करने में असमर्थ होने से इसी लोक में रह गये। जो मनुष्य देवताओं के समान यज्ञ करते हैं वे मरणोपरान्त देवताओं तथा ब्रह्मा के साथ स्वर्ग में निवास करते हैं। मनुष्यों की इस प्रकार की अवस्था को देखकर मनु ने 'श्राद्ध' नामक कर्म का आरम्भ किया, जो मनुष्य को श्रेय (मुक्ति या आनन्द) की ओर ले जाता है। इस कर्म में पितरगण देवता होते हैं तथा आमन्त्रित जिन ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता है वह आह्वनीय अग्नि (जिसमें यज्ञों के समय आहुतियाँ दी जाती हैं) के प्रतीक माने जाते हैं।²² बौधायनधर्मसूत्र के अनुसार पितरगण पक्षियों के रूप में विचरण करते हैं।²³ मनुस्मृति में पितरों की सन्तुष्टि हेतु श्राद्ध पर बल देते हुए कहा गया है कि- 'श्रद्धायुक्त मनुष्य शास्त्रोक्त विधि से जो-जो अन्न देता है अर्थात् श्राद्ध करता है, वह-वह परलोक में पितरों के लिए तृप्तिकारक होता है।'²⁴ इसके अतिरिक्त उल्लिखित है कि- 'पिता, पितामह एवं प्रपितामह क्रम से वसु, रुद्र एवं आदित्य देवता के समानरूप हैं। जो श्राद्ध के समय वर्णित नाम, गोत्र, उच्चरित मंत्र एवं श्रद्धा आहुतियों (वह भोजन, जिसे श्राद्ध में आमन्त्रित ब्राह्मण खाता है या जो अग्नि में डाला जाता है) को पितरों के पास ले जाते हैं और उन्हें सन्तुष्ट करते हैं'²⁵। शंखस्मृति में तो पितरों के प्रति श्रद्धापूर्वक किये गये श्राद्ध को समस्त प्रकार के कल्याण का हेतु बतलाया गया है²⁶। इस प्रकार आरम्भिक काल में पूर्वजों को प्रसन्न करने के लिए जो प्रार्थनाएँ या आहुतियाँ दी जाती थीं, वे ही कालान्तर में श्रद्धा एवं स्मरण चिह्नों के रूप में प्रचलित हो गये और इन्हीं ने 'श्राद्ध' का रूप ले लिया।

श्राद्ध का प्रयोजन एवं महत्त्व

वैदिक साहित्य के अध्ययन से स्पष्ट है कि आरम्भिक समय से ही श्राद्धकर्म को अत्यधिक महत्त्व दिया जाता रहा है। इसका मुख्य उद्देश्य अपने दिवंगत पितरों को सम्मानपूर्वक सन्तुष्ट करना था। भारतीय जनमानस में ऐसा विश्वास था कि उनकी कृपा-दृष्टि से व्यक्ति का जीवन सुखमय बन सकता है। शंखस्मृति में इसके महत्त्व को प्रदर्शित करते हुए उल्लिखित है कि- 'पितरगण अपने पुत्र-पौत्रों के द्वारा श्रद्धापूर्वक दिए गए श्राद्धों से प्रसन्न होकर, उन्हें सदैव सन्तति, पौष्टिकता, कीर्ति, स्वर्ग, नीरोगता और सम्पत्ति प्रदान करते हैं।'²⁷ सुमन्तु ने तो यहाँ तक कह दिया है कि 'श्राद्ध से बढ़कर और कोई कल्याणकारक

वस्तु नहीं हैं।²⁸ जो इसके महत्त्व को स्वतः स्पष्ट करते हैं। कुछ अन्य धर्मग्रन्थों ने श्राद्ध न करने पर होने वाले परिणाम को उद्घोषित करते हुए कहा है कि- 'अमावस्या के दिन भूख व प्यास से व्याकुल पितरगण वायु का रूप धारण कर अपने पुत्र के घर आते हैं और सांयकाल तक स्थित होकर देखते हैं कि उनके कुल के लोगों द्वारा श्राद्ध किया जाता है कि नहीं। जब सांयकाल (सूर्यास्त) तक श्राद्ध नहीं किया जाता है तब वे निराश होकर दीर्घ श्वास छोड़ते हैं और अन्त में अपने वंशजों की भर्त्सना करते हुए चले जाते हैं। जो उचित तिथि पर जल या शाक-सब्जी से भी श्राद्ध नहीं करते उनके पितरगण, उन्हें अभिशापित कर लौट जाते हैं।²⁹ हारीतस्मृति का कथन है कि जिस देश अथवा कुल में श्राद्ध नहीं होता, वहाँ वीर, नीरोग, शतायु पुरुष उत्पन्न नहीं होते और न वास्तविक कल्याण होता है।³⁰ ब्रह्मपुराण का तो यह मानना है- 'जो यह समझकर कि पितरगण है ही नहीं-श्राद्ध नहीं करते, पितरगण विवश होकर उनका रक्तपान करते हैं।³¹ अतः श्राद्ध का सिद्धान्त यह बतलाता है कि मरणोपरान्त भी पूर्वजों की आत्माएँ वायु में सन्तरण करते हुए चावल के पिण्डों व हविष्यान्न की सुगन्धि या सारतत्त्व वायव्य शरीर द्वारा ग्रहण करने में समर्थ होती हैं। इसलिये मृत पितरों का श्राद्ध अवश्य करना चाहिये।

श्राद्ध के भेद

शंखस्मृति के आधार पर श्राद्ध को दो भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है-

(1) अहरहः श्राद्ध (2) पार्वण श्राद्ध । जो श्राद्ध प्रतिदिन अन्न या जल या दूध, मूल और फलों के साथ किया जाता था, वह 'अहरहः श्राद्ध' है।³² इसे पञ्चमहायज्ञों के अन्तर्गत पितृयज्ञ के रूप में करने का विधान था। दूसरा पार्वण श्राद्ध है।³³ यह किसी पर्व दिन, यथा-गजच्छाया योग, राहुदर्शन (ग्रहण), वैशाख या श्रावण मास के अन्तिम दिन, मकर संक्रान्ति, भाद्रपद की पूर्णिमा के बीत जाने पर मघा नक्षत्र से युक्त त्रयोदशी को किया जाता था।³⁴ विष्णुपुराण ने-अमावास्या, पूर्णिमा, चतुर्दशी, अष्टमी एवं संक्रान्ति-इन को पर्व दिन माना है।³⁵ इस श्राद्ध (पार्वण) में मुख्यतः तीन पूर्व पुरुषों का आह्वान होता है, ऐसा मिताक्षरा का विचार है।³⁶

श्राद्ध के अधिकारी

शंखस्मृति में श्राद्ध के अधिकारी के विषय में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता, किन्तु एक स्थान पर द्विज के द्वारा शूद्र कन्या से विवाह करने पर, शूद्रा से उत्पन्न पुत्र को श्राद्ध करने का अनधिकारी घोषित किया गया है। यदि वह किसी तपस्वी, यज्ञशील, धर्म का पालन करने में अग्रगण्य तथा सपिण्डजन एवं स्व-मृत सम्बन्धी का श्राद्ध करता है तो वे सभी निश्चित रूप से शूद्रत्व को प्राप्त करते हैं। अतः पुत्र को ही श्राद्ध करने का अधिकार था, लेकिन शूद्रा के पुत्र को नहीं।³⁷ धर्मसिन्धु में उद्धृत शंख के वचन में स्पष्ट कहा गया है- 'एक पुत्र को ही पिता का श्राद्ध करना चाहिये, पुत्र के अभाव में पत्नी को और पत्नी के न होने पर सहोदर भाई को श्राद्ध करना चाहिये।³⁸

श्राद्ध का काल

श्राद्धकर्म पितृयज्ञ के रूप में प्रतिदिन³⁹ तथा कुछ निश्चित काल, तिथियों एवं अवसरों पर करने का विधान था। शंखस्मृति में उल्लिखित है कि- 'श्राद्ध गजच्छाया योग, राहुदर्शन (ग्रहण), वैशाख या श्रावण मास के अन्तिम दिन, मकर या कर्कट संक्रान्ति, भाद्रपद की पूर्णिमा के पश्चात् मघा नक्षत्र से युक्त त्रयोदशी को किया जाना चाहिये। इन दिनों में अर्पित किया गया श्राद्ध पितरों के लिए अनन्त समय तक तृप्तिकारक होता है।⁴⁰ जो कोई अमावास्या, भाद्रपद के कृष्णपक्ष की त्रयोदशी तथा चन्द्र के मघा नक्षत्र में होने पर श्राद्ध नहीं करता, वह नरक को प्राप्त करता है।⁴¹ मनुस्मृति में शंखस्मृति से कुछ भिन्न मत को

उद्धृत किया गया है। उसके अनुसार 'मास के कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी को छोड़कर दशमी से आरम्भ करके किसी भी दिन श्राद्ध किया जा सकता है, किन्तु यदि कोई चान्द्र सम तिथि (दशमी एवं द्वादशी) एवं सम नक्षत्रों (भरणी, रोहिणी, पुष्य आदि) में श्राद्ध करे तो उसकी कामनाओं की पूर्ति होती है। यदि कोई विषम तिथि (एकादशी, त्रयोदशी आदि) में एवं विषम नक्षत्रों (अश्विनी, कृत्तिका, मृगशिरा आदि) में पितृपूजा करता है तो वह भाग्यशाली सन्तति को प्राप्त करता है।⁴² इस कर्म को रात्रि में, विशेष रूप से सन्ध्याकाल में करने का निषेध था अर्थात् श्राद्ध की समस्त क्रियायें अपी के समय सम्पन्न की जाती थी⁴³। शतपथब्राह्मण में पितरों के लिए अपी के समय को निश्चित करते हुए कहा गया है कि- 'पूर्वी देवों के लिए, मध्याह्न मनुष्यों एवं अपी पितरों के लिए है'⁴⁴। आपस्तम्बधर्मसूत्र में भी वर्णित है कि- 'श्राद्धकर्म के लिए मास के दूसरे पक्ष में मध्याह्न के बाद का समय श्रेयस्कर है। कृष्णपक्ष के पन्द्रह दिनों में से उत्तर-उत्तर वाला दिन श्रेष्ठ है'⁴⁵। आपस्तम्बधर्मसूत्र के टीकाकार हरदत्त मिश्र का मत है कि यदि श्राद्धकर्म का आरम्भ करने में विलम्ब होने से श्राद्ध के मध्य (बीच) में ही सूर्यास्त हो जाए तो श्राद्ध की अवशेष क्रिया रात्रि में न करके दूसरे दिन करनी चाहिये।

श्राद्ध में प्रशस्त-अप्रशस्त ब्राह्मण

श्राद्ध के समय विद्वान् ब्राह्मण को अधिक महत्त्व दिया गया था। शंखस्मृति का कथन है कि- 'एक द्विज के द्वारा दैवकर्म में ब्राह्मणों की परीक्षा अपेक्षित नहीं है, किन्तु पितृकर्म में उपस्थित होने वाले ब्राह्मणों के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है'⁴⁶। यह परीक्षा उनके शील (चरित्र), कर्मों की पवित्रता व व्यवहार तथा बौद्धिक क्षमता के अनुसार करके⁴⁷ 'पक्तिपावन ब्राह्मणों' - चारों वेद एवं वेदाङ्गों के ज्ञाता, वेद मंत्रों का गान करने वाले, नाचकेतु अग्नि में तीन बार यजन करने वाले, पाँच पवित्र अग्नियों को प्रज्वलित करने वाले, ब्राह्म विवाह से विवाहित स्त्री की सन्तान, अपनी पुत्री का विवाह ब्राह्म विवाह की विधि से करने वाले व ब्राह्म विवाह की रीति से विवाहित स्त्री का पति, नित्य योग में रत, मिट्टी के ढेले, पत्थर व स्वर्ण आदि वस्तुओं में समदृष्टि रखने वाले, ध्यानशील, संयमी (क्रोध एवं वासनाओं से मुक्त तथा मन एवं इन्द्रियों पर संयम करने वाले) और ज्ञानवान् को श्राद्ध में आमन्त्रित किया जाता था।⁴⁸ कुछ अन्य धर्मशास्त्रकारों ने भी श्राद्ध में आमन्त्रित ब्राह्मणों के विषय में इसी प्रकार के विचार अभिव्यक्त किये हैं⁴⁹। आपस्तम्ब एवं मनु का तो यह भी मत है कि यदि आमन्त्रित व्यक्तियों में सभी गुणवान् हों तो उनमें से जो ब्राह्मण अवस्था की दृष्टि से वृद्ध, निर्धन एवं भोजन करने के इच्छुक हों उन्हें भोजन के लिए आमन्त्रित करना चाहिए।⁵⁰

दूसरी ओर श्राद्ध में ऐसे पक्तिदूषक ब्राह्मण (जिसमें ब्राह्मण बैठकर भोजन करते हैं, ऐसी पक्ति को अपवित्र करने वाले) अवाञ्छनीय थे, जो शारीरिक, मानसिक एवं नैतिक आदि दोषों से युक्त तथा नास्तिक थे, यथा-निषिद्ध कर्मों को (वही, 2123 पर हस्दत्त मिश्र की टीका करने वाले, बिलाव जैसे व्रत वाले (धूर्त), कम या अधिक अंगों वाले (यथा-छः अंगुली वाले), गुरुजनों के प्रति प्रतिकूल व्यवहार व उनका त्याग करने वाले, वेदाध्ययन व यज्ञकर्म को न करने वाले, अनध्याय काल में अध्ययन करने वाले, पवित्रता व उत्तम आचरण से हीन और शूद्रों के अन्न के रस से परिपुष्ट होने वाले इत्यादि।⁵¹ मनुस्मृति आदि धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों में भी श्राद्ध में अप्रशस्त ब्राह्मणों की विस्तारपूर्वक चर्चा की गई है।⁵²

श्राद्ध में ब्राह्मणों की संख्या

पितृकर्म में उत्तराभिमुख तीन तथा दैवकर्म में पूर्वाभिमुख दो अथवा दोनों ही अवसरों पर इच्छानुसार विविध ब्राह्मणों को या एक-एक ब्राह्मण को भोजन कराने का विधान था। वह एक पक्तिपावन ब्राह्मण को भी भोजन करवाकर, नैवेद्य को अग्नि में

डाल सकता था। तात्पर्य यह है कि यदि कोई एक ही ब्राह्मण को आमन्त्रित करने में समर्थ हो या उसे एक ही ब्राह्मण प्राप्त हो सके तो वह ब्राह्मण पितृकर्म के लिए समझा जाता था और देवों की आहुतियाँ अग्नि में डाल दी जाती थी।⁵³ मन्वादि धर्मशास्त्रकारों का भी यही मानना है। साथ ही उनका यह कहना है कि व्यक्ति के अधिक समृद्ध होने पर भी इनसे अधिक संख्या में ब्राह्मणों को भोजन नहीं कराना चाहिये, क्योंकि अधिक संख्या में ब्राह्मणों को भोजन कराने पर, आमन्त्रितों का सम्यक् सत्कार, उचित स्थान की प्राप्ति (यथा-दक्षिण की ओर ढालू भूमि), समय के औचित्य, पवित्रता तथा योग्य ब्राह्मण की प्राप्ति-इन पाँच रूपों का विनाश होता है। अतएव ब्राह्मणों की संख्या का विस्तार नहीं करना चाहिये।⁵⁴ स्पष्ट है कि आमन्त्रितों की संख्या कर्त्ता के साधनों पर नहीं प्रत्युत्त आमन्त्रित करने वाले की योग्यता पर निर्भर थी, जिससे वह आमन्त्रितों के सत्कार की क्रिया सम्यक् रूप से कर सके।

श्राद्धकर्ता एवं श्राद्धभोक्ता के लिए पालनीय नियम

श्राद्ध में श्राद्ध करने वाले और श्राद्ध में आमन्त्रित ब्राह्मणों के लिए कुछ नियमों का पालन करना अनिवार्य था। श्राद्धकर्ता के लिए शीघ्रता से कार्य करना एवं क्रोध करना वर्जित था।⁵⁵ इसी प्रकार श्राद्धभोक्ता के लिए पूरे दिन ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन आवश्यक था। शंखस्मृति में वर्णित है कि 'श्राद्ध में आमन्त्रित जो ब्राह्मण स्त्री से सम्भोग करता है तो श्राद्ध में भोजन करने वाला (श्राद्धकर्ता) और करने वाला (श्राद्धभोक्ता) दोनों ही घोर पाप से युक्त हो जाते हैं।'⁵⁶ मनुस्मृति में उपर्युक्त नियम श्राद्धकर्ता एवं श्राद्धभोक्ता दोनों के लिए उपयुक्त माने गये हैं।⁵⁷ लघुशंखस्मृति में तो आमन्त्रित ब्राह्मणों के लिए-पुनर्भोजन, यात्रा, भार ढोना, वेदाध्ययन, मैथुन, दान देना व दान ग्रहण करना तथा होम का परित्याग करने को भी कहा गया है।⁵⁸ अन्य शास्त्रग्रन्थों में भी इसी प्रकार श्राद्धकर्ता एवं श्राद्धभोक्ता के लिए त्याज्य कर्मों का विशद् उल्लेख मिलता है।⁵⁹

श्राद्ध में ग्राह्य एवं त्याज्य पदार्थ श्राद्ध में प्रयुक्त तथा प्रयुक्त न होने वाले कुछ विशिष्ट खाद्य पदार्थों एवं वस्तुओं के विषय में कतिपय नियमों की व्यवस्था थी। शंखस्मृति के अनुसार पितृकर्म में गर्म भोजन के साथ-साथ आम, आंवला, गन्ना, अंगूर, दही, अनार, बिदारी कन्द, केला आदि फल, मधु से मिश्रित धान व खील, शक्कर से युक्त सन्तुओं, सिंघाड़ों तथा भीसों का उपयोग किया जाता था।⁶⁰ भाद्रपद की पूर्णिमा के पश्चात् मघा नक्षत्र से युक्त त्रयोदशी को तो यह कृत्य मधु या खीर से सम्पादित करने का विधान था।⁶¹ सम्भवतः उक्त तिथि को इन पदार्थों से श्राद्ध किया जाना उत्तम माना जाता रहा होगा। मन्वादि स्मृतिग्रन्थों में उल्लिखित है कि यदि गाय का दूध या उसमें भात पकाकर (पायस) दिया जाये तो पितर लोग एक वर्ष तक सन्तुष्ट रहते हैं।⁶² इनके अतिरिक्त पितृकर्म में कुछ अन्य वस्तुओं का प्रयोग विशेष रूप से आवश्यक था, यथा- जल में उत्पन्न होने वाले लाल रंग के पुष्प, ऊन या कपास से बना नया सूत्र, घृत या तिल के तेल के साथ दीपक जलाना, धूप के लिए घृत एवं मधु से मिश्रित गुग्गुलु देना और चन्दन एवं पिसे हुए पवित्र कुंकुम को देना।⁶³

शंखस्मृति में अनेक ऐसे खाद्य पदार्थों तथा वस्तुओं का उल्लेख भी मिलता है, जिनका श्राद्धकर्म में उपयोग निषिद्ध था। भूतृण (एक प्रकार की सुगन्धित घास), सुरस, शिष्ट, पालक, सिंधुवार, सीताफल, धिय्या, बैंगन, कचनार, पीपल, मिर्च, शलगम, सभी प्रकार के नमक, बांस के अग्रभाग का, राजमाष, मसूर, कोद्रव व कोरदूष नामक अन्नो, वृक्षों के लाल गोंद, उग्र गन्ध वाले या गन्धहीन, मढी-मसान के वृक्षों पर लगने वाले तथा जो लाल रंग के पुष्प हैं, वे सब इस कार्य में वर्जित थे, किन्तु जल में उत्पन्न होने वाले पुष्पों का भले ही वे लाल रंग के हों, प्रयोग हो सकता था। विष्णुधर्मसूत्र में भी इसी प्रकार का वर्णन उपलब्ध

होता है।⁶⁴ इसके साथ ही बुने हुए वस्त्र के अग्रभाग को, चाहे वह नये कपड़े का ही क्यों न हो, उससे दीपक की बत्ती बनाने का भी निषेध था।⁶⁵

श्राद्ध में मांस-भोजन का विधान

श्राद्ध के अवसर पर मांस का प्रयोग होता था या नहीं, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, किन्तु महर्षि शंख ने धर्मज्ञ यम के वचन को उद्धृत किया है जिसमें मांस भोजन की ओर संकेत करते हुए कहा गया है कि 'ऋतु के अनुसार शाक, मछली के शल्कों, गैंडे के मांस और भैंस के मांस को श्राद्ध में देने वाला अनन्त पुण्य को प्राप्त करता है।'⁶⁶ इसी प्रकार अन्य धर्मशास्त्रकारों ने भी श्राद्ध में मांस भोजन की आवश्यकता को अभिव्यक्त किया है। आपस्तम्ब ने नियमपूर्वक किए जाने वाले मासिक श्राद्ध में घृत तथा मांस से युक्त भोजन देना सर्वोत्तम माना है।⁶⁷ मनु का मत है कि 'पितरों के कृत्य में आमन्त्रित जो व्यक्ति मांस का भक्षण नहीं करता है, वह मरणोपरान्त इक्कीस जन्मों तक पशु योनि को प्राप्त करता है।'⁶⁸ उन्होंने तो श्राद्ध भोजन में प्रयुक्त विभिन्न प्रकार के खाद्य पदार्थों तथा पशुओं के मांस से उत्पन्न पितरों की सन्तुष्टि का भी वर्णन किया है। उनके अनुसार पितरगण काला तिल, धान्य, यव, काला उड़द, जल, मूल (कन्द) एवं फलों को विधिवत् देकर एक मास, पोठिया आदि मछली के मांस से दो मास, मृग के मांस से तीन मास, भेड़ के मांस से चार मास, पक्षियों के मांस से पाँच मास, बकरे के मांस से छः मास, पृषत् नामक मृग के मांस से सात मास, एण नामक मृग के मांस से आठ मास, रुरु नामक मृग के मांस से नौ मास, जंगली सुअर एवं भैंसे के मांस से दस मास, खरगोश व कलुवे के मांस से ग्यारह मास, गौ के दूध व उसके दूध से बने पदार्थ (पायस आदि) से एक वर्ष, वर्षाणस बकरे के मांस से बारह वर्षों और कालशाक (एक प्रकार का शाक विशेष), महाशल्क (कृष्णवर्ण बधुवे का शाक या एक प्रकार की मछली), गैंडे व लाल बकरे के मांस तथा सब प्रकार के मुन्यन्न (नीवार आदि) से अनन्तकाल तक सन्तुष्ट रहते हैं।

श्राद्ध में ब्राह्मण भोजन एवं पिण्डदान की विधि

श्राद्धकर्ता को ब्राह्मण भोजन व पिण्डदान विषयक समस्त क्रिया मनोयोगपूर्वक सम्पन्न करनी होती थी। उसे अतिशीघ्रता एवं क्रोधादि का त्यागकर प्रयत्नपूर्वक श्राद्ध करके पुष्प, मूल एवं चौकी इत्यादि को छोड़कर अर्थात् इनसे भिन्न स्थानों या आसनों पर बिठाकर विद्वान् ब्राह्मणों को गर्भ भोजन खिलाना होता था।⁶⁹ ब्राह्मणों को श्रद्धापूर्वक भोजन खिलाने एवं आचमन के पश्चात् पिण्डदान की क्रिया सम्पादित करनी होती थी। पिण्डदान की यह क्रिया शेष बचे भोजन के समीप करनी पड़ती थी। लेकिन पिण्डदान के अभाव में उस भोजन से अग्नि में आहुतियाँ देने का विधान था।⁷⁰ मनुस्मृति⁷¹ एवं याज्ञवल्क्यस्मृति⁷² में भी ब्राह्मण के द्वारा श्राद्ध भोजन समाप्त कर लेने पर पिण्डदान करने का उल्लेख मिलता है। पिण्डों का निर्माण तिलमिश्रित भात से होता है और किसी स्वच्छ स्थल पर दशों के ऊपर पिण्ड रखे जाते हैं। ये पिण्ड उस स्थान से जहाँ ब्राह्मण के भोजन पात्र रहते हैं एक अरत्नि दूर रहते हैं तथा कर्ता दक्षिणाभिमुख रहता है।⁷³ पिण्डदान के उपरान्त श्राद्धकर्ता ब्राह्मणों को दक्षिणा देकर और फिर उनका अनुसरण कर विदा करता था।⁷⁴ तत्पश्चात् पिण्डस्थान पर, जो भोजन गृह में पकाया गया है उसे समर्पित करके भोजन खाता था।⁷⁵

श्राद्ध के लिए उचित एवं निषिद्ध स्थान

श्राद्ध-सम्पादन हेतु कुछ पवित्र स्थलों को उपयुक्त माना गया था, यथा-गया, प्रभास, पुष्कर, प्रयाग, नैमिषारण्य (सरस्वती नदी), गंगा व यमुना के तट, विन्ध्य की पयोष्णी (पूर्णा) नामक नदी, अमरकण्टक, नर्मदा, गया नदी के तट, वाराणसी,

कुरुक्षेत्र, भृगुतुङ्ग, हिमालय, सप्तवेणी और ऋषिकूप। इन स्थलों पर दी गई पवित्र वस्तु पितरों के लिए अक्षय होती है, ऐसा विश्वास था।⁷⁶ मन्वादि धर्मशास्त्रकारों ने भी श्राद्ध के लिए इसी प्रकार श्रेष्ठ स्थानों को महत्त्व दिया है।⁷⁷ इसके अतिरिक्त कुछ देशों या स्थलों में श्राद्ध करना वर्जित था। महर्षि के मत से म्लेच्छों के देश अर्थात् जिसमें चार वर्णों की परम्परा नहीं पाई जाती, ऐसे देश में न तो श्राद्ध करना चाहिये और न जाना चाहिये।⁷⁸ विष्णु का भी यही कथन है।⁷⁹ एक अन्य स्थल पर शंख ने व्यवस्था दी है कि- 'वैलों, हाथियों एवं घोड़ों की पीठ, ऊँची भूमि या दूसरे की भूमि पर भी श्राद्ध नहीं करना चाहिये।'⁸⁰ इसका कारण यह है कि यदि कोई किसी अन्य की भूमि पर अपने पितरों का श्राद्ध करता है तो उस भूमि के स्वामी के पितरों द्वारा वह श्राद्धकृत्य नष्ट कर दिया जाता है।⁸¹ अतएव व्यक्ति को सदैव पवित्र स्थानों-तीर्थों, नदी-तटों, देशों, पर्वतों पर ही श्राद्ध करना चाहिये।

इस प्रकार व्यक्ति स्वर्गगत अपने स्नेही जनो की आत्मा की शान्ति, प्रसन्नता तथा तृप्ति हेतु पूर्ण आस्था व विश्वास के साथ विधिवत् श्राद्ध करके सुख-समृद्धि को प्राप्त करता है।

श्राद्ध का आधुनिक दृष्टि से विवेचन

हिन्दू धर्म में आदिकाल से चली आ रही श्राद्ध की परम्परा के वर्तमान समाज में विद्यमान रहने पर भी बहुत कम व्यक्ति ऐसे हैं जो श्राद्ध से विधिपूर्वक इस कर्म का अनुष्ठान करते हैं। इसका कारण उनके मध्य बनी विभिन्न प्रकार की आशंकाएँ हैं। अधिकांश व्यक्तियों को तो यह शंका बनी रहती है कि मृत माता-पिता, स्वजनों आदि को हमारे द्वारा दिये गये अन्न-जलादि से क्या लाभ हो सकता है? अनेकों का यह मत है कि उन्हें कुछ लाभ हो या न हो, इस कर्म से हमारी उनके प्रति (यादगार) का अवसर मान लेते हैं। कुछ इस कर्म का सम्पादन अपने स्वजनों में निन्दा फैल जाने के भय से करते हैं, उनके लिए यह एक विवशता है। ऐसे निम्न व तुच्छ विचारों से किये हुए कार्य में शास्त्रीय विधानों का आदर न होना, श्राद्ध का हास हो जाना और आधुनिक शिक्षा व आधुनिकीकरण के कारण इस कृत्य का सामान्य परम्परागत रूढ़ व्यवहार का रूप धारण कर लेना स्वाभाविक ही है। आज तत्कालीन समय की अपेक्षा, जो अन्तर आया है वह निम्न है

शंखस्मृति काल में श्राद्धकर्म (अहरहः व पार्वण) एक निश्चित कालावधि में सम्पादित करने का विधान था। प्रथम श्राद्ध पितरों के निमित्त प्रतिदिन सम्पन्न किया जाता था। आजकल कुछ कट्टर ब्राह्मणों को छोड़कर प्रतिदिन पितरों के लिए श्राद्ध कोई नहीं करता, यह लुप्तप्रायः है। दूसरा पार्वण श्राद्ध, जिसका अनुष्ठान कुछ विशिष्ट पर्वों-गजच्छाया योग, ग्रहणादि में होता था, उसमें भी आज क्षीणता आयी है। सामान्य परिवारों में गजच्छाया योग, ग्रहण, मकर-संक्रान्ति आदि पर श्राद्ध विषयक कोई क्रियाकलाप नहीं देखा जाता है। नई पीढ़ी तो गजच्छाया योग जैसे समयों से ही अनभिज्ञ है। शेष समयों या तिथियों का यथावत् पालन करने वाले अब बहुत ही कम हैं। आज कालप्रभाव से शिष्ट सम्प्रदायों में अमावास्या, प्रतिसांवत्सरिक (जो माता-पिता की मृत्यु तिथि पर प्रतिवर्ष किया जाता है), नान्दीश्राद्ध या वृद्धिश्राद्ध (जो पुत्रोत्पत्ति, विवाहादि शुभावसर पर किया जाता है), तीर्थश्राद्ध आदि का ही विशेष प्रचार देखने को मिलता है।

पार्वण श्राद्ध की पद्धति जहाँ सामान्यतया सभी के द्वारा अनुकरणीय थी वहीं आज भारत के विभिन्न भागों में यह कई प्रकार से सम्पन्न की जाती है। पी.वी. काणे ने इस प्रकार की विभिन्नता के कई कारण उद्धृत किये हैं-कर्ता का किसी वेद या किसी

वेद-शाखा से सम्बन्धित होना, उसके द्वारा किसी प्रसिद्ध लेखक को तथा किसी वैष्णव या शैव सम्प्रदाय को मान्यता देना आदि। उदाहरणस्वरूप-मिथिला के वाजसनेयि लोग श्राद्धकर्म के लिए कात्यायन के 'श्राद्धसूत्र' को प्रमाणिक मानते हैं। बंगाल के कुछ लोग रघुनन्दन के 'श्राद्धतत्त्व' एवं 'यजुर्वेदश्राद्धतत्त्व' में व्यवस्थित नियमों का, मद्रास या दक्षिण भारत में वैष्णव ब्राह्मण वैदिक-सार्वभौम या तोलप्पर के हारीत वेंकटाचार्य की पूर्व एवं अपर क्रिया का और स्मार्त-ब्राह्मण लोग वैद्यनाथ के 'स्मृतिमुक्ताफल' का अनुसरण करते हैं। पश्चिम भारत के ऋग्वेदियों में प्रतिर्सांवत्सरिक श्राद्ध प्रसिद्ध है। इस प्रकार भारत के विभिन्न प्रान्तों में विभिन्न वेदों के अनुयायियों द्वारा विभिन्न पद्धतियाँ अपनायी जा रही हैं।⁸²

वर्तमान काल में, जितने भी श्राद्ध प्रचलित हैं उनमें तत्कालीन समय की अपेक्षा क्रिया-विधानों का अभाव है। उन दिनों श्राद्ध में विद्वान् एवं साधुचरित ब्राह्मणों को ही प्राथमिकता दी जाती थी। आज भी बहुधा इसी प्रकार के ब्राह्मणों को ही प्रधानता दी जाती है, किन्तु ब्राह्मणों की अत्यधिक संख्या बढ़ने से यह पहचानना कि-कौन विद्वान् एवं साधुचरित है, अत्यन्त कठिन है। इसलिये अधिकांशतः लोग गृह पर किये जाने वाले श्राद्ध की क्रिया, बिना ब्राह्मण को आमन्त्रित किये ही सम्पादित कर देते हैं। भारत के कुछ प्रदेशों में इस प्रथा में भेद मिलता है, यथा-दक्षिण एवं पश्चिम-भारत में श्राद्ध के अन्तर्गत आमन्त्रित ब्राह्मण पूजित होते हैं, किन्तु बंगाल में दर्भों की आकृति पूजी जाती है। ब्राह्मणों की संख्या भी व्यक्ति के अपने सामर्थ्य या इच्छा पर निर्भर है।

श्राद्ध में जिन ग्राह्य पदार्थों का विस्तृत वर्णन मिलता है उनका अब उतनी अधिक संख्या में प्रयोग न होकर, जितने से कार्य सम्पन्न हो सके उतने ही खाद्य पदार्थों एवं वस्तुओं का उपयोग किया जाता है, यथा-अमावास्या को केवलमात्र खीर, रोटी एवं तिलयुक्त जल से श्राद्ध कर दिया जाता है। वार्षिक श्राद्ध (मृत की तिथि के समय) पर सूजी का हलवा या खीर, पूड़ी, सब्जी, पुष्प, तिलयुक्त जल आदि से अनुष्ठान किया जाता है। ये सब व्यक्ति अपने कुलाचार के अनुसार करता है। जहाँ तक मांस-प्रयोग का प्रश्न है तो वर्तमान में ब्राह्मणों के लिए मांस का प्रयोग सर्वथा वर्जित है। आज भारत में केवल उत्तरी भाग में, जहाँ भोजन में मछली का प्रयोग होता है, यथा-बंगाल एवं मिथिला में, मांसार्पण होता है अन्यत्र नहीं। इसका कारण देशाचार है, जिसके अनुसार शाक, फल, मूल, मधु, मांस एवं अन्य पदार्थ दिये जा सकते हैं।⁸³

उस समय जहाँ गया, प्रयाग, गंगा, यमुना, वाराणसी आदि तीर्थ-स्थानों में दिया गया श्राद्ध पितरों के लिए अक्षय माना जाता था वहीं आज भी लोगों में यह धारणा बनी हुई है, लेकिन अधिकांशतः व्यक्ति समय का अभाव होने के कारण मृत की अस्थियों को एक बार तीर्थ में प्रवाहित करने या पिण्डदान करने के उपरान्त दोबारा तीर्थ स्थान पर न जाकर गृह पर ही वार्षिक आदि श्राद्ध को सम्पन्न कर देते हैं। आजकल कई सज्जनों को ऐसी भ्रांति है कि गया श्राद्ध के बाद पिण्डदान गृह पर नहीं हो सकता, तो यह निरी भ्रांति ही है। शास्त्र में इसका कोई मूल नहीं है।

अध्ययन के उपरान्त कहा जा सकता है कि वर्तमान समय में श्राद्ध प्रक्रिया मूलतः परिवर्तित हो चुकी है फिर भी आज श्राद्ध विधिपूर्वक पद्धति से होना आवश्यक है, तभी उसका फल प्राप्त होगा। जो विद्वान् महानुभव श्राद्धकर्म में विश्वास रखते हैं और यह समझते हैं कि ऐसा करने से मृत को शांति मिलती है तो उन्हें अपने दिवंगत माता-पिता, स्वजनों, सम्बन्धियों के प्रति श्रद्धा-भावना से नियमवत् इसका सम्पादन करना चाहिये। यदि उनमें सम्पूर्ण विधि करने का सामर्थ्य न हो तो विकल्परूप में ब्राह्मण भोजन मात्र ही करवा सकता है, किन्तु जो करने में समर्थ है, उन्हें विधि का त्याग नहीं करना चाहिये। जो व्यक्ति समयाभाव के कारण अपने सगे-सम्बन्धियों का श्राद्ध न कर सके तो उसे अपने दिवंगत माता-पिता का

प्रतिसांवत्सरिक श्राद्ध अवश्य करना चाहिये। इस श्राद्ध का अन्य श्राद्धों में सर्वाधिक महत्त्व है। यदि कोई पुत्र माता-पिता के मृत्यु-दिन वार्षिक श्राद्ध नहीं करता तो वह तामिस्र नामक भयानक नरक में जाता है और फिर श्व (कुत्ते) की योनी में जन्म लेता है, ऐसा मानना है।⁸⁴ जिन व्यक्तियों का श्राद्ध में विश्वास नहीं है, उन्हें अपने प्रिय एवं सन्निकट सम्बन्धियों के प्रति स्नेह एवं आदर की भावना रखते हुए, वर्ष में एक दिन उनका स्मरण करना, मृत की स्मृति में सम्बन्धियों, मित्रों एवं विद्वान् जनों को भोजन के लिए आमन्त्रित करना, धनहीन, सच्चरित्र तथा सत् विचार रखने वाले व्यक्तियों को दान देना आदि क्रियाओं को अवश्य करना चाहिये। ऐसा करना अतीत की परम्पराओं के अनुकूल होगा और उन आचरणों एवं व्यवहारों को, जो आज निर्जीव एवं निरर्थक से लगते हैं, पुनर्जीवित एवं अनुप्रमाणित करने के समान होगा। अतः व्यक्ति को किसी-न-किसी रूप में अपने पूर्वजों के प्रति सम्मान का भाव अभिव्यक्त करना चाहिये।

शुद्धि विधान

आरम्भिक समय से ही शुद्धि को मानवजीवन की सार्थकता, नियमितता व पवित्रता के लिए अत्यधिक महत्त्व दिया जाता रहा है। चाहे वह आचार-विचार की शुद्धता हो या फिर किसी प्रकार की घटना या किसी अपवित्र वस्तु के स्पर्श से उत्पन्न अशुद्धि की शुद्धि हो। इसका कारण व्यक्ति में शारीरिक एवं मानसिक रूप से शुद्धि का आधान कर, उसे धार्मिक क्रियाओं के योग्य बनाना तथा व्यवहारिक रूप में शुद्धता प्रदान करना था। जो सांस्कृतिक जीवन एवं धर्म का आधार है। इसी से धर्म की वृद्धि होती है। यही मनुष्य के व्यक्तित्व का निर्माण कर नैतिक व सात्त्विक जीवन जीने के लिए उत्साहित करती है तथा उसे सामाजिक नियमों के परिपालन योग्य बनाती है। अतएव शुद्धि व्यक्ति के जीवन में सुख, मङ्गल तथा कल्याण की प्राप्ति करने वाली है।

'शुध्' धातु 'क्तिन्' प्रत्यय के योग से निष्पन्न 'शुद्धि' शब्द⁸⁵ वैदिकग्रन्थों में शुद्धता एवं पवित्रता के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।⁸⁶ गौतमधर्मसूत्र में आठ आत्मगुणों के अन्तर्गत 'शुद्धि' को भी आत्मगुण माना गया है, जिनसे युक्त व्यक्ति ब्रह्म के सायुज्य एवं सालोक्य को प्राप्त करता है।⁸⁷ शुद्धिकौमुदी में इसे परिभाषित करते हुए कहा गया है कि 'वेद से बोधित कृत्यों के सम्पादन की दशा या उन्हें करने की योग्यता की स्थिति 'शुद्धि' है।⁸⁸ स्मृतिग्रन्थों में इसका प्रयोग अशौच या आशौच के उपरान्त की शुद्धि के लिए किया गया है।⁸⁹ शंखस्मृति में शुद्धि के अन्तर्गत जन्म-मरण के समय के अशौच, शारीरिक शुद्धि एवं किसी अपवित्र वस्तु के स्पर्श से उत्पन्न अशुद्धि, यथा-विभिन्न प्रकार के अशुद्ध पात्रों, खाद्य पदार्थों, भूमि, वस्त्र, काष्ठ एवं अस्थि-निर्मित आदि वस्तुओं की शुद्धि का विवेचन किया गया है। इसमें अशौच का सर्वाधिक महत्त्व है। वस्तुतः शंखस्मृति के काल में शुद्धि के नाम पर तीन प्रकार के व्यवहार प्रचलित थे- अशौच (जन्म-मरण विषयक अशुद्धि), शरीरशुद्धि एवं द्रव्यशुद्धि। इनका क्रमानुसार वर्णन निम्नलिखित है अशौच अशौच शब्द का अर्थ व तात्पर्य पाणिनि मतानुसार 'अशौच' शब्द की निष्पत्ति निषेधार्थक 'न' अव्ययपूर्वक 'शुचि' शब्द से 'अण्' प्रत्यय लगने पर हुई है, जिसका सामान्य अर्थ है- अपवित्रता या अशुद्धि।⁹⁰ धर्मग्रन्थों में अशौच के लिए 'आशुच्य'⁹¹ 'अशुचि'⁹² एवं 'अघ'⁹³ पद का प्रयोग भी मिलता है। जबकि वैदिक साहित्य में 'अघ' का अर्थ 'पाप'⁹⁴ ग्रहण किया गया है। गौतमधर्मसूत्र के मिताक्षरा टीकाकार हरदत्त ने 'अशौच' शब्द का लक्षण करते हुए, 'धार्मिक कर्मों के सम्पादन में अनधिकार, अभोज्यान्नता, अस्पृश्यता व दानादि में अनधिकार को अशौच माना है।⁹⁵ शंख ने अशौच में मृत के लिए पिण्डदान की क्रिया को छोड़कर 'अशौच' को अभोज्यान्नता, दान देने व दान लेने, हवन, स्वाध्याय एवं पितृकर्म की अनधिकारिता के अर्थ में लिया है।⁹⁶ मिताक्षरा के अनुसार 'अशौच' पुरुषगत अशौच है। जो

स्नान व समय के साथ समाप्त हो जाता है। इसमें एक ओर पिण्डदान व उदकदान का विधान है वहीं वैदिक अध्ययन-अध्यापन व दानादि अन्य कृत्यों का निषेध किया गया है।⁹⁷ तात्पर्य यह है कि अशौच धार्मिक कर्म के अधिकार या योग्यता के अभाव का बोधक मात्र नहीं है, क्योंकि उन लोगों को जो जन्म या मरण पर अशुद्ध हो गये हैं, जल-तर्पण इत्यादि धार्मिक-कृत्य करने ही होते हैं।

अशौच के भेद एवं अवधि

अशौच के दो भेद माने गये थे-जननाशौच एवं मरणाशौच। जन्म से उत्पन्न अशौच को जननाशौच या सूतक और मृत्यु से उत्पन्न अशौच को मरणाशौच या मतकाशौच कहा जाता है।⁹⁸ इन दोनों प्रकार के अशौच में शुद्धि के काल का निर्धारण वर्णानुसार था। शंखस्मृति में उल्लिखित है कि-वैदिक अग्निहोत्री एवं वेदज्ञ ब्राह्मण सपिण्डजनों के जन्म एवं मृत्यु पर तीन दिन में शुद्धि को प्राप्त करता है। जो अग्निहोत्री एवं वेदज्ञ नहीं है, वह दस दिन में शुद्ध होता है।⁹⁹ क्षत्रिय बारह दिन, वैश्य पन्द्रह दिन एवं शूद्र एक मास में शुद्ध हो जाता है। स्मृतिकार मनु एवं अत्रि का भी यही कथन है।¹⁰⁰ याज्ञवल्क्य ने अशौच से सम्बन्धित अवधि के विषय में कुछ भिन्न मत उद्धृत किया है। उन्होंने एक सदाचारी शूद्र के लिए मात्र पन्द्रह दिनों में और अन्य शूद्रजनों के लिए तीस दिनों में शुद्धि कही है।¹⁰¹ अशौचावधि में वर्ण के साथ-साथ जनन या मृतक की अवस्था, यथा-वह शिशु है या बालक, जन्म से पूर्व मृत्यु हुई है या बाद में, स्त्री है या पुरुष, मृतक का उपनयन संस्कार हो चुका है या नहीं, मृत्यु सम्बन्धी के समीप हुई या कहीं दूर, कितने दिनों के पश्चात् जन्म या मृत्यु का समाचार सम्बन्धी तक पहुँचा है आदि बातों पर भी विशेष ध्यान दिया जाता था।

जननाशौच

स्त्री के लिए गर्भस्राव व प्रसवकाल में अशौच का विधान था। गर्भाधान के पश्चात् चतुर्थ माह के गर्भ गिरने को 'स्राव' एवं पंचम या षष्ठ माह के गर्भ गिरने को 'पात' तथा सप्तम माह या उसके बाद के गर्भ गिरने को 'प्रसव' या 'प्रसूति' कहा जाता है।¹⁰² शंखस्मृति के अनुसार गर्भस्राव में स्त्री को जितने मास का गर्भ है उतनी ही रात्रियों (दिन-रात) का अशौच रहता है। भ्रूण के जन्म व मृत उत्पन्न होने पर सभी वर्गों में अशौच क्रम से दस, बारह, पन्द्रह एवं तीस दिनों का होता है। इसके पश्चात् वे स्पृश्य हो जाते हैं।¹⁰³ यदि स्त्री ने अपने पिता के गृह में पुत्री को जन्म दिया है तो वे एक दिन में शुद्ध हो जाते हैं।¹⁰⁴ जो स्त्री प्रमादवश अपने से निम्न वर्ण के पुरुष से बच्चे को जन्म देती है तो ऐसे बच्चे के जन्म से उत्पन्न होने वाला अशौच उस नारी के लिए कभी समाप्त नहीं होता है।¹⁰⁵ यदि पहले से ही जन्म का अशौच चल रहा हो और इसी मध्य में दूसरा जनन अशौच प्रारम्भ हो जाए तो व्यक्ति प्रथम अशौच की समाप्ति पर दूसरे से मुक्त हो जाता है। यही नियम मरणाशौच में भी व्यवहृत होता है। इसी प्रकार जन्म का अशौच रहते हुए, मरण का अशौच प्रारम्भ होने पर, व्यक्ति जन्म के अशौच से मृत्यु के अशौच के साथ और मृत्यु का अशौच रहते हुए, जन्म का अशौच प्रारम्भ होने पर वह मृत्यु के अशौच से जन्म के अशौच के साथ शुद्धि को प्राप्त कर लेता है।¹⁰⁶ जनन विषयक यह अशौच माता एवं पिता दोनों को लगता था, क्योंकि सन्तानोत्पत्ति में दोनों का समान सहयोग रहता है।¹⁰⁷

मरणाशौच

जननाशौच के समान मरण को भी अशौच का कारण माना गया था। शंखस्मृति के अनुसार अग्नि, अनशन व जल से मरने वाले, आत्महत्या, पतित, कृपाण आदि शस्त्रों या विद्युत से मरने वाले, संन्यासी, व्रतधारी, ब्रह्मचारी, राजा, शिल्पी (यथा-

चित्रकार, धोबी या रंगसाज), दीक्षा (जिसने यज्ञ में दीक्षा प्राप्त की हो) ग्रहण करने वाले तथा राजकार्य में सहयोग करने वाले को छोड़कर¹⁰⁸ सपिण्डजनों के लिए आयु व अवस्था के अनुरूप मृत्यु सम्बन्धित अशौच के नियमों की व्यवस्था थी। लेकिन जो संन्यासी किसी अन्य के अशौच में भोजन करता था, वह अशौच का भागी बनता था और अशौचावधि के पूर्ण होने पर उसकी शुद्धि मानी जाती थी¹⁰⁹ संन्यासी के अतिरिक्त व्यक्ति के लिए भी अन्य के अशौच में भोजन करने के परिणाम को अभिव्यक्त करते हुए कहा गया है कि 'जो व्यक्ति दूसरे के अशौच में भोजन करता है, वह मरणोपरान्त कीटयोनि में उत्पन्न होता है अथवा जिसका अन्न खाकर वह मरता है, उसी की योनि में उत्पन्न हो जाता है'¹¹⁰ इसलिये दूसरे के अशौच में भोजन करने का यथासम्भव त्याग करना चाहिये।

बालक की आयु व अवस्था भेद से मरणाशौच : महर्षि शंख के मत से दौत निकलने से पूर्व बालक की मृत्यु होने पर सपिण्डों की तत्काल शुद्धि होती है। जिसका चूड़ाकरण एवं उपनयन संस्कार नहीं हुआ है, ऐसे बालक की मृत्यु होने पर सपिण्डजन क्रम से एक दिन-रात एवं तीन दिन में शुद्ध हो जाते हैं।¹¹¹ मन्वादि स्मृतिकारों ने शंख के मत को स्वीकृत करते हुए¹¹² कुछ अन्य बातों का भी उल्लेख किया है, जिनका वर्णन शंखस्मृति में उपलब्ध नहीं होता है। मनु का कथन है कि 'दो वर्ष से कम आयु वाले बालक के मरने पर उसे मालादि से सुसज्जित कर ग्राम से बाहर जंगल में किसी पवित्र भूमि पर काष्ठ के समान छोड़कर तीन दिन तक अशौच का पालन करना चाहिये, उसके लिए दाह संस्कार एवं उदकदान नहीं करना चाहिये'¹¹³ याज्ञवल्क्य ने मनु का अनुसरण करते हुए, इस अवस्था के बालक को भूमि में गाड़ने और उदकदान न करने का विधान किया है।¹¹⁴ पराशर ने 'जिसके दौत न निकले हो और जो प्रसव के तुरन्त बाद मर गया हो, ऐसे बालक के लिए दाह संस्कार व उदकदान के साथ-साथ अशौच का भी निषेध किया है। उन्होंने दौत निकलने, दौत निकलने के तुरन्त पश्चात् तथा चूड़ाकरण करने के उपरान्त मृत्यु होने पर उसके लिए दाह संस्कार एवं तीन दिन के अशौच का विधान किया है।'¹¹⁵

अविवाहित कन्या व शूद्र के लिए मरणाशौच :

शंखस्मृति के अनुसार 'यदि कन्या एवं शूद्र की मृत्यु विवाह करने से पूर्व हो जाए, तो उनके सपिण्डजनों की तीन दिन में शुद्धि हो जाती है। अविवाहित जो शूद्र सोलह वर्ष की आयु से अधिक है, उसकी मृत्यु होने पर सपिण्डजन एक मास में शुद्धि को प्राप्त करते हैं। यदि अविवाहिता रजस्वला कन्या की पिता के घर में मृत्यु हो जाए तो उससे उत्पन्न होने वाला अशौच कभी समाप्त नहीं होता।'¹¹⁶ मनु के विचार से अविवाहिता कन्या के वाग्दान के अनन्तर मरने पर पतिपक्ष तथा सपिण्ड-पितृपक्ष वाले तीन दिन में शुद्ध हो जाते हैं।¹¹⁷ जबकि याज्ञवल्क्य ने अपरिणीता कन्या के वाग्दान से पूर्व मरने पर अहोरात्र की शुद्धि कही है।¹¹⁸

विवाहिता स्त्री के लिए मरणाशौच :

विवाहिता स्त्री जो अपने पिता के गृह में रह रही थी, उसकी मृत्यु होने पर तीन दिन में शुद्धि का विधान था। यदि स्त्री अपने पति को छोड़कर किसी अन्य व्यक्ति के गृह में चली गई है तथा जो स्त्री पहले किसी दूसरे की पत्नी रह चुकी है, उनकी मृत्यु पर उसी प्रकार तीन दिन में शुद्धि होती है।¹¹⁹ याज्ञवल्क्य ने दूसरे पुरुष पर आश्रित रहने वाली अर्थात् अपने पति को छोड़कर किसी अन्य व्यक्ति से अनैतिक शरीर-सम्बन्ध स्थापित करने वाली स्त्री की मृत्यु पर एक दिन-रात का अशौच माना है।¹²⁰

विष्णु के कथनानुसार विवाहित स्त्री की मृत्यु पर माता-पिता अशुद्ध नहीं होते, किन्तु मृत्यु पिता के गृह पर होने से तीन दिन का अशौच होता है।¹²¹

अनलोम-प्रतिलोम विवाह में मरणाशौच :

वर्णों के अनुलोम एवं प्रतिलोम कम से अर्थात् उच्च वर्गों के पुरुषों द्वारा अपने से निम्न वर्णों की स्त्रियों तथा निम्न वर्गों के पुरुषों द्वारा उच्च वर्णों की स्त्रियों से विवाह करने पर अशौच के कतिपय नियम थे। शंखस्मृति में वर्णित है कि यदि ब्राह्मण के क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र सपिण्ड की मृत्यु हो जाए तो वह क्रम से छः दिन, तीन दिन एवं एक दिन में व क्षत्रिय के वैश्य एवं शूद्र सपिण्ड की मृत्यु होने पर क्रम से छः रात एवं तीन दिन में और वैश्य के क्षत्रिय एवं शूद्र सपिण्ड के सम्बन्ध में क्रम से बारह एवं छः दिन में तथा शूद्र के क्षत्रिय एवं वैश्य सपिण्ड की मृत्यु पर क्रम से बारह एवं एक मास में शुद्धि को प्राप्त कर लेता है। इसके साथ ही चारों वर्गों के सपिण्ड ब्राह्मण की मृत्यु होने पर दस दिन की शुद्धि का विधान किया गया है। स्मृतिकार दक्ष ने भी अनुलोम विवाह के विषय में इसी प्रकार का मत उद्धृत किया है- 'यदि कोई ब्राह्मण चारों वर्गों की स्त्रियों से विवाह करता है तो उन स्त्रियों के जनन एवं मरण पर क्रमशः दस, छः एवं एक दिन का अशौच होता है।'¹²² शंखस्मृति में स्त्री के लिए भी विधान करते हुए कहा गया है कि यदि उच्च वर्ण की स्त्री का अपने से निम्न वर्ण के पुरुष के साथ सम्बन्ध हो गया है तो उससे जन्मे बालक के मरण से उत्पन्न होने वाला अशौच उस स्त्री के लिए सदैव बना रहता है।¹²³ जबकि मनु ने प्रतिलोम जातियों को शूद्र के समान माना है और उन्हें शूद्रों के लिए व्यवस्थित अशौच का पालन करने वाली बताया है। विज्ञानेश्वरप्रणीत मिताक्षरा के अनुसार प्रतिलोम जातियों के लोगों की अशौचावधियाँ नहीं होती, वे लोग मल-मूत्र के त्यागोपरान्त किये जाने वाले शुद्धि सम्बन्धी नियमों के समान ही शुद्धिकरण कर लेते हैं।¹²⁴

प्रदेशगत व्यक्ति के लिए मरणाशौच :

जन्म-मरण विषयक यह अशौच माता-पिता को ही नहीं अपितु कुल के सदस्यों एवं सम्बन्धियों पर भी होता था। शंख का विचार है कि- यदि कोई व्यक्ति प्रदेश में रहता हुआ अपने कुल सम्बन्धियों के जनन या मरण का समाचार सुने तो उसे अशौचावधि के दस दिनों में से शेष दिनों तक अस्पृश्य रूप में रहना चाहिये। यदि अशौचावधि पूर्ण हो चुकी है तो उसे तीन दिनों तक अशौच का पालन करना चाहिये, किन्तु यह समाचार एक वर्ष की अवधि पूर्ण होने के पश्चात् मिलने पर, वह स्नान करने मात्र से ही शुद्ध हो जाता है।¹²⁵ महर्षि मनु एवं पराशर का भी यही मानना है।¹²⁶ मनु ने तो विकल्परूप में दस दिनों के उपरान्त सपिण्ड के जन्म या मरण की सूचना मिलने पर वस्त्रसहित जल में स्नान कर लेने से भी शुद्धि बतायी है।¹²⁷ याज्ञवल्क्य के विचार से ऐसी स्थिति में जल-तर्पण (उदकदान) से ही शुद्धि प्राप्त हो जाती है।¹²⁸ यहाँ यह ध्यातव्य है कि जन्म एवं मरण से अशौच तभी उत्पन्न होता है जब वे व्यक्ति को ज्ञात हों।

अन्य व्यक्तियों के लिए मरणाशौच : अशौच के नियम कतिपय अन्य व्यक्तियों के लिए भी व्यवस्थित थे। शंखस्मृति के अनुसार 'औरस पुत्र को छोड़कर अन्य पुत्रों- दत्तक, क्षेत्रज' आदि की, नाना एवं आचार्य की मृत्यु पर तीन दिन का अशौच रहता है। देश के राजा, आचार्य की पत्नी एवं उसके पुत्रों, ब्रह्मचारी तथा अनूचान (अङ्गों सहित वेद का अध्ययन करने वाला) की मृत्यु पर एक दिन का अशौच होता है। मामा, शिष्य, ऋत्विक् (यज्ञिय पुरोहित) और उनके बान्धव की मृत्यु पर पक्षिणी रात्रि (वर्तमान दिन तथा अगले दिन सांयकाल तक) तक अशौच का विधान है।¹²⁹ मनुस्मृति में भी इनके विषय में यही विचार प्राप्त होता है।¹³⁰ जबकि याज्ञवल्क्यस्मृति में इस सम्बन्ध में कुछ भिन्न मत निर्धारित किया गया है। इसमें क्षेत्रज

द्रव्यशुद्धि

द्रव्यशुद्धि का अभिप्राय है 'किसी द्रव्य या वस्तु से लगे हुए दोष को दूर करना।¹⁴³ द्रव्यों के दोष को दूर करने के लिए पृथक्-पृथक् नियमों की व्यवस्था थी। धर्मज्ञों ने द्रव्यशुद्धि के नियमों का पालन करते समय व्यक्ति को अशुद्धि के समय, स्थान, स्वयं अपना, द्रव्य का, द्रव्य के प्रयोजन का, अशुद्धि के कारण एवं अशुद्ध वस्तु की स्थिति का सम्यक् रूप से विचार कर शुद्धि करने का निर्देश दिया है।¹⁴⁴ उन्होंने एक सामान्य नियम को उद्धृत करते हुए यह भी कहा है कि- 'द्रव्यों से संलग्न दूषित वस्तु या गन्ध जब तक दूर न हो जाये तब तक जल एवं मिट्टी का प्रयोग करते रहना चाहिये।¹⁴⁵ शंखस्मृति के अनुसार अनेक प्रकार के द्रव्यों एवं उनकी शुद्धि के प्रमुख साधनों का विवेचन निम्न प्रकार से है

विविध प्रकार के पात्रों की शुद्धि

मिट्टी, ताम्र, स्वर्ण, रजत, सीसे, जस्ते, मृगे आदि से निर्मित पात्रों की शुद्धि के विषय में विशिष्ट नियम थे। शंखस्मृति के अनुसार मिट्टी से बने प्रत्येक पात्र अग्नि में तपाने से शुद्ध हो जाते हैं। लेकिन सुरा, मूत्र, मल, शूक या श्लेष्मा, राध एवं रक्त से दूषित हुए मिट्टी के पात्र दोबारा अग्नि में तपाने से भी शुद्ध नहीं होते। यदि ताम्र, स्वर्ण, रजत के पात्र इन्हीं वस्तुओं के स्पर्श से अशुद्ध हो गये हैं तो वे दोबारा पिघलाकर बनाने से शुद्धि को प्राप्त करते हैं। इनके अतिरिक्त किसी अन्य वस्तु से दूषित होने पर केवल जल से शुद्ध हो जाते हैं। विकल्प रूप में ताम्र के पात्रों को अम्ल से भी शुद्ध किया जा सकता है। सीसे एवं जस्ते के पात्रों को अम्ल (तेजाब) से, काँसे एवं लोहे के पात्रों को क्षार (अल्कली) से, जल से प्राप्त मोती, मणि एवं मृगे से निर्मित तथा सब प्रकार के पत्थरों से निर्मित पात्रों को धोने से, यज्ञपात्रों को हाथ से मांजने से तथा चिकनाई से युक्त पात्रों को गर्म जल से शुद्ध किये जाने का विधान है।¹⁴⁶ यज्ञीय पात्रों को सर्वप्रथम दाहिने हाथ या दर्भ से रगड़ना (पोंछना) चाहिये और तब चमस एवं प्याले यज्ञ में व्यवहृत होने के पश्चात् जल से धोये जाने चाहिये, चरु-स्थाली (जिसमें आहुति के लिए भात की हवि बनायी जाती है), सुव (काठ का करछल जिससे यज्ञीय अग्नि में घृत डाला जाता है) एवं सुचि (अर्धवृत्त-मुखी काठ का करछल) गर्म जल से शुद्ध करें। स्फुर्य (काठ की तलवार), शूर्प (सूप), गाड़ी (जिसके द्वारा सोम के पौधे लाये गये हैं), काठ का ऊखल (ओखली) एवं मुशल जल से स्वच्छ किये जाने चाहिये।¹⁴⁷ इसके अतिरिक्त तुम्बी आदि फलों (बिल्वों), हड्डियों एवं सींगों से बने पात्रों की शुद्धि गौ के केशों से निर्मित रज्जू या कूची से बताई गयी है।¹⁴⁸ मनुस्मृति एवं याज्ञवल्क्यस्मृति में भी इसी प्रकार का वर्णन दृष्टिगोचर होता है। लेकिन मनुस्मृति में धातुओं एवं पात्रों की शुद्धि के लिए जल के अतिरिक्त भस्म (राख) एवं मिट्टी को और याज्ञवल्क्यस्मृति में भस्मादि साधनों को भी स्थान दिया गया है।¹⁴⁹

खाद्य पदार्थों की शुद्धि

अशुद्ध फल-सब्जियों एवं अन्नों की शुद्धि के लिए कतिपय नियम थे। शंखस्मृति में उल्लिखित है कि 'साग, मूल, फल एवं दालों या अनाजों की शुद्धि प्रक्षालन से हो जाती है।' लेकिन अनाज आदि पदार्थों के अधिक मात्रा में होने केवल जल-मार्जन करना चाहिये। इसी प्रकार वृक्षों से निकलने वाले फलों या रसों-गोंदों, गुड़ों एवं लवणों की शुद्धि के लिए जल-मार्जन ही पर्याप्त है। यह नियम कुसुम्भ एवं कुंकुम की शुद्धि के विषय में भी व्यवहृत होता है।¹⁵⁰ मनु का भी अन्नादि की शुद्धि के विषय में यही विचार है।¹⁵¹

भूमि की शुद्धि

महर्षि शंख के मत से गृहों एवं भूमि की शुद्धि झाड़ू लगाने से होती है।¹⁵² जबकि मनु एवं याज्ञवल्क्य ने शंख से कतिपय भिन्न नियम को उद्धृत किया है। मनु ने भूमि शुद्धि के पाँच साधन बताये हैं-सम्मार्जनी (झाड़ू से बुहारना), गोबर से लीपना, जल, गोमूत्र, दुग्धादि का छिड़काव, खोदना (कुछ मिट्टी खोदकर बाहर डाल देना) और उस पर गायों को एक दिन व रात रखना।¹⁵³ याज्ञवल्क्य ने मनु कथित साधनों के अतिरिक्त जलाना एवं समय का बीतना को भी सम्मिलित किया है तथा गृहों की शुद्धि झाड़ू लगाने एवं लीपने (गोबरदि) से कही है।¹⁵⁴

वस्त्रों की शुद्धि

वस्त्रों की शुद्धि जल-प्रक्षालन से मानी गई थी और जिनसे ये निर्मित होते हैं, यथा-ऊन एवं कपास की शुद्धि जल-मार्जन से करने का विधान था।¹⁵⁵ मन्वादि धर्मशास्त्रकारों ने विभिन्न प्रकार के वस्त्रों की शुद्धि के सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न नियम दिये हैं। उनके अनुसार रेशमी एवं ऊनी वस्त्र ऊसर स्थान की मिट्टी (रेह) से, नेपाली कम्बल रीठे से, छाल से बने वस्त्र बेल के फल से एवं क्षौम, पट या सन से बने वस्त्र श्वेत सरसों के लोप से अथवा जल एवं गोमूत्र से शुद्ध करने चाहिये।¹⁵⁶ जबकि पराशर ने इस प्रकार के वस्त्रों की शुद्धि मात्र जल द्वारा धोने से मानी है।¹⁵⁷

काष्ठ एवं अस्थि-निर्मित वस्तुओं की शुद्धि

काष्ठ एवं पशुओं की अस्थियों से बनी वस्तुओं की शुद्धि के लिए भी नियमों की व्यवस्था थी। शंखस्मृति के अनुसार 'शय्या, आसन, स्क्रय (यज्ञवज्र), सूप, गाड़ी, चटाई एवं ईंधन तथा काष्ठ के टुकड़ों को जोड़कर बनाई गई एवं काष्ठ से बनी वस्तुओं की शुद्धि जल छिड़कने से तत्काल हो जाती है। पशुओं के सींगों एवं हाथी के दाँतों से बनी वस्तुओं की शुद्धि सरसों का लेप करके धोने से होती है।¹⁵⁸ मनु ने स्क्रय, सूप, गाड़ी की शुद्धि जल द्वारा धोने से तथा तृण, काष्ठ एवं पुलाल (भूसा) की शुद्धि जल छिड़कने से और शंख, सींग (भैंसों एवं भेड़ों के) एवं अस्थियों तथा हाथियों के दाँत से बनी वस्तुओं की शुद्धि शंख के समान सरसों के लेप से कही है। साथ ही उन्होंने विकल्प रूप में इनकी शुद्धि गोमूत्र या जल से करने को कहा है।¹⁵⁹ याज्ञवल्क्य ने स्क्रय, सूपदि की शुद्धि मनुवत् मानी है और सींग, अस्थियों आदि से बनी वस्तुओं की शुद्धि छीलने से बतायी है।¹⁶⁰

स्वतः शुद्ध वस्तुएँ या पदार्थ

शंखस्मृति में कुछ ऐसी वस्तुओं का भी उल्लेख मिलता है जो स्वतः शुद्ध मानी जाती थी अर्थात् जिनको शुद्ध करने की आवश्यकता नहीं होती। अपवित्र पदार्थों (वर्ण, गन्ध व दुष्ट रसों) से रहित भूमि एवं शिला पर स्थित जल, नदी एवं खान में बहता हुआ जल, विक्रय के लिए फैलायी गई वस्तुएँ, बकरियों एवं अश्वों का मुख, गऊ के मुख को छोड़कर अन्य शरीर भाग तथा घरेलू बिल्ली सदैव शुद्ध होती है। अपनी शय्या, भार्या, बच्चे, वस्त्र, यज्ञोपवीत एवं कमण्डलु-ये सब अपने प्रयोग के लिए शुद्ध होते हैं। यदि कोई अन्य से लेकर इनका प्रयोग करता है, तब उसके लिए अशुद्ध होते हैं। सम्भोगरत स्त्रियों का मुख, गाय दुहते समय बछड़ों का मुख, वक्ष पर फल खाते हुए पक्षियों का मुख तथा शिकार में श्वों का मुख सदैव शुद्ध होता है अर्थात् गाय का दूध दुहते समय बछड़ा दुग्धपान करता है तो उससे धन या दूध अशुद्ध नहीं माना जाता, किन्तु अन्य समय पर बछड़े के मुख से स्पर्श करने पर अशुद्ध माना जाता है। शुक (तोता), काक (कौआ) आदि पक्षियों के द्वारा यदि वृक्ष पर लगे फल खाए या काटे जाएँ अथवा खाकर या काटकर नीचे गिराए जाएँ तो वे अशुद्ध नहीं होते, यदि फल गिरने के पश्चात् पक्षी उसको खाता है तो वह अशुद्ध होता है। इसी प्रकार यदि श्व (कुत्ता) शिकार के समय किसी पशु आदि को

काटता है तो वह अशुद्ध नहीं समझा जाता, किन्तु अन्य समय में श्वों के मुख से स्पर्श होने पर अशुद्ध माना जाता है।¹⁶¹ इसके अतिरिक्त शंख ने एक अन्य स्थल पर कहा है कि 'वह पदार्थ, जो वस्तु में स्वाभाविक रूप से लगे हुए मल को या किसी अशुद्ध वस्तु के संसर्ग से उत्पन्न मल को दूर करता है, वह शुद्ध है।'¹⁶² शंख-लिखित ने तो अशुद्ध को शुद्ध करने वाली वस्तुओं की भी सूची दी है-जल, मिट्टी, इंगुद, अरिष्ट (रीठा), बेल का फल, चावल, सरसों का उबटन, क्षार (रेह, सोडा), गोमूत्र, गोबर, एक स्थान पर संग्रह की हुई वस्तुएँ तथा प्रोक्षण (जलमार्जन)-ये स्वतः शुद्ध ही हैं।¹⁶³ अन्य धर्मशास्त्रकारों ने भी स्वतः शुद्ध वस्तुओं की विस्तारपूर्वक चर्चा की है। साथ ही उन्होंने शंखस्मृति से भिन्न कुछ स्वतः शुद्ध वस्तुओं को भी उद्धृत किया है। मनु ने तीन प्रकार की वस्तुओं को ब्राह्मणों के लिए शुद्ध कहा है-जिसकी अशुद्धि स्वयं आँखों से नहीं देखी गयी हो, अशुद्धि का सन्देह होने पर जिस पर जल छिड़क दिया गया हो एवं ब्राह्मण के द्वारा पवित्र कहे जाने पर। इसके अतिरिक्त नाभि से ऊपर की सभी इन्द्रियाँ- कर्ण, नेत्र, नासिका, मुखादि, मक्खी, मुख से निकली छोटी-छोटी बूँदे, छाया (परछाई), गौ, अश्व, सूर्य की किरणें, धूलि, भूमि, वायु तथा अग्नि को स्पर्श में शुद्ध समझना चाहिये।¹⁶⁴ याज्ञवल्क्य¹⁶⁵ एवं पराशर¹⁶⁶ का भी यही कथन है।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि उस काल में अशौच, शरीरशुद्धि तथा द्रव्यशुद्धि सम्बन्धी, जो विधान किये गये थे। वे किसी वर्ण-विद्वेष व मानसिक कठोरता के कारण नहीं बनाये गये थे अपितु उनके मूल में मनोवैज्ञानिक, धार्मिक एवं स्वच्छता की धारणा मुख्य थी। जो व्यक्ति इनका पालन करता है, उसकी निश्चय ही अन्तरात्मा शुद्ध एवं पवित्र होती है और वह ब्रह्मप्राप्ति या मोक्षप्राप्ति के योग्य बनता है, क्योंकि ब्रह्मप्राप्ति के लिए शरीर व मन तथा प्रयुक्त वस्तुओं (साधनों) का शुद्ध होना अनिवार्य है।

शुद्धि का आधुनिक दृष्टि से विवेचन

शंखस्मृति काल में शुद्धि को मानवीयाचरण में वृद्धि तथा अशुद्धि को पतन का हेतु मानते हुए, जनन-मरण के अशौच के साथ-साथ शरीर, मन, स्थल, पात्रों तथा पूजा सामग्री आदि की पवित्रता पर अत्यधिक बल दिया गया था। जनन-मरण की अशुचितता पर होम-जप-दान-स्वाध्याय इत्यादि देवार्चन एवं पितृकर्म करने का निषेध किया गया था। अशुचितता की कालावधि पूर्ण होने के अनन्तर ही इन धार्मिक कृत्यों का सम्पादन किया जा सकता था। वर्तमान में ऐसे नियमों या आचरणों के प्रति नगरों तथा शिक्षितों की मनोदशा या पालन, श्रद्धा एवं विश्वास नहीं रहा है, केवल कुछ सामाजिक बन्धन, लोक-मर्यादा और जन-परिवाद के कारण इनका यत्किञ्चित् पालन किया जा रहा है। आज प्रचलित शुद्धयशुद्धि को भारतीय पंचाङ्ग और कुछ विद्वद्जनों के ग्रन्थों के माध्यम से समझा जा सकता है।

तत्कालीन समय में जनन-मरण विषयक 'अशौच' सभी वर्गों के लिए था, उसमें भी अग्निहोत्री और वेदज्ञ के लिए भिन्न था। शुद्धि की अवधि भी पृथक्-पृथक् थी। वर्तमान में 'जातिप्रथा' होने के कारण ऐसा सूतक प्रचलित नहीं है और न ही किसी वर्ण या जाति में सूतक भेद का पालन किया जाता है। सामान्यतः जननाशौच में दस दिन तथा मरणाशौच में दसवें एवं तेरहवें के अनन्तर या कुल परम्परा व देशाचारानुसार पालन करते हैं।

जननाशौच में गर्भिणी स्त्री का चतुर्थ माह में गर्भस्राव (गर्भनष्ट) होने की अवस्था में स्त्री के लिए सूतक उतने ही दिन का रहता था, जितने माह का गर्भनष्ट होता था। आज तीन माह के गर्भस्राव पर माता को तीन दिन तथा चतुर्थ माह के गर्भस्राव पर चार दिन का सूतक लगता है और परिवारजन स्नानमात्र से पवित्र हो जाते हैं।¹⁶⁷ डॉ. अशोक कुमार गौड़ वेदाचार्य ने

अपने ग्रन्थ 'पौरोहित्य कर्म-विधि' में इस विषय पर कहा है कि-प्रथम, द्वितीय, तृतीय माह में गर्भस्राव होने पर स्त्री को त्रिरात्र तथा चतुर्थ माह में होने पर अहोरात्र का अशौच होता है। पितादि की स्नानमात्र से शुद्धि होती है। उन्होंने पंचम व षष्ठ मास में गर्भपात होने पर स्त्री के लिए क्रमशः पाँच दिन व छः दिन का तथा पिता आदि सपिण्डजन के लिए त्रिरात्र का अशौच बताया है।¹⁶⁸ भ्रूण के जीवित एवं मृतोत्पत्ति के समय वर्णक्रम से दस, बारह, पन्द्रह व तीस दिन का अशौच निर्धारित था। आज भी भारतीय पंचाङ्ग में वर्णक्रम से इसी परम्परा को मान्यता दी गई है।¹⁶⁹ लेकिन वर्तमान सरकार की ओर से नगर, उपनगर तथा ग्राम स्तर पर प्रसूतिगृहों की स्थापना हो जाने, शिक्षा प्रसार तथा रूढ़िवादिता से पृथक् कार्य करने की भावना आदि के कारण इस युग में शिथिलता आने लगी है। आज जननाशौच दस दिन का ही रहता है।¹⁷⁰

स्त्री के द्वारा पितृगृह में पुत्री को जन्म देने पर एक दिन के अशौच का विधान था। जो स्त्री प्रमादवश निम्न वर्ण के पुरुष से बालक को जन्म देती थी, उसके लिए जीवनपर्यन्त अशौच माना जाता था। आज इस प्रकार की कोई धारणा समाज में विद्यमान नहीं है। इन दोनों ही अवस्थाओं में भर्तृपक्ष (पतिपक्ष) के नियमानुसार भर्तृपक्ष वालों को ही जन्मसूतक लगता है।¹⁷¹ प्रथम प्रवृत्त जनन सूतक के अन्तर्गत, दूसरे जनन सूतक के प्रवृत्त होने पर पूर्वप्रवृत्त सूतक की शुद्धि के साथ उत्तरप्रवृत्त सूतक की निवृत्ति हो जाती थी। अब भी ऐसी स्थिति में यही विधान है। यह नियम मरणाशौच में भी व्यवहृत है।¹⁷² जननाशौच के रहते हुए मरणाशौच के प्रारम्भ होने पर मरणाशौच की पूर्णावधि के साथ जननाशौच से शुद्धि मानी गई थी। आज भी इसी नियम का अनुसरण किया जा रहा है। मृतक की तेरहवीं होने पर जनन सूतक का समापन हो जाता है।¹⁷³ इसी प्रकार मरणाशौच में यदि जनन सूतक प्रवृत्त हो जाता था तो जननाशौच की समाप्ति के समय ही मरणाशौच से शुद्धि हो जाती थी, किन्तु वर्तमान में इसके विपरीत मृतक की तेरहवीं के समापन के साथ ही जननाशौच की अवधि पूर्ण मान ली जाती है।¹⁷⁴ यह तेरहवीं कुल-परम्परा या देशाचारानुसार तेरह, सोलह या सत्रह दिन की हो सकती है। आज लोग अपनी सुविधानुसार तीसरे, पाँचवें या सातवें दिन भी तेरहवीं कर लेते हैं पर यह कोई शास्त्र विधान नहीं है। इसलिये तेरहवीं उचित समय पर की जानी चाहिये।¹⁷⁵

जननाशौच के समान ही 'मरणाशौच' भी वर्णानुसार अवस्था भेद से था। जो अग्नि, अनशन, जल, विद्युत से मरने वाले, आत्महत्या, पतित, संन्यासी, व्रतधारी, ब्रह्मचारी, राजा आदि को नहीं लगता था। हाँ, संन्यासी के द्वारा किसी अन्य के अशौच में भोजन करने पर अशौचावधि के पूर्ण होने तक अशौच का विधान था और व्यक्ति के लिए अन्य के अशौच में भोजन करने का भी निषेध था। वर्तमान में वर्णानुसार अशौच का पालन नहीं किया जाता है। किसे अशौच ग्रस्त जानना चाहिए तथा किसे नहीं ऐसी कोई विस्तृत तालिका निर्धारित नहीं है। राजा अब समाज में है ही नहीं तब उसका प्रश्न ही नहीं उठता और संन्यासी आदि व्यक्तियों की भोजन विषयक बातों पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया जाता है। पी.वी. काणे महोदय के अनुसार 'बंगाल को छोड़कर भारत के अधिकांश सभी भागों में शूद्रों एवं अन्य वर्गों में मृत्यु का अशौच केवल दस दिनों का मनाया जाता है।'¹⁷⁶

शंखस्मृति में बालक के जन्म के पश्चात् दस-बारह दिन में मृत्यु होने पर कोई विधान नहीं मिलता है, किन्तु वर्तमान में यदि उत्पन्न हुए शिशु की दस दिन के अन्तर्गत मृत्यु हो जाती है तो माता को दस दिन का तथा पिता व सपिण्डजन को दिन का अशौच रहता है।¹⁷⁷ कुछ विद्वानों के मत से नालच्छेदन के उपरान्त नामकरण के पूर्व अर्थात् बारह दिन के भीतर बालक के मरण पर बन्धुवर्ग स्नानमात्र से निवृत्त हो जाते हैं। माता-पिता को पुत्र के मरण पर त्रिरात्र का तथा कन्या के मरण पर एक

दिन का अशौच होता है।¹⁷⁸ उस समय दन्तोत्पत्ति के पूर्व (षष्ठ-सप्तम मास में) मरने वाले बालक के सपिण्डों (सपिण्डता सात पीढ़ी तक रहती है) के लिए शीघ्र शुद्धि नियत थी और ऐसे बालक का दाह संस्कार व उदकदान नहीं होता था। यदि बालक की मृत्यु चूडाकर्म एवं उपनयन संस्कार से पूर्व हो जाती थी तो मृतक बालक के सपिण्डजन को कम से एक दिन-रात एवं तीन दिन तक अशुद्धि रहती थी। वर्तमान में दन्तोत्पत्ति के पूर्व बालक की मृत्यु होने पर परिवारजन तीन दिन में¹⁷⁹, बन्धुवर्ग स्नानमात्र से, माता-पिता पुत्र की मृत्यु पर तीन रात्रि तथा कन्या की मृत्यु पर एक दिन में शुद्ध हो जाते हैं¹⁸⁰ तथा बालक की दाहादि क्रिया नहीं की जाती। तीन वर्ष के उपरान्त उपनयन से पूर्व बालक का चूडाकर्म हुआ हो या न हुआ हो, उसके मरण में पित्रादि सपिण्डजनों को तीन दिन का अशौच होगा। यदि चूडाकर्म न हुआ हो तो दाह और खनन में विकल्प है और यदि हो गया है तो दाह का विधान है।¹⁸¹ भारतीय पंचाङ्गानुसार तीन वर्ष में चूडाकर्म होने पर बालक का दाह संस्कार करना चाहिये और उसके सपिण्डजनों को तेरहवीं तक अशौच रहेगा।¹⁸² इस विषय में पं. श्रीजोषणरामजी ने कुछ भिन्न मत उद्धृत किया है। उनके अनुसार माता-पिता को तो तीन दिन और सपिण्ड को एक दिन का मरणाशौच लगेगा। उन्होंने उपनयन संस्कार के पूर्व मरने पर शंखवत् तीन दिन में शुद्धि कही है। इसके अनन्तर अर्थात् आठ वर्ष (जो ब्राह्मण बालक के उपनयन का काल है) के बाद मरने पर दस दिन का अशौच होगा।¹⁸³ वैसे तो लोग इस आयु के बालक का दाह संस्कार करते हैं और तेरहवीं तक अशौच मनाते हैं। तेरहवीं के पश्चात् कैसा भी अशौच नहीं रहता है। पीढ़ियों के क्रम में भी अब मरणाशौच का परित्याग किया जा चुका है। आज तत्काल और विलम्ब से शुद्धि का प्रश्न ही नहीं है। सब लोग कुल परम्परा के अनुसार मृतक अशौच मानते हैं।

अविवाहित कन्या व शूद्र के मरण में सपिण्डजन तीन दिनों में शुद्धि को प्राप्त करते थे। यदि अविवाहित शूद्र की मृत्यु सोलह वर्ष की अवस्था के अनन्तर होती थी तो एक मास में शुद्ध हो जाते थे। वर्तमान में अविवाहित कन्या के सगाई से पूर्व मरने पर पितृपक्ष एवं भर्तृपक्ष को तीन दिन का¹⁸⁴ और शूद्र के मृत्यु दिन से तेरहवीं तक अशौच होता है। अविवाहित रजस्वला कन्या की मृत्यु पिता के गृह होने पर आजीवन अशौच रहता है, ऐसी धारणा थी। जबकि आज पितृपक्ष तेरहवीं के समय अशौच से निवृत्त हो जाता है।¹⁸⁵ यदि अविवाहित कन्या की वाग्दान (विवाह तय करना) के पूर्व मृत्यु हो जाती थी तो एक दिन-रात में शुद्धि होती थी। इसके पश्चात् मृत्यु होने पर भर्तृपक्ष व सपिण्ड-पितृपक्ष वालों को अशौच तीन दिन तक रहता था। आज वाग्दान के पूर्व कन्या-मरण में त्रिपुरुष सपिण्डों को एक दिन एवं माता-पिता को त्रिरात्र का अशौच होता है। वाग्दानोत्तर विवाह के पूर्व कन्या-मरण में शंखवत् भर्तृपक्ष एवं पितृपक्ष के सपिण्डजन को तीन दिन का ही अशौच रहता है।¹⁸⁶ जो लोग इन नियमों का पालन नहीं करते वे तेरहवीं तक अशौच मनाते हैं।

विवाहिता स्त्री के पितृगृह में रहते हुए मरण पर तथा अपने पति को छोड़ने वाली एवं जो दूसरे की पत्नी रह चुकी है, उसके मरण पर तीन दिन में शुद्धि का विधान था। आज पितृगृह में मृत्यु पर पितृपक्ष को तीन दिन का व भर्तृपक्ष को तेरहवीं तक तथा अन्य स्त्रियाँ जिस घर में गई हैं, वहाँ भर्तृपक्ष वालों को तेरहवीं तक अशौच रहता है और माता-पिता स्नानमात्र से शुद्ध हो जाते हैं।¹⁸⁷

अनुलोम-प्रतिलोम विवाह की स्थिति में जहाँ वर्णक्रमानुसार अशौच था वहीं आज इस प्रकार का कोई विधान नहीं है। स्त्री या पुरुष अपनी इच्छानुसार उच्च जाति वाले से विवाह करें या निम्न जाति वाले से, अशौच कुल परम्परा या देशाचारानुसार तेरहवीं की अवधि तक माना जाता है।

प्रवास में रहने वाला व्यक्ति यदि अपने सपिण्डजनों के जनन व मरण का समाचार सुनता था तो वह अशौचावधि के दस दिनों में से शेष दिनों में, अशौचावधि के पूर्ण होने पर तीन दिनों में तथा एक वर्ष के पश्चात् सूचना मिलने पर स्नानमात्र करने पर अशौच से निवृत्त हो जाता था। वर्तमान में समाचार मिलने पर तो शेष दिनों के ही अशौच पालन का, पर अवधि पूर्ण होने या वर्षभर अनन्तर सूचना मिलने पर एक दिन के उपवास व स्नानमात्र से शुद्धि का विधान है।¹⁸⁸ कुछ लोग तो इसका पालन न करके मृतक सपिण्ड या सगोत्री की सूचना मिलने पर खेद व्यक्त करके ही उसके प्रति अपने कर्तव्य की 'इतिश्री' समझ लेते हैं।

औरस पुत्र को छोड़कर दत्तक, क्षेत्रज आदि पुत्रों, नाना, आचार्य की मृत्यु पर तीन दिनों का एवं आचार्य की पत्नी व उसके पुत्रों, देश के राजा तथा ब्रह्मचारी की मृत्यु पर एक दिन का अशौच निर्धारित था। वर्तमान में दत्तक पुत्र के विषय में डॉ. अशोक कुमार गौड़ वेदाचार्य का मत है कि उपनीत दत्तक पुत्र के जनक और पालक पिता को त्रिरात्र और सपिण्ड को एक दिन का अशौच होता है।¹⁸⁹ यदि सगोत्र सपिण्ड दत्तक हो तो दस दिन ही अशौच रहता है। जबकि अधिकांशतः आज पुत्रों की अवस्था भेद से व तेरहवीं तक अशौच माना जाता है। नाना (मातामह) के मरण में दौहित्र व दौहित्री को, यज्ञोपवीत होने पर तीन दिन का, न होने पर एक दिन का¹⁹⁰ और आचार्य के मरण पर उसका दाहकर्म करने वाले शिष्य को दस रात्रि का एवं न करने वाले शिष्य को तीन रात्रि का अशौच होता है। आचार्य की पत्नी एवं उसके पुत्रों के मरण में गुरुकुल स्थित शिष्य को त्रिरात्र और स्वगृह स्थित शिष्य को एकरात्र का अशौच रहता है।¹⁹¹ आज राजा के स्थान पर राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, मुख्यमंत्री आदि हैं। उनके मरण पर देशभर में अवकाश कर दिया जाता है और सभी जन दो मिनट का मौन रख या शोक अभिव्यक्त कर श्रद्धांजलि देते हैं, लेकिन अशौच नहीं लगता। हाँ, राष्ट्रपति आदि के सपिण्डजन को तेरहवीं तक अवश्य अशौच रहता है। इसी प्रकार ब्रह्मचारी के मरण में पितृपक्ष को तेरहवीं तक अशौच लगेगा। यदि गुरुकुल स्थित आचार्य आदि दाह की सम्पूर्ण क्रिया करते हैं तो वे दाह के अनन्तर स्नानमात्र हो जाएंगे। उन्हें अशौच नहीं होगा।¹⁹² उस समय मामा, शिष्य, ऋत्विक् (यजिय परोहित) एवं उनके बन्धुजन के मरण पर पक्षिणी रात्रि (डेढ़ दिन के अशौच का विधान था। आज मामा के मरण पर भागिनेय (भगिनीपुत्र) को एक का अशौच लगता है।¹⁹³ डॉ. अशोक कुमार वेदाचार्य ने मामा विषयक अशौच को अभिव्यक्त करते हुए कहा है कि-अनुपनीत मामा के मरण पर भागिनेय को करात्र का और उपनीत मरण पर भागिनेय व भागिनेयी (भगिनीपुत्री) को पक्षिणी अशौच होता है।¹⁹⁴ शिष्य की मृत्यु पर अध्यापक शोक अभिव्यक्त व स्नानमात्र से शद्ध हो जाते हैं। ऋत्विक् की मृत्यु पर उसके सपिण्डजन को अशौच होता है, अन्य किसी को नहीं। इन सभी के बान्धवजनों को सम्बन्धानुसार अशौच लगता है।¹⁹⁵ इनके अतिरिक्त वर्तमान में कुछ और नियम विहित हैं, जिनका उल्लेख शंखस्मृति में उपलब्ध नहीं होता है। पं. श्रीजोषणरामजी पाण्डेय के अनुसार किसी कारणवश मृत्युदिवस के दिन दाह संस्कार न हो सके और किसी दूसरे दिन दाह संस्कार करना पड़े तो भी मृत्युदिन से ही गणनाकर पूरे दस दिन का अशौच लगता है, किन्तु अग्नि- होत्री के मरण पर दाह संस्कार के दिन से ही दस दिन का अशौच लगता है। घर में जब तक शव रहे तब तक वहाँ अन्य गोत्रियों को भी अशौच रहता है। एक जाति के व्यक्ति यदि किसी शव को कन्धा देते हैं, उसके घर में रहते हैं, वहाँ भोजन करते हैं तो उन्हें भी दस दिन का अशौच रहेगा। यदि वे केवल भोजनमात्र करते हैं या मात्र गृहवास करते हैं तो उन्हें तीन रात का अशौच लगेगा। यदि केवल शव को कन्धा देते हैं तब उन्हें एक दिन का अशौच लगता है। दिन में शव का दाह संस्कार होने पर शवयात्रा में सम्मिलित होने वाले लोगों को सूर्यास्त होने के पूर्व तक अशौच रहता है। सूर्यास्त होने पर

नक्षत्र-दर्शन के अनन्तर स्नान आदि करके यज्ञोपवीत बदल देना चाहिये। रात्रि दाह संस्कार होने पर सूर्योदय के पूर्व तक का अशौच होता है।¹⁹⁶

अशौच के उपरान्त शरीरशुद्धि'को स्थान दिया गया था। जिसका वर्तमानकालीन विवेचन आश्रम-अध्याय के अन्तर्गत किया जा चुका है।

अब शुद्धिक्रम में अन्तिम स्थान 'द्रव्यशुद्धि' का आता है। द्रव्यशुद्धि अर्थात् किसी प्रकार की वस्तु से लगे दोष को दूर करने के लिए विभिन्न प्रकार के साधनों का उपयोग किया जाता था। वर्तमान समय में तत्काल की अपेक्षा इस क्षेत्र में वृद्धि हुई है। आज विविध प्रकार के पात्रों, खाद्य पदार्थों, भूमि, वस्त्रों, काष्ठ एवं अस्थि-निर्मित वस्तुओं की शुद्धि के लिए अनेक प्रकार के रसायनों व उपकरणों का प्रयोग किया जा रहा है।

शंखस्मृतिकाल में मिट्टी से विनिर्मित पात्रों की शुद्धि तपाने से (यदि वे सुरा, मल-मूत्र, थूक, राध व रक्त से मलिन न हुए हों तो), ताम्र, स्वर्ण, रजत के पात्र सुरादि से दूषित होने पर पिघलाकर बनाने व इनसे दूषित न होने पर जल से, ताम्र, सीसे, जस्ते के पात्र अम्ल (तेजाब) से, काँसे, लोहे के पात्र क्षार (अल्कली) से, मोती, मणि, मूँगे व सब प्रकार के पत्थरों से बने पात्र धोने से, यज्ञपात्रों की मांजने व चिकनाईयुक्त पात्रों की गर्मजल से मानी गई थी। आधुनिक काल में इन सभी पात्रों की शुद्धि निम्न प्रकार से की जाती है

- मिट्टी के पात्रों की सफाई सामान्यतः स्वच्छ जल से धोकर, अग्नि में तपाकर, लाल रंग करके व कोमल कूचिका से की जाती है। जो मिट्टी से निर्मित पात्र दीर्घकाल तक पृथ्वी की सतह में दबे रहते हैं उनकी सफाई के लिए स्वच्छ जल एवं कूचिका के अतिरिक्त विनायल एसोटेट (सफाई से पूर्व), सिल्वर नाइट्रेट तथा बेरियम क्लोराइड का प्रयोग किया जाता है।¹⁹⁷
- ताम्र एवं पीतल के पात्रों की शुद्धि पीताम्बरी पाउडर व गर्म राख से रगड़कर मांज लेने पर हो जाती है। यदि इन पात्रों पर दाग पड़े हों तो अम्ल-नींबू, सिरका, इमली, ऑक्सैलिक अम्ल, हाइड्रोक्लोरिक अम्ल का आवश्यकतानुसार प्रयोग कर स्वच्छ कर लेना चाहिये।¹⁹⁸
- स्वर्ण पात्रों को डिटरजेंट पाउडर या हाइड्रोक्लोरिक एसिड के सान्द्र घोल, अमोनियम क्लोराइड, अमोनियम घोल व फारमिक एसिड से साफ किया जाता है। स्वर्ण निर्मित वस्तुओं में चाँदी, ताम्र जैसी धातुओं का मिश्रण साधारणतः किया जाता है। इसलिये यदि स्वर्ण के पात्रों की चमक का क्षरण चाँदी के कारण हुआ है तब उसके लिए अमोनियम क्लोराइड और यदि ताम्र के मिश्रण से हुआ है तो फारमिक एसिड या अमोनियम के घोल से स्वच्छ किया जाता है।¹⁹⁹
- रजत के पात्रों की शुद्धि गन्धक के तेजाब, स्वच्छ जल, अमोनियम अम्ल एवं एसिटिक एसिड के घोल द्वारा की जाती है। अमोनियम अम्ल का प्रयोग तब होता है जब उन (पात्रों) में सिल्वर क्लोराइट की मात्रा बढ़ने पर चमक पर प्रभाव पड़ा हो। इन रसायनों के अतिरिक्त चोकर या साबुन के पानी से स्वच्छ करके, शीघ्र नरम कपड़े से पोंछकर²⁰⁰ तथा दाँतों को साफ करने वाले दन्तमंजन- कॉलगेट आदि से रजत पात्रों को स्वच्छ किया जा सकता है।

- सीसे व चीनी मिट्टी के बने पात्रों को सामान्यरूप से गर्मजल एवं साबुन के घोल या सोडे के घोल से साफ किया जाता है। जो इस धातु से विनिर्मित वस्तुएँ हजारों वर्षों से पृथ्वी में दबी रहती हैं उनकी स्वच्छता के लिए कोमल कूर्चिका, चारों ओर से बन्द पात्र, कास्टिक सोडा, गन्धक व विनॉयल एसीटेट के घोल का प्रयोग होता है।²⁰¹
- काँसे के पात्रों की शुद्धि कटे हुए आधे नींबू पर नमक छिड़ककर की जाती है। इससे जंग लगी वस्तुओं को भी साफ किया जा सकता है।²⁰² लेकिन काँसे के पुरातन वस्तुओं के लिए सिल्वर आक्साइड और लोहे की जंग लगी वस्तुओं के लिए सोडियम कार्बोनेट, जिंक की शीट, आशुत जल व सिल्वर आक्साइड नामक रसायन उपयोग में लाये जाते हैं।²⁰³
- मोती या मोती से बनी वस्तुओं को मलमल के कपड़े²⁰⁴, चावल के माँड, अरीठे के पानी, मूली में खड्डा बनाकर और उसमें मोती भरकर व खड्डे के शेष भाग में बूरा (शक्कर) भरकर एवं पुराने मोती को हाइड्रोजन ऑक्साइड तथा ईथर के द्वारा साफ किया जाता है।²⁰⁵
- मूंगे व उससे विनिर्मित वस्तुओं की स्वच्छता के लिए इथाइल अल्कोहल का प्रयोग होता है।²⁰⁶
- पत्थरों (संगमरमर, सेलखड़ी एवं चूना पत्थर आदि) से बने पात्रों या वस्तुओं की शुद्धि हेतु अमोनिया द्रव्य युक्त जल, कठोर कूर्चिका, अम्ल विलयनसाइट्रिक एसिड एवं एसीटिक एसिड का उपयोग होता है।²⁰⁷ साधारण पत्थरों से बने पात्रों को तो जल से ही स्वच्छ किया जा सकता है।
- यज्ञपात्रों की शुद्धि आज भी स्वच्छ जल व गर्म जल (चिकनाईयुक्त पात्र) से धोने पर ही मानी जाती है। तत्कालीन समय में खाद्य पदार्थों-साग, मूल, फल एवं दालों या अनाजों की शद्धि जल से, भूमि की झाड़ू लगाने से तथा वस्त्रों की शुद्धि जल-प्रक्षालन से एवं जिनसे ये वस्त्र विनिर्मित (ऊन, कपास आदि) होते हैं, उनकी शुद्धि जल मार्जन से किये जाने का विधान था।
- आज खाद्य पदार्थों की शुद्धि जल द्वारा ही की जाती है और अनाज इत्यादि को छाकर, फटककर साफ कर दिया जाता है।
- भूमि को शुद्ध करने के लिए धार्मिक कार्यों में गाय के गोबर से लीपा व गंगाजल का प्रयोग किया जाता है।²⁰⁸ वैसे तो सामान्यतः झाड़ू लगाकर फिनायल- युक्त जल से धोकर स्वच्छ कर लिया जाता है।
- विभिन्न प्रकार के वस्त्रों की शुद्धि मुख्यतः दो प्रकार से की जाती है-सामान्य धुलाई और शुष्क धुलाई (Dry Cleaning)। इनमें अनेक रासायनिक साधनों का उपयोग किया जा रहा है। सामान्य धुलाई जल, साबुन एवं सोडे से की जाती है, यथा-सूती कपड़े, साधारण कपड़े धोने वाले साबुन से रगड़कर ठण्डे पानी से धोये जाते हैं। फिर किसी बर्तन में उन्हें उबाला जाता है। लेकिन रंगीन कपड़े नहीं उबाले जाते। कपड़े चमकदार व साफ दिखे इसके लिए कलफ व नील लगाकर सुखाया जाता है। ऊनी एवं रेशमी कपड़ों को लक्स साबुन के ठण्डे घोल में भिगोकर स्वच्छ किया जा सकता है।²⁰⁹ भारत में धोबी सज्जी मिट्टी का व्यवहार करते हैं, जिसका सक्रिय अवयव सोडियम कार्बोनेट होता है। सूती वस्त्रों के लिए यह धुलाई उचित है पर ऊनी, रेशमी, रेयन और इसी प्रकार के अन्य वस्त्रों के लिए नहीं। इसका कारण ऐसी धुलाई से वस्त्रों के रेशे कमजोर हो जाते हैं और यदि कपड़ा रंगीन है तो रंग भी मलिन (फीका) हो जाता है। ऐसे वस्त्रों की धुलाई सूखी रीति से अदाह्य विलायकों-कार्बन टेट्राक्लोराइड, ट्राइक्लोरोएथेन, परक्लोरोएथिलीन तथा अन्य हैलोजनीकृत हाइड्रोकार्बनों की सहायता से की जाती है। इनसे पूर्व पेट्रोलियम विलायकों-नैपथा, पेट्रोल, स्टीडार्ट आदि

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि वर्तमान में शुद्धि के अन्तर्गत तत्कालीन समय की अपेक्षा अशौच विषयक नियमों में क्षीणता आयी है। अशौच में स्मृति विहित कुछ नियमों का परिवर्तन के साथ अनुसरण किया जा रहा है तो कुछ नियम समाप्त हो गये हैं। जबकि शरीरशुद्धि एवं द्रव्यशुद्धि के क्षेत्र में अधिक उन्नति हुई है। शरीर, स्थल, पात्रों तथा वस्तुओं की स्वच्छता के लिए प्रयुक्त होने वाले आधुनिक उपकरण या रसायन इसके स्पष्ट उदाहरण हैं।

सन्दर्भग्रन्थाः

1. या.स्मृ., 1/20 'सुधा' व्याख्या में उद्धृत, व्या.-थानेशचन्द्र उपैति
2. काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, पृ.381
3. (क) dadadadi.org/old-age-homes-in-Delhi.NCR.html
(ख) care@dadadadi.org.
4. www.satyamevjayate.com, Season-I, Episode 11th : Old age Sunset Years, Sunshine Life (15 July, 2012).
5. काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, पृ.501
6. ज्योति, डॉ. विवेक, भारतीय धर्मशास्त्रों में संन्यास आश्रम, पृ.236-246
7. श्रद्धा में 'श्रत्-श्रद्' उपपद रहते क्तडुधाञ् धारणपोषणयोः जुहोत्यादिगणीय धातु (पा.धा., पृ.28) पठित है। इसके साथ 'अण्' प्रत्यय लगने से 'श्रद्ध' शब्द की व्युत्पत्ति हुई है। (चूडादिभ्य उपसंख्यानम् ॥ पा.अष्टा., 5/1/110 पर वार्तिक तथा सि.कौ., वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री, भाग-I, पृ.289)
8. (क) संस्कृत-हिन्दी कोश, वामन शिवराम आप्टे, पृ.1035
(ख) वैदिक कोश, संपा.-सूर्यकान्त, पृ.527
9. प्रत्ययो धर्मकार्येषु तथा श्रद्धेत्युदाहृता।
नास्ति ह्यश्रद्धाधानस्य धर्मकृत्ये प्रयोजनम्॥ श्रद्धतत्त्व (रघुनन्दन), पृ.189
10. ध.सि., श्री काशीनाथ उपाध्याय, तृतीय परिच्छेद उक्त., पृ.736 पर बृहस्पति का वचन
11. या.स्मृ., 1/217 पर मिताक्षरा
12. बृ.परा.स्मृ., 7/110
13. (क) श्रद्धकल्पतरु, पृ.4 (ख) ध.सि., श्री काशीनाथ उपाध्याय, तृतीय परिच्छेद उक्त., पृ. 736 पर उद्धृत ब्रह्मपुराण
14. कठ.उप., 1/3/17
15. ऋ., 10/14/1, 8, 10/15/14, 10/16/5
16. वही, 10/14/9, 10/15/3, 10/16/4
17. (क) ऋ., 1/14/6, 10/15/4, 7, 11 (ख) अथर्व., 18/3/14
18. अथर्व., 18/4/78-80
19. वही, 18/2/49

20. शत.ब्रा., 2/4/2/19 तथा वाज.सं., 2/31, प्रथम पाद
21. शत.ब्रा., 12/8/1/7
22. आप.ध., 2/7/16/1-3
23. बौ.ध., 2/8/14
24. मनु., 3/275
25. (क) मनु., 3/284 (ख) या.स्मृ., 1/269-270
26. शं.स्मृ., 14/33
27. प्रजां पुष्टिं यशः स्वर्गमारोग्यं च धनं यथा।
नृणां श्राद्धैः सदा प्रीताः प्रयच्छन्ति पितामहाः॥ वही, 14/33
28. श्राद्धात्परतरं नान्यच्छ्रेयस्करमुदाहृतम्।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन श्राद्धं कुर्याद्विचक्षणः॥ स्मृ.च. (श्राद्ध), पृ.333 पर सुमन्तु
29. अमावास्या दिने प्राप्ते गुहद्वारं समाश्रिताः।
वायुभूताः प्रवाञ्छन्ति श्राद्धं पितृगणा नृणाम्॥
यावदस्तमयं भानोः क्षुत्पिपासासमाकुलाः।
ततश्चास्तं गते भानौ निराशा दुःखसंयुताः॥
निश्वस्य शुचिरं यान्ति गर्हयन्तः स्ववंशजम्॥ चतु.चिन्ता., परिशेषखण्ड, भाग-1, पृ.236
30. न तत्र वीरा जायन्ते नारोगा न शतायुषः।
न च श्रेयोधिगच्छन्ति यत्र श्राद्धं विवर्जितम्॥ वही, पृ.237 पर हारीत
31. न सन्ति पितरश्चेति कृत्वा मनसि यो नरः।
श्राद्धं न कुरुते मोहात् तस्य रक्तं पिबन्ति ते॥ वही, पृ.238 पर ब्रह्मपुराण
32. शं.स्मृ., 13/16
33. अमावास्यां यत्क्रियते तत्पार्वणमुदाहृतम्।
क्रियते वा पर्वणि यत्तत्पार्वणमिति स्थितिः॥ श्राद्धतत्त्व (रघुनन्दन), पृ.192 पर उद्धृत भ.पु.
34. हस्तिच्छायासु यदत्तं यदत्तं राहुदशनि। विषुवत्ययने चैव सर्वमानन्त्यमुच्यते॥
प्रोष्ठपद्ममतीतायां मघायुक्तां त्रयोदशीम्। प्राप्य श्राद्धं तु कर्तव्यं मधुना पायसेन वा॥ शं.स्मृ., 14/31-32
35. वि.पु., 3/11/118
36. तत्र त्रिपुरुषोद्देशेन यत्क्रियते तत्पार्वणम्। या.स्मृ., 1/217 पर मिताक्षरा
37. शं.स्मृ., 4/9-12
38. (क) पितुः पुत्रेण कर्तव्या पिण्डदानोदकक्रिया।
पुत्राभावे तु पत्नी स्यात्तदभावे तु सोदरः॥
ध.सि., तृतीय परिच्छेद उत्त., पृ.726 पर उद्धृत शंख का वचन

(ख) बृह.परा.स्मृ., 7/49

39. शं.स्मृ., 13/16
40. शं.स्मृ., 14/31-32
41. वि.ध., 76/1-2
42. मनु., 3/276-277
43. म्लेच्छदेशे तथा रात्रौ संध्यायां च विशेषतः।
न श्राद्धमाचरेत्प्राज्ञो म्लेच्छदेशे न च व्रजेत् ॥ शं.स्मृ., 14/30 तथा मनु., 3/280
44. शत.ब्रा., 2/4/2/8
45. आप.ध., 2/7/16/4-7
46. ब्राह्मणान्न परीक्षेत दैवे कर्मणि धर्मवित् ।
पित्रये कर्मणि संप्राप्ते युक्तमाहुः परीक्षणम् ॥ शं.स्मृ., 14/1 तथा मनु., 3/349
47. शीलं संवसनात् ज्ञेयं शौचं संव्यवहारतः।
प्रज्ञा सङ्कथनात् ज्ञेया त्रिभिः पात्रं परीक्ष्यते ॥
चतु.चिन्ता., परिशेषखण्ड श्राद्धकल्पः, पृ.345 पर बृ.मनु. एवं म.पु.।
48. शं.स्मृ., 14/5-8
49. (क) आप.ध., 2/7/17/22 (ख) बौ.ध., 2/8/14/2 (ग) मनु., 3/185-186, 145-147
(घ) या.स्मृ., 1/219 (ङ) श्राद्धप्रकाश, पृ.67 पर शंख-लिखित
50. आप.ध., 2/7/17/10 तथा मनु., 3/184-186
51. शं.स्मृ., 14/2-4
52. (क) मनु., 3/150-167, 250-266 (ख) या.स्मृ., 1/222-224
(ग) अ.सं., 345-347 (घ) आप.ध., 2/7/17/21
53. द्वौ दैवे प्रामुख्यौ त्रीन्वा पित्रये चोदङ्मुखोस्तथा।
भोजयेद्विविधान्विप्रानेकैकमुभयत्र वा ॥
भोजयेदथवाऽप्येकं ब्राह्मणं पतितपावनम्।
दैवे कृत्वा तु नैवेद्यं पश्चाद्द्वौ तु तत्क्षिपेत् ॥ शं.स्मृ., 14/9-10
54. (क) बौ.ध., 2/8/15/10-11 (ख) मनु., 3/125-126 (ग) या.स्मृ., 1/228
55. श्राद्धं कृत्वा प्रयत्नेन त्वराक्रोधविवर्जितः। शं.स्मृ., 14/12
56. निमन्त्रिस्तु यः श्राद्धे मैथुनं सेवते द्विजः।
श्राद्धं दत्त्वा च भुक्त्वा च युक्तः स्यान्महतैनसा ॥ वही, 14/25
57. मनु., 3/188
58. पुनर्भोजनमध्वानं भाराध्ययनमैथुनम्।

- दानं प्रतिग्रहो होमः श्राद्धं भुक्त्वाऽष्टवर्जयेत् ॥ ल.शं.स्मृ., 29
59. (क) या.स्मृ., 1/225 (ख) महा.अनु.प., 10/12-13
60. आप्नमामलकीभिश्च मृद्धीकादधिदाडिमान्।
बिदार्यश्चैव रम्भाद्या दद्याच्छाद्धे प्रयत्नतः ॥ धानालाजे मधुयुते सक्तूशर्करया सह।
दद्याच्छाद्धे प्रयत्नेन शृङ्गाटकविसेतकान् ॥ शं.स्मृ., 14/22-23
61. वही, 14/32
62. (क) मनु., 3/271 (ख) या.स्मृ., 1/258
63. शं.स्मृ., 14/16-18
64. वि.ध., 79/18, 5-6
65. दशां विवर्जयेत्प्राज्ञो यद्यप्यहतवस्त्रजाम्।
घृतेन दीपो दातव्यस्तिलतैलेन वा पुनः ॥ शं.स्मृ., 14/17
66. कालशाकं सशल्कांश्च मांसं वाघ्रीणस्य च।
खड्गमांसं तथाऽनन्तं यमः प्रोवाच धर्मवित् ॥ शं.स्मृ., 14/26
67. आप.ध., 2/8/19/13-14
68. मनु., 5/35
69. श्राद्धं कृत्वा प्रयत्नेन त्वराक्रोधविवर्जितः।
उष्णमन्नं द्विजातिभ्यः श्रद्धया विनिवेदयेत् ॥
अन्यत्र पुष्पमूलेभ्यः पीठकेभ्यश्च पण्डितः।
भोजयेद्विविधान्विप्रांन् गन्धमाल्यसमुज्ज्वलान् ॥ शं.स्मृ., 14/12-13
70. उच्छिष्टसनिधौ कार्यं पिण्डनिर्वपणं बुधैः।
अभावे च तथा कार्यमग्निकार्यं यथाविधि ॥ शं.स्मृ., 14/11
71. मनु., 3/260-261
72. या.स्मृ., 1/241-242
73. काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, तृतीय भाग, पृ.1262
74. भोजयित्वा द्विजान्भक्त्या स्वाचान्तान्दत्तदक्षिणान्।
अभिवाद्य पुनर्विप्राननुब्रज्य विसर्जयेत् ॥ शं.स्मृ., 14/24
75. यत्किञ्चित्पच्यते गेहे भक्ष्यं वा भोज्यमेव वा।
अनिवेद्य न भोक्तव्यं पिण्डमूले कदाचन ॥ वही, 14/14
76. यद्दाति गयाक्षेत्रे प्रभासे पुष्करे तथा।
प्रयागेनैमिषारण्ये सर्वमानन्त्यमश्नुते ॥
गङ्गायमुनयोस्तीरे पयोण्याममरकण्टके।

- नर्मदायां गयार्तीरे सर्वमानन्त्यमुच्यते।
 वाराणस्यां कुरुक्षेत्रे भृगुतुङ्गे महालये।
 सप्तवेण्यषिकूपे च तदप्यक्षय्यमुच्यते ॥ वही, 14/27-29
77. (क) मनु., 2/206-207 (ख) या.स्मृ., 1/227
78. श.स्मृ., 14/30
79. वि.ध., अ.84
80. गोगजाश्वदिपृष्ठेषु कृत्रिमायां तथा भुवि।
 न कुर्याच्छ्राद्धमेतेषु पारक्यासु च भूमिषु ॥ परा.मा., 1/2, पृ.303 पर शंख का वचन
81. परकीयप्रदेशेषु पितृणां निर्वपितुं यः।
 तद्धूमिस्वामिपितृभिः श्राद्धकर्म विहन्यते ॥
 कृत्यकल्पतरु, श्रा., पृ.115 एवं श्राद्धप्रकाश, पृ.148
82. काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, तृतीय भाग, पृ.1270-1271
83. काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, तृतीय भाग, पृ.1257
84. सर्वेषामेव श्राद्धानां श्रेष्ठं सांवत्सरं स्मृतम्।
 क्रियते यत्खगश्रेष्ठ मृतेऽहनि बुधैः सह॥
 स याति नरकं घोरं तामिस्र नाम नामतः।
 ततो भवति दुष्टात्मा नगरे सूकरः खग॥ भ.पु., 1/183/20, 25
85. संस्कृत-हिन्दी कोश, वामन शिवराम आप्टे, पृ.1024
86. (क) ऋ., 8/95/7-9, 7/56/12
 (ख) हलायुधकोशः, संपा.-जयशङ्करजोशी, पृ.665 (शुचिः शब्द)
87. (क) अथाष्टावात्मगुणा दया सर्वभूतेषु क्षान्तिरनसूया शौचमनायासो मङ्गलमकार्पण्यमस्पृहेति, यस्य तु खलु
 संस्काराणामेकदेशोऽप्यष्टावात्मगुणा अथ स ब्रह्मणः सायुज्यं सालोक्यज्य गच्छति ॥ गौ.ध., 8/24 तथा गौ. स्मृ., 8/4
88. वेदबोधित-कर्हिता शुद्धिः। शुद्धिकौमुदी, पृ.1
89. (क) मनु., 5/57, 83 (ख) या.स्मृ., 3/14, 25 (ग) द.स्मृ., 6/7
90. (क) इगन्ताच्च लघुपूर्वात्। पा.अष्टा., 5/1/131
 (ख) शुचेर्भावः कर्म वा शौचम्। न शौचम् अशौचम्। सि.कौ., वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री, भाग-1, पृ.292 (ग) नञः
 शुचीश्वरक्षेत्रज्ञकुशलनिपुणानाम्। पा.अष्टा., 7/3/30
91. (क) जनने मरणे नित्यमाशुच्यमनुधावति। दे.स्मृ., हारलता, पृ.2
 (ख) आशुच्यं दशरात्रं तु सर्वत्राप्यपरे विदुः। वही, शुद्धि, पृ.41
92. श.स्मृ., 15/11-12
93. मनु., 5/84

94. ऋ., 1/97/1-8
95. किं पुनरिदमाशौचलक्षणम्। कर्मण्यनधिकारोऽभोज्यान्नऽस्पृश्यता दानादिष्वनधिकारिता। गौ. ध., 2/5/1 पर मिताक्षरा टीका
96. पराशौचे नरो भुक्त्वा कृमियोनौ प्रजायत।
भुक्त्वाऽन्नं म्रियते यस्य तस्य योनौ प्रजायते॥
दानं प्रतिग्रहो होमः स्वाध्यायः पितृकर्म च।
प्रेतपिण्डक्रियावर्जमशौचे विनिवर्तते ॥ शं.स्मृ. 15/24-25
97. या.स्मृ., 3/1 पर मिताक्षरा
98. (क) शं.स्मृ., 15/1
(ख) अशौचं द्विविधं कर्मानधिकारलक्षणं स्पृश्यत्वलक्षणं च। स्मृतिमुक्ताफल, पृ.477
99. जनने मरणे चैव सपिण्डानां द्विजोत्तमः।
त्रयहाच्छुद्धिमाप्नोति योऽग्निवेदसमन्वितः॥
सपिण्डता तु पुरुषे सप्तमे विनिवर्तते।
नामधारकविप्रस्तु दशाहेन विशुध्यति॥
क्षत्रियो द्वादशाहेन वैश्यः पक्षणे शुद्ध्यति।
मासेन तु तथा शूद्रः शुद्धिमाप्नोति नान्तरा॥ शं.स्मृ., 15/1-3
100. मनु., 5/83 एवं अ.सं., 85
101. या.स्मृ., 3/22
102. आ चतुर्था वेत् स्रावः पातः पञ्चमषष्ठयोः।
अत उर्ध्वं प्रसूतिः स्याद् दशाहं सूतकं भवेत् ॥ परा.स्मृ., 3/21
103. शं.स्मृ., 15/3-4 तथा या.स्मृ., 3/20, 22
104. शं.स्मृ., 15/15
105. हीनवर्णास्तु या नारी प्रमादात्प्रसवं व्रजेत्।
प्रसवे मरणे तज्जमशौचं नोपशाम्यति ॥ वही, 15/9
106. समानं खल्वशौचं तु प्रथमेन समापयेत्।
असमानं द्वितीयेन धर्मराजवचो यथा॥ वही, 15/10
107. बौ. ध., 1/5/11/21
108. भृग्वग्न्यनशनाम्भोभिर्मुतानामात्मघातिनाम्।
पतितानां च नाशौचं शस्त्रविद्युद्धताश्च ये॥
यतिव्रतिब्रह्मचारिणूपकारुकीक्षिताः।
नाशौचभाजः कथिता राजाज्ञाकारिणश्च ये॥ शं.स्मृ., 15/21-22
109. यस्तु भुङ्क्ते पराशौचे वर्णा सोऽप्यशुचिर्भवेत्।

- अशौचशुद्धौ शुद्धिश्च तपस्याप्युक्ता मनीषिभिः ॥ वही, 15/23
110. पराशौचे नरो भुक्त्वा कृमियोनौ प्रजायत
भुक्त्वाऽन्नं म्रियते यस्य तस्य योनौ प्रजायते ॥ वही, 15/24
111. अजातदन्तबाले तु सद्यः शौचं विधीयते ॥
अहोरात्रात्तथा शुद्धिर्बाले त्वकृतचूडके ।
तथैवानुपनीते तु त्यहाच्छृण्वन्ति बान्धवाः ॥ वही, 15/4-5
112. (क) मनु., 5/67 (ख) या.स्म., 3/23 (ग) परा.स्म., 3/25
113. मनु., 5/68-69
114. या.स्म., 3/1
115. परा.स्म., 3/19, 24
116. अनूढानां तु कन्यानां तथैव शूद्रजन्मनाम् ।
अनूढभार्यः शूद्रस्तु षोडशाद्वत्सरात्परम् ॥
मृत्युं समधिगच्छेच्चेन्मासात्तस्यापि बान्धवाः ।
शुद्धिं समधिगच्छेद्युर्नात्र कार्या विचारणा ॥
पितृवेश्मनि वा कन्या रजः पश्यत्यसंस्कृता ।
तस्यां मृतायां नाशौचं कदाचिदपि शाम्यति ॥ शं.स्म., 15/6-8
117. मनु., 5/72
118. या.स्म., 3/24
119. अनौस्सेषु पुत्रेषु भार्यास्विन्यगतासु च ।
परपूर्वासु च स्त्रीषु त्रयहाच्छुद्धिरिहेष्यते ॥
गृहे दतासु कन्यासु मृतासु च त्रयहस्तथा ॥ शं.स्म., 15/13-14
120. या.स्म., 3/25
121. वि. ध., 22/32-34
122. द.स्म., 6/17
123. शं.स्म., 15/9
124. (क) मनु., 10/41
(ख) प्रतिलोमानां त्वाशौचाभाव एव, 'प्रतिलोमा धर्महीनाः' इति मनुस्मरणात् । केवलं मृतौ
प्रसवे च मलापकर्षणार्थं मूत्रपुरीषोत्सर्गवत् शौचं भवत्येव ॥ या.स्म., 3/22 पर मिताक्षरा व्याख्या में उद्धृत
125. देशान्तरगतः श्रुत्वा कुल्यानां मरणो वौ ।
यच्छेषं दशरात्रस्य तावदेवाशुचिर्भवेत् ॥ अतीते दशरात्रे तु त्रिरात्रमशुचिर्भवेत् । तथा संवत्सरेऽतीते स्नान एवं
विशुध्यति ॥ शं.स्म., 15/11-12

126. मनु., 5/75-76 तथा परा.स्मृ., 3/14
127. मनु., 5/77
128. या.स्मृ., 3/21
129. अनौरसेषु पुत्रेषु भार्यास्वन्यगतासु च।
मतामहे व्यतीते तु आचार्ये च तथा मृते।
निवासराजनि प्रेते जाते दौहित्रके गृहे।
आचार्यपत्नीपुत्रेषु प्रेतेषु दिवसेन च।
मातुले पक्षिणीं रात्रिं शिष्यविग्वान्धवेषु च।
सब्रह्मचारिण्येकाहमनूचाने तथा मृते । (श स्म), 15/13-16
130. मनु., 5/80-81
131. या.स्मृ., 3/24-25
132. द.स्मृ., 6/19
133. शं.स्मृ., 16/19-20
134. (क) द.स्मृ., 5/2 (ख) बा.स्मृ., 20
135. शौचज्य द्विविधं प्रोक्तं बाह्यमाभ्यन्तरन्तया। द.स्मृ., 5/3
136. श.स्मृ., 16/23
137. (क) मनु., 5/136 (ख) द.स्मृ., 5/5
138. शं.स्मृ., 16/22-23
139. शुद्धा भर्तृश्चतुर्थेऽहि स्नानेन स्त्री रजस्वला।
दैवे कर्मणि पित्रये च पञ्चमेऽहनि शुध्यति ॥ बही, 16/16
140. द.स्मृ., 5/3
141. (क) बौ.ध. 1/5/8/2 (ख) मनु. 5/107-109 (ग) या.स्मृ., 3/31-34
142. द.स्मृ., 5/4
143. (क) द्रव्यस्य दोषापगमः शुद्धिः । अपरार्क, पृ.252-253
(ख) तत्राशुद्धिर्नाम द्रव्यादेः स्पर्शनाद्यनर्हतापादको दोषविशेषः। शुद्धिमत एव च
सकलकर्मोपयोगित्वम्। चतु.चिन्ता., परिशेषखण्ड श्राद्धकल्प, पृ.368
144. देशं कालं तथात्मानं द्रव्यं द्रव्यप्रयोजनम् । उपपत्तिमवस्थां च ज्ञात्वा शौचं प्रकल्पयेत्॥ या.स्मृ.1/190, मिताक्षरा व्याख्या
में उद्धृत बौधायन
145. (क) मनु., 5/126 (ख) या.स्मृ., 1/191
146. मृण्ययं भाजनं सर्वं पुनः पाकेन शुध्यति।
मद्यैर्मूत्रैः पुरीषैश्च ष्ठीवनैः पूयशोणितैः॥

संस्पृष्टं नैव शुध्येत पुनः पाकेन मृण्मयम्। एतैरेव तथा स्पृष्टं ताम्रसौवर्णराजतम्॥
 शुध्यत्यावर्तितं पश्चादन्यथा केवलाम्भसा।
 आम्लोदकेन ताम्रस्य सीसस्य त्रपुणस्तथा।
 क्षरेण शुद्धिः कांस्यस्य लोहस्य च विनिर्दिशेत् ॥
 मुक्तामणिप्रवालानां शुद्धिः प्रक्षालनेन तु।
 अब्जानां चैव भाण्डानां सर्वस्याश्ममयस्य च।
 मार्जनाद्यज्ञपात्राणां पाणिना यज्ञकर्मणि।
 उष्णाम्भसा तथा शुद्धिं सस्नेहानां विनिर्दिशेत् ॥ शं.स्म., 16/1-5

147. मनु., 5/116-117
148. गोवालैः फलपात्राणामस्थानां शृङ्गवतां तथा। शं.स्म., 16/9
149. मनु., 5/111-117 तथा या.स्म., 1/182-183, 185, 187, 190
150. शाकमूलफलानां च विदलानां तथैव च॥
 बहूनां प्रोक्षणाच्छुद्धिर्धान्यादीनां विनिर्दिशेत् ।
 निर्यासानां गुडानां च लवणानां तथैव च।
 कुसुम्भकुङ्कुमानां च ऊर्णाकार्पासयोस्तथा।
 प्रोक्षणात्कथिता शुद्धिरित्याह भगवान्यमः। शं.स्म., 16/4, 8, 10-11
151. मनु., 5/118
152. मार्जनाद्वेश्मनां शुद्धिः क्षितेः शोधस्तु तत्क्षणात् । शं.स्म., 16/7
153. मनु., 5/124
154. या.स्म., 1/188
155. संमार्जितेन तोयेन वाससां शुद्धिरिष्यते॥ शं.स्म., 16/7 एवं 10
156. मनु., 5/120-121 तथा या.स्म., 1/186-187
157. वेषुवल्कलचीराणां क्षौमकार्पासवाससाम्॥
 और्णानां नेत्रपट्टानां जलाच्छौचं विधीयते॥ परा.स्म., 7/31
158. शयनासनयानानां स्फुर्यशूर्पशकटस्य च।
 शुद्धिः संप्रोक्षणाद्यज्ञे कटकेन्धनयोस्तथा।
 प्रोक्षणात्संहतानां च दारवाणां च तत्क्षणात्॥
 सिद्धार्थकानां कल्केन शृङ्गदन्तमयस्य च । शं.स्म., 16/6, 8-9
159. मनु., 5/117, 121-122
160. या.स्म., 1/184-185
161. भूमिष्ठमुदकं शुद्धं शुचिं तोयं शिलागतम्।

- वर्णगन्धरसैर्दुष्टैर्वर्जितं यदि त वेत।
 शुद्धं नदीगतं तोयं सवदैव तथाऽऽकरम्॥
 शुद्धं प्रसारितं पण्यं शुद्धे चाजाश्वयोर्मुखे।
 मुखवजं तु गौः शुद्धा मार्जारश्चाऽऽश्रमे शुचिः॥
 शय्या भार्या शिशुवस्त्रमुपवीतं कमण्डलुः।
 आत्मनः कथितं शुद्धं न शुद्धं हि परस्य च॥
 नारीणां चैव वत्सानां शकुनीनां शुना मुखम्।
 रात्रौ प्रसवणे वृक्षे मृगयायां सदा शुचि ॥ शं.स्मृ., 16/11-15
162. मलसंयोगजं तज्जं यस्य येनोपहन्यते।
 तस्य तच्छोधनं प्रोक्तं सामान्यं द्रव्यशुद्धिकृत् ॥ अपरार्क, पृ. 256 तथा या.स्मृ., 1/190 पर
 शंख (या.स्मृ. की टीका दीपकालिका)
163. सर्वेषामापो मृदरिष्टके गुदबिल्वतण्डुलसर्षपकल्क्षारगोमूत्रगोमयादीनि शौचद्रव्याणि संहतानां
 प्रोक्षणमित्येके । चतु.चिन्ता., जिल्द 3, भाग-I, पृ.817 पर शंख-लिखित
164. मनु., 5/127-133, 118
165. या.स्मृ., 1/187, 191-194
166. परा.स्मृ., 7/34-35, 37-38 एवं 10/42
167. पंचांगदिवाकर, वि.सं.2071 (सन् 2014-2015 ई.), पृ.183
168. गौड़, डॉ. अशोक कुमार वेदाचार्य, पौरोहित्य कर्म-विधिः, प्र.सं.2010, पृ.116
169. पंचांगदिवाकर, वि.सं.2071 (सन् 2014-2015 ई.), पृ.183
170. पाण्डेय, पं. श्रीजोषणरामजी 'अग्निहोत्री', तथा मिश्र, पं. श्रीलालबिहारी जी, अन्त्यकर्म
 श्राद्धप्रकाश, पाँचवां पुनर्मुद्रण, सं.2064, पृ.16
171. मिश्रा, पं. महावीर, अखाड़ा हनुमान मन्दिर, विजयनगर, दिल्ली-110007
172. पाण्डेय, पं. श्रीजोषणरामजी 'अग्निहोत्री' तथा मिश्र, पं. श्रीलालबिहारी जी,
 अन्त्यकर्म-श्राद्धप्रकाश, पाँचवां पुनर्मुद्रण, सं.2064, पृ.15-16
173. मिश्रा, पं. महावीर, अखाड़ा हनुमान मन्दिर, विजयनगर, दिल्ली-110007
174. गौड़, डॉ. अशोक कुमार वेदाचार्य, पौरोहित्य कर्म-विधिः, पं.सं.2010, पृ.116
175. मिश्रा, पं. महावीर, अखाड़ा हनुमान मन्दिर, विजयनगर, दिल्ली-110007
176. काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, भाग-III, पृ.1159
177. पंचांगदिवाकर, वि.सं.2071 (सन् 2014-2015 ई.), पृ.183
178. (क) पाण्डेय, पं. श्रीजोषणरामजी 'अग्निहोत्री' तथा मिश्र, पं. श्रीलालबिहारी जी.
 अन्त्यकर्म-श्राद्धप्रकाश, पाँचवां पुनर्मुद्रण, सं.2064, पृ.16

- (ख) गौड़, डॉ. अशोक कुमार वेदाचार्य, पौरोहित्य कर्म-विधि:, प्र.सं.2010, पृ.410
179. पंचांगदिवाकर, वि.सं.2071 (सन् 2014-2015 ई.), पृ.183
180. पाण्डेय, पं. श्रीजोषणरामजी 'अग्निहोत्री' तथा मिश्र, पं. श्रीलालबिहारी जी, अन्त्यकर्म श्राद्धप्रकाश, पाँचवां पुनर्मुद्रण, सं.2064, पृ.16
181. गौड़, डॉ. अशोक कुमार वेदाचार्य, पौरोहित्य कर्म-विधि:, प्र.सं.2010, पृ.410
182. पंचांगदिवाकर, वि.सं.2071 (सन् 2014-2015 ई.), पृ.183 ।
183. पाण्डेय, पं. श्रीजोषणरामजी 'अग्निहोत्री' तथा मिश्र, पं. श्रीलालबिहारी जी, अन्त्यकर्म श्राद्धप्रकाश, पाँचवां पुनर्मुद्रण, सं.2064, पृ.16-17
184. पंचांगदिवाकर, वि.सं.2071 (सन् 2014-2015 ई.), पृ.183
185. मिश्रा, पं. महावीर, अखाड़ा हनुमान मन्दिर, विजयनगर, दिल्ली-110007
186. गौड़, डॉ. अशोक कुमार वेदाचार्य, पौरोहित्य कर्म-विधि:, पं.सं.2010, पृ.410-411
187. मिश्रा, पं. महावीर, अखाड़ा हनुमान मंदिर, विजयनगर, दिल्ली-110007
188. मिश्रा, पं. महावीर, अखाड़ा हनुमान मंदिर, विजयनगर, दिल्ली-110007
189. गौड़, डॉ. अशोक कुमार वेदाचार्य, पौरोहित्य कर्म-विधि:, प्र.सं.2010, पृ.414
190. (क) पंचांगदिवाकर, वि.सं.2071 (सन् 2014-2015 ई.), पृ.183
(ख) गौड़, डॉ. अशोक कुमार वेदाचार्य, पौरोहित्य कर्म-विधि:, पं.सं.2010, पृ.412
191. गौड़, डॉ. अशोक कुमार वेदाचार्य, पौरोहित्य कर्म-विधि:, पं.सं.2010, पृ.414
192. मिश्रा, पं. महावीर, अखाड़ा हनुमान मन्दिर, विजयनगर, दिल्ली-110007
193. पंचांगदिवाकर, वि.सं.2071 (सन् 2014-2015 ई.), पृ.183
194. गौड़, डॉ. अशोक कुमार वेदाचार्य, पौरोहित्य कर्म-विधि:, पं.सं.2010, पृ.412
195. मिश्रा, पं. महावीर, अखाड़ा हनुमान मन्दिर, विजयनगर, दिल्ली-110007
196. पाण्डेय, पं. श्रीजोषणरामजी 'अग्निहोत्री' तथा मिश्र, पं. श्रीलालबिहारी जी, अन्त्यकर्म श्राद्धप्रकाश, पाँचवां पुनर्मुद्रण, सं.2064, पृ.16
197. शुक्ल, डॉ. गिरीशचन्द्र तथा पाण्डेय, डॉ. विमलेश कुमार, संग्रहालय विज्ञान (Museology), प्र.सं.2002, पृ.218-220
198. hi.wikipedia.org/wiki/गृहप्रबन्ध-last edited 5 months ago by Anunaad Singh.
199. शुक्ल, डॉ. गिरीशचन्द्र तथा पाण्डेय, डॉ. विमलेश कुमार, संग्रहालय विज्ञान (Museology), प्र.सं.2002, पृ.217
200. hi.wikipedia.org/wiki/गृहप्रबन्ध last edited 5 months ago by Anunaad Singh.
201. शुक्ल, डॉ. गिरीशचन्द्र तथा पाण्डेय, डॉ. विमलेश कुमार, संग्रहालय विज्ञान (Museology), प्र.सं.2002, पृ.218
202. <https://hi-infacebook.com/...../...../> (True Indian, 29 Oct.2013).
203. शुक्ल, डॉ. गिरीशचन्द्र तथा पाण्डेय, डॉ. विमलेश कुमार, संग्रहालय विज्ञान (Museology), प्र.सं.2002, पृ.216

204. m.boldskey.com/.../ cleaning Pearl Jewelry, Posted by : Purnima,. Monday 5 March, 2012, 10:55.
205. श्रीमाली, पं. राधा कृष्ण, ज्योतिष और रत्न, पृ.61
206. m.boldskey.coms/maintain-gemstone. (रत्नों के आभूषणों का रखरखाव_Lifestyle Boldskey.com)
207. शुक्ल, डॉ. गिरीशचन्द्र तथा पाण्डेय, डॉ. विमलेश कुमार, संग्रहालय विज्ञान (Museology), प्रसं.2002, पृ.234
208. <https://www.facebook.com.../287874704> (Acharya Santosh Santoshi,
209. hi.wikipedia.org/ TEYCHET. last edited 5 month's ago by Anunaad Singh.
210. hi.wikipedia.org/wiki/सूखी-धुलाई
211. hi.bharatdiscovery.org/.../ऊनी वस्त्र
212. hi.wikipedia.org/wiki/गृहप्रबन्ध, last edited 5 months ago by Anunaad Singh.
213. शुक्ल, डॉ. गिरीशचन्द्र तथा पाण्डेय, डॉ. विमलेश कुमार, संग्रहालय विज्ञान (Museology). प्र.सं. 2002, पृ.212
214. शुक्ल, डॉ. गिरीशचन्द्र तथा पाण्डेय, डॉ. विमलेश कुमार, संग्रहालय विज्ञान (Museology), प्र.सं. 2002, पृ.214-215

यह ग्रन्थ प्राचीन भारतीय संस्कृति, सभ्यता, परम्परा, धर्म, आचार, नैतिकता आदि पर मूल्यवान् प्रकाश डालता है और इतने विषयों का सूक्ष्मदृष्टि से विशद् विवेचन करता है कि सीमित शब्दों में बहुत कुछ कह देना सम्भव नहीं है। अट्टारह अध्यायों में निहित गहन चिन्तन या विषय, यथा-ब्राह्मणादि वर्गों के कर्म, चारों आश्रमों के धर्म, संस्कार, पञ्चमहायज्ञ, आचमन, प्राणायाम, योग, अधमर्षण, गायत्री-जप, तर्पण, शुद्धि, अशौच, श्राद्ध तथा प्रायश्चित्त विधान आदि इसके महत्त्व को प्रकट करते हैं। मानवजीवनोपयोगी ये समस्त मूल्य समाज को अनुशासित, व्यवस्थित व विधिसम्पन्न बनाते हैं। मनुष्य का शारीरिक, मानसिक व बौद्धिक विकास कर उसमें उच्च नैतिक गुणों का आधान करते हैं। उसके चरित्र का निर्माण कर अन्तःकरण की शुद्धता व पवित्रता को स्थापित करते हैं। उसे सदाचार, शिष्टाचार, अनुशासन, संयम एवं विनम्रता का पाठ पढ़ाकर व्यवहारकुशल व धर्मपरायण बनाते हैं। प्राणीमात्र में समता का भाव उत्पन्न करते हैं जिससे मनुष्य सर्वाङ्गीण विकास के साथ-साथ समाज के प्रत्येक वर्ग-मनुष्य, देव, पितर आदि का पोषण करते हुए उसका विकास कर सके। अतएव इसमें निहित शिक्षा कर्तव्यच्युत को धर्मानुसार व नियमानुकूल सच्चरित्र जीवन व्यतीत करना तथा अनियमित व अनाचारयुक्त जीवन का त्याग करना सिखाती है जिससे मनुष्य सांस्कृतिक जीवन का विकास कर लोक और परलोक दोनों को सिद्ध कर सके।

आज के वैज्ञानिक युग में मनुष्य जहाँ मात्र स्वार्थसिद्धि रूपी लक्ष्य की प्राप्ति हेतु कर्म करता जा रहा है, प्रतिस्पर्धावश उसके अन्तःकरण में जो दुष्प्रवृत्तियाँ जन्म लेती जा रही हैं तथा समाज में जो अव्यवस्था बढ़ती जा रही है, उसका कारण स्मृति विहित धर्मसम्बन्धी जीवन-मूल्यों को निरर्थक मानते हुए उनकी अवहेलना का ही दुष्परिणाम है। अतः इस स्मृति के आदर्श नियम व सिद्धान्त आज भी मनुष्य की चरमोन्नति में सहायक हैं।

की ओर संकेत करता है। परवर्ती साहित्य में यह विविध अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। निरुक्त में वर्ण की व्युत्पत्ति 'वृज्' धातु से की गई है जिसका अर्थ है-चुनाव करना या वरण करना।⁴कोशग्रन्थ में वर्ण शब्द को 'वर्ण' धातुपूर्वक 'घञ्' प्रत्यय से निष्पन्न बताया है जिसमें उसके रंग, रूप, सौन्दर्य, मनुष्य श्रेणी, जनजाति, कबीला, ब्राह्मणादि जाति, श्रेणी, वंश, जनजाति इत्यादि अर्थ किये गये हैं।⁵ इसके अतिरिक्त 'वृ' धातु का प्रयोग वरण, वर्णन, आच्छादित करने एवं जीविका के अर्थ में हुआ है।⁶ कह सकते हैं कि जीविका आदि के लिए व्यवसाय का वरण करना 'वर्ण' है। अतएव वर्ण शब्द से आर्य एवं अनार्य जाति विशेष, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र-इन चार वर्णों का बोध होता है। वर्णव्यवस्था से तात्पर्य इन्हीं चार वर्णों से है।

कालान्तर में 'वर्ण' तथा 'जाति' शब्द को समानार्थक माना जाने लगा। महर्षि शंख ने वर्ण शब्द चारों वर्णों⁷ के लिए प्रयुक्त किया है और 'जाति' शब्द 'वर्ण' के लिए नहीं वरन् मनुष्य जाति⁸ के लिए किया है। स्मृतिकार मनु ने वर्ण शब्द का प्रयोग कुछ स्थानों पर 'जाति'⁹ अर्थ में तो कहीं पर मिश्रित जातियों¹⁰ के अर्थ में किया है। आधुनिक समय में तो 'वर्ण' तथा 'जाति' को पर्याय ही माना जाता है, किन्तु इन दोनों का गहनतापूर्वक अध्ययन करें तो इनमें विभिन्नता दिखाई देती है।

'जाति' शब्द स्त्रीलिंग का वाचक है। जो 'जन्' धातु 'क्तिन्' प्रत्यय¹¹ अथवा जनी प्रादुर्भावे¹² धातु से निष्पन्न हुआ है। इसमें जनन या उत्पन्न होने का भाव निहित है। गौतमन्यायसूत्रभाष्य में जाति की व्युत्पत्ति करते हुए कहा है कि-

"समानप्रसवात्मिका जातिः।¹³ अर्थात् जो प्राणी अपने ही समान प्रजनन में समर्थ हो, उसकी एक जाति होती है, यथा- मनुष्य जाति, पशु जाति, तिर्यक् जाति आदि। महाभाष्यकार ने आकृति भेद को जाति का बोधक मानते हुए जाति को परिभाषित किया है कि-"आकृति के द्वारा जिसका ज्ञान हो, जो सम्पूर्ण लिंगों को ग्रहण न करे और जो एक बार उपदेश से ही जान ली जाये, वह जाति है।¹⁴ वस्तुतः जो शब्द सभी लिंगों में व्यवहृत न होकर मात्र स्त्रीलिंग व पुल्लिंग में प्रयुक्त हो, जातिवाचक शब्द है। राम शब्द जातिवाचक नहीं है, क्योंकि इससे मात्र एक व्यक्ति का बोध होता है जबकि कुम्हार, बढ़ई इत्यादि शब्द जातिवाचक हैं, क्योंकि इनसे अनेक मनुष्यों की कुम्हार आदि जाति के रूप में पहचान होती है और ये सभी शब्द मात्र स्त्रीलिंग और पुल्लिंग में ही प्रयुक्त होते हैं। इस प्रकार मनुष्य जाति, गौ जाति, पशु जाति, पक्षी जाति इत्यादि आकृति भेद से पृथक्-पृथक् जातियाँ हैं।

श्री केतकर ने जाति को एक सामाजिक समूह मानते हुए इसकी दो विशेषताएँ बतलाई हैं (1) जाति की सदस्यता जन्मजात होती है तथा (2) इसके सदस्यों को एक सामूहिक नियमों के बंधन में ही रहना पड़ता है।¹⁵ इसी प्रकार डॉ. एन.के. दत्त ने जाति के विषय में कहा है कि "एक जाति के सदस्य स्वजाति के बाहर विवाह सम्बन्ध नहीं कर सकते, अन्य जातियों के लोगों के साथ बैठकर न भोजन और न कोई पेय ही ग्रहण कर सकते हैं। अधिकतर जातियों का अपना एक निश्चित व्यवसाय होता है। इनके साथ ही कुछ ऊँच-नीच के विभेद परस्पर जातियों में बने होते हैं। किसी व्यक्ति का सम्बन्ध किसी जाति विशेष से जन्म के ही आधार पर किया जाता है। एक जाति का दूसरी जाति में परिवर्तन तब तक सम्भव नहीं है जब तक कि व्यक्ति को किसी विशेष नियम के उल्लंघन के कारण अपनी जाति से बहिष्कृत न कर दिया जाए।¹⁶

कुछ विचारकों ने वर्ण एवं जाति के अन्तर को स्पष्ट किया है। पी.वी. काणे के अनुसार "वर्ण की धारणा वंश, संस्कृति, चरित्र (स्वभाव) एवं व्यवसाय पर मूलतः आधारित है। इसमें व्यक्ति की नैतिक एवं बौद्धिक योग्यता का समावेश होता है और यह स्वाभाविक वर्गों की व्यवस्था का सूचक है। स्मृतियों में भी वर्गों का आदर्श है कर्त्तव्यों पर, समाज या वर्ग के उच्च मापदण्ड पर बल देना, न कि जन्म से प्राप्त अधिकारों एवं विशेषाधिकारों पर बल देना। जबकि जातिव्यवस्था जन्म एवं आनुवांशिकता पर बल देती है। यह बिना कर्त्तव्यों के आचरणों पर बल दिये, केवल विशेषाधिकारों पर ही आधारित कही जा सकती है।¹⁷ इसी प्रकार वर्ण तथा जाति के भेद को अभिव्यक्त करते हुए किरण टण्डन ने वर्ण को कर्ममूलक तथा जाति को जन्ममूलक कहा है। उनके मत से "वर्णव्यवस्था लचीली है, क्योंकि व्यक्ति का वर्ण उसके कर्मानुसार बदल सकता था, यथा-जाति की दृष्टि से विश्वामित्र क्षत्रिय थे, किन्तु वर्ण की दृष्टि से 'ब्रह्मर्षि' पद प्राप्त करने पर ब्राह्मण बन गये थे। यह व्यवस्था समानता के सिद्धान्त का पालन करती है। इसमें अनुलोम विवाहादि की स्वीकृति मिल जाती है। यह कर्त्तव्यनिष्ठा का प्रतीक तथा सामाजिक अनुशासन का मूल है। इसके विपरीत जातिव्यवस्था कठोर है, क्योंकि जाति में परिवर्तन सम्भव नहीं है। यह ऊँच-नीच, असमानता, भेदभाव का प्रतीक बनी हुई है। इसमें एक जाति के व्यक्ति के वैवाहिक सम्बन्ध दूसरी जाति के व्यक्ति से नहीं हो सकते। यह सामाजिक, धार्मिक प्रतिबन्धों पर जोर देती है तथा यह वर्णव्यवस्था का ही विकृत रूप है।¹⁸ वस्तुतः वर्ण और जाति दोनों भिन्न अभिप्राय के वाचक हैं, किन्तु वर्तमान समय में लोग भ्रमवश दोनों को एक ही अर्थ का बोधक समझ लेते हैं।

वर्णों की उत्पत्ति तथा विकास - वर्णों की उत्पत्ति विषयक धारणा सर्वप्रथम ऋग्वेद के पुरुषसूक्त से स्पष्ट होती है। जहाँ विराट् पुरुष के मुख, भुजाओं, जंघाओं एवं पैरों से क्रमशः ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र की उत्पत्ति बतलाई गई है।¹⁹ जो प्राचीन- कालीन वर्णव्यवस्था को द्योतित करती है। जबकि कुछ विचारकों के अनुसार यह सूक्त अर्वाचीन है। उनका मानना है कि काल की दृष्टि से यह सूक्त बाद में जोड़ा गया है।²⁰ परवर्ती साहित्य में भी वर्णों के उत्पत्ति विषयक इसी सिद्धान्त को यथावत् स्वीकार कर लिया गया।²¹ वर्णों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में तैत्तिरीय ब्राह्मण में भेद अवश्य मिलता है जिसमें तीन वेदों में तीन वर्णों की उत्पत्ति कही गयी है, यथा-सामवेद से ब्राह्मण, यजुर्वेद से क्षत्रिय एवं ऋग्वेदों से वैश्य।²² स्मृतिकार मनु ने वर्णों की उत्पत्ति का आधार ब्रह्मा को मानते हुए कहा है कि सृष्टि के विकास हेतु स्वयं ब्रह्मा ने इनकी उत्पत्ति की है।²³ महाभारत के शांतिपर्व से ज्ञात होता है कि ब्रह्मा ने एक साथ चारों वर्णों को उत्पन्न नहीं किया वरन् सर्वप्रथम ब्राह्मण को उत्पन्न किया और बाद में उसकी सहायता के लिए अन्य वर्णों को। जिनमें प्रारम्भ में किसी प्रकार का कोई भेद नहीं था, सम्पूर्ण जगत् ही ब्राह्मण था अर्थात् एक ही वर्ण था-ब्राह्मण, किन्तु बाद में कर्मों की विविधता के कारण ब्राह्मण ही अपने-अपने कर्मानुसार पृथक्-पृथक् वर्णों में विभक्त हो गया।²⁴ यहाँ इतना तो स्पष्ट होता है कि पहले वर्णभेद नहीं था, लेकिन बाद में सामाजिक आवश्यकताओं के परिप्रेक्ष्य में कर्म के अनुसार वर्ण विभाजन हो गया।

कर्म-विभाजन के कारण ही विभिन्न जातियों का उद्भव हुआ।²⁵ वैदिकग्रन्थों में चारों वर्णों के अतिरिक्त कुछ ऐसे व्यवसायों के नामोल्लेख मिलते हैं। जो बाद में जाति के परिचायक हो गये थे, यथा-बढ़ई, रथकार, वैद्य, लोहार, कुम्हार, चमार इत्यादि। धर्मशास्त्रीयग्रन्थों²⁶ में भी असंख्य जातियों-चाण्डाल, अम्बष्ठ, आयोगव, आश्विक, कुम्भ-कार, कर्मकार (चमार), कर्मकार (लोहार), कांस्यकार आदि के होने का वर्णन मिलता है। यहाँ पर चाण्डाल-शूद्र द्वारा ब्राह्मणों में उत्पन्न प्रतिलोम सन्तान है। जो शर्वों को ढोने या जल्लाद का कार्य करता है। अम्बष्ठ-ब्राह्मण एवं वैश्य नारी की अनुलोम सन्तान है। यह शल्यजीवी या वैद्य का कार्य करने वाला है। आयोगव-वैश्य पुरुष एवं क्षत्रिय नारी से उत्पन्न प्रतिलोम सन्तान है। इसका कार्य लकड़ी काटने, धान उत्पन्न करने या कपड़े बेचने का है। आश्विक-क्षत्रिय पुरुष एवं वैश्य नारी के गान्धर्व विवाह से उत्पन्न है। यह घोड़े का व्यापार करने वाला है।²⁷ इसी प्रकार स्मृतिग्रन्थों²⁸ के अध्ययन से ज्ञात होता है कि तत्कालीन समाज में कतिपय जातियाँ व उपजातियाँ बन चुकी थी। शंखस्मृति में चारों वर्णों-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र के अतिरिक्त शिल्पकार, नट, चिकित्सक, स्त्री व मृगों से आजीविका कमाने वाले, चमार, रागी, सुनार, ब्याज से आजीविका करने वाले, कुत्तों से आजीविका करने वाले, मूँज से आजीविका करने वाले तथा वणिक् जातियों का वर्णन उपलब्ध होता है।²⁹ आज जो विविध जातियाँ दिखाई देती हैं वे प्रचलित ऐतिहासिक आचार परम्पराओं एवं धार्मिक, आर्थिक कारकों का ही परिणाम है।

वर्ण विभाजन का आधार - वर्ण विभाजन के सम्बन्ध में सामान्यतः तीन सिद्धान्त प्रचलित हैं-कर्मगत, गुण एवं कर्मगत तथा जन्मगत एवं कर्मगत। इन तीन सिद्धान्तों के अन्तर्गत ही वर्ण-विभाजन विषयक समस्त विषयों का समावेश हो जाता है।

कर्मगत - प्राचीनकालीन वर्णव्यवस्था में कर्म को विशेष महत्त्व दिया गया था। इसमें व्यक्ति की योग्यता व क्षमता के आधार पर कर्तव्य-कर्मों पर बल दिया गया था। यह सिद्धान्त मुख्यतः दो मान्यताओं पर प्रकाश डालता है। प्रथम तो यह है कि जिस व्यक्ति ने अपनी क्षमता के अनुसार जिस कर्म या व्यवसाय को स्वीकार किया, उसी के आधार पर उसके वर्ण का निर्धारण हुआ, यथा-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र। अतएव जो व्यक्ति ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुआ है वह सदैव ब्राह्मण रहे, यह आवश्यक नहीं था, वह अपनी इच्छानुसार किसी भी वर्ण का वर्ण कर सकता था। ऋग्वेद में एक ऐसे परिवार का वर्णन प्राप्त होता है जिसमें एक मंत्रकार के पिता को वैद्य तथा माता को अनाज पीसने वाली बताया गया है।³⁰ साथ ही ब्राह्मणत्व जन्म से नहीं वरन् आचरण से माना गया था। एक संवाद के अनुसार जबाला का पुत्र सत्यकाम हरिद्रुमत के पुत्र गौतम के पास जाकर कहता है-भगवन् ! मैं आपका ब्रह्मचारी बनना चाहता हूँ। इसलिये आपके समीप आया हूँ। तब आचार्य गौतम ने कहा-हे सौम्य ! तुम किस वंश के हो, उसने कहा -भगवन् ! मैं नहीं जानता कि मैं किस वंश का हूँ। मैंने अपनी माता से पूछा था। उसने कहा है कि अपनी युवावस्था में मैंने दासी के रूप में अनेक लोगों की सेवा की थी, तब तुझे प्राप्त किया था। इसलिये मैं नहीं जानती कि तू किस वंश का है। मेरा नाम जबाला है और तू सत्यकाम है। तू अपने को सत्यकाम जाबाल बतला देना। अतएव हे गुरु ! मैं सत्यकाम जाबाल हूँ। गौतम ने सत्यकाम से कहा-एक सच्चे ब्राह्मण के अतिरिक्त अन्य कोई इतना स्पष्टवादी नहीं हो सकता, जाओ उपनयन के लिए समिधा ले आओ। मैं तुम्हें अपना शिष्य स्वीकार करता हूँ, क्योंकि तूने सत्य का त्याग नहीं किया।³¹ दूसरे मत के अनुसार किये गये कर्मों के प्रतिफल के रूप में प्राप्त पुनर्जन्म, यथा-शूद्र के घर जन्म लेने वाला व्यक्ति यदि अपने जीवनकाल में अच्छे कर्म करता है तो हो सकता है वह पुनर्जन्म में उच्च वर्ण को प्राप्त करे, क्योंकि ऐसा माना जाता है कि व्यक्ति के द्वारा किया गया कर्म कभी व्यर्थ नहीं जाता अपितु उसका प्रतिफल अवश्य प्राप्त होता है।³²

गुण एवं कर्मगत - यहाँ गुण तथा कर्म से अभिप्राय व्यक्तियों की स्वाभाविक प्रवृत्तियों एवं उसके सामाजिक दायित्वों से है, जिसके आधार पर उन्हें चार वर्गों में विभाजित किया गया था। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं कहा है कि-मैंने गुण और कर्म के आधार पर चारों वर्गों की सृष्टि की है।³³ गुण तीन प्रकार के कहे गये हैं-सत्त्व, रजस् एवं तमस्।³⁴ इनमें सत्त्वगुण निर्मल, प्रकाशमान एवं क्लेशरहित होने के कारण सुख तथा ज्ञान की प्राप्ति कराने वाला है। रजोगुण राग-द्वेष एवं विषयों की ओर आकृष्ट कर कर्म की ओर प्रेरित करता है। तमोगुण प्रसाद, आलस्य, निद्रा को उत्पन्न कर मोहयुक्त कर देता है। अतएव सत्त्वगुण धर्म, रजोगुण अर्थ तथा तमोगुण काम या अज्ञान का हेतु है। इनमें धर्म की ओर प्रवृत्त करने के कारण सत्त्वगुण सर्वश्रेष्ठ है।³⁵ महाभारत के एक पद्य से स्पष्ट होता है कि ब्रह्मा ने वर्गों की उत्पत्ति सम्भवतः सत्त्व, रजस् एवं तमस्-इन तीन गुणों³⁶ के आधार पर की हो, तभी तो ब्राह्मणों में सत्त्वगुण व पवित्रता की, क्षत्रियों में रजोगुण व तेज की, वैश्यों में रजस् व तमस् की तथा शूद्रों में तमोगुण व अज्ञान की प्रधानता मानी गयी है।³⁷ जिस प्रकार चारों वर्गों के गुण भिन्न-भिन्न हैं उसी प्रकार उनके पुरुषार्थ (कर्म) भी अलग-अलग हो गये। धर्म कार्य को करने वाले ब्राह्मण, विषयों में आसक्त, तीक्ष्ण स्वभाव वाले, क्रोधी तथा साहस का काम करने वाले क्षत्रिय, कृषि, व्यवसायादि को प्रधानता देने वाले वैश्य तथा पवित्रता एवं सदाचार से हीन एवं लोभयुक्त होकर निन्दित कर्मों से जीविका चलाने वालों को शूद्र कहा जाने लगा।³⁸ इस प्रकार गुणों के आधार पर चारों वर्गों के पुरुषार्थ में भेद हो गया।

जन्मगत एवं कर्मगत - स्मृतियों ने जन्मगत एवं कर्मगत दोनों सिद्धान्तों को मान्यता दी है। इनके प्रणयन समय में वर्णव्यवस्था इतनी अधिक सुदृढ़ हो गयी थी कि वर्ण का आधार जन्म को स्वीकार किया जाने लगा था, कर्म को नहीं। इस सिद्धान्त के अनुसार व्यक्ति जिस किसी वर्ण में जन्म लेता है वह उसी वर्ण का माना जाता है, यथा-ब्राह्मण का पुत्र ब्राह्मण एवं क्षत्रिय का क्षत्रिय होगा। स्मृतियों में ऐसे बहुत से उद्धरण मिलते हैं जो जन्मना वर्णव्यवस्था की पुष्टि करते हैं। मनुस्मृति में जन्म से ही ब्राह्मण को अन्यान्य वर्गों की अपेक्षा श्रेष्ठ माना गया है।³⁹ लघुहारीतस्मृति में ब्राह्मण के द्वारा ब्राह्मण स्त्री में उत्पन्न को ब्राह्मण कहा गया है।⁴⁰ यदि हम किसी बालक के नाम या संस्कार की बात करें तो जन्म से ही इनका निर्धारण होता है न कि कर्म से, क्योंकि एक बालक का तो कोई कर्म निर्धारित नहीं होता, तब तो उसका नाम या संस्कार उसके जन्मगत वर्ण के आधार पर ही किये जाएंगे। ये सभी तथ्य जन्मना वर्णव्यवस्था की ओर संकेत करते हैं, किन्तु स्मृतियों में मात्र जन्म या वंश से ही ब्राह्मणत्व को स्वीकार नहीं किया गया है अपितु उनके आचार, चरित्रिक श्रेष्ठता एवं कर्मों पर भी अधिक बल दिया गया है⁴¹, क्योंकि विहित कर्मों को न करने से तथा निषिद्ध कर्मों को करने से मनुष्य पतित होता है।⁴² मनु के अनुसार आचारहीन ब्राह्मण शूद्रत्व को प्राप्त करता है और आचारयुक्त शूद्र श्रेष्ठ जाति को।⁴³

शंखस्मृति में जन्म एवं कर्म दोनों को वर्ण विभाजन का आधार माना गया है। एक स्थान पर ब्राह्मण को उपदेश दिया गया है कि वह उसी का यज्ञ कराये व उसी से दान स्वीकार करे, जिसने परम्परागत आजीविका का परित्याग न किया हो और कर्म एवं जन्म से उसका नियमपूर्वक पालन किया हो।⁴⁴ शंखस्मृति में यह भी उल्लेख मिलता है कि ब्राह्मण बालक का नाम शर्मन् अन्त वाला (रामदेव शर्मा), क्षत्रिय का वर्मन् (रणवीर वर्मा), वैश्य का धनयुक्त (मोतीलाल गुप्त) एवं शूद्र का दास अन्त वाला (हरिदास) होना चाहिये।⁴⁵ यहाँ ब्राह्मणादि वर्गों का शर्मनादि नाम रखा जाना जन्मगत वर्णव्यवस्था को इंगित करता है, किन्तु शंख ने स्पष्ट कहा है कि संस्कार के अभाव में वे (द्विज) शूद्र के समान समझे जाएंगे। और उपनयन के पश्चात् वेदाध्ययन से ही उनको द्विज माना जाएगा।⁴⁶ उन्होंने ब्राह्मण को परिभाषित करते हुए कहा है कि जो जन्म-मृत्यु, आधि-व्याधि आदि किसी परिस्थिति में विचलित नहीं होता, वह ब्राह्मण है।⁴⁷ अतएव शंख ने जन्मना ब्राह्मण होने पर भी कर्म से ब्राह्मणत्व की सार्थकता मानी है। इस प्रकार स्मृतिकाल में जन्मतः वर्ण होने पर भी कर्म एवं आचार ही ब्राह्मणत्व एवं शूद्रत्व के निर्णायक थे। इसलिये वर्ण का आधार मात्र जन्म को मानना युक्तिसंगत न होगा। जो लोग ऐसा समझते हैं वह वस्तुतः अज्ञानवश ही ऐसा करते हैं।

संक्षेपतः प्राचीनकाल में व्यक्तियों की कर्मगत विशिष्टता को ध्यान में रखकर समाज का चार वर्गों में विभाजन किया गया था और स्मृतिकाल में जन्म के साथ-साथ कर्म एवं आचार को प्रधानता दी गयी थी। कालान्तर में जन्मगत होने से व्यक्ति को माता-पिता के वर्ण से जोड़कर उसकी चिन्तन शक्ति, योग्यता एवं चरित्र का विचार किये बिना उसे अनेक सुविधाओं से वंचित कर दिया गया, जिससे उनमें ऊँच-नीच की भावना पनपती रही और वर्गों में विरोध एवं अलगाव उत्पन्न हो गया।

यहाँ यह विचारणीय है कि किसी वर्ण का निर्धारण मात्र जन्म के आधार पर करना क्या संगत है? क्योंकि यह आवश्यक नहीं है कि ब्राह्मण परिवार में उत्पन्न बालक में ब्राह्मणोचित गुण हो। यह ठीक है कि अनेकशः ऐसा होता है, परन्तु इसे

आधार मानना भी तो उचित नहीं है। आज गुण या योग्यता का विचार किये बिना मात्र जन्म के आधार पर वर्ण का निर्धारण करने के कारण ही समाज में असन्तोष तथा अव्यवस्था उत्पन्न हो चुकी है। इसी कारण बहुत से विद्वानों ने वर्णव्यवस्था के गुण-दोषों की भी चर्चा की है-मेरिडिथ टाउनसन्ड वर्णव्यवस्था को सकारात्मक देखते हुए कहते हैं कि “यह एक अद्भुत आविष्कार है, समाजवाद का एक रूप है जिसने सदियों से हिन्दू समाज को अराजकता एवं औद्योगिक तथा प्रतिस्पर्धात्मक जैसी जीवन की हानिकारक बुराईयों से बचाया है। यह निर्धन के लिए स्वतः प्रवृत्त कानून और सर्वाधिक सुदृढ़ व्यवसायिक संगठन है।⁴⁸ सिडनी लॉ के अनुसार “ भारतीय समाज को राजनैतिक आघात (प्रभाव) और प्राकृतिक विकल्पों के लिए सबल बनाने वाली तथा मूलभूत स्थिरता और संतोष का प्रमुख कारण, यहाँ की वर्णव्यवस्था है। जो प्रत्येक मनुष्य को समाज में उसका स्थान, आजीविका, जीवन प्रणाली और मित्रमण्डली देती है। यह उसे आरम्भ से ही एक सामूहिक संगठन की सदस्यता प्रदान करती है तथा उसे आजीवन समाज की विनाशकारी दुष्प्रवृत्तियों (ईर्ष्या, अपूर्ण आकांक्षाओं) से बचाती रहती है।⁴⁹

दूसरी ओर कुछ विद्वान् वर्णव्यवस्था की निन्दा करते हैं। सर हेनरी मेन ने इसकी भर्त्सना करते हुए, इसे सबसे अधिक विनाशकारी बताया है⁵⁰, किन्तु अध्ययन से स्पष्ट होता है कि प्रारम्भ में यह उतनी कठोर नहीं थी, जितनी कालक्रम के प्रभाव से लोगों ने धर्म, सम्प्रदाय इत्यादि से जोड़कर इसे कठोर बना दिया। डॉ. राधाकृष्णन् के अनुसार “जातिभेद रूपी संस्था सिद्धान्तविहीन पुरोहितों का आविष्कार न होकर समय की अवस्थाओं द्वारा मनुष्य, समाज का स्वयं विकसित रूप थी, जो कि ब्राह्मणग्रन्थों के काल तक आते-आते दृढ़ हो चुकी थी। उनके अनुसार उस समय अनुलोम एवं प्रतिलोम विवाह प्रचलन में थे, किन्तु बाद में रक्त के अत्यधिक सम्मिश्रण को बचाने के लिए सवर्ण विवाह को ही महत्त्व दिया जाने लगा। इस प्रकार जो संस्था प्रारम्भ में केवल सामाजिक रूप में थी, उसे धार्मिक रूप दे दिया गया और जाति विषयक नियम अटल बन गये। प्रारम्भिक वर्णधर्म में जो लचीलापन था उसके स्थान पर जाँत-पाँत के नियम अत्यन्त कठोर हो गये। प्राचीन वैदिककाल में पौरोहित्य एक व्यवसाय था। कोई भी आर्य इस कर्म को कर सकता था, किन्तु इन्हें वैश्य वर्ग से श्रेष्ठ नहीं समझा जाता था। कभी-कभी उन्हें घृणा की दृष्टि से भी देखा जाता था, लेकिन अभिमान के कारण जो अलग रहने का भाव आ गया था, वह जाति का आधार बन गया। इस प्रवृत्ति के कारण स्वतन्त्र विचार दब गये और चिन्तन सम्बन्धी उन्नति पिछड़ गई। सदाचार का मानदंड खण्डित हो गया। जो व्यक्ति जात-बिरादरी के नियमों का उल्लंघन करता था उसे विद्रोही समझा जाता था और जाति से बहिष्कृत कर दिया जाता था। शूद्रों के लिए द्विज कर्मों के अनुष्ठान पर प्रतिबन्ध था, यह धारणा दृढ़ हो चली थी। इस कारण पारस्परिक घृणा बढ़ती गयी।⁵¹

वैदिककाल से चली आयी वर्णव्यवस्था का विकसित व सुदृढ़ रूप स्मृतिग्रन्थों में उपलब्ध होता है। मन्वादि स्मृतिकारों ने इसका विशद् वर्णन किया है वहीं महर्षि शंख ने अपने शंखस्मृति नामक धर्मशास्त्रग्रन्थ की रचना ही चारों वर्गों के हितसम्पादनार्थ की है।⁵² उन्होंने इसमें जिन सांस्कृतिक तथ्यों (वर्णाश्रमादि) को उद्धृत किया है उनसे तत्कालीन समाज का जीवन प्रतिबिम्बित होता है। जिनमें से प्रथमतः वर्णव्यवस्था को विवेचित किया है। महर्षि ने वर्णव्यवस्था सम्बन्धी वर्णोत्पत्ति पर नाममात्र का भी प्रकाश नहीं डाला है केवल शास्त्र के प्रारम्भ में “स्वयम्भुवे नमस्कृत्य सृष्टिसंहारकारिणे।⁵³ कहा है और चारों वर्गों के धर्म-कर्मों पर संक्षिप्त चर्चा की है। ऐसा लगता है कि महर्षि ने अपने से पूर्व मन के ब्रह्मा से

वर्ण उत्पत्ति विषयक सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया हो, इसलिये उन्होंने इसका वर्णन करना उचित न समझा हो। सम्भवतः वर्ण- व्यवस्था का विस्तृत वर्णन न करने का एक कारण यह हो सकता है कि तत्कालीन समाज में यह व्यवस्था सम्यक् रूप से चल रही हो, इसलिये चारों वर्ण अपने कर्तव्यों को विस्मृत न करने लगे, उन्होंने अपने शास्त्र के माध्यम से उनको अपने धर्म का स्मरण कराया। दूसरी ओर यह अनुमानित किया जा सकता है कि तत्कालीन समाज में वर्ण विषयक नियमों में कहीं-न-कहीं क्षीणता आने लगी हो, जिनके संरक्षण हेतु महर्षि ने सर्वप्रथम वर्णधर्म को अपना विषय बनाया। कारण चाहे जो भी रहा हो पर शंखस्मृति में चारों वर्णों के आचार अथवा कर्तव्य-कर्मों पर बल दिया गया है, क्योंकि व्यक्ति के कर्तव्यच्युत होने से धर्म पराङ्गमुख हो जाता है।⁵⁴

चारों वर्णों के लिए स्व-स्व उपयोगिता के आधार पर कार्य निर्धारण किया गया था और सभी वर्णों को अपने-अपने धर्म पालन का उपदेश दिया गया था।⁵⁵ देवी सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मणों की उत्पत्ति हुई है। मुख बौद्धिक विकास अर्थात् ज्ञान-विज्ञान का परिचायक है। इसलिये ब्राह्मणों को ज्ञान के प्रचार-प्रसार व समाज के मार्गदर्शन का कार्यभार सौंपा गया। ब्रह्मा की भुजाओं से क्षत्रिय की उत्पत्ति कही गयी है। भुजाएँ शक्ति का प्रतीक हैं और शरीर के रक्षण कार्य में सहायक हैं। अतएव समाज की सुरक्षा व शासन संचालन का कार्य क्षत्रियों को दिया गया। वैश्यों की जंघाओं से उत्पत्ति वर्णित है। जंघा शरीर का आधारस्तम्भ है। इस प्रकार वैश्यों को समाज का आधारस्तम्भ मानते हुए, उनके लिए कृषि, व्यापार एवं पशुपालन आदि व्यवसाय के द्वारा समाज के भरण-पोषण का कार्य निर्धारित किया गया। इसी प्रकार ब्रह्मा के पैरों से शूद्र की उत्पत्ति मानी गयी है। पैरों का कार्य शरीर के भार को संभालना तथा उसे गति प्रदान करना है। अतः समाज के लिए शूद्र की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए, उसे अन्य तीन वर्णों की सेवा का कार्यभार दिया गया। इससे स्पष्ट होता है कि कार्यात्मक दृष्टि से समाज में किसी वर्ण को उच्च तथा किसी को निम्न नहीं माना गया था अपितु सभी वर्णों को समान महत्ता दी गयी थी। ये चारों वर्ण एक-दूसरे के पूरक थे, जिनकी सहभागिता के बिना समाज का संचालन असम्भव था। गृहस्थरत्नाकर में कहा गया है कि जिस प्रकार से एक मानव शरीर का निर्माण एवं संगठन मुख, बाहू, जंघा तथा पैर-इन अंगों की समष्टि से हुआ है उसी प्रकार हमारे समाज का निर्माण इन चारों वर्णों के संगठन से हुआ है। ये पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र रूप से कार्य नहीं कर सकते अपितु इनके पारस्परिक संगठित रूप से कार्य करने पर ही समाज का कल्याण सम्भव है।⁵⁶ अतएव मानव के विभिन्न अंग उसके लिए जितने महत्वपूर्ण हैं उतने ही समाज के लिए ये चारों वर्ण आवश्यक थे। चारों वर्णों में से प्रथम तीन-ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य को 'द्विज' की संज्ञा दी गयी थी। इन तीनों को द्विज इसलिए कहा जाता था कि इनका प्रथम जन्म माता के गर्भ से और द्वितीय जन्म उपनयन के समय यज्ञोपवीत धारण करने से माना जाता था।⁵⁷ चतुर्थ वर्ण शूद्र को अन्य तीन वर्णों की अपेक्षा निम्न स्थान दिया गया था और अन्य किसी पंचम वर्ण को मान्यता नहीं दी गयी थी।⁵⁸

सन्दर्भग्रन्थाः

1. आर्यानार्ययोर्व्यतिक्षेपे कर्मणः साम्यम्॥ गौ. ध., द्वितीय प्रश्नः, प्रथम अध्यायः, 69
2. नक्ता च चक्रुरुषया विरुपे कृष्णं च वर्णमरूपं च सं धुः॥ ऋ., 1/73/7, 1/96/5, 2/3/5, 9/97/15, 9/104/4, 9/105/4, 10/124/7

वर्ण उत्पत्ति विषयक सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया हो, इसलिये उन्होंने इसका वर्णन करना उचित न समझा हो। सम्भवतः वर्ण- व्यवस्था का विस्तृत वर्णन न करने का एक कारण यह हो सकता है कि तत्कालीन समाज में यह व्यवस्था सम्यक् रूप से चल रही हो, इसलिये चारों वर्ण अपने कर्तव्यों को विस्मृत न करने लगे, उन्होंने अपने शास्त्र के माध्यम से उनको अपने धर्म का स्मरण कराया। दूसरी ओर यह अनुमानित किया जा सकता है कि तत्कालीन समाज में वर्ण विषयक नियमों में कहीं-न-कहीं क्षीणता आने लगी हो, जिनके संरक्षण हेतु महर्षि ने सर्वप्रथम वर्णधर्म को अपना विषय बनाया। कारण चाहे जो भी रहा हो पर शंखस्मृति में चारों वर्णों के आचार अथवा कर्तव्य-कर्मों पर बल दिया गया है, क्योंकि व्यक्ति के कर्तव्यच्युत होने से धर्म पराङ्गमुख हो जाता है।⁵⁴

चारों वर्णों के लिए स्व-स्व उपयोगिता के आधार पर कार्य निर्धारण किया गया था और सभी वर्णों को अपने-अपने धर्म पालन का उपदेश दिया गया था।⁵⁵ दैवी सिद्धान्त के अनुसार ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मणों की उत्पत्ति हुई है। मुख बौद्धिक विकास अर्थात् ज्ञान-विज्ञान का परिचायक है। इसलिये ब्राह्मणों को ज्ञान के प्रचार-प्रसार व समाज के मार्गदर्शन का कार्यभार सौंपा गया। ब्रह्मा की भुजाओं से क्षत्रिय की उत्पत्ति कही गयी है। भुजाएँ शक्ति का प्रतीक हैं और शरीर के रक्षण कार्य में सहायक हैं। अतएव समाज की सुरक्षा व शासन संचालन का कार्य क्षत्रियों को दिया गया। वैश्यों की जंघाओं से उत्पत्ति वर्णित है। जंघा शरीर का आधारस्तम्भ है। इस प्रकार वैश्यों को समाज का आधारस्तम्भ मानते हुए, उनके लिए कृषि, व्यापार एवं पशुपालन आदि व्यवसाय के द्वारा समाज के भरण-पोषण का कार्य निर्धारित किया गया। इसी प्रकार ब्रह्मा के पैरों से शूद्र की उत्पत्ति मानी गयी है। पैरों का कार्य शरीर के भार को संभालना तथा उसे गति प्रदान करना है। अतः समाज के लिए शूद्र की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए, उसे अन्य तीन वर्णों की सेवा का कार्यभार दिया गया। इससे स्पष्ट होता है कि कार्यात्मक दृष्टि से समाज में किसी वर्ण को उच्च तथा किसी को निम्न नहीं माना गया था अपितु सभी वर्णों को समान महत्ता दी गयी थी। ये चारों वर्ण एक-दूसरे के पूरक थे, जिनकी सहभागिता के बिना समाज का संचालन असम्भव था। गृहस्थरत्नाकर में कहा गया है कि जिस प्रकार से एक मानव शरीर का निर्माण एवं संगठन मुख, बाहू, जंघा तथा पैर-इन अंगों की समष्टि से हुआ है उसी प्रकार हमारे समाज का निर्माण इन चारों वर्णों के संगठन से हुआ है। ये पृथक्-पृथक् स्वतन्त्र रूप से कार्य नहीं कर सकते अपितु इनके पारस्परिक संगठित रूप से कार्य करने पर ही समाज का कल्याण सम्भव है।⁵⁶ अतएव मानव के विभिन्न अंग उसके लिए जितने महत्वपूर्ण हैं उतने ही समाज के लिए ये चारों वर्ण आवश्यक थे। चारों वर्णों में से प्रथम तीन-ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य को 'द्विज' की संज्ञा दी गयी थी। इन तीनों को द्विज इसलिए कहा जाता था कि इनका प्रथम जन्म माता के गर्भ से और द्वितीय जन्म उपनयन के समय यज्ञोपवीत धारण करने से माना जाता था।⁵⁷ चतुर्थ वर्ण शूद्र को अन्य तीन वर्णों की अपेक्षा निम्न स्थान दिया गया था और अन्य किसी पंचम वर्ण को मान्यता नहीं दी गयी थी।⁵⁸

सन्दर्भग्रन्थाः

1. आर्यानार्ययोर्व्यतिक्षेपे कर्मणः साम्यम् ॥ गौ. ध., द्वितीय प्रश्नः, प्रथम अध्यायः, 69
2. नक्ता च चक्रुरुषया विरुपे कृष्णं च वर्णमरूपं च सं धुः ॥ ऋ., 1/73/7, 1/96/5, 2/3/5, 9/97/15, 9/104/4, 9/105/4, 10/124/7

17. काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, पृ.119
18. डॉ. किरण टण्डन, भारतीय संस्कृति, पृ.290-291
19. ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहु राजन्यः कृतः।
उरु तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥ ऋ., 10/90/12
20. डॉ. प्रीति प्रभा गोयल, भारतीय संस्कृति, पृ.21
21. (क) शत.ब्रा., का.2, प्र.1, ब्रा.4, 12 (ख) तै.सं., का.7, प्र.1, अनु.1, 4 (ग) बृह.उप., अ.1, ब्रा.4, 11-13 (घ) महा.शा.प., 181/4, 72/4
22. ऋग्भ्यो जातं वैश्यं वर्णमाहुः। यजुर्वेदं क्षत्रियस्याऽहुर्वीर्यम्। सामवेदो ब्राह्मणानां प्रसूतिः।
तै.ब्रा., का.3, प्र.12, अनु.9
23. लोकानां तु विवृद्ध्यर्थं मुखबाहूरुपादतः। ब्राह्मणं क्षत्रियं वैश्यं शूद्रं च निरवर्तयत्॥ मनु., 1/31
24. न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्।
ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम्॥ महा.शा.प., 181/10
25. (क) ऋ., 1/61/4, 7/32/20, 8/102/8, 9/112/1-3, 10/72/2 (ख) अथर्व., 3/5/6, 7
(ग) तै.सं., का.4, प्र.5, अनु.4, 2-3 (घ) वाज.सं., 16/26-28
26. (क) वर्णसंकरादुत्पन्नान् ब्राह्मणानां हुर्मनीषिणः। बौ.ध., 1/9/16, 3, 7 (ख) व.ध., 16/30, 18/1 (ग) वै.ध., 10/12, 10/15 (घ) वि.ध., 51/8, 51/14, 10/4 (1) आप.ध., 9/32
27. काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, पृ.125-129
28. जातियाँ- (क) मनु., 3/174, 4/79, 215, 8/68, 10/4, 8, 9, 12, 15, 22, 27, 34, 36, 43-44 (ख) या.स्मृ., 1/91, 92, 94, 148, 197 (ग) अ.सं., 197-199, 251 (घ) वि.स्मृ., 16/1-7, 7/3, 10/4, 51/8-14 (ङ) लि.स्मृ., 80-81 (च) व्या.स्मृ., 1/10-12
(छ) परा.स्मृ. 6/44 (ज) गौ.स्मृ., 4/4-5 तथा उपजातियाँ- मनु., 10/36
29. शं.स्मृ., 1/2-4, 15/22 तथा 17/36-40, 58
30. कारुरहं ततो भिषगुपलप्रक्षिणी नना।
नानाधियो मसूयवोऽनु गा इव तस्थिमेन्द्रायेन्दो परिस्रवः॥ ऋ., 9/112/3
31. छा.उप., अ.4, ख.4, 1-5
32. श्रीमद्.गी., 6/44-45
33. चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः॥ वही, 4/13
34. सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसंभवाः॥ वही, 14/5
35. (क) मनु., 12/26-29, 38 (ख) श्रीमद्.गी., 14/6-9
36. तमः शूद्रे रजः क्षत्रे ब्राह्मणे सत्त्वमुत्तमम्।

- इत्येवं त्रिषु वर्णेषु विवर्तन्ते गुणास्त्रयः॥ महा.आश्व.प., 39/11
37. ब्राह्मणानां सितो वर्णः क्षत्रियाणां तु लोहितः।
वैश्यानां पीतको वर्णः शूद्राणामसितस्तथा। महा.शा.प., 181/5
38. वही, 181/11-13
39. मनु., 1/99, 11/84
40. ब्राह्मण्यां ब्राह्मणेनैव ह्युत्पन्नो ब्राह्मणः स्मृतः। ल.हा.स्म., 1/15
41. (क) एकोऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः।
स विज्ञेयः परो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः॥
अवतानाममन्त्राणां जातिमात्रोपजीविनाम्।
सहस्रशः समेतानां परिषत्त्वं न विद्यते॥ मनु., 12/113-114
(ख) आचारहीनस्य तु ब्राह्मणस्य वेदाः षडङ्गास्त्वखिलाः सयज्ञाः।
कां प्रीतिमुत्पादयितुं समर्था अंधस्य दारा इव दर्शनीयाः॥ व.स्म., 168
42. अकुर्वन्विहितं कर्म निन्दितं च समाचरन्।
प्रसक्तश्चेन्द्रियार्थेषु प्रायश्चित्तीयते नरः॥ मनु., 11/44
43. वही, 2/168 तथा 9/335
44. वृत्तिन्तु न त्यजेद्विद्वानृत्विजं पूर्वमेव तु।
कर्मणा जन्मना शुद्धं विधिना च वृणीत तम्॥
एतैरेव गुणैर्युक्तं धर्माजितधनं तथा।
याजयीत सदा विप्रो ग्राह्यस्तस्मात् प्रतिग्रहः॥ शं.स्म., 5/18-19
45. शर्मान्तं ब्राह्मणस्योक्तं वर्मान्तं क्षत्रियस्य तु।
धनान्तं चैव वैश्यस्य दासान्तं वान्त्यजन्मनः॥ वही, 2/4
46. वृत्त्या शूद्रसमास्तावद्विज्ञेयास्ते विचक्षणैः।
यावद्वेदेन जायन्ते द्विजा ज्ञेयास्ततः परम्॥ वही, 1/8
47. जन्मना यस्तु निर्विण्णो मरणेन तथैव च।
आधिभिव्याधिभिश्चैव तं देवा ब्राह्मणं विदुः॥ वही, 7/9
48. "If firmly believe caste to be a marvellous discovery a form of socialism
which through ages has protected Hindoo society from anarchy and from the worst
evils of industrial and competitive life – it is an automatic poor-low to begin with, and
the strongest form known of trades Union". Townsend, Meredith, Asia and Europe,
edition 1901, p.72.

49. "There is no doubt that it is the main cause of the fundamental stability and contentment by which Indian society has been braced for centuries against the shocks of politics and the cataclysms of nature. It provides every man with his place, his career, his occupation his circle of friends. It makes him, at the outset, a member of a corporate body, it protects him through life from the canker of social jealousy and unfulfilled aspirations." Low, Sidney, Vision of India, Second edition 1975, p.262-263.
50. काणे, पी.वी., धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, पृ.109
51. डॉ. राधाकृष्णन्, भारतीय दर्शन, भाग-I, पृ.121-122
52. चातुर्वर्ण्यहितार्थाय शङ्खः शास्त्रमथाकरोत् ॥ शं.स्मृ., 1/1
53. वही, 1/1
54. चतुर्णामपि वर्णानामाचारो धर्मपालकः।
आचारभ्रष्टदेहानां भवेद्धर्मः पराङ्मुखः ॥ परा.स्मृ., 1/37
55. (क) शं.स्मृ., 1/2-5 (ख) मनु., 10/97 (ग) श्रीमद्.गी., 3/35
56. डॉ. नीना डोगरा, ग.र., पृ.15
57. (क) ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातयः।
तेषां जन्म द्वितीयन्तु विज्ञेयं मौञ्जिबन्धनम् ॥ शं.स्मृ., 1/6
(ख) मनु., 10/4 (ग) या.स्मृ., 1/10, 1/39
58. (क) शं.स्मृ., 1/1 (ख) मनु., 10/4

Published Research Paper – 6



Shodhshauryam, International Scientific Refereed Research Journal
© 2020 SHISRRJ | Volume 3 | Issue 2 | ISSN : 2581- 6306

वर्ण व्यवस्था में सदस्यो के कर्तव्य एवं अधिकार

प्रभा चतुर्वेदी

शोध छात्रा, संस्कृत विभाग, राजकीय महाविद्यालय, कोटा, राजस्थान।

सारांश- शंखस्मृति में वर्णित वर्णव्यवस्था एक आदर्श समाज का स्वरूप प्रस्तुत करती है। जहाँ प्रत्येक वर्ग को अपनी योग्यता एवं कार्य के आधार पर स्थान प्राप्त था। जिस वर्ण के कार्य एवं भूमिका जितनी महत्वपूर्ण रही, उसे उतना ही उच्च स्थान दिया गया और अपने-अपने दायित्व-निर्वाह के लिए कुछ विशेष अधिकार एवं सुविधाएँ प्रदान की गईं। ये अधिकार किसी दूसरे वर्ण के अधिकारों का हनन करने के लिए नहीं अपितु स्व-स्व धर्म के रक्षार्थ दिये गये थे। सभी वर्ण एक-दूसरे के सहयोगपूर्वक स्वधर्म का पालन करते थे। यही कारण है कि सभी वर्गों के एक-दूसरे से सम्बद्ध होने पर तत्कालीन समाज प्रतिस्पर्धा जैसी भयावह दोषों से सुरक्षित रहा।

मुख्य शब्द- वर्ण, व्यवस्था, सदस्य, कर्तव्य, अधिकार, वर्णव्यवस्था, समाज, धर्म।

ब्राह्मण : धर्म एवं ज्ञान के प्रतिष्ठापक होने तथा आध्यात्म की ओर उन्मुख रहने के कारण ब्राह्मणों का समाज में सर्वोच्च स्थान था। जन्म से ही अन्य वर्गों की अपेक्षा उन्हें अधिक आदर-सम्मान का पात्र माना गया था। वैदिक¹ एवं धर्मशास्त्रीय² साहित्य में सर्वत्र उसकी श्रेष्ठता को प्रतिपादित करते हुए, उसे देवता स्वरूप माना गया है। महर्षि शंख ने अन्य वर्गों की अपेक्षा ब्राह्मण को सर्वश्रेष्ठ मानते हुए, उसे सभी वर्गों का स्वामी कहा है³ और ब्राह्मण वर्ग में भी पंक्ति को पवित्र करने वाले ब्राह्मण को श्रेष्ठ स्थान दिया है। उनके अनुसार जो वेद-वेदाङ्गों में पाराङ्गत व उनका अध्ययन करने वाला, मन्त्रोच्चारण व ऋचाओं का ज्ञाता, ज्येष्ठ-साम मन्त्रों का गान करने वाला व पवित्र अग्नियों में यज्ञ करने वाला तथा ब्राह्म-विवाह से उत्पन्न है, वही पंक्तिपावन ब्राह्मण है।⁴ उन्होंने अनध्याय काल में अध्ययन करने वाले, पवित्रता एवं आचार से हीन, शूद्रों के अन्न से परिपुष्ट होने वाले ब्राह्मण की निन्दा की है और विद्वान् (वेदादि शास्त्रों के ज्ञाता), नित्य योग में रत, सम दृष्टि रखने वाले, ध्यानशील, संयमी, ज्ञानवान् ब्राह्मण की प्रशंसा की है।⁵ इससे स्पष्ट होता है कि ब्राह्मण सदैव सम्मान के योग्य था।

शंखस्मृति के अनुसार ब्राह्मण के लिए यज्ञ करना व कराना, दान देना व लेना तथा वेद का अध्ययन करना व कराना-ये छः कर्म विहित थे।⁶ मनु ने भी इन्हीं कर्मों का उपदेश किया है⁷, किन्तु मनु एवं शंख की तालिका में क्रमभेद प्राप्त होता है। शंख ने जहाँ यजन-याजन को प्रथम स्थान दिया है वहीं मनु ने अध्यापन-अध्ययन को प्रथम स्थान दिया है। इन वर्णित कर्मों में से यज्ञ कराना, दान लेना एवं वेदाध्ययन कराना ब्राह्मण की जीविका के साधन थे। इसके अतिरिक्त यज्ञ करना, दान देना एवं वेदाध्ययन करना उसके आवश्यक कर्तव्य या धर्म थे। अतएव उसके लिए आत्म-कल्याण की दृष्टि से यज्ञ करना, दान लेना व अध्ययन करना तथा सामाजिक-कल्याण की दृष्टि से यज्ञ कराना, दान देना व अध्ययन कराना आवश्यक था।

शंखस्मृति में ब्राह्मणों के षट्कर्मों में सर्वप्रथम यज्ञ को स्थान दिया गया है और यज्ञ करना तथा करवाना उसका परमधर्म माना गया है। ब्राह्मण के लिए ही नहीं अपितु क्षत्रिय एवं वैश्य के लिए भी यज्ञ करना अनिवार्य था, क्योंकि यज्ञ पाप का नाशक तथा अमरत्व को दिलाने वाला है।⁸ वह समस्त कामनाओं की पूर्ति तथा कल्याण का हेतु है।⁹ अतएव इष्ट की प्राप्ति तथा अनिष्ट के परिहार हेतु यज्ञ आवश्यक था। एक द्विज के लिए यज्ञकर्म ब्रह्मचर्यावस्था से ही प्रारम्भ हो जाता था।¹⁰ नाचिकेत अग्नि में तीन बार यजन करने वाला एवं पाँच पवित्र अग्नियों में यज्ञ करने वाला श्रेष्ठ ब्राह्मण माना जाता था। इसके विपरीत यज्ञकर्म को न करने वाला निन्दित माना जाता था।¹¹ एक गृहस्थ द्विज के लिए 'अग्निहोत्र', 'दर्शपौर्णमास', 'पशुबन्ध', 'चातुर्मास्य यज्ञों तथा अन्य यज्ञों (आग्रहायण, अग्निष्टोमादि) को करने का विधान था, किन्तु उसे निर्देश दिया गया है कि यदि इन धार्मिक कार्यों के लिए उसके पास अत्यल्प धन है तो वह वैश्वानरी इष्टि का अनुष्ठान करे, पर शूद्र से धन की याचना न करे।¹² इससे सिद्ध होता है कि तत्कालीन समय में शूद्र से यज्ञ के लिए धन लेना गृहित माना जाता था, परन्तु शूद्र से बिना याचना किये यज्ञ के लिए धन मिलने पर उसे शास्त्रविरुद्ध नहीं माना जाता होगा अपितु यज्ञ सम्पादन में उसका प्रयोग कर लिया जाता होगा। मनु ने भी इन्हीं यज्ञों को करने का विधान किया है और यज्ञ के लिए शूद्र से धन की याचना का निषेध किया है, क्योंकि शूद्र से धन लेकर यज्ञ करने वाला ब्राह्मण मरणोपरान्त चाण्डाल बनता है।¹³ इसके विपरीत उन्होंने यह भी कहा है कि यज्ञ के लिए धनाभाव होने पर किसी से भी धन लिया जा सकता है, यहाँ तक कि शूद्र के घर से भी।¹⁴ जबकि शंख ने इस प्रकार की कोई छूट नहीं दी है।

शंख ने याजन के विषय में ब्राह्मण को उपदेश दिया है कि वह सदैव उसी का यज्ञ कराए, जिसने शूद्र से धन की याचना न की हो, परम्परागत आजीविका का परित्याग न किया हो वरन् कर्म एवं जन्म से उसका नियमपूर्वक पालन करते हुए, धनार्जित किया हो।¹⁵ इस याजन कर्म के सम्पादन से ही ब्राह्मण दक्षिणारूप में विभिन्न वस्तुओं को प्राप्त करता था, जिससे वह अपनी आजीविका के साथ-साथ दान देकर लोक का कल्याण करता था।

यज्ञ के समान दान देना व लेना भी ब्राह्मण का आवश्यक कर्तव्य था। ब्राह्मण के समान क्षत्रिय एवं वैश्य को भी दान देना होता था, तभी तो महर्षि ने गृहस्थाश्रम में निवास करने वाले गृहस्थी को श्रेष्ठ माना है, क्योंकि गृहस्थी ही दान देने में समर्थ होता है। उसकी कृपा से ही अन्य आश्रमों का परिपालन होता है।¹⁶ दान किसे दिया जाए? इसका विचार शंख ने नहीं किया है, किन्तु अन्य स्मृतिकारों ने दान एक योग्य पात्र को ही देने का विधान किया है कुपात्र को नहीं।¹⁷ ऐसा माना जाता है कि कुपात्र को दिया गया दान सात पीढ़ी तक को नष्ट कर देता है। जबकि एक योग्य पात्र को दिया गया दान पुण्य फल को देने वाला होता है।¹⁸ इसलिये सुपात्रों-माता-पिता, गुरु, मित्र, चरित्रवान् व्यक्ति, उपकारी, दीन (दरिद्र), अनाथ और विशिष्ट गुण वाले व्यक्ति को दान देना चाहिए, कुपात्रों-धूर्तों, वन्दियों (वन्दना करने वाले), मन्दबुद्धियों, कुवैद्यों, जुआरियों, वञ्चकों, चापलूसों, चारणों, चोरों को नहीं।¹⁹ अतएव दान किसी भी दशा में मुख को न देकर गुणवान् को देना चाहिए।

दूसरी ओर महर्षि शंख ने दान ग्रहण करने के सम्बन्ध में निर्देश दिया है कि ब्राह्मण उसी से दान ग्रहण करे, जिसने अपनी वर्ण की वृत्ति का पालन करते हुए, धर्मानुसार धनार्जित किया हो।²⁰ इसी प्रकार मन्वादि धर्मशास्त्रकारों ने दान लेने का तो विधान किया है, परन्तु उसे उत्तम नहीं माना, क्योंकि उनका मानना था कि दान लेने से ब्राह्मण का ब्रह्मतेज नष्ट हो जाता है।²¹ शंखस्मृति में दान लेने के कुफल का वर्णन नहीं मिलता, जिससे स्पष्ट होता है कि इस समय दान की भावना का कोई महत्त्व नहीं रह गया था, वह मात्र क्रिया या आडम्बर बनकर रह गया था।

ब्राह्मण के लिए यज्ञ एवं दान के अतिरिक्त अध्ययन व अध्यापन कर्म अनिवार्य था। शंखस्मृति में ब्राह्मण के लिए वेदाध्ययन को परमावश्यक मानते हुए कहा गया है कि ब्राह्मण को षड्वेदाङ्गों-शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द एवं ज्योतिष सहित चारों वेदों-ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद एवं अथर्ववेद में पाराङ्गत होना चाहिए, उसे ऋग्वैदिक मन्त्रों²² के उच्चारण के

साथ-साथ बहुत सी ऋचाओं का ज्ञान होना चाहिए तथा वह ज्येष्ठ साम मन्त्रों²² का गान करने वाला होना चाहिए। यहाँ पर ऋग्वैदिक मन्त्रों में तीन मन्त्रों के उच्चारण को विशेष स्थान दिया गया है जिसमें यज्ञवेदिका, प्राणवायुरूप देवता तथा जगत् के पालनकर्ता परमेश्वर का वर्णन किया गया है। इसी प्रकार ज्येष्ठ साम मन्त्रों में प्रजापति विषयक वर्णन उपलब्ध होता है। मनु ने तो ब्राह्मण के लिए वेदाध्ययन को परमधर्म तथा अन्य को उपधर्म कहा है।²³ यज्ञवल्क्य का मानना है कि विधाता ने ब्राह्मणों को वेदों की रक्षा, देवों एवं पितरों की तुष्टि तथा धर्म की रक्षा के लिए ही उत्पन्न किया है।²⁴ महाभाष्यकार ने तो ब्राह्मणों को बिना किसी कारण के धर्म, वेद एवं वेदाङ्गों का अध्ययन करने को कहा है²⁵, क्योंकि जो ब्राह्मण नित्य वेद का अध्ययन न करके अन्य शास्त्रों में व्यर्थ ही परिश्रम करता है वह अपने जीवनकाल में परिवार सहित शूद्रत्व को प्राप्त करता है।²⁶ यद्यपि वेदाध्ययन का अधिकार तीनों द्विजातियों को था, किन्तु अध्यापन का अधिकार मात्र ब्राह्मण वर्ग को था। गुरु शिष्य का उपनयन करके, शौच, आचार, यज्ञकर्म एवं सन्ध्योपासना की शिक्षा देकर उसे वेद का ज्ञान प्रदान करता था।²⁷ शिष्य को यह ज्ञान विधिवत् ग्रहण करना होता था। वह गुरु से आज्ञा लेकर, ब्रह्माङ्गलि बनाकर, नतमस्तक होकर, गुरु के मुख को देखते हुए, स्वाध्याय करता था। वेदपाठ के आरम्भ तथा समाप्ति पर 'ओम्' का उच्चारण करता था, पर उसके लिए अनध्याय के समय अध्ययन का निषेध था।²⁸ अध्यापन विषयक इसी प्रकार के विचार मनु ने भी अभिव्यक्त किये हैं।²⁹ इस प्रकार अध्यापन विषयक उसके तीन प्रमुख उद्देश्य थे-धर्म ज्ञान, अर्थ लाभ और परोपकारार्थ। वस्तुतः ब्राह्मण प्राचीनकाल से ही सरल एवं सात्त्विक जीवन व्यतीत करते हुए, अपने ज्ञान एवं तप की साधना से मानव समाज को सत्पथ पर अग्रसर करते रहे हैं। युगों-युगों से चली आयी संस्कृति के विकास, संरक्षण एवं संवर्धन का श्रेय ब्राह्मण वर्ग को ही जाता है।

क्षत्रिय : महत्त्व की दृष्टि से द्विजातियों में ब्राह्मण के पश्चात् क्षत्रिय का द्वितीय स्थान था। जिस प्रकार ब्राह्मणों का स्थान अपने धर्म एवं विद्या की साधना तथा प्रजा में उसके बौद्धिक, नैतिक एवं आध्यात्मिक उत्थान की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण रहा, उसी प्रकार देश की सुरक्षा एवं उसके संचालन तथा सामाजिक, सांस्कृतिक उत्थान की दृष्टि से क्षत्रिय की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। सुरक्षा के अभाव में न तो मनुष्य अपने योगक्षेम को सिद्ध करने में समर्थ हो सकता है, न अभ्युदय एवं निःश्रेयस को प्राप्त कर सकता है और न ही सामाजिक व्यवस्था चल सकती है। अतएव समाज व राष्ट्र का कल्याण सुरक्षा पर आधारित है। जो क्षत्रिय का स्वाभाविक कर्म था। कहा गया है कि जो क्षत् (संकट) से रक्षा करे, वही क्षत्रिय है।³⁰ शंखस्मृति में क्षत्रिय और राजा दो शब्द आये हैं³¹ जो भिन्न अर्थ के नहीं अपितु एक अर्थ के ही वाचक हैं। क्षत्रिय ही राजा है।³² क्षत्रिय की श्रेष्ठता को प्रतिपादित करते हुए, ब्राह्मण को धर्म का मूल एवं क्षत्रिय को धर्म का अग्रभाग कहा गया है और इन्हें एक-दूसरे की समृद्धि का हेतु माना गया है³³, क्योंकि ब्राह्मण धर्म का मार्ग प्रशस्त करता है तो क्षत्रिय उसी धर्म की रक्षा कर उसका संवर्धन करता है। बिना सुरक्षा व शान्ति के धर्म की वृद्धि होना असम्भव है। इसलिये क्षत्रिय के प्रति धर्म की रक्षा का उपदेश दिया गया है। क्षत्रियों ने ही धर्म का अनुसरण कर अपने पराक्रम एवं बाहुबल से सज्जनों की रक्षा तथा दुर्जनों का दमन कर समाज एवं राष्ट्र की सुरक्षा-व्यवस्था को स्थिरता प्रदान की।

शंखस्मृति में प्रजा की रक्षा करना, दान देना, वेद पढ़ना एवं विधिवत् यज्ञ करना क्षत्रिय के कर्म कहे गये हैं।³⁴ मनु ने शंख विहित कर्मों के अतिरिक्त विषयों में आसक्त न होना' को भी स्वीकार किया है³⁵, क्योंकि विषयों में आसक्त राजा शासन का संचालन नहीं कर सकता। इनमें से प्रजा की रक्षा करना क्षत्रिय की वृत्ति थी, जबकि दान देना, वेदाध्ययन एवं यज्ञ करना उसका धर्म था। इस प्रकार तत्कालीन समय में उसे दान देने, वेदाध्ययन करने एवं यज्ञ करने का तो अधिकार प्राप्त था, परन्तु उसे दान लेने, वेदाध्यापन एवं यज्ञ कराने का अधिकार नहीं था, क्योंकि ये कर्म ब्राह्मणमात्र के लिए विहित थे। वह प्रजापालन के द्वारा ही अपनी जीविका चला सकता था। शंखस्मृति में प्रजापालन के महत्त्व को प्रदर्शित करते हुए कहा गया है कि "राजा न व्रतों, न उपवासों और न ही विविध प्रकार के यज्ञों से स्वर्ग को प्राप्त करता है। वह तो प्रजाओं के परिपालन से ही स्वर्ग को

प्राप्त करता है।³⁶ एक स्थान पर आए वर्णन से ज्ञात होता है कि युद्ध के समय एक कुशल, निर्भीक, साहसी, धैर्य से युक्त योद्धा ही प्रशंसनीय माना जाता था, तभी तो महर्षि ने प्राणों के रक्षार्थ कायरतापूर्ण व्यवहार करने वाले क्षत्रिय को निन्दा का पात्र मानते हुए, उसके लिए 'प्रायश्चित्त व्रत' का विधान किया है।³⁷ अतः क्षत्रिय का प्रमुख दायित्व समाज में शांति-व्यवस्था स्थापित कर, एक सुनियन्त्रित शासन की स्थापना तथा जनता व राष्ट्र की रक्षा करना था।

वैश्य : समाज में क्रम से ब्राह्मण व क्षत्रिय के उपरान्त वैश्य का द्विजाति के रूप में तृतीय स्थान था। यद्यपि उसका स्थान ब्राह्मण एवं क्षत्रिय की अपेक्षा निम्नतर था तथापि कर्म की दृष्टि से उसकी महत्ता ब्राह्मण, क्षत्रिय से किसी भी प्रकार कम नहीं थी। यह तो सत्य है कि क्षुधा से पीड़ित एवं निर्धन व्यक्ति अपने कर्तव्यों का निर्वहन समुचित रूप से नहीं कर सकता, चाहे वह समाज का कोई भी वर्ग क्यों न हो? अन्न और धन तो उसके जीवन के मूलाधार हैं। अतएव समाज के भरण-पोषण, उसके आर्थिक पक्ष को सुदृढ़ बनाने एवं धन-धान्य की अभिवृद्धि हेतु साधन जुटाने का पूर्ण उत्तरदायित्व वैश्य वर्ग पर था।

शंखस्मृति के अनुसार वैश्य के कार्य कृषि करना, पशुओं की रक्षा करना, व्यापार करना, दान देना, वेद पढ़ना तथा विधिवत् यज्ञ करना है।³⁸ मनुस्मृति में शंखोक्त वैश्य कर्मों के साथ सूद लेना' नामक कार्य को भी सम्मिलित किया गया है, जिनमें मुख्य रूप से क्रमभेद प्राप्त होता है।³⁹ महाभारत में तो सूद को छोड़कर इन्हीं कर्मों के साथ शुचितापूर्वक धनार्जन करने, सदाचार, अतिथि-सत्कार, शम, दम, ब्राह्मणों का आदर तथा त्याग पर भी बल दिया गया है। ये कर्म वैश्यों की वैचारिक शुद्धता व निष्कपट आचरण को अभिव्यक्त करते हैं।⁴⁰ इनमें से कृषि करना, पशुपालन एवं वाणिज्य-वैश्यों के जीविका के साधन थे तथा दान देना, वेद पढ़ना एवं विधिवत् यज्ञ करना उनका धर्म था। अतएव क्षत्रिय के सदृश उसे दान देने, वेद पढ़ने एवं यज्ञ करने का अधिकार तो प्राप्त था, किन्तु वेदाध्यापन, यज्ञ कराना एवं दान लेना उसके लिए वर्जित थे, क्योंकि शास्त्रविधान के अनुसार एक ब्राह्मण को ही इन्हें करने का अधिकार था, अन्य किसी द्विजाति को नहीं। वह कृषि, पशुपालन एवं व्यापार के द्वारा ही जीविका चला सकता था। शंखस्मृति में इन कर्मों की विस्तृत व्याख्या उपलब्ध नहीं होती है मात्र कर्मों का निर्देश किया गया है, जबकि मनुस्मृति में इनका विस्तारपूर्वक उल्लेख मिलता है। कृषि-विज्ञान के विषय में कहा गया है कि एक कृषक को बीजों को बोने की विधि, कौन से बीज किस समय में, कैसे खेत में, कितने प्रमाण में, किस प्रकार बोये जायें, खेतों के गुण तथा दोष, माप एवं मापने के उपायों की जानकारी होनी चाहिये। इसके साथ ही उत्पादन के स्रोतों-मणि, मोती, मूंगा, लोहा, कपड़ा, कपूर, नमकादि रस के मूल्य की वृद्धि एवं उसके "स को देशकालानुरूप जानकर आचरण करे। इसके अतिरिक्त उसे वस्तुओं की श्रेष्ठता एवं निम्नता, देशों व स्थानों के गुण-दोष, क्रय- विक्रय के लाभ एवं हानि, पशुओं के बढ़ाने के उपाय, श्रमिकों को वेतन देश, काल एवं परिश्रम के अनुरूप देना, विभिन्न देशों की भाषाओं का ज्ञान, वस्तुओं की सुरक्षा के लिए उचित-अनुचित स्थान इत्यादि की जानकारी होनी चाहिये, जिसके माध्यम से अधिक-से-अधिक लाभ प्राप्त किया जा सके।⁴¹ इस प्रकार कहा जा सकता है कि जिस प्रकार ज्ञान का संचार कर ब्राह्मण ने, राष्ट्र-सुरक्षा का कार्यभार वहन कर क्षत्रिय ने सामाजिक उत्थान में पूर्ण सहयोग दिया उसी प्रकार पोषक वर्ग के रूप में वैश्य ने धनार्जन कर समाज व राष्ट्रहित में अपना योगदान दिया।

शूद्र : वर्णों के अन्तर्गत शूद्र को अन्तिम स्थान प्राप्त था। ब्रह्मा के पैरों से उत्पन्न होने के कारण मात्र शारीरिक श्रम ही उसका प्रधान कार्य था। ऐसा माना जाता है कि ब्रह्मा ने द्विजों के सेवार्थ ही शूद्रों की रचना की।⁴² अपने इसी कर्म के कारण उसने समाज में एक विशिष्ट स्थान प्राप्त किया था, क्योंकि सेवकर्म के अभाव में समाज का गतिशील बने रहना असम्भव है। इसी ने समाज के अन्य वर्गों की अपेक्षित सहायता कर, उन्हें गतिशील बनाया। जिससे सभी वर्ग अपने-अपने धर्म-कर्म का समुचित रूप से निर्वहन करने में समर्थ हो सके।⁴³

यदि प्राचीनकालीन साहित्य पर दृष्टिपात करे तो स्पष्ट होता है कि ये आर्य समाज के अंग तो बन गये थे, किन्तु उनका स्थान अति निम्न था। ऐतरेयब्राह्मण में उल्लेख मिलता है कि “शूद्र दूसरों से अनुशासित होता है, वह किसी की आज्ञा पर उठता है, उसे कभी भी ताड़ित किया जा सकता है।⁴⁴ उसके लिए वेदाध्ययन, उपनयन संस्कार, अग्निहोत्र आदि वैदिक क्रियाओं को करने का निषेध था।⁴⁵ यहाँ तक कि उसके समीप वेदाध्ययन करना भी वर्जित था। गौतम ने कहा है कि यदि शूद्र जानबूझकर स्मरण करने के लिए वेद-पाठ सुने तो उसके कर्णकुहरों को सीसा और लाख से भर देना चाहिये और यदि उसने वेद पर अधिकार कर लिया है तो उसके शरीर को छेद देना चाहिए।⁴⁶ अतएव प्राचीन भारतीय समाज में उसकी स्थिति अच्छी नहीं थी। कालान्तर में उसकी स्थिति में सुधार हुआ। उसे बिना वैदिक मन्त्रोच्चारण के पाकयज्ञ, पञ्चमहायज्ञ, व्रतादि धार्मिक क्रियाओं को करने का अधिकार दिया गया। यद्यपि उसे अपने स्वामी द्वारा दी गई वस्तुओं-जूटा अन्न, पुराने वस्त्र, खाट, बर्तन इत्यादि पर निर्भर रहना पड़ता था तथापि समाज में सदाचार से युक्त नैतिक मूल्यों का द्विजातियों की भांति पालन करने वाले पवित्र वृत्ति सम्पन्न शूद्र को श्रेष्ठ एवं प्रशंसनीय माना गया था। वह अपने सदाचरण एवं कर्म से ब्राह्मणत्व को प्राप्त कर सकता था।⁴⁷

अधिकांश ग्रन्थों के अनुसार द्विजातियों की सेवा करना ही शूद्र का मुख्य धर्म था।⁴⁸ जबकि शंखस्मृति में तीनों वर्गों की सेवा के अतिरिक्त उसके कार्यक्षेत्र में वृद्धि करते हुए, उसे शिल्पकर्म का भी अधिकार प्रदान किया और क्षमा, सत्य, दम, मन, वचन, कर्म की पवित्रता आदि गुणों को धारण करते हुए, अपने कर्म में रत रहना ही उसका धर्म बताया गया है।⁴⁹ इसी प्रकार कुछ अन्य ग्रन्थों में प्राप्त मत भी शंखस्मृति की साम्यता रखते हैं।⁵⁰ इन विहित कर्मों के अतिरिक्त उसके लिए कुछ धार्मिक कर्मों को करना निषिद्ध था। यद्यपि शंखस्मृति में इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है, किन्तु द्विजमात्र के लिए विहित उपनयन संस्कार के वर्णन से स्पष्ट होता है कि तत्कालीन समय में शूद्र का उपनयन नहीं होता था, वह वेदाध्ययन एवं यज्ञ नहीं कर सकता था, क्योंकि एक उपनीत के लिए ही इनका विधान था।⁵¹ पर शंखस्मृति में शूद्रों से सम्बन्धित कोई कठोर व्यवस्था उपलब्ध नहीं होती है जिससे तत्कालीन समाज में उनकी अपेक्षाकृत उत्तम स्थिति का अनुमान लगाया जा सकता है।

वर्गों की आपत्कालीन वृत्तियाँ : - चारों वर्ण यदि अपनी निर्धारित वृत्तियों से जीवन-निर्वाह न कर सके तो वह अन्य किस वर्ण की वृत्ति को स्वीकार करे, इसका निर्देश महर्षि शंख ने नहीं किया है, किन्तु अन्य स्मृतिकारों ने इनकी आपत्कालीन वृत्तियों का स्पष्ट उल्लेख किया है। उनके अनुसार यदि ब्राह्मण स्ववृत्ति से जीवन-निर्वाह न कर सके तो वह क्रम से क्षत्रियवृत्ति एवं वैश्यवृत्ति को अपना सकता था⁵², किन्तु उसके लिए शूद्रवृत्ति (सेवाकर्म) का निषेध था, क्योंकि शूद्रवृत्ति 'श्ववृत्ति के समान मानी गई थी।⁵³ इसी प्रकार क्षत्रिय कृषिकर्म को न करते हुए, वैश्यवृत्ति द्वारा, वैश्य द्विजातियों की जूठनादि को न खाते हुए शूद्रवृत्ति द्वारा तथा शूद्र वैश्यवृत्ति अर्थात् सूपादि कारीगरी के द्वारा जीवनयापन कर सकता था। यद्यपि आपत्काल में सभी वर्ण अपने से निम्न वर्ण की वृत्तियों को अपना सकते थे, किन्तु निम्न वर्ण वाला अपने से उच्च वर्ण की वृत्तियों को नहीं अपना सकता था। मनु ने कहा है कि स्वधर्म निकृष्ट होने पर भी उत्तम होता है और दूसरे का धर्म उत्कृष्ट होने पर भी ग्राह्य नहीं है, परधर्म का पालन करने वाला तत्क्षण ही जातिभ्रष्ट हो जाता है।⁵⁴ यहाँ तक कि जन्म-जन्मान्तरों तक निन्दित योनियों को प्राप्त कर विचरण करता है। यदि चारों वर्ण शास्त्रविहित अपने-अपने निर्धारित कर्मों का पालन करते हैं तो वे उत्तम गति को प्राप्त करते हैं। इसलिये आपत्काल न रहने पर सभी के लिए अपनी निर्धारित वृत्तियों से ही जीवन-निर्वाह करने का विधान था।

इस प्रकार शंखस्मृति में वर्णित वर्णव्यवस्था एक आदर्श समाज का स्वरूप प्रस्तुत करती है। जहाँ प्रत्येक वर्ग को अपनी योग्यता एवं कार्य के आधार पर स्थान प्राप्त था। जिस वर्ण के कार्य एवं भूमिका जितनी महत्वपूर्ण रही, उसे उतना ही उच्च स्थान दिया गया और अपने-अपने दायित्व-निर्वाह के लिए कुछ विशेष अधिकार एवं सुविधाएँ प्रदान की गईं। ये अधिकार

किसी दूसरे वर्ण के अधिकारों का हनन करने के लिए नहीं अपितु स्व-स्व धर्म के रक्षार्थ दिये गये थे। सभी वर्ण एक-दूसरे के सहयोगपूर्वक स्वधर्म का पालन करते थे। यही कारण है कि सभी वर्गों के एक-दूसरे से सम्बद्ध होने पर तत्कालीन समाज प्रतिस्पर्धा जैसी भयावह दोषों से सुरक्षित रहा।

सन्दर्भग्रन्थाः

1. (क) ऋ., 4/50/8 (ख) अथर्व., 5/18/8 (ग) तै.सं., का.1, प्र.7, अनु.3, 3
2. (क) मनु., 11/84, 1/93, 98-101, 2/135, 10/3
(ख) वि.स्मृ., 19/20-22
(ग) परा.स्मृ., 6/52-53
(घ) शा.स्मृ., 1/29-31
(ङ) महा.व.प., 303/16
3. यथा भर्ता प्रभुः स्त्रीणां वर्णानां ब्राह्मणो यथा । शं.स्मृ., 5/7
4. षडङ्गवित्तिसुपर्णो बद्धो ज्येष्ठसामगः ॥
त्रिणाचिकेतः पञ्चाग्निर्ब्राह्मणः पङ्क्तिपावनः ॥
ब्रह्मदेयानुसंतानो ब्रह्मदेयाप्रदायकः ।
ब्रह्मदेयापतिर्यश्च ब्राह्मणः पङ्क्तिपावनः ॥
ऋग्यजुःपारगो यश्च साम्नां यश्चापि पारगः ।
अथर्वाङ्गिरसोऽध्येता ब्राह्मणः पङ्क्तिपावनः ॥ वही, 14/5-7
5. अनध्यायेष्वधीयानाः शौचाचारविवर्जिताः ।
शूद्रान्नरससंपुष्टा ब्राह्मणा पङ्क्तिदूषकाः ॥
नित्यं योगरतो विद्वान्समलोष्टाश्मकाञ्चनः ॥
ध्यानशीलो यतिर्विद्वान्ब्राह्मणः पङ्क्तिपावनः ॥ वही, 14/4, 8
6. यजनं याजनं दानं तथैवाध्यापनक्रियाम् ।
प्रतिग्रहञ्चाध्ययनं विप्रः कर्माणि कारयेत् ॥ वही, 1/2
7. अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ।
दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥ मनु. 1/88
8. (क) लि.स्मृ., 36 (ख) परा.स्मृ., 3/45 (ग) शा.स्मृ., 12/16
9. श्रीमद्.गी., 3/10-11
10. प्रयतः कल्यमुत्थाय स्नानो हुतहुताशनः ।
11. त्रिणाचिकेतः पञ्चाग्निर्ब्राह्मणः पङ्क्तिपावनः ॥
गुरुणां प्रतिकूलाश्च वेदाग्न्युत्सादिनश्च ये ।
गुरुणां त्यागिनश्चैव ब्राह्मणाः पङ्क्तिदूषकाः ॥ शं.स्मृ., 14/5, 3
12. सार्यं प्रातश्च जुहुयादग्निहोत्रं यथाविधि ।
दर्शश्च पौर्णमासश्च जुहुयात् विधिवत् तथा ॥
यज्ञैर्वा पशुबन्धैश्च चातुर्मास्यैस्तथैव च । त्रै

वार्षिकाधिकान्नेन पिबेत् सोममतन्द्रितः॥

इष्टिं वैश्वानरी कुर्यात्तथा चाल्यधनो द्विजः।

न भिक्षेत धनं शूद्रात् सर्वं दद्यादभीप्सितम्॥ शं.स्मृ., 5/15-17 X

13. मनु., 4/10, 26-27, 11/24

14. वृत्तिन्तु न त्यजेद्विद्वान्त्विजं पूर्वमेव तु ।

कर्मणा जन्मना शुद्धं विधिना च वृणीत तम्।

एतैरेव गुणैर्युक्तं धर्माजितधनं तथा।

याजयीत सदा विप्रो ग्राह्यस्तस्मात् प्रतिग्रहः॥ शं.स्मृ., 5/18-19

15. वानप्रस्थो ब्रह्मचारी यतिश्चैव तथा द्विजः।

गृहस्थस्य प्रसादेन जीवन्त्येते यथाविधिः॥

गृहस्थ एव यजते गृहस्थस्तप्यते तपः।

दाता चैव गृहस्थः स्यात्तस्माच्छ्रेष्ठो गृहाश्रमी॥ वही, 5/5-6

16. (क) मनु., 4/227 (ख) या.स्मृ., 1/200-202 (ग) व.स्मृ., 29/19 (घ) द.स्मृ., 3/24

17. अ.सं., 151

18. द.स्मृ., 3/15-16

19. (क) शं.स्मृ., 5/18-19

(ख) अन्यायधिगतां दत्त्वा सफलां पृथिवीमपि।

श्रद्धावर्जमपात्राय न काचिद् भूतिमाप्नुयात्।

प्रदायशाकमुष्टिं वा श्रद्धा भक्तिसमुद्यात् ।

महते पात्रभूताय सर्वाभ्युदयमाप्नुयात्॥ देवल, अपराकं टीका से उद्धृत, पृ.290

20. (क) मनु., 4/186-191 (ख) या.स्मृ., 1/202

21. चतुष्कपर्दा युवतिः सुपेशा घृतप्रतीका व्युनानि वस्ते।

तस्यां सुपर्णा वृषणा नि षेदतुर्यत्र देवा दधिरे भागधेयम् ॥

एक सुपर्णः समुद्रमा विवेश स इदं वि श्वं भुवनं विचष्टे।

तं पाकेन मनसापश्यमन्तितस्तं माता रेळिह स उ रेळिह मातरम्॥

सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति।

छन्दांसि च दधतो अध्वरेषु ग्रहान्तसोमस्य मिमते द्वादश ॥ ऋ., 10/114/3-5

22. ज्येष्ठसामानि वा एतानि श्रेष्ठसामानि प्रजापतिसामानि ॥ ता.म.ब्रा., अ.21, ख.2, 3,

(एतान्याज्यदोहानि साम्नामध्ये ज्येष्ठानि प्रथमभूतानि खलु तथा श्रेष्ठसामानि गुणैः

प्रशस्तानि तत् कथमिति तदाह आदित एतानि प्रजापतिसामानि अतः प्रजापतेर्येष्ठत्वाच्च

तत्-सम्बन्धादेवान्यान्यपि तथाविधानीत्यभिप्रायः॥)

23. मनु., 4/147

24. या.स्मृ., 1/198

25. ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयः इति। महर्षि पतञ्जलिप्रणीत,

- व्याकरणमहाभाष्य, प्रथम खण्ड, 1/1/1 (आगमपदार्थनिरूपणभाष्य), पृ.16
26. योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शुद्धत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥ व.स्मृ., 3/3
27. उपनीय गुरुः शिष्यं शिक्षयेच्छौचमादितः।
आचारमग्निकार्यं च संध्योपासनमेव च॥
स गुरुर्यः क्रियां कृत्वा वेदमस्मै प्रयच्छति। शं.स्मृ., 3/1-2
28. शं.स्मृ., 3/5-10
29. मनु., 2/69, 71, 74, 140
30. (क) क्षतान्नस्त्रास्यते सर्वानित्येवं क्षत्रियोऽभवत् । महा.द्रो.प., 69/2
(ख) क्षताच्च नस्त्रायतीति स तस्मात्क्षत्रियः स्मृतः॥ महा.शा.प., 29/130
(ग) क्षतात् त्राणं क्षतत्राणम्। कल्पतरु, द्वितीय भाग, पृ.252
(घ) क्षतात्किल त्रायत इत्युदनः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रुढः । रघु.महा., 2/53
31. क्षत्रियस्य विशेषेण प्रजानां परिपालनम्।
राजाज्ञाकारिणश्च ये॥ शं.स्मृ., 1/4 तथा 15/22, 5/9
32. काणे, पी.बी., धर्मशास्त्र का इतिहास, प्रथम भाग, पृ.113
33. मनु., 11/83, 9/322
34. दानमध्ययनञ्चैव यजनञ्च यथाविधि।
क्षत्रियस्य तु वैश्यस्य कर्मेदं परिकीर्तितम्॥
क्षत्रियस्य विशेषेण प्रजानां परिपालनम्॥ शं.स्मृ., 1/3-4
35. मनु., 1/89
36. न व्रतैः!पवासैश्च न च यज्ञैः पृथग्विधैः।
राजा स्वर्गमाप्नोति प्राप्नोति परिपालनात् ॥ शं.स्मृ., 5/9
37. क्षत्रियस्तु रणे दत्त्वा पृष्टं प्राणपरायणः।
संवत्सरव्रतं कुर्याच्छित्त्वा वृक्षं फलप्रदम्॥ वही, 17/53
38. दानमध्ययनञ्चैव यजनञ्च यथाविधि।
कृषिगोरक्षवाणिज्यं वैश्यस्य परिकीर्तितम्॥ वही, 1/3-4
39. पशूनां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
वणिक्पथं कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च॥ मनु., 1/90
40. (क) दानमध्ययनं यज्ञः शोचेन धनसंचयः।
। महा.शा.प., 60/21, 23
(ख) वैश्यस्य सततं धर्मः पाशुपाल्यं कृषिस्तथा।
अग्निहोत्रपरिस्पन्दो दानाध्ययनमेव च॥
वाणिज्यं सत्पथस्थानमातिथ्यं प्रशमो दमः।
विप्राणां स्वागतं त्यागो वैश्यधर्मः सनातनः॥

- महा.अनु.प., 128/53-54 (दानधर्मपर्व-उमामहेश्वरसंवादः)
41. मनु., 9/329-331, 333
42. मनु., 8/413-414
43. तथैव शूद्रा विहिता : सर्वधर्मप्रसाधकाः ।
शूद्रश्च यदि ते न स्युः कर्मकर्ता न विद्यते ॥ महा.अनु.प., 141/60 तथा विद्या, परशुराम
लक्ष्मण, महाभारतस्य- श्लोकपादसूची, द्वितीय भाग, पृ.1310
44. (शूद्रोः) अन्यस्य प्रेष्यः कामोत्थाप्यः यथाकामवध्यः । ऐत.ब्रा., पश्चि.7, अ.5, 29
45. (क) शूद्रोः मनुष्याणामश्वः पशूनां तस्मात्तौ भूतसंक्रामिणावश्वश्च शूद्रश्च तस्माच्छूद्रो
यज्ञेनवक्लृप्तः । तै.सं., का.7, प्र.1, अनु.1, 6 (ख) जैमिनि, 1/3/25-28
46. अथ हास्य वेदमुपशृण्वतस्त्रपुजतुभ्यां श्रोत्रप्रतिपूरणमुदाहरणे जिह्वाच्छेदो धारणे शरीरभेदः । गौ.
ध., द्वितीय प्रश्नः, तृतीय अध्यायः, सू.4
47. (क) मनु., 2/137, 10/124-128 तथा 9/335 (ख) महा.शा.प., 60/37
48. (क) गौ.ध., द्वितीय प्रश्नः, प्रथम अध्यायः, सू.57 (ख) मनु., 1/91, 8/410, 10/122-123
(ग) बृ.परा.स्मृ., 4/216, 222 (घ) ल.हा.स्मृ., 2/11 (1) महा.अनु.प., 141/57 तथा
महा.उ.प., 29/24 (च) श्रीमद्.गी., 18/44 का उत्तरार्ध
49. शूद्रस्य द्विजशुश्रूषा सर्वशिल्पानि चाप्यथ ।
क्षमा सत्यं दमः शौचं सर्वेषामविशेषतः ॥ शं.स्मृ., 1/5
50. (क) या.स्मृ., 1/120 (ख) वि.स्मृ., 2/8, 14 (ग) कौ अर्थ., 1/3/3 (विनयाधिकारिक
प्रथममधिकरणम्) (घ) अ.पु., 151/9 का उत्तरार्ध
51. गर्भाष्टमेऽब्दे कर्तव्यं ब्राह्मणस्योपनायनम् ।
गर्भदिकादशे राज्ञो गर्भातु द्वादशे विशः ॥
उपनीय गुरुः शिष्यं शिक्षयेच्छौचमादितः ।
आचारमग्निकार्यं च संध्योपासनमेव च ॥ शं.स्मृ., 2/6 तथा 3/1
52. शं.लि.स्मृ., गृ.र., पृ.324 पर उद्धृत (ख) मनु., 1/81-82 (ग) या.स्मृ., 3/35
53. मनु., 4/4,6

प्रमाण-पत्र



RAJASTHAN TECHNICAL UNIVERSITY, KOTA
NATIONAL SERVICE SCHEME



Certificate of Participation

Certificate ID: 2KXRNK-CE000308

Date: 19-5-2020

This is to certify that prabha chaturvedi has solemnly pledged and participated in online Quiz on COVID-19 organised by NSS RTU, Kota and securing 95%.

We appreciate your effort. Protect yourself and others.

Dr. A.K. Mathur

Prof. A.K. Mathur
Dean (FA)

Dr. A.K. Sharma

Dr. A.K. Sharma
NSS Program officer



Participation Certificate

INSTITUTE OF RURAL ACADEMIC AND VERSATILE INTERACTION

IN ASSOCIATION WITH

MEHTA COLLEGE AND INSTITUTE OF TECHNOLOGY

acknowledges that

Prabha chaturvedi

JRF research schoolar

has participated in online national webinar on

"Dignity of Women at Workplace – Challenges and Aspirations"

Date – 16th August, 2020

Pankaj

Pankaj

Dr. Vibha

Dr. Jaya Rai

Dr. Pankaj Kumar Soni,

Dr. Vibha Sharma,

Dr. Snehlata Singh,

Dr. Jaya Rai,

Patron

Coordinator

Convener

Organizing Secretary

Certificate id: FWN3FC-CE000197



75
आज़ादी का
अमृत महोत्सव



75
Azadi Ka
Amrit Mahotsav

संस्कृत विभाग, मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर एवं राजस्थान संस्कृत अकादमी,

जयपुर के संयुक्त तत्वाधान में आयोजित

राष्ट्रीय संगोष्ठी एवं शिबिर

(6 अगस्त, 2022)

"संस्कृत शास्त्रपरम्परा में राजमय एवं प्रसारण"

प्रमाण-पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि Prabha chaturvedi , Research scholar JRF , Government arts college kota ने संस्कृत विभाग, मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर एवं राजस्थान संस्कृत अकादमी, जयपुर के द्वारा "संस्कृत शास्त्रपरम्परा में राजमय एवं प्रसारण" विषय पर आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी एवं शिबिर में प्रतिभागिता की।

मुख्य अधिकारी

डॉ० मुरलीधर पालोवाल

संगोष्ठी संयोजक

अध्यक्ष

डॉ० डी.एन. पाटीदार

संगोष्ठी समन्वयक

निर्देशिका

डॉ० नीरज शर्मा

अध्यक्ष, संस्कृत विभाग

सह-अध्यक्ष

डॉ० सी. आर. सुन्दर

DEAN, UCSSH, MLSU



XXVI INTERNATIONAL CONFERENCE
of RAJASTHAN SOCIOLOGICAL ASSOCIATION

On



SOCIO - CULTURAL TRANSFORMATION AND TECHNOLOGICAL : GLOBAL AND INDIAN

October 11-12, 2019

Economy/ Gender/ Law
Religion/ Globalization/ Literature
and Socio-Cultural Transformation

Education/ Human Rights
Environmental/ Science & Technology
and Socio-Cultural Transformation

CERTIFICATE

This is to Certify that Prof/ Dr/ Mr/ Ms प्रभा भुतुर्वदी
Designation शोधार्थी Institution कोटा विद्यापीठ, ज्योटा
has Participated/ delivered a plenary lecture/ Presented a Paper/ Chaired/ Co- Chaired a Session
entitled ' सामाजिक परिवर्तन में संस्कृत वाङ्मय की भूमिका '

In the International Conference

Prof. Pukhraj Depal
Principal

Prof. S.C. Rajora
President, RSSA

Dr. Aloka Kumar Meena
Organizing Secretary

Sponsored by



Shree Cement Ltd.
Beawar, India



Social Science
And Humanities
Association

Knowledge Partners



ISSN No : 2581-6306

website : <http://shisrrj.com>

Impact Factor : 5.239



Shodhshauryam, International Scientific Refereed Research Journal Certificate of Publication

Ref : SHISRRJ/Certificate/Volume 1/Issue 4/686

30-Nov-2018

This is to certify that the research paper entitled

**संस्कार एवं आश्रम व्यवस्था से परिवार एवं समाज पर प्रभाव
प्रभा चतुर्वेदी**

शोध छात्रा, संस्कृत विभाग, राजकीय महाविद्यालय, कोटा, राजस्थान।

After review is found suitable and has been published in the Shodhshauryam, International Scientific Refereed Research Journal (SHISRRJ), Volume 1, Issue 4, November-December 2018. [Page No : 200-245]

This Paper can be downloaded from the following SHISRRJ website link

<https://shisrrj.com/SHISRRJ192689>

SHISRRJ Team wishes all the best for bright future



Editor in Chief
SHISRRJ

Associate Editor
SHISRRJ

Peer Reviewed and Refereed International Journal



ISSN No : 2581-6306

website : <http://shisrrj.com>

Impact Factor : 5.239

Shodhsharyam, International Scientific Refereed Research Journal Certificate of Publication

Ref : SHISRRJ/Certificate/Volume 3/Issue 2/687

10-Apr-2020

This is to certify that the research paper entitled

वर्ण व्यवस्था मे सदस्यो के कर्तव्य एवं अधिकार
प्रभा चतुर्वेदी

शोध छात्रा, संस्कृत विभाग, राजकीय महाविद्यालय, कोटा, राजस्थान।

After review is found suitable and has been published in the Shodhsharyam, International Scientific Refereed Research Journal(SHISRRJ), Volume 3, Issue 2, March-April 2020. [Page No : 142-150]

This Paper can be downloaded from the following SHISRRJ website link
<https://shisrrj.com/SHISRRJ1203310>

SHISRRJ Team wishes all the best for bright future



Editor in Chief
SHISRRJ




Associate Editor
SHISRRJ

Peer Reviewed and Refereed International Journal



ISSN No : 2581-6306

website : <http://shisrrj.com>

Impact Factor : 5.239

Shodhshauryam, International Scientific Refereed Research Journal Certificate of Publication

Ref : SHISRRJ/Certificate/Volume 5/Issue 4/688

20-Jul-2022

This is to certify that the research paper entitled

स्मृति साहित्य में वर्णव्यवस्था की अवधारणा

प्रभा चतुर्वेदी

शोध छात्रा, संस्कृत विभाग, राजकीय महाविद्यालय, कोटा, राजस्थान।

After review is found suitable and has been published in the Shodhshauryam, International Scientific Refereed Research Journal(SHISRRJ), Volume 5, Issue 4, July-August 2022. [Page No : 35-46]

This Paper can be downloaded from the following SHISRRJ website link

<https://shisrrj.com/SHISRRJ22549>

SHISRRJ Team wishes all the best for bright future



**Editor in Chief
SHISRRJ**

**Associate Editor
SHISRRJ**

Peer Reviewed and Refereed International Journal